पंचदशी

(अद्वैत वेदान्त का सर्वमान्य ग्रन्थ)

मूललेखक—

श्री विद्यारण्य स्वामी

भाषान्तरकार तथा व्याख्याकार

पं० रामावतार विद्याभास्कर

ॐ

पंचदशी

सेतुवन्ध रामेश्वर से लेकर हिमालय तक ख्याति पाया हुआ
अद्वैत वेदान्त का सर्वमान्य ग्रन्थ



मूललेखक—

श्री विद्यारण्य स्वामी

भाषान्तरकार तथा व्याख्याकार

पं० रामावतार विद्याभास्कर



द्वितीय संस्करण] सम्वत् २०११ वि० [मूल्य ५॥)

प्रकाशक—

सञ्चालक बुद्धिसेवाश्रम

पो० रतनगढ़

ज़िला बिजनौर (उत्तर प्रदेश)

मिलने का मुख्य पता :—

बुद्धिसेवाश्रम, पो० रतनगढ़, ज़िला बिजनौर (उत्तर प्रदेश)

अन्य पते :—

(१) श्री मोतीलाल बनारसीदास, नैपाली खपरा, बनारस ।
(२) श्री मा० खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, कचौरी गली, बनारस ।
(३) चौखम्बा संस्कृत सिरीज़, बनारस ।
(४) मेहरचन्द लक्ष्मणदास, नई सड़क, देहली ।
(५) स्वामी प्रेस मेरठ शहर ।

मुद्रक—

शिवशङ्कर शर्मा

अध्यक्ष, स्वामी प्रेस, मेरठ ।

प्राक्कथन

लेखक के पञ्चदशीसे प्रथम परिचयको आज लगभग इक्कीस वर्ष बीत चुके। यह लेखक का अहोभाग्य है कि परिचय करानेमें मध्यस्थता का काम प्रातःस्मरणीय श्री अच्युत मुनि जीने किया था। उसी वर्ष उनके मुखसे इस ग्रन्थको आद्योपान्त पढ़लेने का सुअवसर भी हाथ लग गया था। तबसे अब तक इसपर बीसों बार मनन हुआ है। यह विशेषता रही है कि मनन की प्रत्येक आवृत्ति में अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थों के समान यह ग्रन्थ भी गम्भीर गम्भीरतर और गम्भीरतम होता चला जा रहा है और आगे को भी होने की आशा है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे हमारा एक यह स्थूल शरीर है, दूसरा सुपनेमें या विचाररत होने की अवस्थामें काम आनेवाला सूक्ष्म शरीर है, तीसरा इन दोनोंको इनके बाह्यरूप देनेवाला कारण शरीर है, ठीक इसीप्रकार प्रत्येक विचारके भी क्रमसे स्थूल सूक्ष्म और कारणशरीर होते हैं। ज्यों ज्यों प्राणी का अनुभव बल बढ़ता जाता है, त्यों त्यों उसे विचारोंके भीतरके शरीरोंमें प्रवेश करनेका अधिकार मिलता जाता है—त्यों त्यों उसे विचारोंके अन्तरात्मा के दर्शन मिलने लगते हैं। यों साधारणरूपसे किसी बातको सुन लेनेपर उसका सार समझमें नहीं आता। अनुकूल परिस्थिति आजानेपर, जब उस बातके प्राण तक—उसके सार तक—दृष्टि पहुँचती है, तब वही साधारणसी बात विचारकके जीवनकी बहुमूल्य सम्पत्ति बन जाती है। विचारोंका जो कारणशरीर है, वही अनुभव है। जिन विचारोंके पीछे अनुभवका बल नहीं होता, वे विचार निस्तेज, अकार्यकारी और प्रभावहीन रहजाते हैं। विचारोंमें प्रभावशालिता, तेजोयुक्तता और कार्यकारिता आनेकेलिये यह आवश्यक है कि उनकी पीठपर अनुभवका हाथ रक्खा हुआ हो। इसी बातको दूसरे शब्दोंमें कहें तो कोरे ज्ञानतृप्त होनेसे काम

नहीं चलता अर्थात् कोरी ज्ञानतृप्तिसे आनन्द नहीं आता—आनन्द आने केलिए मनुष्यका विज्ञानतृप्त होना, अनुभवसम्पन्न होना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु ज्ञानका विज्ञान यों ही नहीं वनजाता। उसके लिए मनुष्यको कुछ तपस्या करनी पड़ती है। उस ढङ्गका वातावरण वनाकर रखना पड़ता है। अपनी चर्याको वैसा वनाना पड़ता है कि हमारा प्रेमास्पद विषय वेरोकटोक होकर हमारे अनुभवका अभेद्य, अच्छेद्य, अत्याज्य और अविस्मरणीय अङ्ग वने। ऐसा न करनेसे उसी विषयको सम्पूर्ण आयुष्य भर स्वयं देखते तथा औरोंको सुनाते रहनेपर भी वह विषय हमारे जीवनका उपयोगी भाग नहीं वनता। यह लेखकने अपने ही ऊपर कई वार देखा है। जव ज्ञानका विज्ञान वनानेकेलिए आवश्यक तपस्या कीजाती है और जव वह तपस्या पूरी उतरती है—जव ज्ञानको अनुभवका वल मिलता है—यही वह अवसर होता है जव अनादिकाल से स्वच्छन्द दिशामें वहती रहने वाली प्राणीकी विचारनदीका प्रवाह अपने प्रभावकोणको सदाकेलिए वदल लेता है यही वह अवसर है जव जीवनमें अकल्पित परिवर्तन होते हैं और मनुष्य कुछ का कुछ होजाता है। लेखकने ऐसे रहस्यमय विचारोंको अपने अन्दर रखने वाले, अनुभवका कभी साथ न छोड़ने वाले, प्रत्युत उत्तरोत्तर गम्भीर होते जाने वाले, ऐसे उत्तम ग्रन्थके टीकाकार होनेके लोभसे प्रेरित होकर इसकी टीका करनेका साहस किया है। मैंने इस टीकाको लिखते समय मननको ही अपना प्रधान लक्ष्य रक्खा है—सोचा है कि टीका लिखनेसे इसका पूरा पूरा मनन भी हो जायगा और यों इन विचारोंको मेरे विचारकोषमें एक विशेष स्थान भी प्राप्त होजायगा। साथ ही जो विचार आगे पहुँचानेके लिये ऋषि ऋण नामकी धरोहरके रूपमें परम्परासे मिले हैं, यह टीका उनके संक्रमणका एक द्वार वन जायगी और लेखक अंशतः ऋणमुक्त भी होजायगा।

यह लेखक भली प्रकार जानता है कि उसकी तपस्यामें जिस अनुपातसे त्रुटियें हैं उसी अनुपातसे उसके मननमें और इसी अनुपातसे

मननके द्वारा इस टीकामें भी उन त्रुटियोंका रहना अनिवार्य है, फिर भी अपनी ओर से यह ध्यान रक्खा है कि टीकामें केवल अनुभवानुमोदित बातें आयें। फिर भी अनुवादमें ऐसी बहुतसी बातें रह गयी हैं कि जिनको कोरा ज्ञान ही ज्ञान कहा जासकता है। विज्ञान किंवा अनुभव नहीं कहा जासकता। जब लगन होती है तब मनुष्यकी अवस्था और परिस्थितियें स्वयमेव ज्ञानका विज्ञान बनाती रहती हैं। इसके अतिरिक्त इनका और क्या काम है ? कहना चाहिये कि यह सम्पूर्ण संसार ज्ञान का विज्ञान बनाने ही के लिये है। परन्तु सब ज्ञानोंको अनुभवानुमोदित करानेमें जितना लम्बा समय अपेक्षित है उतना लम्बा धैर्य न रख सकने के कारण शीघ्र इस टीकाको प्रकाशनार्थ आना पड़ रहा है।

पूज्य श्री अच्युतमुनि जी के शब्दोंमें "यह ग्रन्थ वेदान्तका प्रारम्भिक ग्रन्थ भी है और सर्वमान्य होनेसे अन्तिम ग्रन्थ भी है। अद्वैत वेदान्तपर अद्वैत सिद्धि नामका जो प्रसिद्ध ग्रन्थ है उसको समग्र पढ़ लेनेपर भी उतना आनन्द नहीं आता जितना इसके एक एक श्लोकको पढ़ लेनेसे आजाता है।" इसकी टीकाको लिखते समय मूल ग्रन्थके संस्कृत टीकाकार रामकृष्ण विद्वान्की टीकासे भरपूर सहायता ली है।

इस ग्रन्थकी आवृत्ति करते समय जो जो सूक्ष्म विचार समझमें आये हैं, उनको या तो टीकामें या फिर संक्षेपोंमें जहाँ तहाँ लिखने का प्रयत्न किया है।

यह ग्रन्थ मनुष्यको जिस व्यापक जीवन तत्वको समझाना चाहता है उसका रहस्यमय रूप दिखाई देनेमें इस तत्वके आधारसे प्रतीत होने वाली विश्वरचना सबसे बड़े विघ्नका रूप लेकर बैठी है। जैसे सांप रस्सीको नहीं दीखने देता और देखने वाले के तथा रस्सी के बीचमें आकर खड़ा होजाता है, इसी प्रकार इस व्यापक ज्ञानरूप जीवनतत्वके और हमारे बीचमें आकर खड़ी हुई विश्वरचनाने हमारा सम्पूर्ण ध्यान

अपनी ओर खेंचकर हमें जो अतत्व है उसी का दर्शन करा रक्खा है और तत्वकी प्रतीति को रोक लिया है। इस ग्रन्थमें तत्वविवेक नामक प्रथम प्रकरणमें उस तत्वके दर्शनके विघ्नों को हटाने की विधि को बताते हुए तत्व दर्शन करने की विधि वर्णित है। दूसरे तीसरे और चौथे प्रकरणों में तत्वदर्शन के तीन प्रधान विघ्नों को तत्वदर्शन का सहायक बनाने की विधि पर विचार किया है। पांचवें महाकाव्यविवेक नामके प्रकरण में आगम किंवा अनुभवप्रधान होजाने पर अनुभूति का जो-जो व्यावहारिक रूप होजाता है उसका वर्णन है। छठे चित्रदीप नाम के प्रकरणमें अपनी ही अज्ञानतूलिकासे लिखे हुए जगच्चित्रको अपने सत्यान्वेषी प्रयत्नों से मिटाकर अकेला शेष रहने की विधि पर प्रकाश डाला है। तृप्तिदीप नामके प्रकरणमें बताया है कि जब व्यापक जीवनतत्वके स्वरूपका परिज्ञान होने पर मनमें किसी प्रकार के सुखकी इच्छा शेष नहीं रहती तब ही सच्चे सुख का आविर्भाव होता है। कूटस्थदीप में चेतनाकार बनी हुई बुद्धियों की संधियों को और बुद्धियों के अभावों को प्रकाशित करने वाली सामान्य कूटस्थ चेतना का दर्शन कराया गया है। जो लोग ब्रह्मतत्वका विचार नहीं कर सकते परन्तु उसके दर्शन पर श्रद्धा रखते हैं उनके लिये उपासना किंवा योग की विधि बताने केलिये ध्यानदीप नाम का प्रकरण है। नाटकदीप प्रकरणमें कुतूहलवश खेले गये इस जगन्नाटक के पटक्षेप करने की विधि पर विचार किया है। पिछले पांचों प्रकरणोंमें अनेक द्वारोंसे आनन्द रूपका दर्शन कराते हुए ब्रह्मतत्वका वर्णन किया है। यों इस ग्रन्थमें एक ही व्यापक जीवनतत्व को पन्द्रह प्रकार से दिखाया है।

अब संक्षेपमें ग्रन्थकारका थोड़ा सा परिचय देना भी आवश्यक प्रतीत होता है—

पंचदशीके रचयिता श्री विद्यारण्य महामुनिका पूर्वाश्रमका नाम श्री मन्माधवाचार्य था। ये अत्यन्त त्यागी, अत्यन्त बुद्धिमान, व्यवहार-

चतुर, कर्तव्यदक्ष और महाविभूतियुक्त पुरुष थे। इन्होंने दक्षिणके विजयनगर साम्राज्य की स्थापना बुक्क राजाके द्वारा करायी थी और उस साम्राज्यका संचालन भी ये स्वयं ही करते थे। विक्रमी १३९२ तदनुसार ई० सन १३३५ में हुक्कराय और बुक्कराय भाइयों ने सेना आदि जुटाकर इनकी सलाहसे विजयनगर राज्य की स्थापना की थी। और स्वयं माधवाचार्य नामसे उस राज्यके प्रधान मन्त्री बने थे। ये उच्च कोटिके राजनीतिज्ञ और प्रबन्ध-पटु थे। उसके बाद विजयनगरका साम्राज्य बढ़ने लगा और बड़े ठाट बाटसे चलता रहा। ऐसे महान् राज्यकी स्थापना और संचालना जिस महापुरुषके द्वारा हुई थी उन श्री विद्यारण्य मुनि का जन्म लगभग १३२४ विक्रमी में तुङ्गभद्रा नदीके तटवर्ती हाम्पी नगरके पास एक ग्राममें हुआ था। पाराशर माधव नामक ग्रन्थमें दिये निज परिचयके अनुसार इन्होंने कई बार यवन राज्योंको स्वायत्तकर विजयनगर राज्यकी सीमा बढ़ाई थी। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। इनके समान विभिन्न गुण सम्पन्न संसारमें कभी कभी आया करते हैं। इन्होंने जो भी काम हाथमें लिया उसीमें अपूर्व सफलता प्राप्त की। इनका पूर्वाश्रमका नाम 'माधवाचार्य' था। ये माधव मन्त्रीके नामसे उसी समय प्रसिद्धि पाचुके थे। चतुर्थ आश्रममें इनका नाम 'विद्यारण्य' होगया था। इनके पिताका नाम 'मायण' और माताका नाम 'श्रीमती' था। इनके 'सायण' और 'भोगनाथ' नामक दो छोटे भाई थे। इनका सूत्र बोधायन गोत्र भरद्वाज था। यजुर्वेदी ब्राह्मण कुलमें जन्म हुआ था। इनका कुल नाम भी सायण ही था। इनके भाई वेदभाष्यकार सायण अपने कुलके नाम से ही प्रसिद्धि पाये हुए थे। इन्होंने अपने ग्रन्थोंमें गुरु रूपसे श्री विद्यातीर्थ श्रीभारतीतीर्थ श्री शङ्करानन्दको स्मरण किया है। सायणाचार्यने भी वेदभाष्यके आरम्भमें श्री विद्यातीर्थ की ही वन्दना की है। उधर श्री भारतीतीर्थ ने भी श्री विद्यातीर्थ को ही अपना गुरु माना है। प्रतीत होता है कि माधवाचार्य सायण तथा भारतीतीर्थ तीनों ने श्री विद्यातीर्थ से शिक्षा प्राप्त की थी। सम्भवतः माधवने श्री विद्यातीर्थ के अवसानके

पश्चात् श्री भारतीतीर्थ और श्री शङ्करानन्दसे भी शिक्षा प्राप्त की थी। यही कारण है कि इन्होंने तीनों को गुरु माना है। पूर्व आश्रममें राज्य के कार्यमें परम प्रवीणता दिखाते हुए इन्होंने असाधारण योग्यतासे उच्च कोटिके ग्रन्थ बनाकर वेद शास्त्रों की प्रतिष्ठा भी बढ़ायी थी। फिर संसार से विरक्त होकर संन्यासदीक्षा लेकर विद्यारण्य मुनि नामसे शृंगेरी मठके शङ्कराचार्य बने थे।

ये जिस कुटुम्बमें उत्पन्न हुए थे यह एक छोटा सा ब्राह्मणकुटुम्ब था। इस कुटुम्बके सभी, बालक बड़े बुद्धिमान और कर्तृत्वशाली हुए। सायण तो वेदभाष्यकारके नाते प्रसिद्ध ही हैं। भोगनाथ भी शीघ्र ही संन्यासी होगये थे। ये माधवाचार्य स्वयं पढ़ पढ़ाकर नयी अवस्थामें ही तपस्याकेलिये बन चले गये थे। जब ये बनमें तपस्या कररहे थे तब हुक बुक नामके राजपुत्रोंसे भेंट होनेके बाद सन् १३९१ तक इस महापुरुषका सारा ही समय भारी राजनैतिक कारबार, अत्यन्त गहन और उपयुक्त ग्रन्थोंके निर्माण और शृंगेरी पीठके स्वामी के रूपमें धर्माधिकार चलाने में बीता था। उन्होंने एक श्रेष्ठ कर्मयोगीकी भांति निष्काम बुद्धिसे राज्य-स्थापन और धर्मरक्षणके कार्य करके आर्यसंस्कृतिको जीवित रक्खा था। वे किस मनोभावनासे अपना निष्काम कर्म करते थे यह इनके पंचदशी के—

"ज्ञानिनाचरितुं शक्यं सम्यग् राज्यादि लौकिकम्"

"ज्ञानी लोग राज्य आदि लौकिक कामों को अच्छी भांति चला सकते हैं। ज्ञानीका ज्ञान यदि परिष्कृत है सच्चा है तो राज्यके गहन कारबार भी उसे दबा नहीं सकेंगे" इस वाक्यसे बहुत ही स्पष्ट होजाता है। इन्होंने उस राज्यमें किस प्रणालीसे क्या क्या सुधार किये इसका ब्योरा अभी तक भी इतिहासज्ञ लोग नहीं बता सके हैं।

श्री विद्यारण्य स्वामी (श्री माधवाचार्य) की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय—

(१) माधवीय धातुवृत्ति—यह व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ है।

(२) जैमिनीय न्यायमाला और उसकी टीका—पूर्वमीमांसाका ग्रन्थ है।

(३) वैयासिक न्यायमाला और उसकी टीका—यह उत्तरमीमांसाका ग्रन्थ है।

(४) पाराशर माधव—यह पराशर संहिता के ऊपर एक निबन्ध है। स्मृति शास्त्रका ऐसा उपयोगी ग्रन्थ सम्भवतः दूसरा नहीं है। पराशर संहितामें जिन विषयों पर प्रकाश नहीं डाला गया वह सब अंश दूसरी स्मृतियोंसे लेकर उसे श्लोकबद्ध करके पराशर माधव में जोड़ दिया गया है।

(५) सर्वदर्शन संग्रह—इसमें समस्त दर्शनोंका सार संगृहीत किया गया है।

(६) विवरण प्रमेय संग्रह—यह श्री पद्मपादाचार्य कृत पञ्चपादिका विवरणके ऊपर एक प्रमेय प्रधान ग्रन्थ है।

(७) सूतसंहिता की टीका—सूतसंहिता स्कन्दपुराणके अन्तर्गत है। उसमें अद्वैत वेदान्तका निरूपण है। उस पर माधवाचार्य ने विशद टीका लिखी है।

(८) पञ्चदशी—यह अद्वैत वेदान्तका एक प्रकरण ग्रन्थ है। इसमें पन्द्रह प्रकरण और १५७१ श्लोक हैं।

(९) अनुभूति प्रकाश—इसमें उपनिषदों की आख्यायिकायें श्लोकबद्ध करके संगृहीत हैं।

(१०) अपरोक्षानुभूति की टीका—अपरोक्षानुभूति श्री शङ्कराचार्य की रचना है। इसपर विद्यारण्य स्वामीने बहुत सुन्दर टीका की है।

(११) जीवन्मुक्तिविवेक—इस ग्रन्थमें ब्रह्मत्व प्राप्तिके साधनोंका निरूपण किया गया है।

(१२) ऐतरेयोपनिषद्दीपिका—शाङ्कर भाष्यानुसारिणी टीका।

(१३) तैत्तरीयोपनिषद्दीपिका—शाङ्कर भाष्यानुसारिणी टीका।

(१४) छान्दोग्योपनिषद्दीपिका—शाङ्कर भाष्यानुसारिणी टीका।

(१५) बृहदारण्यक वार्तिक सार—आचार्य शङ्कर के बृहदारण्यक भाष्य पर सुरेश्वराचार्य कृत वार्तिक का श्लोकबद्ध संक्षिप्त सार।

(१६) शङ्कर दिग्विजय—भगवान् शङ्कराचार्य का जीवनचरित तथा एक उत्कृष्ट कोटिका काव्य ।

(१७) कालमाधव—यह स्मृति शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ है ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि श्री विद्यारण्य स्वामी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी । वे कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, तत्वनिष्ठ, महानलोक-संग्रही तथा पूर्णत्यागी थे । जैसे वे एक सफल राज्य संस्थापक थे वैसे ही वे संन्यासियों में भी अग्रगण्य थे । वे संन्यास ग्रहण करके शृंगेरी मठके शङ्कराचार्य की गद्दी पर सुशोभित हुए थे । इसप्रकार उन्होंने सौ वर्ष से भी अधिक आयु पाकर अपनी जीवन-यात्रा समाप्त की ।

सायणाचार्य कृत वेदों तथा ब्राह्मणों के भाष्यों के साथ इनके छोटे भाई 'सायणाचार्य' का ही सम्बन्ध होनेपर भी इन ग्रन्थोंको सायण-माधवीय कहनेसे यह प्रतीत होता है कि वेदभाष्यसे इनका रचयिताका सम्बन्ध न होनेपर भी उसमें इनका हाथ अवश्य था ।

विद्यारण्य स्वामी की पञ्चदशी जिसपर कि यह भाषाटीका लिखी गई है सेतुबन्ध रामेश्वरसे लेकर हिमालय तक अद्वैतवेदान्त पर सर्वमान्य ग्रन्थ समझा जाता है ।

लेखनस्थान—
श्रद्धेय श्री अच्युतमुनि जी का
आश्रम, गङ्गातीर
सं० १६६०

लेखक—

द्वितीय संस्करण का वक्तव्य

इस बार इसमें अपने कुछ पाठकों के आग्रह से संस्कृत अन्वय उन श्लोकों में बढ़ा दिया है जिनमें आवश्यक जाना गया है। जो श्लोक स्वयं ही अन्वयरूप हैं उनमें अनावश्य मानकर अन्वय नहीं संयुक्त किया गया।

इस बार श्लोकों पर शीर्षक भी लगा दिये हैं जिससे पाठकों को विषय समझने में अत्यन्त सुकरता होगी। यों प्रत्येक दृष्टि से इसे उत्तम संस्करण का रूप देने का पर्याप्त प्रयत्न किया गया है। आशा है पाठक इससे तृप्ति अनुभव करेंगे।

प्रकाशक—
सञ्चालक बुद्धिसेवाश्रम
पो० रतनगढ़
ज़िला बिजनौर (उत्तर प्रदेश)

—लेखक

विषयसूची



ओम्

पञ्चदशी

—:❀:—

तत्वविवेकप्रकरणम् ॥१॥

गुरु-वन्दना

नमः श्रीशंकरानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने ।
सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे ॥१॥

(सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे) विलास [अपने कार्य] सहित महामोह [किंवा मूलाज्ञान] रूपी महादुःखदायी ग्राह को ग्रस लेना ही जिस चरण-कमल का एक मुख्य काम है, (श्री शंकरानन्दगुरु-पादाम्बुजन्मने) श्री शंकरानन्द नाम के गुरुदेव के उस चरण-कमल को (नमः) हमारा प्रणाम हो—हम अपने आप को गुरुदेव के चरणों में अभेद भाव से अर्पण करते हैं।

ग्रन्थरचनाकी प्रतिज्ञा

तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम् ।
सुखबोधाय तत्वस्य विवेकोऽयं विधीयते ॥२॥

(तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम्) ऐसे गुरु के चरण-कमलों की सेवा से जिनका चित्त निर्मल [रागादिशून्य] हो चुका, उनको (सुखबोधाय) सुखबोध [सरलता से तत्वज्ञान] कराने के लिए, (अयं तत्वस्य विवेकः विधीयते) अब तत्व [अनारोपित किंवा सत्यस्वरूप] का विवेचन किया जाता है। [अब पंचकोश नाम के इस आरोपित

जगत् में से उस अनारोपितस्वरूप अखण्ड सच्चिदानन्द वस्तु को पृथक् करके दिखाया जा रहा है]।

जागरण में विषयभेद होने पर भी ज्ञान का अभेद

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक् ।
ततो विभक्ता तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते ॥३॥

(जागरे) जागरण अवस्था में, (शब्दस्पर्शादयः) शब्द स्पर्श आदि (वेद्याः) वेद्य पदार्थ (वैचित्र्यात्) विचित्रता के कारण (पृथक्) पृथक्-पृथक् होते हैं, परन्तु (तत्संवित्) उनका ज्ञान (ततः विभक्ता) उनसे विभक्त रहता है । वह (ऐकरूप्यात्) एक रूप होने के कारण (न भिद्यते) भेद वाला नहीं हो जाता ।

इन्द्रियों से विषयों के ग्रहण को 'जागरण' कहते हैं। उस जागरण नाम की अवस्था में वेद्य कहाने वाले जो शब्द स्पर्श आदि पदार्थ हैं तथा उनके आश्रय जो आकाशादि पदार्थ हैं, वे विचित्रता के कारण परस्पर भिन्न भिन्न होते हैं। परन्तु उन शब्दादियों का [बुद्धि की सहायता लेकर उनसे पृथक् किया हुआ] ज्ञान, एक ही रूप का होने के कारण, अर्थात् ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान–इस समान रूप से प्रतीत होने के कारण, आकाश के समान भिन्न नहीं हो जाता। दूसरे शब्दों में इसे यों कहना चाहिये कि ज्ञान में स्वभाव से कोई भेद नहीं है। क्योंकि उसमें आकाश के समान उपाधि के परामर्श [कथन] के बिना भेद की संभावना नहीं है। शब्द-ज्ञान में स्पर्श-ज्ञान से स्वयं कोई भेद नहीं है, क्योंकि ज्ञान ज्ञान सब एक से होते हैं। उनमें जो भेद प्रतीत होने लगा है, वह शब्द स्पर्श आदि उपाधियों से होने वाला होने से औपाधिक भेद है। ऐसे औपाधिक भेद तो एक अखण्ड आकाश में भी घटाकाश मठाकाश आदि रूपों में पाये जाते हैं। परन्तु वह सच्चे भेद नहीं होते, जैसे उन औपाधिक भेदों से आकाश में भेद नहीं आता,

इसी प्रकार औपाधिक भेदों से ज्ञान में भी भेद को अवकाश नहीं मिलता।

स्वप्न में विषयभेद होने पर भी ज्ञान का अभेद

तथा स्वप्ने, ऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं, जागरे स्थिरम् ।
तद्भेदोऽतस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते ॥४॥

(तथा स्वप्ने) स्वप्न में भी ऐसा ही होता है, [वहाँ भी ज्ञान में भेद नहीं होता। विशेषता इतनी है कि] (अत्र वेद्यं तु न स्थिरम्) इस स्वप्न-काल में वेद्य पदार्थ स्थिर नहीं होते, [प्रातिभासिक होते हैं] (जागरे स्थिरम्) जागरणमें वे स्थिर [व्यावहारिक] होते हैं। (अतः तद्भेदः) इस कारण स्वप्न और जागरण का तो भेद हो जाता है। (तयोः संवित् एकरूपा) परन्तु इन दोनों अवस्थाओंमें होने वाला 'ज्ञान' एकरूप ही रहता है। (न भिद्यते) इसी से उसमें भेद नहीं होता।

जिस प्रकार जागरणमें विचित्रताके कारण, विषयों का भेद, तथा एकरूपताके कारण ज्ञानका अभेद है, ठीक यही अवस्था स्वप्नकी भी है। इन्द्रियोंका उपसंहार हो जाने पर जागरणके संस्कारोंसे उत्पन्न हुआ विषयसहित ज्ञान 'स्वप्न' कहाता है। उस स्वप्नावस्थामें भी केवल विषय ही परस्पर भिन्न होते हैं। ज्ञानमें तब भी कोई भेद नहीं होता। स्वप्न और जागरणमें केवल इतना भेद है कि स्वप्नमें दृश्यमान वेद्य पदार्थ स्थिर नहीं होते, वे केवल प्रातीतिक होते हैं। जागरणमें दीखनेवाली वस्तुयें स्थायी होती हैं। वे कालान्तरमें भी देखी जा सकती हैं। इन दोनोंमें केवल अस्थिरता और स्थिरता के कारण भेद है। परन्तु इन दोनोंके ज्ञानमें भेद नहीं है क्योंकि वह एकरूप है।

सुषुप्ति में भी ज्ञान का अस्तित्व

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमोबोधो भवेत् स्मृतिः ।
सा चावबुद्धविषयाऽवबुद्धं तत्तदा तमः ॥५॥

(सुप्तोत्थितस्य) सोकर उठे हुए पुरुषको (सौपुप्ततमोबोध:) जोकि सुषुप्ति कालके अज्ञानका बोध होता है (स्मृतिः भवेत्) वह उसकी स्मृति होती है, (सा च अवबुद्धविषया) वह स्मृति जाने बूझे विषयकी होती है। [जिसका अर्थ यह है कि] उसने (तदा तत् तमः अवबुद्धम्) सोते समय उस तम अर्थात् अज्ञान को जाना था।

सोकर उठे हुए पुरुषको जो सुषुप्तिकालके अज्ञानका ज्ञान है जिससे वह कहता है कि 'मैंने सोते समय कुछभी नहीं जाना' वह उसका स्मरण है। वह स्मरण अनुभव किये हुए विषयका ही होता है। जो कोई स्मृति होती है उससे प्रथम अनुभवका होना सर्वमान्य सिद्धान्त है। इससे यही सिद्ध होता है कि उसने तब सुषुप्ति में रहनेवाले उस तम अर्थात् अज्ञानको अनुभव किया था।

सौपुप्त ज्ञानका अपने विषयभूत अज्ञानसे तथा ज्ञानान्तरसे अभेद

स बोधो विषयाद्भिन्नो न बोधात् स्वप्नबोधवत् ।

ज्ञानका अभेद उसकी उदय अस्तहीनता तथा स्वयंप्रकाशता

एवं स्थानत्रयेऽप्येका संवित् तद्वद्दिनान्तरे ॥६॥

मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा ।

नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा ॥७॥

(स बोधः) सुषुप्ति समयका वह ज्ञान (विषयात् भिन्नः) अपने विषय [सुषुप्तिकालके अज्ञान] से तो भिन्न होता है परन्तु वह (स्वप्नबोधवत् बोधात् न भिन्नः) स्वप्नबोधके समान ही बोध से भिन्न कदापि नहीं होता। (एवम् स्थानत्रये अपि) इस प्रकार [एक दिनकी] जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंमें (एका संवित्) ज्ञान एक का एक बना रहता है। (तद्वत् दिनान्तरे) इसी प्रकार दूसरे दिनोंमें (अनेकधा गतागम्येषु मासाब्दयुगकल्पेषु च) मास, वर्ष, युग तथा कल्पों तकमें, जोकि बीत चुके या आगे आयेंगे, (एका संवित्) एकही [अखण्ड] ज्ञान बना रहता

है। (न उदेति न अस्तम् एति) इसका कभी उदय या विनाश नहीं होता। (एषा स्वयंप्रभा) यह ज्ञान स्वयंप्रकाश तत्व है।

सुषुप्ति कालके अज्ञानका वह बोध [अनुभव] भी अपने अज्ञान नामके विषयसे भिन्न तो होना ही चाहिये। परन्तु उसके स्वप्नबोधके समान दूसरे बोधसे भिन्न होनेका कारण नहीं है। इस प्रकार एक दिनकी जाग्रदादि तीनों अवस्थाओंमें एकही ज्ञान रहता है। इसी रीतिसे दूसरे दिनमें भी ज्ञानकी अभिन्नताको समझ लेना चाहिये। जैसे एक दिनकी तीनों अवस्थाओंमें एकही ज्ञान बना रहता है, इसी प्रकार दूसरे दिनमें तथा अनेक प्रकारसे बीतेहुए तथा आगामी महीनों वर्षों युगों और कल्पों तकमें एकही अभिन्न अखण्ड ज्ञान बना रहता है। ज्ञानके विषय तो भिन्न भिन्न होते जाते हैं, परन्तु ज्ञानमें कभी भेद नहीं आता। यह ज्ञान दीपकके समान एक होनेके कारण न तो उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है। यदि इस ज्ञानके भी उत्पत्ति और विनाश मानोगे, तो इन उत्पत्ति-विनाशोंको देखनेवाला [साक्षी] कौन होगा ? स्वयं वह ज्ञान ही अपने उत्पत्तिविनाशोंको देखे, यह बात भी सम्भव नहीं है। इन उत्पत्तिविनाशोंको ग्रहण करनेवाला दूसरा कोई ज्ञान भी नहीं पाया जाता। इस कारण इस ज्ञानको उदय अस्तसे रहित तत्व माना जाता है। यह ज्ञान स्वयंप्रकाश है। स्वयंप्रकाश होकर भासित होनेवाला यह ज्ञान ही,इस सकल जगत्का प्रकाश कर रहा है। इसी कारण यह जगत् अन्धा होनेसे बच रहा है। यदि यह ज्ञान न होता तो यह जगत् अन्धा होता।

ज्ञानकी आत्मता और उसी का परमानन्दरूप होना

इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते ॥८॥

(इयम् आत्मा) यह ज्ञानही आत्मा है और (इयं परानन्दः) यही परमानन्दस्वरूप भी है। (यतः परप्रेमास्पदम्) क्योंकि यही परमप्रेमका आस्पद है। (मा न भूवं भूयासम् इति प्रेम आत्मनि ईक्ष्यते हि) "मैं न

रहूं ऐसा कभी न हो किन्तु मैं सदा बना रहूं" ऐसा प्रेम आत्मासे सभी का पाया जाता है।

यह संवित् [ज्ञान] ही आत्मा है और यह परमानन्दस्वरूप भी है क्योंकि यह परमप्रेम अर्थात् निरतिशय [सर्वाधिक] प्रेम का पात्र है। इसको संसारमें सबसे अधिक प्रेम किया जाता है। "मैं कभी न रहूं ऐसा कभी न हो किन्तु मैं सदा ही बना रहूं" ऐसा एक सर्वाधिक प्रेम आत्म-विषयमें सबका देखा जाता है। ऐसी अवस्थामें 'मुझको धिक्कार है' ऐसा जो एक द्वेष कभी कभी आत्माके विषयमें पाया जाता है वह तो दुःखके सम्बन्धके कारणसे दूसरे प्रकारसे भी सिद्ध होजाता है। इस कारण यह द्वेष आत्माकी प्रेम-पात्रताको हटानेमें असमर्थ रह जाता है। क्योंकि आत्म-विषयमें यह प्रेम सबके अनुभवसे सिद्ध होरहा है।

तत्प्रेमात्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि।
अतस्तत् परमं तेन परमानन्दतात्मनः ॥९॥

(तत् प्रेम) वह प्रेम (आत्मार्थम्) अपनेलिए तो (अन्यत्र) दूसरोंसे भी करलिया जाता है, परन्तु (अन्यार्थम्) दूसरों केलिए (आत्मनि) अपने आपेसे प्रेम करने की बात (एवं न) नहीं पायी जाती। (अतः तत् परमम्) इस कारण आत्मप्रेम ही परमप्रेम है। (तेन) इसीसे (आत्मनः परमानन्दता) आत्मा की परमानन्दता सिद्ध होजाती है।

अपनेसे भिन्न पुत्रादिमें भी जो प्रेम दीखता है उसके धोकेमें आकर उसे स्वाभाविक प्रेम न मान बैठना चाहिये। क्योंकि वह प्रेम पुत्रादियों में आत्मार्थ ही होता है। उनमें स्वाभाविक प्रेम किसीको नहीं होता। इसके विपरीत लोगोंको जो आत्मामें प्रेम होता है वह प्रेम किसी दूसरे केलिए नहीं होता। किन्तु वह अपने ही लिये होता है। यों निरुपाधिक [अकारण निर्व्याज] होनेके कारण यह आत्म-प्रेम ही परम [निरतिशय] प्रेम कहाता है। इससे यह सिद्ध होजाता है कि निरतिशय प्रेमका आस्पद होनेसे, आत्मा ही परमानन्दस्वरूप [निरतिशय सुखरूप] है।

मनुष्यके आत्मा और सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मकी एकता

इत्थं सच्चित्परानन्द आत्मा युक्त्या तथाविधम् ।
परं ब्रह्म, तयोश्चैक्यं श्रुत्यन्तेषूपदिश्यते ॥१०॥

(इत्थम् युक्त्या आत्मा सत् चित् परानन्दः) इस प्रकार युक्तिसे आत्मा सच्चित् तथा परानन्दरूप सिद्ध कर दिया गया । (तथाविधं परं ब्रह्म) परब्रह्म भी सच्चिदानन्दस्वरूप ही है । (तयोश्चैक्यं श्रुत्यन्तेषु उपदिश्यते) तथा वेदान्तोंमें उन दोनों (आत्मा और ब्रह्म) की एकता का उपदेश किया है ।

इस प्रकार युक्तिसे आत्माकी सत् चित् तथा परमानन्दताका समर्थन होगया । परब्रह्मभी वैसा ही सच्चिदानन्दस्वरूप है । वेदान्तोंमें आत्मा और ब्रह्मकी [जिनको 'त्वं और तत्' भी कहते हैं] एकता [अखण्ड एकरसता] का प्रतिपादन किया है । वेदान्तोंको इस एकताका प्रतिपादन करनेसे ही प्रामाण्य मिला है । मनुष्यको आत्माकी सच्चिदानन्दरूपताका ज्ञान तो युक्तिसे भी होजाता है, परन्तु आत्मा और ब्रह्म एक ही तत्व हैं इस बातका ज्ञान वेदान्तोंके अतिरिक्त साधनसे होना सम्भव नहीं है ।

आत्मा की अपनी परमानन्दरूपता की प्रतीति और अप्रतीति

अभाने न परं प्रेम, भाने न विषये स्पृहा ।
अतो भानेऽप्यभातासौ परमानन्दतात्मनः ॥११॥

(अभाने) आत्माकी परमानन्दरूपताका अभान मानें तो (परं प्रेम न स्यात्) आत्मासे परमप्रेम नहीं होना चाहिये, तथा (भाने) भान मानें तो (विषये स्पृहा न स्यात्) प्राणीको विषयोंकी इच्छा नहीं होनी चाहिये । (अतः) इस कारण यह मानना पड़ता है कि (आत्मनः असौ परमानन्दरूपता) आत्माकी यह परमानन्दरूपता, (भाने अपि अभाता) ज्ञात होने पर भी अज्ञात बनी हुई है ।

आत्माकी परमानन्दरूपताके विषयमें यह प्रश्न स्वभाव से उठता है कि उसे अपनी परमानन्दरूपताकी प्रतीति होती है या नहीं होती ? यदि प्रतीति का होना न मानें तो उसे आत्मासे परमप्रेम नहीं होना चाहिये। क्योंकि प्रेमतो विषयकी सुन्दरताके ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला एक पदार्थ है। और यदि आत्माको अपनी परमानन्दरूपताकी प्रतीति मानी जाय तो प्राणीको सुखके साधन स्रक्, चन्दन, वनिता आदि भोगोंकी तथा उनसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंकी इच्छा ही नहीं होनी चाहिये थी। क्योंकि जिसको साक्षात् फल प्राप्त होचुका हो उसको साधनोंकी इच्छा कैसी ? जिसको नित्य तथा निरतिशय आनन्दका लाभ होचुका हो उसे क्षणिक साधनोंकी पराधीनता आदि दोषोंसे दूषित, विषयसुखोंकी स्पृहा ही क्यों होनी चाहिये? इस कारण आत्माकी परमानन्दरूपता युक्तिसंगत बात नहीं प्रतीत होती। इस आक्षेपका समाधान यों करना चाहिये कि भान और अभान दोनों पक्षोंके दोषोंको देखकर यों मानना पड़ता है कि आत्माकी यह परमानन्दरूपता प्रतीत होनेपर भी अप्रतीत बनी रहती है। यही कारण है कि प्राणिवर्ग दो विरुद्ध कार्य एक साथ करते पाये जाते हैं—वे अपने आपसे परमप्रेम भी करते हैं और उन्हें विषयोंकी इच्छा भी बनी रहती है। वे आत्माको 'मैं' इस रूपमें तो जानते हैं परन्तु उन्हें यह ज्ञात नहीं होता कि 'मैं' परमानन्दरूप भी हूं।

प्रतीति और अप्रतीतिके सम्मिलित होनेकी युक्ति

अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत् ।
भानेऽप्यभानं भानस्य प्रतिबन्धेन युज्यते ॥१२॥

(अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत्) जैसे बहुतसे पढ़ने वालों के मध्यमें बैठे हुए पुत्रके पढ़नेकी ध्वनि को उसका पिता जानता भी है और नहीं भी जानता, इसी प्रकार (भानस्य प्रतिबन्धेन) आनन्दकी प्रतीति के प्रतिबन्धके कारण (भाने अपि) आनन्दकी प्रतीति [धुंधली प्रतीति] होनेपर भी (अभानं युज्यते) आनन्दकी अप्रतीति होना [स्पष्ट प्रतीति न होना] युक्तिसंगत होजाता है।

जैसे बहुत से पढ़ने वालोंके मध्यमें बैठे हुए पुत्रके पढ़नेका शब्द उसके पिताको सामान्यतया भासमान होने पर भी विशेषरूप से भासमान नहीं होता कि यह मेरे पुत्रका शब्द है। इसी प्रकार आनन्दका सामान्यतया भान रहने पर भी विशेष रूपसे अभान हो जाता है। उसका कारण यह है कि [हम जिस प्रतिबन्धका वर्णन अगले श्लोक में करेंगे उस] प्रतिबन्धके प्रतापसे 'मैं हूं' इस सामान्य रूपसे आत्माकी प्रतीति होते रहने पर भी वह विशेष रूपसे [कि मैं सच्चिदानन्द हूँ] अप्रतीत रह ही जाता है।

प्रतिबन्ध का लक्षण

प्रतिबन्धोऽस्तिभातीतिव्यवहारार्हवस्तुनि ।
तन्निरस्य विरुद्धस्य तस्योत्पादनमुच्यते ॥१३॥

(अस्तिभाति इति व्यवहारार्हवस्तुनि) जिस आत्मवस्तुका व्यवहार 'है और प्रतीति भी हो रही है' ऐसे स्पष्ट शब्दोंमें होना चाहिये था, (तत् निरस्य) उस आत्मवस्तुके उस उचित व्यवहारको हटाकर (विरुद्धस्य तस्य उत्पादनम्) उसके विपरीत 'न तो है ही और न मुझे प्रतीति ही हो रही है' ऐसे एक मिथ्या व्यवहारको उत्पन्न कर देना (प्रतिबन्धः उच्यते) 'प्रतिबन्ध' कहाता है।

दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिकमें प्रतिबन्धका कारण

तस्य हेतुः समानाभिहारः पुत्रध्वनिश्रुतौ ।
इहानादिरविद्यैव व्यामोहैकनिबन्धनम् ॥१४॥

(पुत्रध्वनिश्रुतौ) पुत्र-शब्द-श्रवण [वाले दृष्टान्त] में तो (तस्य हेतुः) उस प्रतिबन्ध का कारण (समानाभिहारः) समानाभिहार [बहुतोंके साथ मिलकर पढ़ना] होता है तथा (इह) इस [दार्ष्टान्तिक] में तो (व्यामोहैकनिबन्धनम्) समस्त विपरीत ज्ञानोंका एक मुख्य कारण (अनादिः)

[उत्पत्ति रहित] (अविद्या एव) अविद्याही है। वही प्रतिबन्धका कारण [अनादि अविद्याका वर्णन आगे किया गया है]।

प्रकृति का स्वरूप

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता ।
तमोरजःसत्वगुणा प्रकृति र्द्विविधा च सा ॥१५॥

(चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता) चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मके प्रतिबिम्बसे युक्त, (तमोरजःसत्वगुणा) तम रज तथा सत्वगुण वाली, वस्तु (प्रकृतिः) 'प्रकृति' कहाती है। (सा च द्विविधा) वह दो प्रकारकी है [जिनका कथन अगले श्लोक में किया जायगा]।

प्रकृति के दो सहेतुक भेद

सत्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।

ईश्वरका मायापर वशीकार, ईश्वरका लक्षण

मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥१६॥

(ते च सत्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये मते) वे दो प्रकारकी प्रकृतियाँ सत्वकी शुद्धिसे 'माया' और सत्वकी अशुद्धि [मलिनता] से 'अविद्या' कही जाती हैं। (मायाबिम्बः) मायामें पड़ा हुआ बिम्ब (तां वशीकृत्य) उस मायाको वशमें कर रहा है और इसी कारण वह (सर्वज्ञः ईश्वरः स्यात्) सर्वज्ञ ईश्वर बना बैठा है।

प्रकाशात्मक सत्व गुणकी शुद्धि होने पर अर्थात् जब वह सत्व गुण दूसरे गुणों से कलुषित नहीं हो जाता—तब वह प्रकृति 'माया' कही जाती है। परन्तु जब वह सत्वगुण दूसरे गुणोंसे कलुषित होकर अशुद्ध हो जाता है तब वही प्रकृति 'अविद्या' कहाने लगती है। संक्षेप यह है कि विशुद्ध-सत्व-प्रधान प्रकृति को 'माया' तथा मलिन सत्व-प्रधान प्रकृति को 'अविद्या' कहते हैं। मायामें प्रतिफलित उस आत्माने क्योंकि

माया को अपने आधीन कर रक्खा है इससे वह सर्वज्ञता आदि गुणों वाला ईश्वर होगया है।

जीवका लक्षण

अविद्यावशगस्त्वन्य स्तद्वैचित्र्यादनेकधा ।

कारणशरीर तथा प्राज्ञ

सा कारणशरीरं स्यात् प्राज्ञस्तत्राभिमानवान् ॥१७॥

(अन्य: तु जीव: अविद्यावशग:) ईश्वरसे दूसरा जीवतो अविद्याके वशमेंफँस गया है। (तद्वैचित्र्यात् अनेकधा) अविद्याकी विचित्रताके कारण अनेक होगया है। (सा कारणशरीरं स्यात्) उस अविद्याको 'कारणशरीर' कहते हैं। (तत्र अभिमानवान् प्राज्ञ:) उस कारणशरीर कहानेवाली अविद्यामें अभिमान करनेवाले को 'प्राज्ञ' कहा जाता है।

अविद्यामें प्रतिबिम्बित होकर उसके पराधीन होजानेवाला आत्मा जीव कहाने लगता है। वह जीव उस अविद्यारूपी उपाधिकी विचित्रता [अशुद्धिकी न्यूनाधिकता] के कारण अनेक प्रकारका होगया है। उसके देवता मनुष्य पशु पक्षी आदि अनेक भेद हो गये हैं। वह अविद्या 'कारणशरीर' कहाती है, क्योंकि वह अविद्या ही स्थूल सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल सूक्ष्म भूतों का कारण मानी गयी है। उस कारणशरीरमें अभिमान करनेवाले अर्थात् उसीमें 'मैं' भावना करनेवाले जीवको 'प्राज्ञ' नामसे कहा जाता है।

पांच सूक्ष्ममहाभूतोंकी उत्पत्ति

तम:प्रधानप्रकृते स्तद्भोगायेश्वराज्ञया ।

वियत्पवनतेजोऽम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे ॥१८॥

(तद्भोगाय) उन [प्राज्ञों] के भोगके लिये (ईश्वराज्ञया) ईश्वरकी आज्ञासे (तम:प्रधानप्रकृते:) तम:-प्रधान प्रकृतिमें से (वियत्पवनतेजोम्बु-भुव: भूतानि जज्ञिरे) आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा भूमि नामके पांच महाभूत उत्पन्न हुए।

उन प्राज्ञ नामक जीवोंके सुख-दुःख-साक्षात्काररूपी भोगके लिये उस प्रकृतिमें से [जिसमें कि तमोगुण की प्रधानता है] ईशान आदि शक्ति वाले जगत्के अधिष्ठाता की आज्ञासे [जिस आज्ञाको उसका ईक्षण या सर्जनेच्छा भी कहा जाता है] आकाश आदि पांच भूत उत्पन्न होगये।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति

सत्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम् ।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुपजायते ॥१९॥

(तेषां पंचभिः सत्वांशैः) उन आकाश आदि पाँच भूतोंके पृथक् पृथक् पाँच सत्व भागोंसे (क्रमात्) क्रमानुसार (श्रोत्रत्वगक्षिरसन घ्राणाख्यं धीन्द्रियपंचकम् उपजायते) श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना तथा घ्राण नामकी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होजाती हैं। [अर्थात् एक एक भूत के पृथक् पृथक् सत्वांशसे एक एक इन्द्रियकी उत्पत्ति होती है]

अन्तःकरणकी उत्पत्ति और उसके मन बुद्धि रूपी दो भेद

तैरन्तःकरणं सर्वैं र्वृत्तिभेदेन तद् द्विधा ।
मनो विमर्शरूपं स्याद् बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका ॥२०॥

(तैः सर्वैः सम्मिलितैः अन्तःकरणम) उन पाँचों भूतोंके पाँचों सत्वांशोंसे मिलकर एक अन्तःकरण नाम का पदार्थ उत्पन्न होजाता है। (तत् वृत्तिभेदेन द्विधा) वह अन्तःकरण अपने वृत्तिभेदके कारण दो प्रकार का होता है। (विमर्शरूपं मनः स्यात्) जब वह विमर्श किंवा संशयात्मिका वृत्ति करता है अथवा यों कहो कि जब वह विमर्श रूप हो जाता है तब उसको 'मन' कहा जाता है। (निश्चयात्मिका बुद्धिः स्यात्) निश्चयस्वरूप हो जाने पर उसीको 'बुद्धि' नामसे कहने लगते हैं।

पाँच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति और उनके नाम

रजोंशैः पंचभिस्तेषां क्रमात् कर्मेन्द्रियाणि तु ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे ॥२१॥

(तेषां पंचभिः रजोंशैः तु क्रमात्) उन आकाशादि पाँच भूतोंके पृथक्-पृथक् पाँच रजोभागोंसे क्रमानुसार (वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि) वाक् , पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ नामकी पाँच कर्मेन्द्रियां (जज्ञिरे) उत्पन्न हुईं ।

प्राण की उत्पत्ति और उसके भेद

तै सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात् स पंचधा ।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः ॥२२॥

(तैः सर्वैः सहितैः प्राणः) उन पाँच भूतोंके पाँचों रजोभागों से मिलकर एक प्राण का जन्म होजाता है । (सः वृत्तिभेदात् पंचधा) वह प्राण वृत्तिभेद [प्राणनादि व्यापारों के भेद] से, पाँच प्रकार का होता है । (ते पुनः प्राणः अपानः समानः उदानव्यानौ च) वे पाँच प्रकार ये हैं—प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान ।

लिङ्गशरीर

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपंचकै मनसा धिया ।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिंगमुच्यते ॥२३॥

(बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपंचकैः मनसा धिया सप्तदशभिः सूक्ष्मं शरीरम्) पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, मन तथा बुद्धि इन सतरह पदार्थोंसे मिलकर 'सूक्ष्म शरीर' बनता है । (तत् लिङ्गम् उच्यते) उसी को (वेदान्तोंमें) 'लिंगशरीर' भी कहते हैं । (इस लिंग शरीरको समझाने के लिये ही आकाश आदि प्राण पर्यन्त पदार्थों की सृष्टि बताई ।

सूक्ष्म शरीरमें अभिमान करनेके कारण प्राज्ञ और ईश्वरकी दूसरी अवस्था

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते ।
हिरण्यगर्भतामीश स्तयो र्व्यष्टिसमष्टिता ॥२४॥

(प्राज्ञः तत्र अभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते) वह प्राज्ञ नामका (मलिन-सत्वप्रधान अविद्योपाधिक) जीव तो उस लिंगशरीर में अभिमान

[तादात्म्याभिमान] करने से 'तैजस' होजाता है तथा वह [विशुद्ध सत्वप्रधान मायोपाधिक] (ईशः हिरण्यगर्भताम्) ईश्वर उस लिंग देहमें अभिमान करने से' हिरण्यगर्भ' होजाता है। (तयोः व्यष्टिसमष्टिता) उन दोनोंमें भेद केवल व्यष्टि और समष्टि होने का है तैजस 'व्यष्टि' है और हिरण्यगर्भ 'समष्टि' है (लिंग शरीरमें अभिमान करना दोनोंमें समान है)

मलिनसत्वप्रधान अविद्यारूपी उपाधि वाला जीव जब लिंग शरीर में अभिमान करता है, जब वह उसीको अपना आत्मा मान लेता है तब उसे 'तैजस' कहने लगते हैं और जब विशुद्ध सत्वप्रधान मायारूपी उपाधिवाला परमेश्वर उसी लिंग शरीरमें 'मैंपने' का अभिमान करता है तब उसका नाम 'हिरण्यगर्भ' होजाता है। तैजस और हिरण्यगर्भ दोनों ही यद्यपि लिंगशरीर पर अभिमान करने वाले हैं परन्तु उनमेंसे एक 'व्यष्टि' है दूसरा 'समष्टि' है। इसीसे दोनोंमें भेद होगया है।

ईश्वरके समष्टि और जीवोंके व्यष्टि होनेका कारण

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् ।
तदभावात् ततोऽन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टिसंज्ञया ॥२५॥

(सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् ईशः समष्टिः) क्योंकि वह ईश्वर जिसे हिरण्यगर्भ कहा गया है—लिंगशरीर उपाधि वाले सब तैजसों के साथ अपने आत्माकी एकताको कि ये सब मिलकर 'मैं' हूं समझता है इससे वह तो 'समष्टि' होता है। (ततः अन्ये तु) उस ईश्वरसे अन्य जो जीव हैं वे तो (तदभावात्) उस तादात्म्यवेदनके अभावसे [उन सबके साथ एकत्वज्ञान के न होने से] (व्यष्टिसंज्ञया कथ्यन्ते) 'व्यष्टि' नामसे कहे जाते हैं।

स्थूल शरीरकी उत्पत्ति केलिये पञ्चीकरण का निरूपण

तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने ।
पञ्चीकरोति भगवान् प्रत्येकं वियदादिकम् ॥२६॥

(पुनः भगवान्) उसके पश्चात् भगवान् परमेश्वर (तद्भोगाय) उन जीवोंके भोगके लिये ही (भोग्यभोगायतनजन्मने) भोग्य [अन्नपानादि] तथा भोगमन्दिरों [जरायुज आदि चार प्रकारके शरीरों] की उत्पत्ति करनेके लिये, (वियदादिकं प्रत्येकम्) आकाश आदि पाँच भूतोंमें से प्रत्येक भूतको [जो कि अभी तक अपंचात्मक थे] (पंचीकरोति) पंचात्मक कर देता है [जिससे कि उनसे जीवोंके भोगके लिये भोग्य अन्नपानादि तथा भोगमन्दिर शरीरादिका निर्माण हो सके]।

पञ्चीकरणका प्रकार

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशै र्योजनात् पञ्च पञ्च ते ॥२७॥

(एकैकं द्विधा द्विधा विधाय) आकाशादि प्रत्येक भूतके पहले दो दो भाग किये जाँय। (पुनः प्रथमं चतुर्धा विधाय) फिर उनमें के पहले एक भागके चार चार भाग किये जाँय [तथा दूसरे आधे भागोंको पूरा ही रक्खा जाय] उसके पश्चात् (स्वस्वेतरद्वितीयांशैः) अपने तथा अपने से भिन्न दूसरे चारों भूतोंके दूसरे स्थूल भागोंके साथ (योजनात्) योग करनेसे (ते प्रत्येकं पञ्च पञ्च भवन्ति) ये पाँचों भूत पञ्चीकृत हो जाते हैं।

पञ्चीकरण का चित्र

प्रत्येक भूतमें आधा भाग अपना है तथा आधे में शेष ४ भूत हैं

आकाश	वायु	अग्नि	जल	पृथिवी
आकाश	वायु	अग्नि	जल	पृथिवी
वायु अग्नि जल पृथिवी	आकाश अग्नि जल पृथिवी	आकाश वायु जल पृथिवी	आकाश वायु अग्नि पृथिवी	आकाश वायु अग्नि जल

भूतोंसे जगत्‌की उत्पत्ति

तैरण्डस्तत्र भुवनं भोग्यभोगाश्रयोद्भवः ।

हिरण्यगर्भका वैश्वानर बन जाना

हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन् देहे वैश्वानरो भवेत् ॥२८॥

(तैः अण्डः) उन पंचीकृत भूतोंसे ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति होती है। (तत्र भुवनम्) उस ब्रह्माण्डमें भुवन, (तत्र भोग्यभोगाश्रयोद्भवः) उन भुवनोंमें प्राणियोंके भोगने योग्य भोग्यपदार्थ तथा उन उन लोकोंके अनुकूल शरीर [ईश्वर की आज्ञासे] उत्पन्न हो जाते हैं। (अस्मिन् स्थूले देहे हिरण्यगर्भः वैश्वानरो भवेत्) इन समस्त स्थूल शरीरोंमें अहंभाव करनेवाला समष्टिरूप हिरण्यगर्भ वैश्वानर होजाता है।

तैजसोंका विश्व बनना

तैजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः ।

ते पराग्दर्शिनः प्रत्यक्तत्त्वबोधविवर्जिता ॥२९॥

(तैजसा विश्वतां याताः) इस स्थूल शरीरमें अभिमान करनेवाले तैजस 'विश्व' हो जाते हैं, जिनको देव तिर्यङ् तथा मनुष्यादि कहा जाने लगता है। (ते पराग्दर्शिनः) वे विश्व सब बहिर्मुख हैं। (प्रत्यक्तत्त्वबोधविवर्जिताः) इन किसीको भी आत्मतत्वका बोध नहीं है।

पृथक् पृथक् स्थूल शरीरोंमें अहंभावसे निवास करनेवाले तैजस 'विश्व' कहाने लगते हैं। देवता, पशु-पक्षी तथा मनुष्यादि भेद इन विश्वों के ही होते हैं। तैजसोंमें इस प्रकारका कोई भेद नहीं होता। कारणशरीर तथा लिंगशरीर तो सब प्राणियों (देव पशुपक्षियों) के एकसे ही होते हैं। इनके केवल स्थूल शरीर ही भिन्न भिन्न प्रकारके होते हैं। वे देवादि सब पराग्दर्शी [बाह्यदर्शी] हैं। ये बाह्य शब्दादि विषयोंको ही देखा करते हैं। ये [अपने दुर्भाग्य के कारण] प्रत्यगात्माको नहीं देख पाते। इन

किसीको भी आत्मतत्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। यद्यपि तार्किक आदि लोग देहसे भिन्न आत्माको पहचानते हैं परन्तु उन्हें भी श्रुतिप्रतिपादित असंग आत्मरूपका यथार्थज्ञान नहीं है।

कर्म और भोगका अनन्त भंवर, प्राणियोंके अनात्मज्ञ होनेका दुष्परिणाम

कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्जते।
नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते॥
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम् ॥२०॥

(ते भोगाय तु कर्म कुर्वते) ये [सुखादिको] भोगनेके लिये तो कर्म करते हैं (कर्म कर्तुं च भुञ्जते) ये [आगे] कर्म करनेके लिये भोगोंको भोगते हैं। (ते नद्यां आवर्तात् आशु आवर्तान्तरम् व्रजन्तः कीटाः इव) ऐसे ये जीव नदीके उन कीड़ोंकी भांति हैं जो एक आवर्तसे निकलकर झटपट दूसरे आवर्तमें जा फँसते हैं। ऐसे ही ये जीव भी (जन्मनः जन्म व्रजन्तः) जन्मसे जन्मको शीघ्र-शीघ्र पाते रहते हैं। (निर्वृतिं न एव लभन्ते) इन्हें कभी भी विश्राम [सुख] नहीं मिलता।

क्योंकि इनको आत्मतत्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता इस कारण ये भोग [सुख आदिके अनुभव] के लिये [मनुष्यादि शरीरोंमें वसकर उन उन शरीरों के अनुकूल] कर्म किया करते हैं और कर्म करनेके लिये [मनुष्यादि शरीरोंके द्वारा] उन उन फलोंको भोगा करते हैं। फलको भोगना इसलिये आवश्यक होता है कि, यदि कर्म करनेके पश्चात् इन्हें फलका अनुभव न हुआ करे, तो फिर इन प्राणियोंको उस प्रकारकी अन्य इच्छायें ही पैदा न हुआ करें और फिर प्राणी उन उन साधनोंके अनुष्ठान में भी न लगा करें। जब कोई प्राणी किसी भोगको भोग लेता है तब फिर वह शतगुण उत्साहसे वैसे वैसे कर्मोंमें जुट जाता है और जब कर्म कर चुकता है तब सहस्रों आशाओं से भोगोंकी बाट देखता है। यों यह कर्म और भोगका अनन्त चक्कर कभी समाप्त होने में नहीं आता। ऐसे जीवों की गति नदीके बहावमें बहनेवाले उन कीड़ोंकी सी होती है, जो

कभी एक भंवरमें से निकलते हैं तो तुरन्त दूसरेमें जा पड़ते हैं और कभी भी विश्राम नहीं पाते। इसी प्रकार ये प्राणी कर्म और भोगके इस भँवर में फँसकर जन्मसे जन्म पाते जारहे हैं। इन हतभागियोंको सुखके चिरस्थायी दर्शन कभी नहीं होते।

ब्रह्मदर्शी विद्वानों के उपदेशों से लाभ उठाना
संसाररूपी आपत्तियों से बचनेका एकमात्र उपाय।

सत्कर्मपरिपाकात्ते करुणानिधिनोद्धृताः।
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यन्ति यथासुखम् ॥३१॥

(ते कीटाः सत्कर्मपरिपाकात् करुणानिधिना उद्धृताः) नदीके भंवरमें पड़नेवाले कीड़े अपने किसी पुण्यकर्मका परिपाक होने पर किसी कृपालुके द्वारा नदीमें से बाहर निकाले जाकर (तीरतरुच्छायां प्राप्य) किसी किनारेके पेड़की छायाको पाकर (यथासुखं विश्राम्यन्ति) सुखपूर्वक विश्राम पा लेते हैं।

पंचकोशविवेक से मोक्षसुखलाभ।

उपदेशमवाप्यैवमाचार्यात् तत्वदर्शिनः।
पञ्चकोशविवेकेन लभन्ते निर्वृतिं पराम् ॥३२॥

(एवं तत्वदर्शिनः आचार्यात्) इसी प्रकार जब किन्हींके पूर्वोपार्जित कोटि पुण्य कर्मों का परिपाक होता है तब वे प्राणी किसी तत्वदर्शी आचार्यसे (उपदेशम् अवाप्य) उपदेश [श्रवण] को पाकर [आगे बतायी विधिसे] (पंचकोशविवेकेन) पांच कोशोंका विवेक कर लेनेपर, (परां निर्वृतिंलभन्ते) परानिर्वृति [मोक्षसुख] को पा लेते हैं।

पांच कोश तथा उनके आच्छादनसे स्वात्मविस्मृति
और उससे मनुष्यका संसाररूपी गर्तमें पतन।

अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पञ्च ते।
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत् ॥३३॥

(अन्नं प्राणः मनः बुद्धिः आनन्दः च इति पञ्च कोशाः) अन्न, प्राण, मन, बुद्धि [विज्ञान] तथा आनन्द ये पाँच कोश कहाते हैं। [इनको कोश कहने का कारण यह है कि] (तैः आवृतः स्वात्मा) इन कोशों से आच्छादित हुआ अपना आत्मा, (विस्मृत्या) अपने स्वरूप को भूल जाने के कारण, (संसृतिं व्रजेत्) जन्ममरणरूपी संसार में फंस जाता है।

जैसे कोश [बन्दा] कोश बनानेवाले कीड़ेके क्लेशका कारण होता है अथवा जैसे कोश [म्यान] के भीतर रखी हुई असि [तलवार] का रूप छिप जाता है इसी प्रकार इन अन्नादि कोशोंने, अद्वयानन्द आत्मतत्व को ढक दिया है और आत्माको क्लेश पहुँचा रक्खा है इसीसे इनको भी 'कोश' कहा जाता है।

अन्नमय प्राणमय कोश

स्यात् पंचीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः।
लिङ्गे तु राजसैः प्राणैः प्राणः कर्मेन्द्रियैः सह ॥३४॥

(पंचीकृतभूतोत्थः स्थूलः देहः अन्नसंज्ञकः कोशः) पंचीकृत भूतोंसे उत्पन्न हुआ यह स्थूल देह 'अन्नमय कोश' कहाता। (प्राणः [प्राणमयः कोशः] लिङ्गे [लिङ्गशरीरे वर्तमानैः] राजसैः [पंच] प्राणैः तथा [पंच] कर्मेन्द्रियः सह [मिलित्वा] भवति) प्राणमयकोश तो लिङ्गशरीरमें के राजस [रजोगुणसे बने हुए] पांच प्राणोंसे तथा वागादि पांच कर्मेन्द्रियों से मिलकर हो जाता है।

मनोमय विज्ञानमय कोश

सात्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः।
तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ॥३५॥

[विमर्शात्मा] मनः सात्विकैः धीन्द्रियै साकं मिलित्वा मनोमयः कोशः भवति) विमर्शात्मा मन तथा सात्विक ज्ञानेन्द्रियां मिलकर 'मनोमय कोश' कहाता है। तैः [सात्विकैः धीन्द्रियैः] एव साकं मिलित्वा निश्चया-

त्मिका धीः विज्ञानमयः कोशः भवति) उन्हीं ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिली हुई निश्चयात्मिका बुद्धि 'विज्ञानमय कोश' कही जाती है।

आनन्दमय कोश

कारणे सत्वमानन्दमयो मोदादिवृत्तिभिः ।
तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्यादात्मा तत्तन्मयो भवेत् ॥३६॥

(कारणे मोदादिवृत्तिभिः सहितं मलिनं सत्वं आनन्दमयः कोशः स्यात्) कारणशरीर में मोदादि वृत्तियों के साथ रहने वाले [मलिन] सत्व को 'आनन्दमय कोश' कहते हैं। (आत्मा तत्तत्कोशैः तादात्म्यात् तत्तन्मयः भवेत्)आत्मा यद्यपि अन्नमय आदि रूप नहीं है तो भी केवल तादात्म्याध्यास से तत्तद्रूप हो जाता है।

कारणशरीर कहानेवाली अविद्या में जो कि मलिनसत्व रहता है, वह जब उन उन प्रिय मोद तथा प्रमोद नामकी वृत्तियोंसे युक्त होजाता है [जो वृत्तियें क्रमसे इष्ट पदार्थके मिलने की आशासे, इष्ट पदार्थके मिलनेसे तथा इष्ट पदार्थके भोगने से, पैदा हुआ करती हैं] 'आनन्दमय-कोश' कहाने लगता है। जब वह आत्मा उस उस कोशके साथ तादात्म्याभिमान कर लेता है तब उस उस कोशमय सा होजाता है। परन्तु वास्तवमें तो वह उन उन कोशोंसे अत्यन्त विलक्षण बना रहता है।

कोशमग्न आत्माके ब्रह्मत्वलाभका उपाय कोशोंसे उसका विवेचन है

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पञ्चकोशविवेकतः ।
स्वात्मानं तत उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते ॥३७॥

(अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पञ्चकोशविवेकतः) आगे कही जानेवाली अन्वयव्यतिरेक नामकी युक्तिसे, या तो पाँच कोशोंको आत्मासे पृथक् पहचानकर (ततः आत्मानम् उद्धृत्य) अपने आत्माको उनमेंसे बाहर कर लेनेपर (परं ब्रह्म प्रपद्यते) ज्ञानीमानव परब्रह्म होजाता है।

विवेकी आगे बतायी हुई अन्वय-व्यतिरेक नामकी युक्तियोंसे पांचों कोशोंका विवेक कर लेनेपर बुद्धि की सहायतासे अपने आत्माको उन कोशोंमें से बाहर निकालकर, अपने चिदानन्द स्वरूपका निश्चय करके परब्रह्मको प्राप्त होजाता, किंवा स्वयं परब्रह्म ही होजाता है ।

स्थूलदेहके सम्बन्धमें अन्वयव्यतिरेक नामकी युक्ति

अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद् भानमात्मनः ।
सोऽन्वयो व्यतिरेक स्तद्भानेऽन्यानवभासनम् ॥३८॥

(स्वप्ने स्थूलदेहस्य अभाने यत् आत्मनः भानं सः आत्मनः अन्वयः) स्वप्नावस्थामें इस स्थूलदेह के भान (प्रतीति) न रहने पर आत्माका भान बना रहना [उस समय स्वप्नके साक्षीके रूपमें आत्माका स्फुरण होते रहना] यह आत्माका 'अन्वय' [अर्थात् अनुवृत्त होना] कहाता है । ([तथा स्वप्ने] तद्भाने अन्यानवभासनं सः [स्थूलदेहस्य] व्यतिरेकः) तथा उसी स्वप्नावस्थामें उस आत्माकी स्फूर्ति होने पर, जब इस स्थूलदेह का भान नहीं रहता तब यही स्थूलदेह का 'व्यतिरेक' [अर्थात अनुवृत्त न रहना अर्थात् छुट जाना] कहाता है । [इस प्रकरणमें अन्वय-व्यतिरेक का अभिप्राय अनुवृत्ति और व्यावृत्ति से है]

लिङ्गदेहके सम्बन्धमें अन्वयव्यतिरेक नामकी युक्ति

लिङ्गाभाने सुषुप्तौ स्यादात्मनो भानमन्वयः ।
व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिङ्गस्याभानमुच्यते ॥३९॥

(सुषुप्तौ लिङ्गाभाने आत्मनः भानम् अन्वयः) सुषुप्ति अवस्था आजाने पर लिङ्गदेह का तो अभान [अप्रतीति] हो जाना परन्तु आत्मा का भान बने रहना [सुषुप्ति अवस्थाके साक्षीके रूपमें] आत्मा का स्फुरण होते रहना ही आत्मा का 'अन्वय' [अर्थात् अनुवृत्त रहना] कहाता है । {तथा सुषुप्तौ} (तद्भाने लिङ्गस्य अभानं {लिङ्गस्य} व्यतिरेकः उच्यते) तथा उस समय आत्माका भान होते रहने पर भी लिङ्गदेह की

प्रतीति न होना, लिङ्गदेह का 'व्यतिरेक' [अर्थात् अनुवृत्त न रहना] कहाता है ।

लिङ्गदेहके विवेकसे शेष सब कोशोंका विवेक

तद्विवेकविविक्ताः स्युः कोशाः प्राणमनोधियः ।
ते हि तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात् पृथक्कृताः ॥४०॥

(प्राणमनोधियः कोशाः तद्विवेकविविक्ताः स्युः) प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय ये तीनों ही कोश लिङ्गदेह का विवेक कर लेनेसे ही विविक्त होजाते हैं। (ते हि तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात् पृथक् कृताः) क्योंकि वे गुणोंकी अवस्थाकी भिन्नताके कारण ही उस लिङ्गदेहसे पृथक् कहे गये हैं ।

लिङ्गदेह का विवेचन इसलिये प्रकरणसंगत है कि 'प्राणमय' 'मनोमय' तथा 'विज्ञानमय' कोश इसीमें अन्तर्भूत हैं। इस लिङ्गदेह का विवेक कर लेने पर प्राण, मन तथा विज्ञानमय नामके तीनों कोश स्वयमेव विविक्त [आत्मासे पृथक् ज्ञात] होजाते हैं। क्योंकि वे प्राण-मय आदि कोश उस लिङ्गशरीरमें सत्व और रज नामक गुणोंकी केवल अवस्था की भिन्नतासे [उनके गुणप्रधानभाव के कारण प्राप्त हुई विशेष अवस्थाके कारण ही] भेद से कह दिये गये हैं। वास्तवमें वे उससे पृथक् कुछ नहीं हैं। वे सब लिङ्गदेह की ही विशेष अवस्था हैं।

कारणशरीर या आनन्दमयकोशका अन्वयव्यतिरेक

सुषुप्त्यभाने भानं तु समाधावात्मनोऽन्वयः ।
व्यतिरेकस्त्वात्मभाने सुषुप्त्यनवभासनम् ॥४१॥

(समाधौ सुषुप्त्यभाने आत्मनः तु एव भानम् आत्मनः अन्वयः) समाधिके समय सुषुप्तिका अभान होजाने पर आत्माका ही भान होते रहना, आत्माका 'अन्वय' कहाता है। (समाधौ आत्मभाने सुषुप्त्यनव-भासनं सुषुप्तेः व्यतिरेकः) तथा उस समय आत्माका भान होते रहने पर भी सुषुप्तिका भास न होना सुषुप्ति का 'व्यतिरेक' कहाता है ।

समाधिमें [जिसका कि वर्णन आगे किया जायगा] सुषुप्ति [कारणदेह नामक अज्ञान] का तो अभान [अप्रतीति] रहता है, परन्तु आत्माका भान अर्थात् स्फुरण होता रहता है। यह आत्माका 'अन्वय' कहाता है। यों समाधिमें आत्माका भान होने पर सुषुप्ति [अज्ञान] की प्रतीति न होना, सुषुप्ति का 'व्यतिरेक' कहाता है। सारांश यह है कि, यह आत्मा अन्नमयादि कोशों से भिन्न है। क्योंकि उन अन्नमयादिके परस्पर व्यावृत्त होजाने पर भी वह कभी व्यावृत्त नहीं होता। वह सबमें अनुवृत्त है। जो जिनके हट जाने पर भी न हटता हो, वह उन [हटने वालों] से भिन्न होता है। जैसे माला का सूत्र मालाके फूलोंसे भिन्न होता है अथवा जैसे गोत्वजाति काली पीली गायोंसे भिन्न होती है।

कोशविविक्त आत्माको ब्रह्मत्वलाभ होनेका प्रमाण

यथामुञ्जादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः ।
शरीरत्रितयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते ॥४२॥

(यथा मुञ्जात् इषीका एवं धीरैः युक्त्या शरीरत्रितयात् समुद्धृतः आत्मा परं ब्रह्म एव जायते) मूञ्जमें से सींक की भांति धीर लोगोंसे [ऊपर कही अन्वयव्यतिरेक नामकी] युक्तिसे तीनों शरीरोंसे पृथक् पहचाना हुआ आत्मा परब्रह्म ही होजाता है।

(अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा) इस कठश्रुतिमें कहा है कि जैसे मूञ्जमें से सींकको युक्तिसे बाहर निकाल लेते हैं इसी प्रकार धीर [ब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्न अधिकारी] लोग यदि आत्माको भी अन्वय-व्यतिरेक नामक युक्तिके सहारेसे प्रथम कहे हुए तीनों शरीरोंमें से पृथक् कर लें अर्थात् उसे विविक्त रूपमें पहचान लें तो उनका वह आत्मा परब्रह्म ही होजाता है। फिर चिदानन्दरूपी लक्षण उन दोनोंमें समान दीखने लगता है, फिर आत्माके ब्रह्म होनेमें संशय नहीं रहता।

अगले ग्रन्थका तात्पर्य

परापरात्मनोरेवं युक्त्या संभावितैकता ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यैः सा भागत्यागेन लक्ष्यते ॥४३॥

(एवं युक्त्या परापरात्मनोः एकता संभाविता) यहाँ तक युक्तिसे 'पर' और 'अपर' आत्माकी एकताको अंगीकार कराया गया। (सा एकता तत्वमस्यादिवाक्यैः भागत्यागेन लक्ष्यते) उसी एकताको 'तत्वमसि' आदि वाक्य भागत्यागलक्षणा से लक्षित कर रहे हैं।

यहाँ तक पर और अपर आत्माकी [जिनको 'परमात्मा' और 'जीवात्मा' भी कहा जाता है] एकताकी संभावना [लक्षणकी समानता आदि उपायोंसे] स्वीकार कराई गई। उसी एकताको 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य भागत्यागलक्षणा [विरोधी भागको छोड़कर अविरोधी भाग को लेनेवाली लक्षणा] से स्पष्ट लक्षित कर रहे हैं।

तत्त्वमसिके तत् पदका वाच्यार्थ

जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम् ।
निमित्तं शुद्धसत्त्वां तामुच्यते ब्रह्म तद्गिरा ॥४४॥

(यत् ब्रह्म तामसीं मायाम् आदाय जगतः उपादानम्) जो ब्रह्म तमःप्रधान मायाको लेकर जगत् का उपादान होजाता है, (तथा यत् ब्रह्म शुद्धसत्वां ताम् मायाम् आदाय जगतः निमित्तं) तथा जो ब्रह्म शुद्धसत्व-प्रधान मायाका लेकर जगतका निमित्त बन जाता है (तद्ब्रह्म तत्त्वमसि इति वाक्यस्थया तद्गिरा {तत्पदेन} उच्यते) वह ब्रह्मही तत्त्वमसिके 'तत' शब्दसे कहा जाता है।

जो सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म तमोगुणप्रधान माया को लेकर [उसे उपाधिभाव से स्वीकार करके] तो इस चराचरात्मक जगत् का उपादान [अध्यासका अधिष्ठान] हो जाता है, तथा जो ब्रह्म विशुद्धसत्व-प्रधान उसी माया को लेकर [उसको अपनी उपाधि मानकर] निमित्त

[उपादानादिको जाननेवाला कर्ता] हो जाता है, वह निमित्त तथा उपादान उभयरूपी 'ब्रह्म' ही 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के 'तत्' पद से कहा गया है। जैसे घट आदि पदार्थों के निमित्त और उपादान कारण अलग अलग होते हैं, वैसे जगत् का निमित्त और उपादान पृथक् पृथक् नहीं है किन्तु एक है। ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान है।

तत्त्वमसि के त्वं पद का वाच्यार्थ।

यदा मलिनसत्त्वां तां कामकर्मादिदूषिताम्।
आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वंपदेन तदोच्यते ॥४६॥

(तदेव परं ब्रह्म यदा मलिनसत्वां कामकर्मादिदूषितां ताम् अविद्या शब्दवाच्यां मायाम् आदत्ते तदा त्वंपदेन उच्यते) वही ब्रह्म जिस अवस्था में मलिनसत्वप्रधान होने के कारण हो कामकर्मादि से दूषित उस अविद्या नामवाली मायाको उपाधिभावसे स्वीकार कर बैठता है तब उसी ब्रह्मको तत्त्वमसिका 'त्वं' पद कहता है।

तत्त्वमसि महावाक्यका अर्थ।

त्रितयीमपि तां मुक्त्वा परस्परविरोधिनीम्।
अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते ॥४६॥

(परस्परविरोधिनीं त्रितयीम् अपि तां मुक्त्वा अखण्डं सच्चिदानन्दं ब्रह्म महावाक्येन लक्ष्यते) परस्पर विरुद्ध उस तीन प्रकारकी मायाको छोड़ देनेपर तत्त्वमसि आदि महावाक्य अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्मको लक्षित कर देते हैं।

जब तमःप्रधान, विशुद्धसत्वप्रधान और मलिनसत्वप्रधान इन तीनों प्रकार की परस्परविरोधिनी उस पूर्वोक्तमायाका परित्याग कर दिया जाता है उस समय तत्त्वमसि आदि महावाक्य आते हैं और अधिकारीके सामने भेदरहित सच्चिदानन्द ब्रह्मको लक्षित करने लगते हैं।

लक्षणावृत्तिसे वाक्यार्थज्ञानका दृष्टान्त ।

सोऽयमित्यादिवाक्येषु विरोधात्तदिदन्तयोः

त्यागेन भागयोरेक आश्रयो लक्ष्यते यथा ॥४७॥

(यथा सः अयं देवदत्तः इत्यादिवाक्येषु) जैसे 'सोयंदेवदत्तः' इत्यादि वाक्यों में (तदिन्तयोः विरोधात् 'तत्ता' और 'इदन्ता' का विरोध होनेसे, (विरुद्धभागयोः त्यागेन) इन दोनों विरोधी भागोंका त्याग करके, (एकः आश्रयः लक्ष्यते) इनके एक आश्रय, एक देवदत्तस्वरूप की लक्षणा हो जाती है—

'यह वह देवदत्त है' इस वाक्य में 'यह' का अर्थ है इस देश और इस कालका देवदत्त तथा 'वह' का अर्थ होता है उस देश तथा उस कालका देवदत्त । यों जब 'यहपन' और 'वहपन' नामके धर्मोंका विरोध होनेसे, देवदत्तकी एकता नहीं हो सकती, तब जैसे लक्षणासे इन दोनों विरोधी भागोंका त्याग करके, एक देवदत्तस्वरूपका बोध हो जाता है—

दार्ष्टान्तिक

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः ।

अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते ॥४८॥

(एवं परजीवयोः उपाधी मायाविद्ये विहाय) ठीक इसी प्रकार 'पर' और 'जीव' की उपर्युक्त 'माया' तथा 'अविद्या' नामकी दो उपाधियोंको छोड़ देनेपर (महावाक्येन अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्म एव लक्ष्यते) अखण्ड [भेदरहित] सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म ही महावाक्यों से लक्षित होने लगता है ।

लक्ष्य के विषयमें एक शंका

सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्यादवस्तुता ।

निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं न च संभवि ॥४९॥

प्रश्न—(सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य अवस्तुता स्यात्) जिस तत्व को तुम महावाक्यका लक्ष्य बताते हो, वह सविकल्प है अथवा निर्विकल्प है ? सविकल्पको लक्ष्य मानोगे तो महावाक्यका लक्ष्य ब्रह्म अवस्तु [मिथ्या] हो जायगा [क्योंकि वेदान्त मतमें सविकल्प वस्तु मिथ्या हुआ करती है] (निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं न च संभवि) अब यदि निर्विकल्पको लक्ष्य कहें तो ऐसा कहीं देखा नहीं गया और न ऐसा सम्भव है। [क्योंकि लक्ष्य पदार्थमें रहनेवाला 'लक्ष्यत्व' भी तो एक विकल्प ही है तथा लक्ष्यत्व धर्मवालेका निर्विकल्प होना व्याघातदोष से दूषित है]।

शंकाका दोष

विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत् ।
आद्ये व्याहति रन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः ॥५०॥

उत्तर—(विकल्पः निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत्) अच्छा बताओ तुमने जो यह विकल्प किया है यह तुम्हारा विकल्प निर्विकल्पके विषयमें है ? या सविकल्पके विषयमें ? (आद्ये व्याहतिः) प्रथम पक्ष में व्याघात दोष आता है [निर्विकल्प पर विकल्प कैसा ?] (अन्यत्र अनवस्थात्माश्रयादयः दोषाः) दूसरे पक्षमें अनवस्था और आत्माश्रय आदि दोष आते हैं।

सिद्धान्ती प्रतिबन्दीसे उत्तर देता है कि तेरे मतमें सविकल्प शब्दका क्या अर्थ है ? 'विकल्पेन सह वर्तते इति सविकल्पः' इस विवरण से दो पदार्थ प्रतीत होते हैं एक तो आधेयविकल्प तथा दूसरा उसका आधारविकल्प। इसमें यह प्रश्न होता है कि तुम्हारे इस विकल्पका जो आधार है वह निर्विकल्प है या सविकल्प है ? प्रथम पक्ष तो असम्भव ही है। क्योंकि विकल्पका आधार होते हुए निर्विकल्प नहीं हो सकता। द्वितीय पक्षमें यह बताओ कि वह किस विकल्प से सविकल्प है, तृतीयान्त पदवाच्य जो प्रथम विकल्प है उसीसे सविकल्प है अथवा किसी दूसरे

विकल्प से ? प्रथम पक्षमें आत्माश्रय दोष है। क्योंकि विकल्पका आधार सविकल्प पदार्थ है, विशिष्ट की आधारता विशेषणमें भी हुआ करती है। जैसे कि आसनवाले भूतल पर बैठा हुआ पुरुष आसन पर भी बैठा होता है, इसलिये सविकल्प का आधेय जो विकल्प है वह विकल्पका भी आधेय हुआ, तो प्रथम विकल्प और द्वितीय विकल्प दोनोंका अभेद होनेसे अपने में अपने की स्थिति होगयी और यों आत्माश्रय दोष आगया। इस दोष की निवृत्ति केलिये आधारके विशेषण विकल्पको यदि विकल्पान्तर मानें तो उसपर भी यह प्रश्न होसकता है कि उस विकल्पका आधार निर्विकल्प है कि सविकल्प है ? प्रथम पक्ष तो असम्भव ही है। द्वितीय पक्षमें द्वितीय विकल्पके आधारका विशेषण विकल्प प्रथम विकल्प है अथवा द्वितीय विकल्प है ? प्रथम पक्षमें अन्योन्याश्रय दोष है क्योंकि, प्रथम विकल्पका आधार द्वितीय विकल्प और द्वितीयका तृतीय और वह तृतीय प्रथम विकल्पस्वरूप है तो अर्थात् यह सिद्ध होगया कि प्रथम विकल्पका आधार द्वितीय विकल्प तथा द्वितीय विकल्पका प्रथम विकल्प इसलिये अन्योन्याश्रय दोष है। द्वितीय विकल्पस्वरूप मानें तो आत्माश्रय दोष है। इस दोषकी निवृत्तिके लिये तृतीयविकल्प को यदि विकल्पान्तर मानें तो उसपर भी यह प्रश्नहो सकता है कि तृतीय विकल्पका आधार निर्विकल्प है अथवा सविकल्प है ? प्रथम पक्ष तो असम्भव ही है। द्वितीय पक्षमें फिर प्रश्न हो सकता है कि चतुर्थ विकल्प प्रथम विकल्पस्वरूप है या विकल्पान्तर है। प्रथम पक्षमें चक्रक दोष है क्योंकि प्रथम विकल्पका आधार द्वितीय विकल्प, द्वितीय का तृतीय, तृतीय का चतुर्थ, चतुर्थ प्रथमस्वरूप है। यों अर्थात् सिद्ध होगया कि प्रथमका आधार द्वितीय, द्वितीय का तृतीय, तृतीय का प्रथम। इस दोषकी निवृत्ति केलिये चतुर्थ विकल्पको यदि विकल्पान्तर मानें तो अनवस्था दोष होगा। क्योंकि चतुर्थ विकल्पके आधारका विशेषण विकल्प यदि विकल्पान्तर है तो उसमें भी इन दोषोंका प्रसङ्ग होनेसे उसके आधारका विशेषण विकल्प

भी विकल्पान्तर ही मानना होगा। इस प्रकार अनेक विकल्पोंके होनेसे अनवस्था होगी। कहीं भी जाकर स्थिति नहीं हो सकेगी।

इदं गुणक्रियाजातिद्रव्यसम्बन्धवस्तुषु ।
समं, तेन स्वरूपस्य सर्वमेतदितीष्यताम् ॥५१॥

(इदं विकल्पदूषणजातं गुण, क्रिया, जाति, द्रव्य, सम्बन्ध वस्तुषु समम्) गुण, क्रिया, जाति, द्रव्य तथा सम्बन्ध इन पांच वस्तुओंमें विकल्पपर लगाया हुआ तुल्य है। (तेन एवं विकल्पस्य असङ्गत्वेन एतत् गुणादिकम् सर्वं स्वरूपस्य इति इष्यताम्) इसलिए [दोनोंके पक्षमें सम दोष न देकर] यही मान लेना चाहिये, कि ये गुण आदि सबके सब वस्तुके स्वरूप ही होते हैं।

विकल्पतदभावाभ्यामसंस्पृष्टात्मवस्तुनि ।
विकिल्पतत्वलक्ष्यत्वसम्बन्धाद्यास्तु कल्पिताः ॥५२॥

(विकल्पतदभावाभ्याम् असंस्पृष्टात्मवस्तुनि) जो आत्मवस्तु विकल्प और विकल्पाभाव दोनोंके ही सम्बन्धसे रहित रहती है, उस आत्मवस्तुमें (विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसम्बन्धाद्याः तु कल्पिताः) 'विकल्पितत्व' 'लक्ष्यत्व' तथा सम्बन्ध [सँयोग आदि अर्थात् द्रव्य, गुण, जाति, क्रिया] सब धर्म [उसी प्रकार] स्वरूपमें कल्पितकर लिये गये हैं [जैसे कि उसमें आकाश आदि सब जगत् कल्पित कर लिया गया है]।

श्रवण और मनन

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत् ।
युक्त्या संभावितत्वानुसन्धानं मननं तु तत् ॥५३॥

(इत्थं वाक्यैः तदर्थानुसंधानं श्रवणं भवेत्) इस प्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्योंके द्वारा उनके जीव ब्रह्मकी एकतारूपी अर्थ का अनुसन्धान [शाब्दिक ज्ञान] 'श्रवण' कहाता है। (यत् युक्त्या सम्भावितत्वानुसंधानं

तत् तु मननम् उच्यते) युक्तिसे उसी श्रुत अर्थ की सम्भावना का ज्ञान 'मनन' कहाता है।

'जगतो यदुपादानम्' [४४] इत्यादि श्लोकोंमें प्रतिपादित रीतिसे 'तत्वमसि' आदि वाक्योंसे, इन वाक्योंके जीव ब्रह्मकी एकतारूपी अर्थ का अनुसन्धान [अन्वेषण या शाब्दिक ज्ञान] करना 'श्रवण' कहाता है। 'शब्दस्पर्शादयो वेद्या' [तत्वविवेक ३] इत्यादिसे लेकर 'परापरात्मनोरेवं युक्त्या संभावितैकता [तत्वविवेक ४३] पर्यन्त श्लोकोंके कहे प्रकारसे श्रवण कियेहुए इसी अर्थके सम्भावितपनेका अनुसंधान [श्रवण किये हुए अर्थकी संभावना या युक्तिसङ्गतताका मनमें बैठाना] 'मनन' कहाता है।

निदिध्यासन

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासन मुच्यते ॥५४॥

(ताभ्यां निर्विचिकित्से अर्थे स्थापितस्य चेतसः) उन श्रवण और मननसे जो जीव ब्रह्मैक्यरूपी अर्थ निःसंशय हो चुका है, उसी अर्थ [विषय] में धारणासे रोके हुए चित्तका, (यत् एकतानत्वम्) जो एकतान होजाना है [जब उस चित्तमें उसी विषयकी एकाकार वृत्तिका प्रवाह बहने लग पड़े] (एतत् निदिध्यासनम् उच्यते) तब इसीको [योगशास्त्रमें] 'निदिध्यासन' नामसे कहा जाता है।

समाधि

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम्।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥५५॥

(यदा चित्तम् अभ्यासवशेन ध्यातृध्याने क्रमात् परित्यज्य) जब चित्त अभ्यासका परिपाक होनेपर क्रमसे 'ध्याता' और 'ध्यान' को छोड़-कर, 'ध्येय' को ही विषय करनेवाला होजाता है, जब चित्त निवात

स्थानमें रखे हुए दीपककी प्रभाके समान निश्चल होजाता है उस समयकी उसकी अवस्था 'समाधि' कहाती है ।

'निदिध्यासन' में तो 'ध्याता' तथा 'ध्येय' ये तीनों ही प्रतीत होते रहते हैं । परन्तु जब अभ्यासके प्रभावसे वही चित्त क्रमसे पहले तो 'ध्याता' को और पीछे से 'ध्यान' को छोड़ देता है और 'ध्येयैक-गोचर' होजाता है [केवल ध्येयको ही विषय करने लगता है] और वायुरहित प्रदेशमें रक्खे हुए दीपकके प्रकाशके समान निश्चल होजाता है, तब कहा जाता है कि 'समाधि' होगई ।

समाधिकालमें वृत्तियें अनुमानगम्य होती हैं

वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचराः ।
स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थितात् ॥५६॥

(आत्मगोचराः वृत्तयः तु तदानीम् अज्ञाताः अपि व्युत्थितस्य समुत्थितात् स्मरणात् अनुमीयन्ते) उस समाधिकालमें यद्यपि वृत्तियां स्पष्ट ज्ञात नहीं होतीं तो भी वे आत्माको विषय करती ही रहती हैं । यह बात समाधिसे उठे हुए पुरुषको होनेवाले स्मरणसे अनुमित होती है ।

समाधि अवस्थामें जबकि वृत्तियोंकी उपलब्धि नहीं होती तब भी वह चित्त ध्येयैकरगोचर होरहा है, ऐसा निश्चय होनेका कारण तो यह है कि उस समयकी आत्माको विषय करनेवाली वृत्तियां यद्यपि समाधि-कालमें अज्ञात रहती हैं, परन्तु जब वह समाधिसे उठता है और उसे स्मरण आता है कि 'मैं इतने समय तक समाधिमें डूबा रहा' तब इस स्मरणसे उन वृत्तियोंका अनुमान होता है ।

समाधिमें वृत्तिप्रवाहके सान्तत्यका कारण

वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात् प्रथमादपि ।
अदृष्टासकृदभ्याससंस्कारसचिवाद् भवेत् ॥५७॥

(ध्येयैकगोचराणां वृत्तीनाम् अनुवृत्तिस्तु अदृष्टासकृदभ्याससंस्कार सचिवात् प्रथमात् प्रयत्नात् अपि भवेत्) समाधिके समय वृत्तियोंकी जो

अनुवृत्ति [सन्तत प्रवाह] होती रहती हैं, वह योगीके समाधिसे पहले किये हुए प्रयत्नसे, जिसमें उसको अदृष्ट तथा उसके बार-बारके समाधिके अभ्यासके संस्कार सहायक रहते हैं।

यद्यपि समाधिके समय वृत्तियोंको उत्पन्न करनेकेलिये कोई प्रयत्न नहीं किया जाता, फिर भी जो ध्येयैकगोचर वृत्तियोंका तांता बंधा रहता है, वृत्तियोंका वह तांता, समाधिसे पूर्वकालमें किये हुए प्रयत्नसे, योगियोंके अशुक्लकृष्ण नामक कर्मके प्रतापसे [जिसको 'अदृष्ट' भी कहते हैं] तथा बार-बार समाधिका अभ्यास करते रहनेसे उत्पन्न हुए भावना नामके संस्कारसे बंधा रहता है, अर्थात् इन तीन कारणोंसे आत्माकार वृत्तियोंका प्रवाह बहता रहता है। यद्यपि उस समय इन वृत्तियोंको पैदा करनेकेलिये कोई प्रयत्न नहीं किया जाता।

निर्विकल्प समाधिमें भगवद्गीताका प्रमाण

यथा दीपो निवातस्थ इत्यादिभिरनेकधा ।
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ॥५८॥

(भगवान् यथा दीपः निवातस्थः इत्यादिभिः श्लोकैः) भगवान्ने गीतामें यथा दीपो निवातस्थः इत्यादि श्लोकोंके द्वारा (अनेकधा) अनेक प्रकारसे (इमम् एव अर्थम् अर्जुनाय न्यरूपयत्) इसी निर्विकल्प समाधिरूपी अर्थको अर्जुनके प्रति निरूपण किया है [इससे इस समाधिको अप्रामाणिक समझ लेनेका कोई कारण नहीं रहता]

निर्विकल्प समाधिका अवान्तरफल

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः ।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते ॥५९॥

(अनेन {समाधिना} इह अनादौ संसारे सञ्चिताः कर्मकोटयः) इस समाधिके प्रतापसे अनादिकालसे चले आते हुए इस संसारमें, संचित किये अनगिनत पुण्यापुण्य कर्मोंके ढेर नष्ट होजाते हैं तथा [इसी

समाधिके प्रतापसे] शुद्धधर्म वृद्धिको प्राप्त होने लग जाता है [जिससे कि विलास (कार्य) सहित अविद्याको हटानेवाला साक्षात्कार आ धमकता है]

समाधिका ही दूसरा नाम धर्ममेघ है

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः ।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥६०॥

(योगवित्तमाः इमं समाधिं धर्ममेघं प्राहुः) योगके मर्मज्ञ लोग, [जिनको ब्रह्मका साक्षात्कार होजाता है], इस निर्विकल्प समाधिको ही 'धर्ममेघ' अर्थात् धर्मको बरसाने वाला कहते हैं। (यतः एषः सहस्रशः धर्मामृतधाराः वर्षति) क्योंकि यह समाधि धर्मरूपी अमृतकी सहस्रों धारा बरसाने लगती है [धर्मामृतकी मूसलाधार वृष्टि करने लगती है। अभ्यास करते करते आनन्दमें नित्य ही सहस्रों प्रकारसे नवीनता आने लगती है]

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ॥६१॥
वाक्यमप्रतिबद्धं सत् प्राक्परोक्षावभासिते ।
करामलकवद् बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥६२॥

(अमुना समाधिना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते, तथा पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये समूलोन्मूलिते सति) इस समाधिके प्रतापसे वासनाजालके सम्पूर्ण नष्ट होजाने पर तथा पुण्य पाप नामके कर्मसञ्चयके समूल उखाड़ दिये जाने पर (वाक्यम् अप्रतिबद्धं सत्) 'तत्वमसि' आदि वाक्य, बे-रोकटोक होकर (प्राक् परोक्षावभासिते तत्वे) जो तत्व अब तक परोक्षरूपसे ज्ञात होरहा था, उसी तत्वके विषयमें, (करामलकवत् अपरोक्षं बोधं प्रसूयते) हाथ पर रक्खे आमलेकी भांति, प्रत्यक्ष ज्ञानको उत्पन्न कर देते हैं।

इस समाधिका परम प्रयोजन यह है कि इसके प्रतापसे अहङ्कार ममकार तथा कर्तृत्व आदि अभिमानका कारण ज्ञानका विरोधी संस्कार-समूह निःशेष नष्ट होजाता है तथा पुण्य पापके कर्मोंका ढेर समूल उन्मीलित हो चुकता है। तब ऐसा अनुकूल वातावरण उत्पन्न होता है कि 'तत्वमसि' आदि वाक्योंके अर्थको समझनेमें जो कर्म तथा वासना अब तक रुकावट डाल रही थीं [अर्थको समझने नहीं देती थीं] वे सब रुकावटें हट जाती हैं। जो तत्व अब तक परोक्षरूपसे प्रकाशित होरहा था अब 'तत्वमसि' आदि वाक्य उसी तत्वका प्रत्यक्ष ज्ञान करा देते हैं। अब ज्ञानका विज्ञान बन जाता है।

परोक्षज्ञानका फल

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥६३॥

(देशिकपूर्वकम् शाब्दं परोक्षं ब्रह्मविज्ञानम्) गुरुके मुखसे प्राप्त हुआ, 'तत्वमसि' आदि शब्दप्रमाणसे उत्पन्न हुआ जो, परोक्ष ब्रह्मविज्ञान है, वह (बुद्धिपूर्वकृतं कृत्स्नं पापम्) जानकर किये हुए सम्पूर्ण पापोंको (वन्हिवत् दहति) अग्निके समान जला डालता है।

अपरोक्ष ज्ञानका फल

अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥६४॥

(देशिकपूर्वकं शाब्दम् अपरोक्षात्मविज्ञानम्) गुरुके मुखसे प्राप्त हुआ, शब्द-प्रमाणसे उत्पन्न हुआ, आत्माका संशय और विपर्ययसे रहित यह प्रत्यक्षज्ञान ही (संसारकारणाज्ञानतमसः चण्डभास्करः) संसारका कारण जो अज्ञानरूपी अन्धकार है, उसके लिये चण्डभास्कर अर्थात् दोपहरका सूर्य बन जाता है [जैसे दोपहरका सूर्य बाह्यान्धकारको नष्ट कर देता है, इसी प्रकार आत्माका अपरोक्ष ज्ञान अज्ञानान्धकारको निवृत्त कर देता है]।

इत्थं तत्वविवेकं विधाय विधिवन्मनः समाधाय ।
विगलितसंसृतिबन्धः प्राप्नोति परं पदं नरो न चिरात् ॥६५॥

(नरः इत्थं तत्वविवेकं विधाय) जब कोई विवेकी मनुष्य इस प्रकारसे [ब्रह्मात्मैकतारूपी] तत्वका [पांचों कोशोंमें से] विवेक कर (विधिवत् मनः समाधाय) और फिर [उसी गम्भीर तत्वमें शास्त्रोक्त विधिसे] मनको समाहित कर लेता है (विगलितसंसृतिबन्धः) तब [अपरोक्षज्ञानके प्रतापसे] उसका संसार-बन्धन निवृत्त होकर वह (न चिरात् परं पदं प्राप्नोति) तुरन्त परमपद [निरतिशयानन्दरूपी मोक्ष] को प्राप्त कर लेता है [वह सत्य ज्ञान तथा आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही होजाता है]

श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितं तत्वविवेकप्रकरणं समाप्तम्

पञ्चभूतविवेकप्रकरणम् २

(पञ्चभूतविवेकसे अद्वैतबोध)

सदद्वैतं श्रुतं यत्तत् पञ्चभूतविवेकतः ।
बोद्धुं शक्यं ततो भूतपञ्चकं प्रविविच्यते ॥१॥

(जगदुत्पत्तेः पुरा यत् अद्वैतं श्रुतम्) श्रुतियोंमें जिस सत् अद्वैतका प्रतिपादन किया गया है (तत् पञ्चभूतविवेकतः बोद्धुं शक्यम्) उसको पंचभूतविवेकसे ही जान सकते हैं। (ततः भूतपंचकं प्रविविच्यते) इससे अब पाँचों भूतोंका विवेक किया जाता है।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" [छा० ६-२-१]

यह श्रुति जगत्की उत्पत्तिसे पहले, जगत्के कारण जिस सद्रूप अद्वितीय ब्रह्म की सूचना देती है, मन और वाणीका विषय न होनेके

कारण उस ब्रह्मका सीधा ज्ञान स्वत: नहीं हो सकता। कारण यह है कि मनुष्यका ब्रह्मसे साक्षात् सम्बन्ध न होकर पञ्चभूतोंके द्वारा है। इसलिये हम उसे उसके कार्य होनेसे उसकी उपाधि बने हुए पांचों भूतोंका विवेक करके ही जान सकते हैं। इसीसे अब पांच भूतोंका विवेक किया जाता है। यह पांचों भूतोंका विवेक उस ब्रह्मको जानने का ही उपोद्‌घात है।

भूतोंके गुण

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धो भूतगुणा इमे ।
एकद्वित्रिचतुःपञ्चगुणा व्योमादिषु क्रमात् ॥२॥

(शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धः इमे भूतगुणाः) शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये आकाशादि पांचों भूतों के गुण हैं। (व्योमादिषु क्रमात् एकद्वित्रिचतुःपञ्चगुणाः सन्ति) इन आकाशादियों में क्रमसे एक दो तीन चार तथा पाँच गुण हैं। विस्तार अगले श्लोक में

प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ बीसीति शब्दनम् ।
अनुष्णाशीतसंस्पर्शो वन्हौ भुगुभुगुध्वनिः ॥३॥
उष्णः स्पर्शः प्रभारूपं जले बुलबुलध्वनिः ।
शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं रसो माधुर्यमीरितम् ॥४॥
भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते ।
नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः ॥५॥
सुरभीतरगन्धौ द्वौ गुणाः सम्यग्विवेचिताः ।

(वियच्छब्दः प्रतिध्वनिः) आशा में प्रतिध्वनि नामका शब्द ही एक गुण है और वह प्रतिध्वनिरूप है। (वायौ बीसीति शब्दनम् अनुष्णाशीतसंस्पर्शः द्वौ गुणौ) वायु में 'बीसी' ऐसा शब्द तथा अनुष्णाशीत [न गरम न ठण्डा] स्पर्श ये दो गुण हैं। (वन्हौ भुगुभुगुध्वनिः, उष्णः स्पर्शः प्रभारूपम्) वन्हि में 'भुगुभुगु' शब्द, उष्ण, स्पर्श तथा

भास्वररूप ये तीन गुण हैं। (जले बुलबुलध्वनिः शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं माधुर्यं रसः इति ईरितम्) जलमें 'बुलबुल' शब्द, शीतस्पर्श, शुक्लरूप, तथा मधुर रस, ये चार गुण हैं। (भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्शः ईष्यते, नीलादिकं चित्ररूपं, मधुराम्लादिकः रसः द्वौ सुरभीतरगन्धौ) पृथिवीमें 'कडकडा' शब्द, कठिन स्पर्श, नीलादि चित्ररूप, मधुर अम्ल, कटु, कषाय, तिक्त रस, तथा सुरभि असुरभि दो प्रकार के गन्ध, ये पांच गुण हैं। (गुणाः सम्यग्विवेचिताः) यहाँ तक गुणों का विवेचन समाप्त हुआ।

पांच भूतोंसे पांच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चेन्द्रियपंचकम् ॥६॥

ज्ञानेन्द्रियोंके स्थान तथा व्यापार

कर्णादिगोलकस्थं तच्छब्दादिग्राहकं क्रमात् ।

ज्ञानेन्द्रियोंका स्वभाव

सौक्ष्म्यात् कार्यानुमेयं तत् प्रायो धावेद् बहिर्मुखम् ॥७॥

(श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं च इन्द्रियपंचकम् कर्णादिगोलकस्थम्) श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण ये पाँच इन्द्रियाँ क्रमसे कान आदि छिद्रों में रहती हैं। (तत् क्रमात् शब्दादिग्राहकम्) वे शब्दादि गुणोंको ग्रहण किया करती हैं। (तत् सौक्ष्म्यात् कार्यानुमेयम्) [क्योंकि] वे इन्द्रियाँ [अपंचीकृत भूतोंसे बनी हैं इसलिये इतनी सूक्ष्म हैं कि दिखाई नहीं पड़तीं। केवल उनके] कार्य से ही वे अनुमान की जा सकती हैं। (तत् प्रायः बहिर्मुखं धावेद्) ये प्रायः करके बहिर्मुख होजाती हैं और बाह्य विषयसमूहमें दौड़ लगाया करती हैं। (बहिर्मुखता इनका स्वभाव है। पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः)

इन्द्रियोंका कभी कभी आन्तरविषय ग्रहण

कदाचित् पिहिते कर्णे श्रूयते शब्द आन्तरः ।
प्राणवायौ जाठराग्नौ जलपानेऽन्नभक्षणे ॥८॥

व्यज्यन्ते ह्यान्तराः स्पर्शा मीलने चान्तरं तमः ।

उद्गारे रसगन्धौ चेत्यक्षाणामान्तरग्रहः ॥९॥

[पहले श्लोकमें जो कि इन्द्रियोंको प्रायः बहिर्मुख बताया गया है उस प्रायः का तात्पर्य यह है कि] (कदाचित् कर्णे पिहिते जाठराग्नौ प्राणवायौ च विद्यमानः आन्तरः शब्दः श्रूयते) कभी कानको बन्द कर लेने पर प्राणवायु तथा पेटकी अग्निका आन्तर शब्द भी सुनाई पड़ा करता है । (तथा जलपाने अन्नभक्षणे च आन्तराः स्पर्शा व्यज्यन्ते) जल पीते समय तथा अन्न खाते समय अन्दरके स्पर्श भी प्रतीत हुआ करते हैं । (मीलने च आन्तरं तमः व्यज्यते) आँख मींचने पर भीतर का अँधेरा दिखाई पड़ता है । (उद्गारे जाते रसगन्धौ द्वौ गृह्येते) उद्गार [डकार] आने पर भीतरके रस तथा गन्ध दोनों ग्रहणमें आते हैं । (इति अक्षाणाम् आन्तरस्य विषयस्य ग्रहः) इस प्रकार इन्द्रियाँ अन्दरके विषयोंका ग्रहण भी किया करती हैं ।

कर्मेन्द्रियोंके व्यापार

पञ्चोक्त्यादानगमनविसर्गानन्दकाः क्रियाः ।

कृषिवाणिज्यसेवाद्याः पञ्चस्वन्तर्भवन्ति हि ॥१०॥

(उक्त्यादानगमनविसर्गानन्दकाः पंच क्रियाः) वचन, आदान, गमन, विसर्ग तथा आनन्द ये पाँच क्रिया प्रसिद्ध हैं । (कृषिवाणिज्य-सेवाद्याः क्रियाः) खेती, वाणिज्य तथा सेवा आदि दूसरी क्रियायें भी (पंचसु क्रियासु अन्तर्भवन्ति हि) इन्हीं पाँच क्रियाओंमें अन्तर्भूत होजाती हैं । [इसलिये मुख्य क्रिया पाँच ही हैं]

कर्मेन्द्रियें तथा उनके गोलक

वाक्पाणिपादपायूपस्थैरक्षैस्तत्तत्क्रियाजनिः

मुखादिगोलकेष्वास्ते तत् कर्मेन्द्रियपंचकम् ॥११॥

(वाक्पाणिपादपायूपस्थैः अक्षैः तत्तत्क्रियाजनिः) वाक्, पाणि,

पाद, पायु तथा उपस्थ नामकी इन्द्रियों से उन उन क्रियाओंकी उत्पत्ति होती हैं। इन कर्मेन्द्रियों का अनुमान इन क्रियाओं के द्वारा ही होता है। (तत् कर्मेन्द्रियपंचकं मुखादिगोलकेषु आस्ते) ये पांचों कर्मेन्द्रियां मुख, कर, चरण, गुदा तथा उपस्थ नाम के गोलकों में निवास किये रहती हैं।

मनका काम और व्यापार

मनो दशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम्।
तच्चान्तःकरणं, बाह्येष्वस्वातन्त्र्याद्विनेन्द्रियैः ॥१२॥
अक्षेष्वर्थार्पितेष्वेतद् गुणदोषविचारकम्।
सत्वंरजस्तमश्चास्य गुणा, विक्रियते हि तैः ॥१३॥

(दशेन्द्रियाध्यक्षं मनः हृत्पद्मगोलके स्थिम्) इन दसों इन्द्रियोंका प्रेरक जो मन है वह हृदयके पद्माकार गोलकमें रहता है। (इन्द्रियैः विना बाह्येषु अस्वातन्त्र्यात् तत् च अन्तःकरणं कथ्यते) उसको अन्तःकरण अर्थात् अन्दरकी इन्द्रिय कहते हैं। क्योंकि वह इन्द्रियोंके बिना बाह्य विषयों में स्वतन्त्र नहीं होता ॥१२॥ (अक्षेषु अर्थार्पितेषु एतत् मनः गुण-दोषविचारकम्) जब इन्द्रियोंको विषयों में भेज दिया जाता है तब यह मन उन विषयोंके गुण दोषका विचार किया करता है [कि यह विषय अच्छा है या बुरा] (सत्वं रजः तमः च अस्य गुणाः) सत्व, रज तथा तम ये तीनों इस मनके गुण हैं। (हि यतः एतत् तैः विक्रयते) क्योंकि यह मन इन गुणोंके कारण विकारको प्राप्त होता [बदलता] रहता है। [इन तीनों गुणों के कारण इस मनमें वैराग्य काम तथा निद्रा आदि वृत्तियां उत्पन्न होजाती हैं और मनको विकृत कर देती हैं]।

सत्व आदि गुणोंसे मनमें विकार

वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः सत्वसंभवाः।
कामक्रोधौ लोभयत्नावित्याद्या स्तमसोत्थिताः ॥१४॥

आलस्यभ्रान्तितन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः ।
सात्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः ॥१५॥
तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुःक्षपणं भवेत् ।

अन्तःकरणादि सबका स्वामी

अत्राहंप्रत्ययी कर्तेत्येवं लोकव्यवस्थितिः ॥१६॥

(वैराग्यं क्षान्तिः औदार्यम् इत्याद्याः सत्वसंभवाः विकाराः) वैराग्य, क्षमा, उदारता इत्यादि मनोविकार सत्व गुणके उत्पन्न किए हुए हैं। (कामक्रोधौ लोभयत्नौ इत्याद्याः रजसोत्थिताः विकाराः) काम, क्रोध, लोभ, तथा यत्न आदि मनोविकार रजोगुणसे उत्पन्न होजाते हैं ॥१४॥ (आलस्यभ्रान्तितन्द्राद्याः विकाराः तमसोत्थिताः) आलस्य, भ्रान्ति तथा तन्द्रा आदि विकार तमोगुणसे उठा करते हैं।(सात्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः) सात्विक विकारोंसे पुण्य की निष्पत्ति होती है। (राजसैः पापोत्पत्तिः) राजस विकारोंसे पापकी उत्पत्ति होती है ॥१५॥ (तामसैः विकारैःउभयं न किन्तु वृथायुःक्षपणं भवेत्) तामस विकारोंसे पुण्य या पाप कुछ नहीं होता। किन्तु व्यर्थ ही आयुके दिन कट जाते हैं। (अत्राहंप्रत्ययी कर्ता [प्रभुः] इति एवं लोकव्यवस्थितिः) इन सब [ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, प्राणों तथा अन्तःकरणों] में से जो 'मैं' भाव करनेवाला है उसको 'कर्त्ता' अर्थात् प्रभु कहा जाता है। क्योंकि लोक में भी कार्य करनेवाले को प्रभु कहा जाता है।

जगत्की भौतिकताको जाननेका उपाय

स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वमतिस्फुटम् ।
अक्षादावपि तच्छास्त्रयुक्तिभ्यामवधार्यताम् ॥१७॥

(स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वम् अतिस्फुटम्) जिन वस्तुओं में शब्दस्पर्शादि गुण स्पष्ट दीख रहे हैं वे तो स्पष्ट ही भौतिक हैं। (तत् भौतिकत्वं अक्षादौ अपि शास्त्रयुक्तिभ्यां अवधार्यताम्) जो इन्द्रियां

दृष्टिगोचर नहीं होतीं, उनके भौतिक होने का निश्चय शास्त्र तथा युक्ति से कर लेना चाहिये।

'अन्नमयं हि सौम्य मनः आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक्' मन अन्नसे बना है, प्राण जलमय है, वाणी अग्निमयी है इत्यादि शास्त्रसे इन्द्रियों का भौतिक होना सिद्ध होता है। जब हम बहुत दिनों तक नहीं खाते तब मन आदि सब इन्द्रियाँ अपना अपना कार्य करनेमें असमर्थ होजाती हैं, जब फिर खाते हैं तब फिर हरी-भरी होजाती हैं, इस युक्तिसे भी मन आदि इन्द्रियोंका भौतिक होना सिद्ध होता है।

सदेव सौम्येदमग्र आसीत्की व्याख्याके अन्तर्गत इदंकी व्याख्या

एकादशेन्द्रियैर्युक्त्या शास्त्रेणाप्यवगम्यते।
यावत्किञ्चिद्भवेदेतदिदंशब्दोदितं जगत् ॥१८॥

(एकादशेन्द्रियैः, युक्त्या शास्त्रेण अपि यावत् किंचित् जगत् अवगम्यते) ग्यारह इन्द्रियोंसे, युक्तियोंसे, शास्त्रोंसे तथा अर्थापत्ति आदि प्रमाण ज्ञानोंसे, जितना भी कुछ जगत् जाना जाता है, (एतत् इदंशब्दोदितं भवेत्) वह सबका सब सदेव 'सोम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुतिवाक्य के 'इदं' शब्दका अर्थ है।

इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम्।
सदेवासीन्नामरूपे नास्तामित्यारुणेर्वचः ॥१९॥

(सृष्टेः पुरा इदं सर्वम् एकम् एव अद्वितीयकं सत् एव आसीत् नामरूपे न आस्ताम् इति आरुणेः वचः) [उद्दालक] आरुणि ने [छा० २-१ में] कहा है कि सृष्टिके उत्पन्न होनेसे पहले यह सब जगत् [जो दीख रहा है इस रूपमें नहीं था। किन्तु उस समय] एक अद्वितीय सद्वस्तु ही थी। उस समय नाम या रूप [आकार] कुछ न था।

भेदके तीन प्रकार

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः।
वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीयः शिलादितः ॥२०॥

तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते ।
ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात् ॥२१॥

(वृक्षस्य स्वगतः भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः) वृक्षका 'स्वगतभेद' पत्र फूल फलादिसे होता है । (वृक्षान्तरात् सजातीयः भेदः) दूसरे वृक्षों से 'सजातीय भेद' रहता है । (शिलादितः विजातीयः भेदः) पत्थर आदिसे 'विजातीय भेद' होता है । तथा (सद्वस्तुनः [सद्वस्तुनि] अपि प्राप्तं भेदत्रयं ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैः त्रिभिः पदैः क्रमात् निवार्यते) उसी प्रकार सद्वस्तुमें भी संभावित सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदका निवारण क्रमसे ऐक्य, अवधारण, तथा द्वैतका प्रतिषेध करनेवाले 'एकम्', 'एव, 'अद्वितीयम्' ये तीनों पद कर रहे हैं ।

इस श्रुति में जो 'एकम्' 'एव' 'अद्वितीयम्' ये तीन पद हैं ये सद्वस्तुमें के तीनों भेदों का निवारण करते हैं। लोकमें तीन प्रकारका भेद होता है एक 'स्वगत' दूसरा' सजातीय' तीसरा 'विजातीय' । वृक्षका स्वगत भेद अपने ही पत्ते फूल फल आदियोंसे होता है । आम्र वृक्षका सजातीय भेद अपने सजातीय शिंशपा वृक्षसे होता है तथा उसीका विजातीय भेद पत्थर आदिसे होता है ॥२०॥ इस सद्वस्तुमें अन्यान्य पदार्थोंमें पाया जानेवाला इस प्रकारका एक भी भेद नहीं है । इस श्रुतिने इन तीनों प्रकारके भेदको हटानेके लिये ही ये तीन पद कहे हैं। जब वस्तुत्व रूपी समानताको देखकर अन्यान्य पदार्थोंके समान ही सद्रूप आत्मवस्तुमें भी स्वगतादि तीनों भेदोंकी प्रसक्ति होती है तब स्वगत भेद को 'एकम्' यह पद हटाता है, सजातीय भेदको 'एव' यह पद दूर करता है, तथा विजातीय भेदको 'अद्वितीयम्' यह तीसरा पद नहीं रहने देता ।

सद्वस्तुमें स्वगतभेदका अभाव

सतो नावयवाः शंक्यास्तदंशस्यानिरूपणात् ।
नामरूपे न तस्यांशौ तयोरद्याप्यनुद्भवात् ॥२२॥

(तदंशस्य अनिरूपणात् सतः अवयवाः न शङ्क्याः) सद्वस्तुके भी अवयव होंगे, ऐसी शंका मत करना क्योंकि उसके अंशका निरूपण नहीं हो सकता। (नामरूपे तस्य अंशौ न) नाम और रूप [आकार] भी उसके अंश नहीं हैं। (अद्य [सृष्टेः पुरा] तयोः अनुद्भवात्) क्योंकि अभी तक [अर्थात् सृष्टिकी उत्पत्तिके प्रथम तक] वे नाम रूप उत्पन्न नहीं हो पाये हैं।

स्वगत-भेद मान सकनेके लिये जिन अवयवोंकी आवश्यकता होती है वे अवयव सद्वस्तुमें नहीं होते। क्योंकि उसके अवयवोंके स्वरूप का निरूपण—कि वे कैसे हैं—आज तक नहीं हो सका। यदि नाम रूप को उसके अंश मानो तो वह भी संभव नहीं, इसलिये कि अभी तक सृष्टि ही उत्पन्न नहीं हुई है। तब ये सृष्टिकालमें होनेवाले नामरूप उस समय की शुद्ध सद्वस्तुके अंश कैसे हो जायंगे?

सत्में स्वगत भेदका अभाव

नामरूपोद्भवस्यैव सृष्टित्वात् सृष्टितः पुरा।
न तयोरुद्भवस्तमान्निरंशं सद्यथा वियत् ॥२३॥

(नामरूपोद्भवस्य एव सृष्टित्वात् सृष्टितः पुरा तयोः {नामरूपयोः} उद्भवः न) नाम तथा रूपका उद्भव होजाना ही 'सृष्टि' कहाती है। बस इसीसे समझ लो कि सृष्टिसे प्रथम नाम और रूपकी उत्पत्ति नहीं हुई थी। (तस्मात् यथा वियत् निरंशं तथा सत् निरंशम्) इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि सद्वस्तु आकाशके समान निरवयव पदार्थ है—अर्थात उसके अन्दर 'स्वगतभेद' को अवकाश नहीं है।

सत्में सजातीय भेदका अभाव

सदन्तरं सजातीयं न वैलक्षण्यवर्जनात्।
नामरूपोपाधिभेदं विना नैव सतो भिदा ॥२४॥

(वैलक्षण्यवर्जनात् सजातीयं सदन्तरं न) विलक्षणता न होनेसे इस सत्की जातिका दूसरा कोई सत् पदार्थ होता होगा यह भी नहीं माना जा सकता। (नामरूपोपाधिभेदं विना सतः भिदा न एव) नामरूप नामक उपाधिके भेदके विना सत् पदार्थमें भेद नहीं है।

सत्की जातिका ही दूसरा कोई सत् पदार्थ होता होगा यह कैसे मान लिया जाय? क्योंकि इस दूसरे सत् पदार्थमें इस सत् पदार्थसे कुछ विलक्षणता नहीं होती। इसमें स्वयं भी कुछ विलक्षणता नहीं होती। जो भी कुछ विलक्षणता देख पड़ती है वह नामरूपकी उपाधियोंके भिन्न भिन्न होनेसे ही है। सद्वस्तुमें स्वभावसे आकाशके समान कोई भेद नहीं है। जैसे आकाशमें स्वतः कोई भेद नहीं होता तो भी घट मठरूपी उपाधियोंके भेदसे उसमें भेदकी भ्रान्त प्रतीति होने लगती है।

सत्में विजातीय भेदका अभाव

विजातीयमसत् तत्तु न खल्वस्तीति गम्यते।
नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद्भिदा कुतः ॥२५॥

(सतः विजातीयम् असत् भवितुम् अर्हति) सत् का विजातीय जो कोई पदार्थ होगा वह असत् होगा। (तत् तु न खलु अस्ति इति गम्यते) असत् शब्दसे ही यह प्रतीत होता है कि वह पदार्थ नहीं है। (अतः अस्य {असत्पदार्थस्य} प्रतियोगित्वं न) इस कारण वह असत् पदार्थ उसका प्रतियोगी [सम्बन्धी] नहीं हो सकता। (सतः विजातीयात् भिदा कुतः) फिर बताओ कि सद्वस्तु में विजातीय वस्तु से भी भेद कैसे आयेगा?

एक पूर्वपक्ष

एकमेवाद्वितीयं सत् सिद्धमत्र तु केचन।
विह्वला असदेवेदं पुरासीदित्यवर्णयन् ॥२६॥

(एकम् एव अद्वितीयं सत् सिद्धम्) इस प्रकार यहांतक यह सिद्ध होगया कि सत् एक ही अद्वितीय वस्तु है—[उसमें स्वगत, सजाती

तथा विजातीय किसी भी प्रकार का भेद नहीं है] (अत्र तु केचन विह्वलाः असत एव इदं पूरा आसीत् इति अवर्णयन्) परन्तु इस सद्वस्तु के विषय में भी किन्हीं विह्वल [उन्मार्गगामी] पुरुषों ने यह कहा है कि यह सब पहले असत् ही था अर्थात् नहीं था।

वादियों की अखण्ड एकरससे व्यर्थ बिभीषिका

मग्नस्याब्धौ यथाक्षाणि विह्वलानि तथास्य धीः ।
अखण्डैकरसं श्रुत्वा निःप्रचारा बिभेत्यतः ॥२७॥

(अब्धौ मग्नस्य यथा अक्षाणि विह्वलानि) जैसे समुद्र में डूबे हुए पुरुष की इन्द्रियां व्याकुल हो (घबरा) जाती हैं, (तथा) अस्य धीः अखण्डैकरसं श्रुत्वा निःप्रचारा अतः बिभेति) इसी प्रकार इस असद्वादी का मन, अखण्डैरस वस्तु को सुनकर, निःप्रचार [गतिरहित] होकर डरा करता है। [जैसे साकार वस्तुमें मन चक्कर लगा लेता है, समुद्रके समान अखण्ड एकरस वस्तुमें वैसा विचरण करना नहीं मिलता। यही कारण है कि वे लोग अपनी दुर्वासनावश इस सद्वस्तु को सुनकर चौंक उठते हैं।]

व्यर्थ बिभीषिकामें गौडपादाचार्यकी सम्मति

गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनाम् ।
साकारब्रह्मनिष्ठाना मत्यन्तं भयमूचिरे ॥२८॥

(गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधौ साकारब्रह्मनिष्ठानाम् अन्ययोगिनाम अत्यन्तं भयम् ऊचिरे) गौडाचार्यने यह बात कही है कि इस निर्विकल्प समाधिमें दूसरे साकार ब्रह्मके उपासक योगियों को बहुत भय लगा करता है। जैसे अबोध बालक निर्जन वनमें भय का कोई कारण न होने पर भी वहां की सुनसान परिस्थिति से डरा करता है, इसी प्रकार दूसरे योगियों को निर्विकल्प समाधि के शान्त वायुमण्डल से भी भय प्रतीत होने लगता है। उसमें उनका जी नहीं लगता।

अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥२९॥

(यः अयम् अस्पर्शयोगः नाम एषः सर्वयोगिभिः दुर्दर्शः) गौडपादाचार्यके शब्द ये हैं कि—यह जो अस्पर्शयोग नामकी निर्विकल्पसमाधि है, साकारब्रह्मका ध्यान करनेवाले किसी भी योगीको इसके दर्शन नहीं होपाते। (अभये भयदर्शिनः योगिनः अस्मात् बिभ्यति हि) क्योंकि वे सब प्रकारके भेददर्शी योगी लोग [निर्जन वनमें बालकोंकी भांति] इस भयशून्य समाधिमें भयको देखते हैं [भयके कारणकी कल्पना करलेते हैं] और इस अस्पर्शयोगसे डरा करते हैं।

श्रीशङ्कराचार्यकी सम्मति

भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्कपटूनमून् ।
आहुर्माध्यमिकान् भ्रान्तानचिन्त्येऽस्मिन् सदात्मनि ॥३०॥

(भगवत्पूज्यपादाः च शुष्कतर्कपटून् अमून् माध्यमिकान् अचिन्त्येऽस्मिन् सदात्मनि भ्रान्तान् आहुः) भगवत्पूज्यपाद शङ्कराचार्यजी ने इन सूखे तर्ककुशल माध्यमिकों (बौद्धों) को अचिन्त्य सदात्माके विषयमें सदा भ्रममें रहने वाले बताया है।

अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः ।
आपेदिरे निरात्मत्व मनुमानैकचक्षुषः ॥३१॥

(इमे अनुमानैकचक्षुषः तमस्विनः बौद्धाः मौर्ख्यात् श्रुतिम् अनादृत्य निरात्मत्वम् आपेदिरे) भगवत्पूज्यपाद कहते हैं कि—ये तमोगुणी बौद्ध लोग अपनी मूर्खतासे, श्रुतिकी बातका आदर न करके, निरात्मवादको मान बैठे हैं। क्योंकि उन्होंने शास्त्रको छोड़कर, अनुमानको ही अपनी आँख बना लिया है।

असद्वादका दूषण

शून्यमासीदिति ब्रूषे सद्योगं वा सदात्मताम् ।
शून्यस्य न तु तद्युक्तमुभयं व्याहतत्वतः ॥३२॥

(शून्यम् आसीत् इति अनेन वाक्येन [शून्यस्य] सद्योगं [सत्ता-जातीययोगं] ब्रूषे अथवा [शून्यस्य] सदात्मतां [सद्रूपतां] ब्रूषे ?) हे असद्वादी ! अच्छा तू यह बता कि जब तू 'शून्य था' यह वाक्य कहता है तब क्या तू शून्यके साथ सत्ता [होने] का योग मानता है ? या शून्य को सदात्मा [सत्स्वरूप] ही मान लेता है ? (तत् उभयं तु व्याहतत्वात् न युक्तम्) परन्तु व्याघात होनेसे शून्यमें ये दोनों बातें युक्त नहीं हैं [न तो शून्यके साथ सत्ताका सम्बन्ध ही हो सकता है और न शून्य कभी सद्रूप ही हो सकता है]

न युक्तस्तमसा सूर्यो नापि चासौ तमोमयः ।
सच्छून्ययोर्विरोधित्वाच्छून्यमासीत् कथं वद ॥३३॥

(सूर्यः तमसा युक्तः न भवति) जैसे सूर्य न तो अन्धकारसे युक्त ही हो सकता है (न अपि च असौ तमोमयः) और न वह कभी तमोमय ही हो सकता है (सच्छून्ययोः विरोधित्वात् शून्यम् आसीत् इति कथनं कथं संगतम् इति वद) इसी प्रकार सत् और शून्यका विरोध होनेसे शून्यवादी यह बताये कि 'शून्य–था' यह असंगत बात संगत कैसे होगी ?

वियदादेर्नामरूपे मायया सुविकल्पिते ।
शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरम् ॥३४॥

(यथा वियदादेः नामरूपे मायया सुविकल्पिते) [यदि शून्यवादी यह कहता हो कि] जैसे आकाशादिके नामरूप मायासे [निर्विकल्प ब्रह्ममें] कल्पित करलियेगये हैं, (तथा शून्यस्य नामरूपे च सद्वस्तुनि मायया सुविकल्पिते इति बौद्धः वदति चेत् चिरं जीव्यताम्) इसी प्रकार शून्यके भी नाम और रूप [सद्वस्तुमें ही] कल्पित करलियेगये हैं, तो हम

कहेंगे कि ऐसा कहनेवाला बौद्ध जुग जुग जिये [क्योंकि वह तो अपने भ्रान्त सिद्धान्तसे गिर गया और उसे तत्त्वका परिज्ञान होगया ।]

जबकि वेदान्तमतमें आकाश आदि समस्त जगत् मिथ्या है फिर 'आकाश है' इत्यादि रूपमें उसमें सत्ता कहांसे आयी ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि अधिष्ठानका धर्म अध्यस्त पदार्थोंमें प्रतीत हुआ करता है, रस्सीकी सत्ता सांपमें प्रतीत होजाती है, यदि उसी प्रकारकी शून्यकी भी सत्ता मानते हो तो फिर हमें तुमसे कुछ कहना नहीं है। क्योंकि तुमने हमारा सिद्धान्त स्वीकार करलिया।

सतोऽपि नामरूपे द्वे कल्पिते चेत्तदा वद ।
कुत्रेति निरधिष्ठानो न भ्रमः क्वचिदीक्ष्यते ॥३५॥

(सतः अपि नामरूपे द्वे कल्पिते चेत् तदा ते कुत्र कल्पिते इति वद) यदि शून्यवादी यह कहता हो कि ऐसे तो सत्के भी नाम और रूप दोनों कल्पित हैं, तो वह बताये कि सत्के नामरूप किसमें कल्पित हैं ? (निरधिष्ठानः भ्रमः कचित् न ईक्ष्यते) क्योंकि बिना अधिष्ठानका भ्रम कहीं नहीं देखाजाता।

सदासीदिति शब्दार्थभेदे वैगुण्यमापतेत् ।
अभेदे पुनरुक्तिः स्यान्मैवं लोके तथेक्षणात् ॥३६॥

(सत आसीत् इति शब्दार्थभेदे वैगुण्यम् आपतेत्) जैसे 'असदेवेदमग्र आसीत्' इसमें शून्यवादीके पक्षमें व्याघातदोष बतायागया इसी प्रकार 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस वाक्यमें भी यह एक बड़ा दोष है। क्योंकि जब कहा जाता है कि 'सत् आसीत्=सत् था' तब हम पूछते हैं कि 'सत् आसीत्' इन दोनों शब्दोंका अर्थ भिन्न भिन्न है या नहीं ? यदि कहो कि अर्थ भिन्न है तब तो त्रिगुणता आजाती है [अथवा यों कहो कि अद्वैतवाद फिर कहां ठहरता है !] यदि अर्थको अभिन्न[एक] माना जाय तो पुनरुक्ति दोष आता है (एवं मा वद लोके तथा ईक्षणात्)

पूर्वपक्षीका यह सब कथन ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसे वाक्योंसे पुनरुक्ति दोष नहीं मानाजाता । लोकभाषामें ऐसे [समानार्थक] शब्दोंका प्रयोग बार बार देखा जाता है ।

कर्तव्यं कुरुते, वाक्यं ब्रूते, धार्यस्य धारणम् ।
इत्यादिवासनाविष्टं प्रत्यासीत् सदितीरणम् ॥३७॥

(कर्तव्यं कुरुते, वाक्यं ब्रूते, धार्यस्य धारणं करोति) देखो, 'कर्तव्य करता है' 'वाक्य बोलता है,' 'धार्यको धारण करता है' (इत्यादिवासनाविष्टं प्रति सत् असीत् इति ईरणम्) इत्यादि समानार्थक दो दो शब्दोंका प्रयोग करनेकी वासना जिन [अधिकारियों] के मनमें बैठी हुई है श्रुतिने उनसे [उनकी वचनपरिपाटी (मुहावरे) में] यह कहदिया है कि उस समय सत् ही था ।

कालाभावे पुरेत्युक्तिः कालवासनया युतम् ।
शिष्यं प्रत्येव, तेनात्र द्वितीयं न हि शंक्यते ॥३८॥

(कालाभावे पुरा इति उक्तिः) [आसीत्का अर्थ भूतकालमें विद्यमान होना है] जबकि काल नामका सत्य पदार्थ नहीं है, फिर 'अग्रे-आसीत्=पहले था' यह कथन (कालवासनया युतं शिष्यं प्रति एव) कालकी वासनासे युक्त शिष्यके लिये कियागया [श्रुतिका अभिप्राय द्वैत वासनाओंके अभ्यासी श्रोताओंको समझाना है । वे श्रोता जैसी टूटी फूटी अधूरी भाषा में बोलने के अभ्यासी हैं, श्रुतिने उसी भाषामें उनके हितकी बात उनसे कहदी है ।] (तेन अत्र द्वितीयं न हि शंक्यते) इस वचनपरिपाटी [मुहावरे] के कारण द्वितीयके होनेकी शंका नहीं की जासकती ।

सिद्धान्तरहस्य

चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया ।
अद्वैतभाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम् ॥३९॥

(चोद्यं वा परिहारः वा द्वैतभाषया क्रियताम्) आक्षेप या परिहार द्वैतकी बोलीमें ही तो किया जासकता है। (अद्वैतभाषया न चोद्यम् अस्ति न अपि तदुत्तरम् अस्ति) अद्वैत [की नीरवभाषा] में न कुछ आक्षेप बनता है और न उसका कुछ उत्तर होता है [आक्षेप और परिहार व्यवहारदशामें ही होते हैं परमार्थ में तो अद्वैत ही एक मात्र तत्व है]

परमार्थमें द्वैताभावमें स्मृतिप्रमाण

तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किंचिदवशिष्यते ॥४०॥

(तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजः न तमः किन्तु ततम् अनाख्यम् अनभिव्यक्तं सत् किंचित् अवशिष्यते) तब स्तिमित निश्चल और गम्भीर [दुरवगाह्य] तेज और तमसे भिन्न [अनावरणस्वभाव], व्यापक अकथनीय और अप्रकट [इन्द्रियागम्य] सत् नामका कुछ पदार्थ शेषरहा होता है।

स्मृतिमें कहा है कि तब स्तिमित [निश्चल] तथा गम्भीर [अज्ञेय] जिसे मनसे भी नहीं जान सकते, जिसे न तेज कहसकते हैं और न जिसे तम कहते बनता है, किन्तु जो इन दोनोंसे विलक्षण सर्वत्रव्यापक तत्त्व है; वह अनाख्य और अनभिव्यक्त है। उसका न तो शब्दोंसे कथन होसकता है और न वह चक्षु आदि इन्द्रियोंसे व्यक्त होता है। वह सत अर्थात् शून्यसे विलक्षण है। इसीसे कहते हैं कि ऐसा ही कुछ तत्त्व—जिसके विषय में कुछ भी शब्द नहीं कहा जासकता—शेष रह जाता है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण द्वैतका निषेध करते करते, निषेध की अवधि के रूपमें जो तत्त्व शेष रहजाता है—जिसका निषेध नहीं होसकता—जिसका निषेध करनेका साहस करते ही निषेध भी नहीं रहता—उस शेष रहे हुए ऐसे तत्त्वको सत् जानो।

ननु भूम्यादिकं मा भूत् परमाण्वन्तनाशतः ।
कथं ते वियतोऽसत्त्वं बुद्धिमारोहतीति चेत् ॥४१॥

(ननु परमाण्वन्तनाशतः भूम्यादिकं मा भूत्) अब पूर्वपक्षी यह प्रश्न करता है कि—परमाणुपर्यन्त पदार्थोंका नाश होजानेसे भूमि, जल, अग्नि और वायु न रहें, यह तो हम मानसकते हैं। (किन्तु वियतः असत्वं ते बुद्धिं कथम् आरोहति ? इति चेत्) किन्तु नित्य आकाशका असत्व [न रहना] तुम्हारी समझमें कैसे आ जाता है ? यह बात हमारी समझमें नहीं आती ।

अत्यन्तं निर्जगद्व्योम यथा ते बुद्धिमाश्रितम् ।
तथैव सन्निराकाशं कुतो नाश्रयते मतिम् ॥४२॥

सिद्धान्ती दृष्टान्त देकर उत्तर देता है कि—(यथा अत्यन्तं निर्जगत् व्योम ते बुद्धिम् आश्रितम्) जैसे तेरी बुद्धिको यह समझपड़ता है कि कभी यह आकाश सम्पूर्ण जगत्से रहित भी होसकता है [जगत् न रहकर आकाश ही आकाश रहजाता है] (तथा एव निराकाशं सत् ते मतिं कुतः न आश्रयते) इसी प्रकार तू थोड़ा और ऊपर क्यों नहीं चढ़जाता ? यह बात तेरी समझमें क्यों नहीं आजाती कि इस सद्वस्तुमें आकाशतत्व भी नहीं है ? तू निराकाश सत् पदार्थको क्यों नहीं समझलेता ? [जैसे बिना जगत्का आकाश होसकता है, इसी प्रकार सद्वस्तु बिना आकाशकी होसकती है]

निर्जगद्व्योम दृष्टं चेत् प्रकाशतमसी विना ।
क्व दृष्टं किंच ते पक्षे न प्रत्यक्षं वियत् खलु ॥४३॥

(निर्जगत् व्योम दृष्टं चेत्) यदि तू कहे कि मैंने बिना जगत्का आकाश देखा है [इसीसे मैं आकाशको निर्जगत् मानलेता हूं] तो हम पूछते हैं कि (प्रकाशतमसी विना क्व दृष्टम्) प्रकाश या अन्धकारके बिना तुमने अकेले आकाशको कहाँ देखा है ? [इन दोनोंके बिना आकाश

कभी नहीं रहता] (किंच ते पक्षे वियत् प्रत्यक्षं न खलु) एक और भी बात है कि तुम्हारे मतमें आकाशका प्रत्यक्षदर्शन नहीं माना जाता। [ऐसा कहने वाले तुम अपसिद्धान्ती होजाते हो।]

सद्वस्तु सर्वानुभवसिद्ध है

सद्वस्तु शुद्धं त्वस्माभि र्निश्चितैरनुभूयते ।
तूष्णीं स्थितौ, न शून्यत्वं शून्यबुद्धेश्च वर्जनात् ॥४८॥

[हमारी सद्वस्तुके विषयमें यह नहीं कहा जासकता कि उसका दर्शन आकाशके समान नहीं होता क्योंकि] (शुद्धं सद्वस्तु तु निश्चितैः अस्माभिः अनुभूयते) हम राजयोगी लोग निश्चित्तावस्थामें उस सद्वस्तुका अनुभव किया करते हैं। (शून्यबुद्धेः वर्जनात् च तूष्णीं स्थितौ शून्यत्वं न) मौन होजाने के समय, अन्य किसीकी प्रतीति न होनेसे शून्य ही रहगया है, ऐसा मानना ठीक नहीं। क्योंकि शून्यको शून्यकी प्रतीति नहीं होसकती। इस कारण प्रतीति करनेवाला जो पदार्थ है वह शून्य नहीं होसकता। वह सद्वस्तु ही है। 'निश्चितैः' के स्थान पर "निश्चित्तैः" पाठ प्रतीत होता है।

सम्पूर्ण दृश्योंको छोड़ चुकनेके पश्चात् गम्भीर विचार करें तो शून्यावस्थाकी प्रतीति होने लगती है और इस शून्य अवस्थासे प्रायः लोग घबरा जाते हैं। घबराहटका स्वरूप यह है कि इसमें उनका जी नहीं लगता। परन्तु ऐसे समय अत्यन्त सावधान होकर इस शून्य अवस्थाका ज्ञान करानेवाले ज्ञानरूपी साक्षी आत्मातक पहुँचना चाहिये। उन्हें इस शून्यमें ही नहीं रुकजाना चाहिये। उन्हें इस शून्यमें तथा इस शून्यको पहचानने वाले साक्षीमें राजहंसकी भांति विवेक करना चाहिये। यदि इस साक्षीको भुला डाला जायगा तो अवश्य शून्य ही शून्य दिखाई देगा। जो आत्मा नहीं होगा वह शून्य ही होगा। परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि शून्यको शून्यका ज्ञान नहीं हो सकता। जिसको इस शून्यका ज्ञान होरहा है, वही हम राजयोगियोंकी प्यारी सद्वस्तु है।

स्वगोचर बुद्धि न होनेपर भी सद्वस्तु ज्ञानका उपाय

सद्बुद्धिरपि चेन्नास्ति मास्त्वस्य स्वप्रभत्वतः ।
निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात् सन्मात्रं सुगमं नृणाम् ॥४५॥

(सद्बुद्धिः अपि न अस्ति चेत् अस्य [सतः] स्वप्रभत्वतः मा अस्तु) यदि कहो कि समाधि अवस्थामें सद्बुद्धि भी नहीं रहजाती है [उस समय यह भी ध्यान नहीं रहता है कि सत् नामकी भी कोई वस्तु इस संसारमें है] तो इसका समाधान यह है कि यदि उस समय सद्-बुद्धि नहीं रहती है तो भले ही न रहे। यह सत् तत्व एक स्वयंप्रकाश पदार्थ है। उसके विषयकी बुद्धि न रहनेपर भी उसका ज्ञान होता है उसकी रीति यह है कि (निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात् सन्मात्रं नृणां सुगमम्) वह सद्वस्तु उस समय [समाधि अवस्था] की निर्मनस्कस्थिति की साक्षी है। इस कारण सन्मात्रवस्तुका परिज्ञान होना मनुष्योंको सुगम है। [जो उस समय निर्मनस्क अवस्थाको जानता रहता है वही सद्वस्तु है।]

सृष्टिसे पहले सद्वस्तुज्ञानकी शक्यता

मनोजृम्भणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः ।
मायाजृम्भणतः पूर्वं सत्तथैव निराकुलम् ॥४६॥

(यथा मनोजृम्भणराहित्ये साक्षी निराकुलः) जब मनोव्यापार नहीं होते, तब जैसे साक्षी [आत्मा] निराकुल होता है, (तथा एव मायाजृम्भणतः पूर्वं सत् निराकुलम्) इसी प्रकार [सृष्टिकी उत्पत्तिसे पहले] जब मायाका जृम्भण नहीं होपाया था—यह सद्वस्तु भी निराकुल थी, यह बात जानी जासकती है।

मायाका लक्षण

निस्तत्वा कार्यगम्यास्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत् ।
न हि शक्तिः कचित् कैश्चिद् बुध्यते कार्यतः पुरा ॥४७॥

(अस्य अग्निशक्तिवत् निस्तत्वा कार्यगम्या शक्तिः माया) इस सद्वस्तु की जो पृथक् तत्वरहित तथा कार्योंको देखकर ही पहचाननेयोग्य शक्ति [सामर्थ्य] है उसको 'माया' कहते हैं। वह माया ऐसी है जैसी अग्निकी शक्ति। (हि कचित् कैश्चित् शक्तिः कार्यतः पुरा न बुध्यते) क्योंकि कहीं भी कोई शक्तिको कार्यकी उत्पत्तिसे प्रथम नहीं जान सकता।

जो जगत्के कारण सद्वस्तुसे पृथक् कोई भी तत्व नहीं है तथा आकाशादि कार्योंको देखकर ही जिसका अनुमान करसकते हैं, आकाशादि कार्योंको उत्पन्न करनेवाली सद्वस्तुकी ऐसी शक्ति [सामर्थ्य] को ही 'माया' कहते हैं। जैसे अग्निकी शक्ति अग्निसे पृथक् कोई तत्व नहीं होती, जैसे अग्निकी शक्तिको उसके दाहादि कार्योंको देखकर ही जान सकते हैं ऐसी ही यह माया भी है। कोई भी कभी कार्योंके उत्पन्न होजाने से पहले शक्तिको नहीं पहचान सकता।

मायाकी निस्तत्वरूपता

न सद्वस्तु सतः शक्ति र्न हि वन्हेः स्वशक्तिता ।
सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्त्व मुच्यताम् ॥४८॥

(सद्वस्तु सतः शक्तिः न) वह सत्की शक्ति, सद्वस्तु ही हो, यह नहीं होसकता (वन्हेः स्वशक्तिता न हि) देखते हैं कि वन्हि स्वयं अपनी शक्ति नहीं होती। (सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः तत्वम् किम् इति उच्यताम्) उसको सत्से विलक्षण किसी प्रकारकी मानें तो शक्तिका स्वरूप बताना चाहिये कि वह कैसा होगा ?

वह शक्ति यद्यपि कार्यरूपी लिङ्गसे जानीजाती है, परन्तु वह वास्तवमें निस्तत्वरूप है। यह बात इन दो श्लोकोंमें सिद्ध की गई है। यदि वह शक्ति भी कोई दूसरी सद्वस्तु हो हो, तब वह सत्से भिन्न हो जानेके कारण, उसकी शक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि देखते हैं कि अग्नि ही अग्निकी शक्ति नहीं होती। यदि उसको सत्से विलक्षण तत्त्व मानोगे तो शक्तिका स्वरूप बताना चाहिये कि वह कैसा होगा ?

मायाकी सदसदनिर्वचनीयता

शून्यत्वमिति चेच्छून्यं मायाकार्यमितीरितम् ।
न शून्यं नापि सद्यादृक् तादृक् तत्वमिहेष्यताम् ॥४९॥

(शून्यत्वम् इति चेत् शून्यं मायाकार्यम् इति ईरितम्) यदि उस शक्तिका रूप शून्यको बताया जाय तो शून्य तो मायाका कार्य है। [यह बात इसी प्रकरणके चौंतीसवें श्लोकमें कही गयी है।] इस कारण यही कहना पड़ता है कि (न शून्यं न अपि सत् यादृक् तादृक् तत्वम् इह इष्यताम्) वह माया न तो शून्य ही है और न सत्य ही है। यदि तुम ऐसा कोई सदसद्विलक्षण तत्व समझसकते हो तो वैसा तत्व मायाको समझ लो। उस मायाका निर्वचन सत् और असत् इन दो शब्दोंसे नहीं हो सकता [इसीसे उसको सदसदनिर्वनीय कहा है।]

मायाकी सदसदनिर्वचनीयतामें श्रुतिप्रमाण

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं किंत्वभूत्तमः ।
सद्योगात्तमसः सत्वं न स्वत स्तन्निषेधनात् ॥५०॥

(तदानीं न असत् आसीत् नो सत् आसीत् किन्तु तमः आसीत्) 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे' इस श्रुतिने भी इस बातका अनुमोदन किया है। वह कहती है कि 'उस समय न तो सत् था' और 'न असत् था'। किन्तु तब तम ही तम था। (सद्योगात् तमसः सत्वम्) इस सत्का योग होजानेसे ही उस तममें सत्ता आगयी थी। (न स्वतः) उस तममें स्वतः सत्ता नहीं थी। (तन्निषेधनात्) इस श्रुतिने अपने मुखसे ही उसके सत् होनेका स्पष्ट निषेध करडाला है।

मायाकी द्वितीयताकी अमान्यता

अत एव द्वितीयत्वं शून्यवन्न हि गण्यते ।
न लोके चैत्रतच्छक्त्यो र्जीवितं लिख्यते पृथक् ॥५१॥

(अतः एव शून्यवत् मायायाः द्वितीयत्वं न हि गण्यते) इस सबका फलित यही हुआ कि क्योंकि मायाकी स्वतः सत्ता [स्वतन्त्र सत्ता] नहीं मानी जाती, इसलिये जैसे शून्यको दूसरा पदार्थ नहीं गिनाजाता इसी प्रकार मायाको भी कोई दूसरा पदार्थ नहीं गिनाजाता। (लोके चैत्रतच्छक्त्योः जीवितं पृथक् न लिख्यते) लोकमें भी देखते हैं कि चैत्र तथा उसकी शक्तिका पृथक् पृथक् उल्लेख कहीं नहीं कियाजाता। [चैत्र और चैत्रकी शक्तिको कोई भी दो पदार्थ नहीं गिनता।]

शक्तिके पृथक् अस्तित्वका अभाव

शक्त्याधिक्ये जावितं चेद् वर्धते तत्र वृद्धिकृत्।
न शक्तिः, किन्तु तत्कार्यं युद्धकृष्यादिकं तथा ॥५२॥

(शक्त्याधिक्ये जीवितं वर्धते चेत्) शक्तिकी अधिकता होनेपर जीवनकी वृद्धि पायी जाती है। इस दृष्टान्त से शक्तिका जीवित [सत्ता] पृथक् मानलेना ठीक नहीं है। (तत्र वृद्धिकृत् शक्तिः न) क्योंकि शक्तिसे किसीके जीवनकी वृद्धि नहीं होती। (किन्तु तत्कार्यं युद्धकृष्या-दिकं वृद्धिकृत) किन्तु शक्तिके कार्य जो मल्लयुद्ध तथा खेती आदि हैं उनसे जीवनकी वृद्धि होती है। [इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिये कि उस ब्रह्ममें उसकी शक्तिके कारणसे द्वितीयपन [द्वैतभाव] नहीं आजाता।

सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथग्गणना क्वचित्।
शक्तिकार्यं तु नैवास्ति द्वितीयं शंक्यते कथम् ॥५३॥

(शक्तिमात्रस्य पृथक् गणना क्वचित् सर्वथा न) केवल शक्तिकी पृथक् गणना [गिनती] कहीं नहीं होती। यदि यह कहो कि उस ब्रह्ममें शक्तिके कार्योंसे ही सद्वितीयता [द्वैतभाव] आजायगी तो उसका उत्तर यह है कि (तदा शक्तिकार्यं तु न एव अस्ति) उस समय [सृष्टिकी उत्पत्ति से प्रथम कालमें] शक्तिका कार्य भी कुछ नहीं था। (द्वितीयं कथं शंक्यते) फिर [उस समय] द्वितीय [दूसरे] के होनेकी शङ्का क्यों करते हो?

यद्यपि प्रलयकालमें ब्रह्म और उसकी शक्ति दोनों होते हैं, परन्तु किसीकी भी शक्तिकी गिनती उससे पृथक् नहीं कीजाती। यद्यपि सृष्टि बननेके पश्चात् शक्तिके नाना कार्य होजाते हैं, परन्तु सृष्टि बननेके पीछेके कार्योंसे, सृष्टि बननेसे पहले कालमें, द्वितीयपन कैसे आसकेगा ?

सच्छक्तिकी एकदेशता

न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किन्त्वेकदेशभाक् ।
घटशक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येव वर्तते ५४॥

(सा शक्तिः कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः न) ब्रह्मकी वह शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्ममें नहीं रहती। (किन्तु एकदेशभाक्) किन्तु वह उस ब्रह्मके किसी एक देशमें रहती है। (यथा भूमौ घटशक्तिः स्निग्धमृदि एव वर्तते) जिस प्रकार घड़ा मिट्टीसे बनता है, परन्तु घटको उत्पन्न करनेकी शक्ति केवल चिकनी मिट्टीमें रहती है।

शक्तिके एकदेशस्थ होनेका प्रमाण

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः ।
इत्येकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः ॥५५॥

(सर्वा भूतानि अस्य पादः। त्रिपात् स्वयंप्रभः अस्ति इति श्रुतिः मायायाः एकदेशवृत्तित्वं वदति) 'पादोस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' [यजुर्वेद अ० ३१] ये सम्पूर्ण भूत इसके एकचतुर्थांशमें ही हैं। इसका तीनचौथाई भाग अब भी अमर और स्वयंप्रकाश है। यह श्रुति कहरही है कि ब्रह्मकी माया उसके किसी एकदेशमें रहती है [सम्पूर्ण ब्रह्ममें नहीं रहती]।

शक्तिकी एकदेशस्थतामें भगवद्गीताका प्रमाण

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।
इति कृष्णोऽर्जुनायाह जगतस्त्वेकदेशताम् ॥५६॥

(विष्टभ्य अहम् इदम् इति कृष्णः अर्जुनाय जगतः एकदेशताम् आह) 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' [गीता १०-४२] में इस सम्पूर्ण जगत्को अपने एकअंशसे धारण किये हुए हूं यों कृष्ण भगवानने भी अर्जुनके प्रति जगत्की एकदेशताका ही वर्णन किया है।

निर्मायस्वरूपमें प्रमाण

स भूमिं विश्वतो वृत्वा ह्यत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ।
विकारावर्ति चात्रास्ति श्रुतिसूत्रकृतोर्वचः ॥५७॥

(स भूमिं विश्वतो वृत्वा इति श्रुतिवचः) 'स भूमिं विश्वतो वृत्वा' [श्वे० ३-१४] यह मन्त्र (विकारावर्ति इति सूत्रकृतः वचः अत्र विषये प्रमाणं अस्ति) तथा विकारावर्ति यह वेदान्तसूत्र ब्रह्मके निर्माय स्वरूपको बता रहे हैं।

ब्रह्मका निर्माय स्वरूप भी है, इसमें प्रमाणकी आवश्यकता हो तो 'स भूमिं विश्वतो वृत्वा ह्यत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' उसने समस्त लोक लोकान्तरोंको चारों ओरसे लपेटलिया है, फिर भी वह उसके बाहर दशाङ्गुल रह ही गया है, इस श्रुतिने तथा 'विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह' (ब्रह्मसूत्र ४-४-१९) विकारोंमें न रहनेवाला नित्य मुक्त भी परमेश्वररूप है। केवल विकारोंमें रहनेवाला ही परमेश्वररूप नहीं है। क्योंकि वेदने स्वयं अपने श्रीमुखसे इस परमेश्वरकी दो रूपकी स्थितिका वर्णन किया है कि, 'तावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' यह सब उस ब्रह्मकी विभूतिका विस्तार है। वह स्वयं इस नामरूपधारी जगत्से बहुत बड़ा है। उस ब्रह्मपुरुषमें किसी प्रकारका विकार नहीं है। तेज, जल, पृथिवी आदि सबके सब उसके एकचतुर्थांशमें हैं। इस अमृत पुरुषका तीनचौथाई भाग अभी भी अपने प्रकाशशील स्वतःप्रभ आत्मरूपमें स्थित है।

श्रुतिका अभिप्राय

निरंशेऽप्यंशमारोप्य कृत्स्नेंऽशे वेति पृच्छतः ।
तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोतृहितैषिणी ॥५८॥

(श्रोतृहितैषिणी श्रुतिः कृत्स्ने अंशे वा इति पृच्छतः निरंशे अपि अंशम् आरोप्य तद्भाषया उत्तरं ब्रूते) है तो वह वास्तवमें निरंश, परन्तु श्रोताओंका हित चाहनेवाली श्रुतिने, शक्ति सम्पूर्णमें रहती है या अंशमें रहती है ? ऐसा प्रश्न करनेवाले की ही भाषामें उसका उत्तर देने केलिये निरंशमें भी अंशका आरोप करके उसे उसीकी भाषामें उत्तर दिया है । [इस कारण श्रुतिकी भाषामें और ब्रह्मके निरंशपनेमें विरोध नहीं है] ।

मायासे जगद्रचना

सत्तत्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत् सति विक्रियाः ।
वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं तथा ॥५९॥

(यथा भित्तिगताः वर्णाः नानाविधं चित्रं भित्तौ कल्पयन्ति) जैसे कि भीतपर पोते हुए लाल पीले आदि नानाविध रंग नानाविध चित्रको भित्तिपर ही उत्पन्न किया करते हैं । (तथा सत्तत्वम् आश्रिता शक्तिः सति विक्रियाः कल्पयेत्) इसीप्रकार उस सत् तत्वमें रहनेवाली वह शक्ति, उस सत् तत्वमें ही विक्रिया अर्थात् कार्यविशेषोंको उत्पन्न किया करती है ।

मायाका प्रथम कार्य

आद्यो विकार आकाशः सोऽवकाशस्वरूपवान् ।
आकाशोऽस्तीति सत्तत्वमाकाशेऽप्यनुगच्छति ॥६०॥

(आद्यः विकारः आकाशः) उस शक्तिका सबसे पहला विकार [कार्य] आकाश है । (सः अवकाशस्वरूपवान्) वह अवकाशस्वरूप है ।

[वह आकाश उस सत् ब्रह्मका कार्य है। इस बातको हम इस हेतुसे जानते हैं कि] (आकाशः अस्ति इति सत्तत्वम् आकाशे अपि अनुगच्छति) यह सत्तत्व आकाशमें भी अनुगत होरहा है। जब ही तो कहाजाता है कि "आकाऽशोस्ति" अर्थात् आकाश है [यदि आकाश सत्से बना न होता तो 'आकाशोऽस्ति' में आकाशके साथ सत्ताका योग कैसे होजाता ?]

एकस्वभावं सत्तत्वमाकाशो द्विस्वभावकः ।
नावकाशः सति व्योम्नि स चैषोऽपि द्वयं स्थितम् ॥६१॥

(सत्तत्वम् एकस्वभावम्) सत् तत्व एकस्वभाववाला है। (आकाशः द्विस्वभावकः) आकाश दो स्वभाववाला होगया है। [इसीको विस्तारसे यों समझो कि] (सति अवकाशः न अस्ति) सद्वस्तुमें अवकाश [छेद] कहीं भी नहीं है [वह सर्वत्र ठसाठस भरी हुई है। उसका सत् ही एक स्वभाव है।] (व्योम्नि सः [सत्स्वभावः] च एषः [अवकाशस्वभावः] अपि इति द्वयं स्थितम्) परन्तु आकाशमें वह सत्स्वभाव तथा अवकाश-स्वभाव दोनों रहते हैं।

यद्वा प्रतिध्वनिर्व्योम्नो गुणो नासौ सतीक्ष्यते ।
व्योम्नि द्वौ सद्ध्वनी तेन सदेकं, द्विगुणं वियत् ॥६२॥

(यद्वा प्रतिध्वनिः व्योम्नः गुणः) अथवा इसी विषयको यों समझना चाहिये कि—प्रतिध्वनि आकाशका गुण है। (असौ सति न ईक्ष्यते) यह प्रतिध्वनि [शब्द] सद्वस्तुमें नहीं पायी जाती। (व्योम्नि सद्ध्वनी द्वौ) परन्तु आकाशमें सत् तथा शब्द दोनों पायेजाते हैं। (सत् एकम् द्विगुणं वियत्) इससे यही सिद्ध होता है कि सत् एक स्वभाववाला है तथा आकाश दोस्वभावका है।

मायाकी धर्मधर्मिभावकी विपरीत कल्पना

या शक्तिः कल्पयेद् व्योम सा सद्व्योम्नोरभिन्नताम् ।
आपाद्य धर्मधर्मित्वं व्यत्ययेनावकल्पयेत् ॥६३॥

(या शक्तिः व्योम कल्पयेत् सा [पूर्वं] सद्व्योम्नोः अभिन्नतां आपाद्य [पश्चात्] धर्मधर्मित्वं व्यत्ययेन अवकल्पयेत्) माया नामकी जो शक्ति, सद्वस्तुमें आकाशकी कल्पना करलेती है, वही शक्ति यह भी करती है कि पहले सत् तथा आकाशके अभेदकी कल्पना करके फिर उनके धर्मधर्मिभावको भी उलट-पुलट करदेती है अर्थात् धर्मको धर्मी और धर्मीको धर्म बना डालती है। [यही कारण है कि 'सत्का आकाश' ऐसी प्रतीतिके स्थानपर लोगोंको 'आकाशकी सत्ता' ऐसी विपरीत प्रतीति होने लगी है]।

मायाकी विपरीतकल्पनाका स्वरूप

सतो व्योमत्वमापन्नं व्योम्नः सत्तां तु लौकिकाः।
तार्किकाश्चावगच्छन्ति मायाया उचितं हि तत् ॥६४॥

(सतः व्योमत्वम् आपन्नम्) सत्का ही आकाशभाव होगया है। (लौकिकाः तार्किकाः तु व्योम्नः सत्तां अवगच्छन्ति) परन्तु लौकिक और तार्किक लोग उसको 'आकाशकी सत्ता' ऐसा विपरीत समझ बैठे हैं। (तत् मायायाः उचितं हि) यह विपरीतभाव करदेना मायाकेलिये कोई बड़ी बात नहीं है।

वस्तुतत्वका विचार करनेपर ज्ञात होता है, कि जैसे मिट्टी घटरूपी होगई है इसीप्रकार सत् ही आकाशभावको प्राप्त होगया है। इसलिये सत्का आकाश ऐसी प्रतीति होनी चाहिये थी परन्तु लौकिक प्राणी तथा तर्कशास्त्री लोग वास्तविकताके कितना विरुद्ध समझ बैठे हैं कि वे सत्ताको आकाशका धर्म मानने लगे हैं। ऐसा विपरीतदर्शन करादेना मायाके लिये उचित ही है। मायासे और क्या आशा कीजा सकती थी?

मायाके विपरीतप्रतीति करानेका समर्थन

यद् यथा वर्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः।
अन्यथात्वं भ्रमेणेति न्यायोऽयं सार्वलौकिकः ॥६५॥

(यत् यथा वर्तते तस्य तथात्वं मानतः भाति) जो [रस्सी आदि] जैसा [रस्सी आदि रूपमें] है उसका वैसापन तो प्रमाणसे प्रकट हुआ करता है। (अन्यथात्वं भ्रमेण भाति) परन्तु उस [रस्सी] का अन्यथा-भाव [सर्परूपता] भ्रान्तिसे प्रतीत हुआ करता है। (अयं न्यायः सार्व-लौकिकः) यह एक सर्वलोकप्रसिद्ध न्याय है। [इसीसे समझो कि मायासे विपरीत प्रतीति होजाती है।]

भ्रान्तिजन्य विपरीत प्रतीतिको हटानेका विचाररूप उपाय

एवं श्रुतिविचारात् प्राग्यथा यद्वस्तु भासते ।
विचारेण विपर्येति ततस्तच्चिन्त्यतां वियत् ॥६६॥

(एवं श्रुतिविचारात् प्राक् यथा यद्वस्तु भासते तद् विचारेण विपर्येति) इस प्रकार यह निश्चय होगया कि श्रुतिके मर्मोंका विचार करनेसे पहले पहले जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है, वह विचार करनेपर वैसी नहीं रहजाती। (ततः तत् वियत् चिन्त्यताम्) इसीसे उस आकाशका चिन्तन करो कि वह वास्तवमें क्या है।

अब उस सर्वलोकप्रसिद्ध विपरीतभानकी निवृत्तिका उपाय बताया जाता है—इस प्रकार जो वस्तु [जो सद्रूप ब्रह्म] श्रुतिके अर्थोंका विचार न करने तक भ्रान्तिके प्रतापसे जैसी [आकाशादिके रूपमें] होगई है, वही वस्तु श्रुतिके अर्थका पर्यालोचन करनेपर विपरीत सिद्ध होजाती है—किंवा तब वह आकाशादिभावको छोड़कर फिर सद्रूप ब्रह्म होजाती है। वस्तुके यथार्थरूपका परिज्ञान श्रुतिका विचार करनेपर ही होसकता है। इसीसे कहते हैं कि आकाशका चिन्तन करो। विचारके द्वारा उसके पारमार्थिक रूपको टटोलो। देखो कि विचार करनेपर आकाशका पारमार्थिक रूप क्या सिद्ध होता है?

विचारका स्वरूप

भिन्ने वियत्सती शब्दभेदाद् बुद्धेश्च भेदतः ।
वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्नतु व्योमेति भेदधीः ॥६८॥

(भिन्ने वियत्सती) आकाश और सत् भिन्न भिन्न हैं। (शब्द-भेदात्) क्योंकि इन दोनोंके वाचक शब्द भी भिन्न-भिन्न हैं, (बुद्धेः च भेदतः) तथा इन शब्दोंसे उत्पन्न होनेवाली बुद्धियें भी भिन्न-भिन्न होती हैं। (सत् वाय्वादिषु अनुवृत्तम्) देखलो कि सत् वस्तु वायु आदिमें भी अनुवृत्त हो रही है [कहाजाता है कि 'सन् वायुः' 'सत्तेजः' 'वायु है' 'तेज है' इत्यादि] (न तु व्योम) परन्तु इस प्रकार व्योम [आकाश] की अनुवृत्ति नहीं होती। (इति भेदधीः) बस यही बुद्धिका भेद कहाजाता है। [जिसका कथन इसी श्लोक के दूसरे चरणमें कियागया है]।

विचारसे धर्मधर्मिभावका व्यत्यय

सद्वस्त्वधिकवृत्तित्वाद् धर्मि, व्योम्नस्तु धर्मता।

धिया सतः पृथक्कारे ब्रूहि व्योम किमात्मकम् ॥६८॥

(अधिकवृत्तित्वात् सद्वस्तु धर्मि) अधिकमें वृत्तिवाली होनेसे सद्वस्तु धर्मी है (व्योम्नः तु धर्मता) तथा [अल्पदेशवृत्ति होनेसे] आकाश उसका धर्म है। (धिया सतः पृथक्कारे व्योम किमात्मकम् इति ब्रूहि) अब तुम बुद्धिकी सहायतासे सत्को पृथक् करके बताओ कि आकाशका आत्मा [रूप] क्या है?

देखो जैसे रूपरसादि सबमें रहनेवाला, द्रव्य कहानेवाला पदार्थ, धर्मी होता है, इसी प्रकार आकाशादि सबमें अनुवृत्त हुआ सत् धर्मी है, तथा जैसे रसादिसे व्यावृत्त रहनेवाला 'रूप' धर्म है इसी प्रकार वायु आदिसे व्यावृत्त होनेवाला आकाश भी, 'धर्म' ही है। अब तुम अपनी बुद्धि से आकाशमें से सत्ताको पृथक् करलो और फिर बताओ कि वह आकाश किस स्वरूपका रहगया? [सत्को बुद्धिकी कल्पनासे पृथक् करने की बात इसलिये कही है कि वास्तवमें तो सत् किसीभी वस्तुसे पृथक् नहीं होसकता]।

अवकाशात्मकं तच्चेदसत्तदिति चिन्त्यताम्।

भिन्नं सतोऽसच्च नेति वच्मि चेद् व्याहतिस्तव ॥६९॥

(तत् अवकाशात्मकं चेत् तत् असत् इति चिन्त्यताम्) यदि तुम उस आकाशको [सत्स्वरूप न बताकर] अवकाशरूप बताओ तो [सत्से विलक्षण होनेसे] उसे असत् समझना पड़ेगा [क्योंकि सत्से भिन्न असत् होता है।] (सतः भिन्नम् असत् च न इति वक्षि चेत् तव व्याहतिः) यदि यह कहोकि वह सत्से विलक्षण भी है और असत् भी नहीं है तो यह तुम्हारी विपरीत [अमान्य] बात है।

मिथ्याका लक्षण

भातीति चेद् भातु नाम भूषणं मायिकस्य तत् ।
यदसद् भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत् ॥७०॥

(भाति इति चेत् भातु नाम तत् मायिकस्य भूषणम्) [यदि यह आकाश असत् होता तो प्रतीत भी न होना चाहिये था।] परन्तु यह तो प्रतीत होरहा है। इसका उत्तर यह है कि यह प्रतीत होता है तो हुआ करो। यह [इसका यह असत् होनेपर भी प्रतीत होना] मायावादीका भूषण है। (यत् असत् भासमानं तत् स्वप्नगजादिवत मिथ्या) देखो जो वस्तु असत् हो [स्वरूपसे न हो] परन्तु प्रतीत होती हो, वह सुपनेके हाथी आदि पदार्थोंकी भाँति मिथ्या होती है।

जातिव्यक्ती, देहिदेहौ, गुणद्रव्ये यथा पृथक् ।
वियत्सतो स्तथैवास्तु पार्थक्यं कोऽत्र विस्मयः ॥७१॥

(यथा जातिव्यक्ती, देहिदेहौ, गुणद्रव्ये पृथक्) जैसे तुम्हारे [नैयायिक वैशोषिकके] मतमें [नियमसे सदा साथ दीखनेवाले भी] जाति और व्यक्ति, देहधारी और देह तथा गुण और द्रव्य, पृथक् पृथक् हैं [जैसे ये भिन्न भिन्न हैं] (तथा एव वियत्सतोः पार्थक्यम् अस्तु अत्र विस्मयः कः) इसीप्रकार [नियमसे सदा साथ दीखनेवाले भी] आकाश और सत् पृथक् पृथक् हैं। इसमें विस्मयकी कौनसी बात है ?

बुद्धोपि भेदो नो चित्ते निरूढिं याति चेत्तदा।
अनैकाग्र्यात् संशयाद्वा रूढ्यभावोऽस्य ते वद ॥७२॥

(बुद्धः अपि भेदः चित्ते निरूढिं नो याति चेत्) यदि समझा हुआ भी यह भेद [किसी दुर्बलताके कारण] चित्तमें जमता न हो, (तदा ते अस्य रूढ्यभावः अनैकाग्र्यात् वर्तते संशयात् वा वर्तते इति वद) तो बताओ कि उस बातके जीमें न बैठनेका कारण तुम्हारी अनेकाग्रता है अथवा तुम्हारे मनमें बैठा हुआ कोई संशय है ?

अप्रमत्तो भव ध्यानादाद्येऽन्यस्मिन् विवेचनम्।
कुरु प्रमाणयुक्तिभ्यां, ततो रूढतमो भव ॥७३॥

(आद्ये ध्यानात् अप्रमत्तः भव) यदि इस अरूढिका कारण तुम्हारी अनेकाग्रता हो, तब तो [प्रत्ययकी एकाकारता रूपी] 'ध्यान'की सहायतासे अपने मनको सावधान करो। (अन्यस्मिन् प्रमाणयुक्तिभ्यां विवेचनं कुरु) यदि कोई संशय रहगया हो तो प्रमाण और युक्तिके द्वारा उसका विवेचन कर डालो और संशयको मिटा डालो। (ततः रूढतमः भवः) यों दोनों रुकावटोंको हटाकर रूढतम होजाओ।

ध्यानान्मानाद्युक्तितोऽपि रूढे भेदे वियत्सतोः।
न कदाचिद् वियत्सत्यं सद्वस्तु छिद्रवन्न च ॥७४॥

(ध्यानात् मानात् युक्तितः अपि वियत्सतोः भेदे रूढे सति) जब ध्यान [प्रत्ययकी एकतानता] से मान [६७ श्लोकमें कहेगये] से तथा ६८ वें श्लोकमें कही हुई युक्तिसे, आकाश और सत्का भेद चित्तमें भलेप्रकार जम जाय, (वियत् कदाचित् सत्यं न) तब फिर यह आकाश कभी भी सत्य न भासेगा [फिर यह सदा ही मिथ्या भासने लगेगा] (सद्वस्तु छिद्रवत् न च) तब यह भी ज्ञात हो जायगा कि सद्वस्तुमें छिद्र [अर्थात् आकाश नामकी कोई वस्तु] नहीं है।

ज्ञस्य भाति सदा व्योम निस्तत्त्वोल्लेखपूर्वकम् ।
सद्वस्त्वपि विभात्यस्य निश्छिद्रत्वपुरःसरम् ॥७५॥

(व्योम ज्ञस्य सदा निस्तत्वोल्लेखपूर्वकं भाति) [जिसप्रकार किसी दुष्टका स्मरण आजानेपर उसके दुर्गुणोंकी स्मृति आजाती हैं इसीप्रकार] ज्ञानी पुरुषको जब कभी व्यवहारमें आकाशकी प्रतीति होती है तब उसे आकाशकी निस्तत्वता का परिज्ञान भी उसके साथ ही साथ हुआकरता है (अस्य सद्वस्तु अपि निश्छिद्रत्वपुरःसरं विभाति) तथा जब उस ज्ञानीको सद्वस्तुका विभान होता है तब ही उसे यह ज्ञान भी साथ ही होजाता है कि सद्वस्तुमें आकाशादि नामकी कोई भी वस्तु नहीं है ।

ज्ञानीका विस्मय

वासनायां प्रवृद्धायां, वियत्सत्यत्ववादिनम् ।
सन्मात्रबोधमुक्तं च दृष्ट्वा विस्मयते बुधः ॥७६॥

(बुधः वासनायां प्रवृद्धायां वियत्सत्यत्ववादिनं सन्मात्रबोधमुक्तं च दृष्ट्वा विस्मयते) [जो सदा आकाशको मिथ्याभावसे तथा सत्को वस्तुभावसे चिन्तन किया करता है तो इस चिन्तन से आगे चलकर यह होजाता है कि] इस वासनाके अत्यन्त बढ़ जानेपर आकाश और सत्के तत्वको समझ लेनेवाला वह बुध, फिर जब कभी किसी ऐसे पुरुषको देखता है, जो आकाशको तो सत्य मानता हो और उसे आकाशरहित-सद्वस्तुका बोध सर्वथा न हो, तब उसे बड़ा आश्चर्य होनेलगता है [कि ओ हो इसे सर्वभासक, सर्वाधिष्ठान, सर्वाधार, सत्का ज्ञान नहीं है, किन्तु यह दीन अपने अज्ञानके कारण, भास्य, अधिष्ठेय किंवा आधेय पदार्थोंको ही जानरहा है ।

वाय्वादिसे सद्वस्तुका विवेक

एवमाकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते ।
न्यायेनानेन वाय्वादेः सद्वस्तु प्रविविच्यताम् ॥७७॥

(एवम् आकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते) इस प्रकार जब आकाशका मिथ्यापन तथा सत्का सत्यपन भले प्रकार जीमें बैठ जाय, तब फिर (अनेन न्यायेन सद्वस्तु वाय्वादेः प्रविविच्यताम्) इसी न्यायसे वायु आदि शेषभूतोंमें से भी सद्वस्तुको पृथक् करलेना चाहिये ।

वायुका सद्वस्तुसे पारस्परिक सम्बन्ध

सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया, तत्रैकदेशगम् ।
वियत्, तत्राप्येकदेशगतो वायुः प्रकल्पितः ॥७८॥

(सद्वस्तुनि एकदेशस्था माया) माया सद्वस्तुमें उसके किसी एकदेश में पड़ी हुई है । (तत्र एकदेशगं वियत्) उस मायाके किसी एकदेशमें यह आकाश रहरहा है । (तत्र अपि एकदेशगतः वायुः प्रकल्पितः) उस आकाशके भी किसी एकदेशमें इस वायुकी कल्पना होगयी है । [यों इस वायुका भी सत्केसाथ परम्परासे सम्बन्ध है । इससे इसका विवेचन भी करडालना चाहिये ।]

वायुके धर्म

शोषस्पर्शौ गतिर्वेगो वायुधर्मा इमे मताः ।
त्रयः स्वभावाः सन्मायाव्योम्नां ये, तेऽपि वायुगाः ॥७९॥

(शोषस्पर्शौ गतिः वेगः इमे वायुधर्माः) शोष तथा स्पर्श, गति तथा वेग ये चार धर्म वायुके अपने धर्म कहाते हैं। (सन्मायाव्योम्नां ये त्रयः स्वभावाः ते अपि वायुगाः) सत्, माया तथा आकाशके जो तीन स्वभाव [सत्ता, निस्तत्वरूपता तथा शब्द हैं] वे भी वायुमें हैं।

वायुमें सत् माया और आकाशके तीन धर्म

वायुरस्तीति सद्भावः सतो वायौ पृथक्कृते ।
निस्तत्वरूपता मायास्वभावो, व्योमगो ध्वनिः ॥८०॥

(वायुः अस्ति इति सद्भावः) 'वायुरस्ति' वायु है इस व्यवहारकी कारण जो सद्रूपता है वह सद्वस्तुका धर्म वायुमें आगया है । (सतः वायौ

पृथक्कृते) सद्वस्तुसे वायुके पृथक् करलेनेपर (निस्तत्वरूपता सा मायास्वभाव:) जो निस्तत्वरूपता [मिथ्यात्व] शेष रहजाती है वह वायुमें दूसरा मायाका धर्म आया है (ध्वनिः व्योमगः धर्मः) तथा शब्द आकाश से आयाहुआ तीसरा वायुका धर्म है।

सतोऽनुवृत्तिः सर्वत्र व्योम्नो नेति पुरेरितम् ।
व्योमानुवृत्तिरधुना कथं न व्याहतं वचः ॥८१॥

(पुरा सर्वत्र सतः अनुवृत्तिः व्योम्नः न इति ईरितम) इसी प्रकरणके ६७ वें श्लोकमें कहा है कि सत्की ही सर्वत्र अनुवृत्ति है आकाश की नहीं। (अधुना व्योमानुवृत्तिः उच्यते तर्हि वचः कथं व्याहतं न) अब उसके विपरीत वायु आदिमें आकाशकी अनुवृत्ति कर रहेहो, फिर तुम्हारे कथनमें व्याघात [पूर्वोत्तरविरोध] क्यों नहीं है ?

छिद्रानुवृत्तिर्नेतीति पूर्वोक्तिरधुनात्वियम् ।
शब्दानुवृत्तिरेवोक्ता वचसो व्याहतिः कुतः ॥८२॥

(छिद्रानुवृत्तिः न इति पूर्वोक्तिः) इसका उत्तर यह है कि पहले [६७ श्लोकमें] यह कहा गया था कि छिद्र अर्थात् आकाशकी अनुवृत्ति नहीं होती। (अधुना तु इयं शब्दानुवृत्तिः एव उक्ता) अब तो केवल शब्दकी अनुवृत्ति होने की बात कही जारही है। अर्थात् अब केवल धर्म की अनुवृत्ति की जारही है और पहले धर्मी की अनुवृत्तिका निषेध किया था। (वचसः व्याहतिः कुतः) फिर हमारे वचनमें पूर्वोत्तरविरोध कैसे है ?

ननु सद्वस्तुपार्थक्यादसत्वं चेत्तदा कथम् ।
अव्यक्तमायावैषम्यादमायामयतापि नो ॥८३॥

(ननु सद्वस्तुपार्थक्यात् असत्वं चेत्) हे सिद्धान्ती, यह बताओ कि यदि तुम वायुको सद्ब्रह्मसे विलक्षण होनेकेकारण असत् [मायामय] मानते हो तो (अव्यक्तमायावैषम्यात् अमायामयता अपि कथं नो) यह

वायु अव्यक्तरूप मायासे भी विलक्षण है [क्योंकि यह व्यक्त है] फिर इसे अमायामय [सत्य] भी क्यों नहीं मानलेते हो ?

मायामय होनेका कारण, अव्यक्तता नहीं किन्तु निस्तत्वता है

निस्तत्वरूपतैवात्र मायात्वस्य प्रयोजिका ।
सा शक्तिकार्ययोस्तुल्या व्यक्ताव्यक्तत्वभेदिनोः॥८४॥

(अत्र मायात्वस्य प्रयोजिका निस्तत्वरूपता एव) सिद्धान्तीका उत्तर यह है कि—मायामय होनेका कारण अव्यक्तता नहीं है। किन्तु इस वायुको निस्तत्वताके कारण मायामय [असत्] कहागया है। (सा व्यक्ताव्यक्तत्वभेदिनोः शक्तिकार्ययोः तुल्या) वह निस्तत्वरूपता व्यक्त और अव्यक्त भेद रखनेवाली शकित में तथा उसके कार्योंमें दोनोंमें समान है [वह निस्तत्वरूपता अव्यक्त मायामें भी है और मायाके कार्य व्यक्त वायु आदिमें भी पाईजाती है। माया और मायाके कार्योंमें, केवल अव्यक्ता और व्यक्तताका ही भेद है। इस कारण इसकी मायामयता किसी युक्त्याभाससे टलनेवाली वस्तु नहीं है।]

व्यक्ताअव्यक्तताका विचार प्रस्तुतानुपयोगी

सदसत्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात् स चिन्त्यताम् ।
असतोऽवान्तरो भेद आस्तां तच्चिन्तयात्र किम् ॥८५॥

(सदसत्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात् सः चिन्त्यताम्) इस समय सत और असत्का विवेक ही प्रस्तुत होरहा है। उसीका विचार हमें करना चाहिये। (असतः अवान्तरः भेदः आस्ताम्। अत्र तच्चिन्तया किम् ?) माया और मायाके कार्यरूपी असत् पदार्थोंके, जोकि व्यक्तता और अव्यक्ततारूपी अवान्तर भेद हैं, उनका प्रकृतमें कुछ उपयोग नहीं है इसलिये उनका विचार करके क्या करें ? [हम यह इस स्थलमें क्यों बतायें कि यह माया अव्यक्त क्यों है ? तथा उसके कार्य व्यक्त क्यों होगये हैं ?]

सद्वस्तु ब्रह्म, शिष्टांशो वायुर्मिथ्या, यथा वियत् ।
वासयित्वा चिरं वायोर्मिथ्यात्वं मरुतं त्यजेत् ॥८६॥

(सद्वस्त ब्रह्म) वायुमें जो सदंश [सद्भाग] है वह ब्रह्मरूप है। (शिष्टः अंशः यथा वियत् मिथ्या तथा मिथ्या) शेष रहा हुआ जो [निस्तत्त्व आदि] अंश है वही वायुका अपना स्वरूप है। [निस्तत्वरूप होनेकेकारण] यह वायु भी आकाशके समान मिथ्या है। (इत्थं वायोः मिथ्यात्वं चिरं वासयित्वा) इस प्रकार चिरकाल तक वायुके मिथ्याभाव-की वासना करके, (मरुतं त्यजेत्) वायुको छोड़दे [अर्थात् वायुके सत्य होनेकी बुद्धिका परित्याग करडाले=उसमें से अपनी आस्था हटाले ।]

वायुके सम्बन्धमें कहे विचारका तेजमें अतिदेश

चिन्तयेद् वन्हिमप्येवं मरुतो न्यूनवर्तिनम् ।
ब्रह्माण्डावरणेष्वेषा न्यूनाधिकविचारणा ॥८७॥

(मरुतः न्यूनवर्तिनं वन्हिम् अपि एवं चिन्तयेत्) वायुसे न्यून देशमें रहनेवाली वन्हिको भी इसी प्रकार चिन्तन करे [और अन्तमें इसी प्रकार उसकी भी सत्यत्वबुद्धिका परित्याग करदे] । (एषा न्यूनाधिक विचारणा ब्रह्माण्डावरणेषु) यह न्यूनाधिकका विचार ब्रह्माण्डके समस्त आवरणोंमें कियाजाता है। [लोकमें चाहे ऐसा विचार कहीं न होता हो। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि ब्रह्मांडके आवरण कहाते हैं।]

वन्हि वायुका दशांश है

वायोर्दशांशतो न्यूनो वन्हिर्वायौ प्रकल्पितः ।
पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैर्भूतपञ्चके ॥८८॥

(वन्हिः वायोः दशांशतः न्यूनः) अग्नि वायुके दसवें भागके बराबर है [यदि दस भाग वायु है तो एक भाग अग्नि है] (स च वायौ प्रकल्पितः) वह वन्हि भी वास्तव पदार्थ नहीं है, वह भी वायुमें कल्पित

है। (भूतपंचके पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैः वर्तते) पुराणोंके कथनानुसार इन पाँचोंभूतोंमें $\frac{1}{10}$ भागके अनुसार क्रमसे न्यूनाधिकभाव है।

वन्हिका स्वरूप

वन्हिरुष्णः प्रकाशात्मा पूर्वानुगतिरत्र च ।
अस्ति वन्हिः स निस्तत्वः शब्दवान् स्पर्शवानपि ॥८९॥

(वन्हिः उष्णः प्रकाशात्मा च) वन्हि उष्ण है और प्रकाशस्वरूप है। (अत्र च {अपि} पूर्वानुगतिः) इसमें भी वायुकी भाँति पूर्वानुगति [कारणके धर्मोंकी अनुगति] हो रही है। (अस्ति वन्हिः सः निस्तत्वः शब्दवान् स्पर्शवानपि) इसीसे कहाजाता है कि वन्हि है। वह निस्तत्व [मिथ्या] है। उसमें शब्द और स्पर्श भी रहते हैं।

वन्हिका निजधर्म

सन्मायाव्योमवाय्वंशैर्युक्तस्याग्नेर्निजो गुणः ।
रूपं, तत्र सतः सर्वमन्यद् बुद्ध्या विविच्यताम् ॥९०॥

(सन्मायाव्योमवाय्वंशैः युक्तस्य अग्नेः निजः गुणः रूपम् अस्ति) सत् , माया, आकाश तथा वायुके अंशोंसे युक्त जो अग्नि है, उसका अपना गुण [धर्म] 'रूप' है। (तत्र सतः सर्वम् अन्यत् बुद्ध्या विविच्यताम्) उनमेंसे सद्वस्तुको छोड़कर और जितने धर्म हैं वे सब मिथ्या हैं बुद्धिके अवष्टम्भसे इस बातका विवेचन [पृथक्करण] करलेना चाहिये।

जलमिथ्यात्वचिन्ता

सतो विवेचिते वन्हौ मिथ्यात्वे सति वासिते ।
आपो दशांशतो न्यूनाः कल्पिता इति चिन्तयेत् ॥९१॥

(वन्हौ सतः विवेचिते सति तथा वन्हौ मिथ्यात्वे वासिते सति) सत्से वन्हिके विवक्त करलेनेपर और वन्हिके मिथ्यात्वके वासित

होजानेपर (आप: वन्हे: दशांशत: न्यूना: कल्पिता: इति चिन्तयेत्) फिर यह चिन्तन करना चाहिये कि जल भी वन्हिसे दशांश कम है और वह भी कल्पित [मिथ्या] है ।

जलमें पायेजानेवाले कारणधर्म तथा स्वधर्म

सन्त्यपोऽमूः शून्यतत्वाः सशब्दस्पर्शसंयुताः ।
रूपवत्योऽन्यधर्मानुवृत्त्या स्वीयो रसो गुणः ॥६२॥

पहले जलोंमें दीखनेवाले कारणधर्मोंको तथा पीछेसे उनके स्वधर्म को दिखा रहे हैं :—(सन्ति अप:) [दूसरोंके धर्मोंकी अनुवृत्तिके कारण कहा जाता है कि] 'यह जल है' (अमू: शून्यतत्वा:) 'यह शून्यतत्व है' (अमू: सशब्दस्पर्शसंयुता:) यह शब्द, स्पर्श तथा रूपवाला है । (अपां स्वीयः गुणः रस:) इसका अपना गुण केवल 'रस' है ।

भूमिमिथ्यात्वचिन्ता

सतो विवेचितास्वप्सु तन्मिथ्यात्वे च वासिते ।
भूमि र्दशांशतो न्यूना कल्पिताऽप्स्विति चिन्तयेत् ॥६३॥

(अप्सु सत: विवेचितासु तन्मिथ्यात्वे च वासिते) विवेक और ध्यानसे जलोंको सत्से विविक्त करलेनेपर तथा उनके मिथ्यात्वका निश्चय करलेनेपर (भूमि: अभ्य: दशांशत: न्यूना अप्सु कल्पिता इति चिन्तयेत्) फिर यह निश्चय करे कि भूमि भी जलसे दसभाग कम है और वह भी जलमें कल्पित है ।

अस्ति भूस्तत्वशून्यास्यां शब्दस्पर्शौ सरूपकौ ।
रसश्च परतो, गन्धो नैजः, सत्ता विविच्यताम् ॥६४॥

(अस्ति भू:) भूमि है, (तत्वशून्या) वह निस्तत्व है, (अस्यां सरूपकौ शब्दस्पर्शौ रसः च परत:) इसमें शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस ये गुण दूसरोंसे आये हैं [क्योंकि कारणोंके धर्म कार्यमें आया करते हैं]

(गन्धः भूमेः नैजः गुणः) गन्ध इसका निज गुण है। (सत्ता विविच्यताम्) उन सबमेंसे सत्ताका विवेक [पृथक्करण] करना है।

पृथक्कृतायां सत्तायां भूमिर्मिथ्याऽवशिष्यते ।
भूमे र्दशांशतो न्यूनं ब्रह्माण्डं भूमिमध्यगम् ॥९५॥

(सत्तायां पृथक्कृतायां भूमिः मिथ्या अवशिष्यते) सत्ताके पृथक् करलेनेपर भूमि नामका पदार्थ मिथ्या रह जाता है। [अब आगे भौतिक ब्रह्माण्डादियोंसे सत्का विवेक कैसे करें ? सो दिखाया जाता है कि] (भूमिमध्यगं ब्रह्माण्डं भूमेः दशांशतः न्यूनम्) भूमिमध्यग अर्थात् आकाशमें घूमते रहनेवाले भूमिके खण्डों [परमाणुओं] से बनाहुआ यह ब्रह्माण्ड भूमिसे दसभाग कम है।

ब्रह्माण्डमध्ये तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश ।
भुवनेषु वसन्त्येषु प्राणिदेहा यथायथम् ॥९६॥

(ब्रह्माण्डमध्ये चतुर्दश भुवनानि तिष्ठन्ति) उस ब्रह्माण्डमें चौदह भुवन निवास करते हैं। (एषु भुवनेषु यथायथं प्राणिदेहाः वसन्ति) इन भुवनोंमें प्राणियोंके देह अपनी अपनी व्यवस्थाके अनुकूल निवास कर रहे हैं।

ब्रह्माण्डलोकदेहेषु सद्वस्तुनि पृथक्कृते ।
असन्तोऽण्डादयो भान्तु तद्भानेऽपीह का क्षतिः ॥९७॥

(ब्रह्माण्डलोकदेहेषु सद्वस्तुनि पृथक् कृते) ब्रह्माण्ड लोक तथा देहोंमेंसे सद्वस्तुके पृथक् करलेने पर भी (असन्तः अण्डादयः भान्तु) यदि असत् अण्डादियोंका भान होता रहे, तो होता रहो । (इह तद्भाने अपि का क्षतिः) उनका वैसा [असद्रूपसे] भान होते रहने पर भी फिर कुछ हानि नहीं होगी।

मिथ्यात्ववासनासे अद्वैतबुद्धिकी स्थिरता

भूतभौतिकमायानामसत्वेऽत्यन्तवासिते ।
सद्वस्त्वद्वैतमित्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित् ॥६८॥

(भूतभौतिकमायानाम् असत्वे अत्यन्तवासिते) चित्तमें भूत [आकाशादि] भौतिक [ब्रह्मांड आदि] तथा माया [जिसने इन भूत भौतिकोंको बनाया है] के मिथ्यात्वकी वासनाके [विवेक और ध्यानके द्वारा] दृढ रीतिसे वासित होजानेपर (सद्वस्तु अद्वैतम् इति एषा धीः क्वचित् न विपर्येति) 'सद्वस्तु अद्वैत ही है' [वह कभी द्विधाभावको प्राप्त नहीं होती है, वह वैसीकी वैसी ही बनी रहती है] यह बुद्धि कभी भी विपरीत नहीं होनी [फिर इस बुद्धिका विघात कभी भी नहीं होता ।]

मिथ्यात्व निश्चय होनेपर भी व्यवहारका अलोप

सदद्वैतात् पृथग्भूते द्वैते भूम्यादिरूपिणि ।
तत्तदर्थक्रिया लोके यथा दृष्टा तथैव सा ॥६९॥

(भूम्यादिरूपिणि द्वैते सदद्वैतात् पृथग्भूते) जब भूमि आदि रूपधारी यह द्वैत, सत् अद्वैतसे पृथक् करलिया जाता है, तब (लोके तत्तदर्थक्रिया यथा दृष्टा सा तथा एव) लोकमें विशेष विशेष प्रयोजन केलिये जो जो काम जैसे जैसे देखेजाते हैं [जैसे जलसे प्यासकी शान्ति, भोजनसे भूखकी निवृत्ति] वे वैसेके वैसे ही [स्वप्नकी नाईं] बने रहसकते हैं [तात्पर्य यह है कि विवेकके द्वारा मिथ्यात्वका निश्चय होजाने पर भी वह विवेक भूमि आदिके स्वरूपका उपमर्दन नहीं करदेता। इससे व्यवहारके सहसा लुप्त होजानेका प्रसङ्ग नहीं आता । विवेक व्यवहारको रोकता नहीं है, विवेक तो केवल अद्वैत तत्वके मानस दर्शन कराता है । जो काम क्षुद्रदेहाभिमानकी प्रेरणासे होते थे वे अब आत्माकी अमरता सच्चिदानन्दरूपता तथा सार्वात्म्यकी दृष्टिसे होने लग पड़ें ? यही विवेक होजानेकी पहचान है ।]

व्यावहारिक भेद की स्वीकृति

सांख्यकाणादबौद्धाद्यैर्जगद्भेदो यथा यथा ।
उत्प्रेक्ष्यतेऽनेकयुक्त्या भवत्वेष तथा तथा ॥१०० ॥

(साँख्यकाणादबौद्धाद्यैः अनेकयुक्त्या यथा यथा जगद्भेदः उत्प्रेक्ष्यते) सांख्य, काणाद तथा बौद्धादि दार्शनिक लोग अनेकानेक युक्तियोंसे जिस जिस रीतिसे जगद्भेदकी उत्प्रेक्षा करते हैं, (एषः तथा तथा भवतु) यह वैसाही रहो [वैसा वैसा व्यावहारिक भेद हम भी मानते हैं। इस कारण हम उनके खण्डन करनेका प्रयत्न नहीं करते ।]

अवज्ञातं सदद्वैतं निःशङ्कैरन्यवादिभिः ।
एवं का क्षतिरस्माकं तद्द्वैतमवजानताम् ॥१०१॥

(यदा अन्यवादिभिः निःशंकैः सदद्वैतम् अवज्ञातम्) जब अन्य सांख्यादि वादियोंने निःशङ्क होकर प्रमाणसिद्ध सत् अद्वैतकी अवज्ञा की है । (एवं तद्द्वैतम् अवजानाताम् अस्माकं का क्षतिः) फिर [श्रुति युक्ति और अनुभवके बलसे चलनेवाले] हम लोग यदि उनके द्वैतकी अवज्ञा करते हैं तो इससे हमारी क्या हानि है ?

द्वैतावज्ञाका प्रयोजन जीवन्मुक्ति है

द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैते धीः स्थिरा भवेत् ।
स्थैर्ये तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते ॥१०२॥

[प्रत्युत उस अवज्ञासे एक महालाभ यह होता है कि] (द्वैतावज्ञा सुस्थिताचेत् धीः अद्वैते स्थिरा भवेत्) जब द्वैतकी अवज्ञा पूर्ण रूपसे स्थित होजाती है, तब साधककी बुद्धि अद्वैतमें स्थिर होजाती है। (तस्याः स्थैर्ये एषः पुमान जीवन्मुक्तः इति ईर्यते) इस बुद्धि के स्थिर होजानेपर फिर यह [स्थिरबुद्धिवाला] पुरुष 'जीवन्मुक्त' कहाने लगता है ' [अर्थात् जीवन्मुक्ति रूपी प्रयोजनके विद्यमान होनेके कारण हमारा

यह द्वैतापमान निष्प्रयोजन बात नहीं है। इसके विपरीत उन लोगोंका अद्वैतापमान उनके कल्याणमार्गका घातक है]।

विदेहमुक्ति भी द्वैतावज्ञाका फल

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥१०३॥

[भगवद्गीतामें (२-७२) जीवन्मुक्तिको और विदेहमुक्तिको द्वैतावज्ञाका फल कहा है] (पार्थ एषा ब्राह्मी स्थिति:) हे पार्थ, यहां तक ब्रह्मनिष्ठाका वर्णन किया गया। [आत्मतत्वकी आराधनासे शुद्ध अन्तःकरणका] मनुष्य (एनां प्राप्य न विमुह्यति) जब इस स्थितिको पालेता या समझ जाता है, तब फिर वह कभी द्वैतमोह या संसारमोहको प्राप्त नहीं होता। (अन्तकाले अपि अस्यां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति) यदि मनुष्य अन्तकाल-दुष्टोंके द्वारा उपस्थापित मृत्यु भय-में भी इस स्थितिमें ठहर सकता हो तो ही वह ब्रह्ममें निर्वाण किंवा लयको पाता है।

भगवद्गीताके अन्तकाल शब्दका अर्थ

सदद्वैतेऽनृतद्वैते यदन्योन्यैकवीक्षणम् ।
तस्यान्तकालस्तद्भेदबुद्धिरेव न चेतरः ॥१०४॥

[भगवद्गीताके उपर्युक्त श्लोकमें अन्तकाल शब्दसे क्या अभिप्राय है सो विद्यारण्य स्वामी अपने शब्दोंमें बताते हैं] (सदद्वैते अनृत द्वैते यदन्योन्यैकवीक्षणं तद्भेदबुद्धिः एव तस्य अन्तकाल:) 'सद्रूप अद्वैत' तथा 'अनृतरूप द्वैत' में जोकि अबतक अज्ञानीको अन्योन्यैकवीक्षण [किंवा अन्योन्याध्यासरूपी ऐक्यज्ञान] हो रहा था उस भ्रमज्ञानका अन्तकाल यही है कि उनमें भेदबुद्धि उत्पन्न होजाय [अर्थात् उस अद्वैतको सत्य और द्वैतको अनृत समझ लियाजाय]। (न च इतर:) इस श्लोकमें अन्तकाल शब्दका अभिप्राय वर्तमान देहपातसे नहीं है।

अन्तकालशब्दके लोकप्रसिद्ध अर्थकी स्वीकृति

यद्वान्तकालः प्राणस्य वियोगोऽस्तु प्रसिद्धितः ।
तस्मिन् कालेऽपि न भ्रान्तेर्गतायाः पुनरागमः ॥१०५॥

(यद्वा प्रसिद्धितः प्राणस्य वियोगः अन्तकालः अस्तु) अथवा लोक-प्रसिद्धिके अनुसार प्राणोंके वियोगको ही अन्तकाल मानलो। [उसमें भी कोई दोष नहीं है]। (तस्मिन् काले अपि गतायाः भ्रान्तेः पुनः आगमः न) क्योंकि जो भ्रान्ति उस समय नष्ट होजायगी वह भ्रान्ति फिर कभी भी लौटकर आनेवाली नहीं है।

इस लोक तथा परलोककी सन्धि 'मृत्यु' होती है। मृत्युसमयमें जिसकी भ्रान्ति नष्ट होजायगी दूसरे शब्दोंमें उसकी परलोकसामग्री जल कर भस्म बनजायगी। फिर उसे विदेहमुक्ति मिलजानी अत्यन्त सुकर होगी।

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन् भुवि ।
मूर्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान् भ्रान्तिर्न सर्वथा ॥१०६॥

(एषः नीरोगः उपविष्टः वा भुवि विलुठन् रुग्णः वा मूर्छितः वा प्राणान् त्यजतु) [जिस पुरुषकी द्वैतावज्ञा स्थित होगयी हो अथवा जिसे ब्राह्मी स्थितिकी प्राप्ति होचुकी हो फिर] वह चाहे तो नीरोग होकर, चाहे बैठे बैठे, चाहे रोगी रहकर, या भूमिपर पड़े पड़े, अथवा मूर्छा अवस्थामें प्राणोंका त्याग करदे, (भ्रान्तिः सर्वथा न) उसे फिर कभी भी भ्रान्ति नहीं होसकती [मूर्छा आदिमें ब्रह्म-विषयक बुद्धिवृत्ति न भी हो तो भी ब्रह्मज्ञान के संस्कार तो रहते ही हैं, उन्हीं से विदेहमुक्ति मिलकर रहेगी।]

प्राणवियोगकालमें ज्ञान नष्ट न होनेका दृष्टान्त

दिने दिने स्वप्नसुप्त्योरधीते विस्मृतेऽप्ययम् ।
परेद्यु र्नानधीतः स्यात्तद्वद्विद्या न नश्यति ॥१०७॥

(यथा दिने दिने अधीते वेदे स्वप्नसुप्त्योः विस्मृते अपि अयं

परेद्यु: अनधीतः न स्यात्) जैसे प्रतिदिन पढ़े हुए वेदके पाठको स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाके आनेपर भूल जानेपर भी, अगले दिन [जब वह पाठक जागता है तब] अनधीत [अनपढ़] नहीं होजाता। (तद्वत् विद्या न नश्यति) इसीप्रकार मरते समय मूर्छादिके कारण तत्वका विचार न करसकनेपर भी, ज्ञानीका ज्ञान नष्ट नहीं होता। [वह संस्काररूपसे बना रहता है।]

प्रमाणोत्पादिता विद्या प्रमाणं प्रबलं विना ।
न नश्यति, न वेदान्तात् प्रबलं मानमीच्यते ॥१०८॥

(प्रमाणोत्पादिता विद्या प्रबलं प्रमाणं विना न नश्यति) जिसविद्या को प्रमाणोंने उत्पन्न किया है, वह किसी प्रबल प्रमाणके बिना नष्ट नहीं होसकेगी। (वेदान्तात् प्रबलं मानं न ईक्ष्यते) वेदान्तोंसे प्रबल प्रमाण कोई नहीं पाया जाता। [फिर यह ज्ञान मूर्छा आदिमें कैसे नष्ट होसकेगा?]

प्रकरणार्थका उपसंहार

तस्माद् वेदान्तसंसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यते ।
अन्तकालेऽप्यतो भूतविवेकान्निवृत्तिः स्थिता ॥१०९॥

(तस्मात् वेदान्तसंसिद्धं सदद्वैतम् अन्तकाले अपि न बाध्यते) इससे यही सिद्ध हुआ कि वेदान्तसिद्ध सत्अद्वैतकी बाधा अन्तकालमें भी नहीं होती। (अतः भूतविवेकात् निवृत्तिः स्थिता) इसीसे यह कहना सर्वथा ठीक है कि भूतविवेक करलेनेपर ही निवृत्ति [किंवा मुक्ति] में स्थिरता आती है।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितं पंचभूतविवेकप्रकरणम् समाप्तम्

तैत्तिरीय उपनिषत्के तात्पर्यका व्याख्यानरूप प्रकरण

पंचकोशविवेकप्रकरणम् ३

गुहाहितं ब्रह्म यत्तत् पञ्चकोशविवेकतः ।
बोद्धुं शक्यं ततः कोशपंचकं प्रविविच्यते ॥१॥

(यद् ब्रह्म गुहाहितं तत् पञ्चकोशविवेकतः बोद्धुं शक्यम्) गुहा में छिपा हुआ जो ब्रह्मतत्व है वह पञ्चकोशविवेकके करनेपर भी जाना जासकता है । (ततः कोशपंचकं प्रविविच्यते) इसलिये पांचों कोशोंका विवेक कियाजाता है ।

यह प्रकरण तैत्तरीय उपनिषत् के तात्पर्यका व्याख्यानरूप है— '*यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता*' जो गुहामें छिपे हुए ब्रह्मको पहचानता है, इस श्रुतिमें जिस गुहाहित ब्रह्मका प्रतिपादन कियागया है उस ब्रह्मका ज्ञान पांचकोशनामक गुहाओंके विवेकसे भी हो सकता है । इसीकारण अब उन पांचों कोशोंको आत्मासे पृथक् करके दिखाया जाता है ।

गुहाका अर्थ

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणदभ्यन्तरं मनः ।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा ॥२॥

(देहात् अभ्यन्तरः प्राणः) देहसे अन्दर प्राण, (प्राणात् अभ्यन्तरं मनः) प्राणसे अन्दर मन, मनसे अन्दर कर्ता [बुद्धि], (ततः भोक्ता) तथा बुद्धिसे अन्दर भोक्ता [आनन्द] है (सा इयं परम्परा गुहा उच्यते) यह परम्परा 'गुहा' कहाती है ।

देह [अन्नमय कोश] से प्राण [प्राणमय कोश] अन्दर है। प्राणसे मन अर्थात् मनोमय अन्दर है। मनोमयसे 'कर्ता' जिसको विज्ञानमय भी कहते हैं अन्दर है। उस विज्ञानमय से भोक्ता अर्थात् आनन्दमय अन्दर है। सो यह अन्नमयसेलेकर आनन्दमयतक परम्परा गुहा कहाती है। इसी गुहामें ब्रह्म लुकछिप गया है। इनपांचों कोशोंका विवेक करलेने पर उसके शुद्धरूपके दर्शन फिर मिल सकते हैं।

अन्नमयका स्वरूप और उसकी अनात्मता

पितृभुक्तान्नजाद् वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते ।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः ॥३॥

(यः देहः पितृभुक्तान्नजात् वीर्यात् जातः अन्नेन एव वर्धते सः स्पष्टम् अन्नमयः) यह देह माता पिताके भुक्त अन्नसे बने वीर्य तथा शोणितसे उत्पन्न होता है। अन्नसे ही वृद्धि पाता है। यह स्पष्ट ही अन्नका विकार है। (सः आत्मा न) इस कारण यह अन्नमय देह आत्मा नहीं है। ([जन्मनः] प्राक् [मरणात्] ऊर्ध्वं च तदभावात्) देखते हैं कि जन्म होनेसे पहले भी यह नहीं था, तथा मरनेके पश्चात् भी यह न रहेगा। [तात्पर्य यह है कि यह देह घटपटादिके समान उत्पत्तिवाला होनेसे आत्मा नहीं है। आत्माको तो अनुत्पत्तिधर्मा होना चाहिये]।

आत्मोत्पत्तिका अनङ्गीकार

पूर्वजन्मन्यसन्नेतज्जन्म संपादयेत् कथम् ।
भाविजन्मन्यसत् कर्म न भुञ्जीतेह संचितम् ॥४॥

(अयं पूर्वजन्मनि असन् एतत् जन्म कथं संपादयेत्) यदि यह देहरूप आत्मा पूर्व जन्ममें नहीं था तो इसने इस जन्मको कैसे पाया? (भाविजन्मनि असत् इह जन्मनि संचितं कर्म न भुञ्जीत) यदि इसका भाविजन्म नहीं होगा तो यहाँ संचित किये पुण्यपापोंको नहीं भोग सकेगा। [इस कारण आत्माको देहसे पृथक् और नित्य मानना चाहिये।]

जब आत्माको देहरूप ही माना जाता है तब यह स्पष्ट स्वीकार होजाता है कि यह पूर्वजन्ममें नहीं था और तब इस जन्मको उत्पन्न करनेवाला अदृष्ट भी नहीं था। फिर इस जन्मकी उत्पत्ति इस देहरूप आत्माने स्वयं कैसे करली ? इस पक्षमें अकृताभ्यागम दोष आता है। अर्थात् जो इस शरीरात्माने किया नहीं था उसे अब यह भोग रहा है। यह देहरूप आत्मा भावि जन्मोंमें भी नहीं रहेगा। यह यहाँ ही जलादिया जायगा। तब इस जन्ममें किये भले-बुरे कामोंके फल भोगनेवाला कोई न रहेगा। सो यह कृतविनाश नामका महादोष आजायगा। इन दोनों दोषोंके कारण आत्माको कार्य [उत्पत्तिवाला] मानना ठीक नहीं है।

प्राणमयका स्वरूप और उसकी अनात्मता

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः ।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात् ॥५॥

(यः वायुः देहे पूर्णः बलं यच्छन् अक्षाणां प्रवर्तकः वर्तते सः वायुः प्राणमयः इति उच्यते) जो वायु पैरसे लेकर मस्तकपर्यन्त देहमें पूर्ण होकर [व्यानरूपसे] बल [सामर्थ्य] को देता हुआ चक्षु आदि इन्द्रियोंका प्रेरक है, वह वायु प्राणमय कोश कहाता है। (चैतन्यवर्जनात् असौ आत्मा न) चैतन्यरहित [जड] होनेके कारण वह भी आत्मा नहीं है।

मनोमयका स्वरूप और उसकी अनात्मता

अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः ।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः ॥६॥

(यः देहे अहन्तां गेहादौ ममतां च करोति सः मनोमयः उच्यते कामाद्यवस्थया भ्रान्तः असौ मनोमयः आत्मा न) जो देहमें 'मैं' भाव और गृहादिमें मेरेपनका अभिमान किया करता है वह मनोमय कहाता

है। वह भी आत्मा नहीं है। क्योंकि वह कामादि अवस्थाओंसे भ्रान्त हुआ रहता है। [उस मनोमयका स्वभाव काम क्रोध आदि विकारोंके कारण नियत नहीं रहता। वह विकारी हुआ रहता है। फिर वह आत्मा कैसे हो ? क्योंकि आत्मा निर्विकारतत्व है।]

विज्ञानमयका स्वरूप और उसकी अनात्मता

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा ।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्दभाक् ॥७॥

(या चिच्छायोपेतधीः सुप्तौ लीना सती वपुः व्याप्नुयात्) चिच्छाया से युक्त जो बुद्धि, सुषुप्तिकालमें लीन होकर शरीरमें व्याप्त रहती है। (बोधे आनखाग्रगा वपुः व्याप्नुयात्) तथा जागनेपर नखाग्रतक शरीरको व्याप्त किये रहती है, (सा विज्ञानमयशब्दभाक् भवति। असौ अपि आत्मा न) वह विज्ञानमय कहाती है वह बुद्धि भी आत्मा नहीं है [बताओ कि विलयआदि अवस्थाओंमें फँसजानेवाली बुद्धि या विज्ञानमयकोश आत्मा कैसे हो ?]

मनोमय तथा विज्ञानमयके भेदका समर्थन

कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतान्तरिन्द्रियम् ।
विज्ञानमनसी अन्तर्बहिश्चैते परस्परम् ॥८॥

[इस श्लोकमें मनोमय तथा विज्ञानमयका भेद बताया जाता है] (आन्तरिन्द्रियं कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेत) अन्दरकी इन्द्रिय [जिसे मन भी कहते हैं] कभी कर्तारूपसे तथा कभी करणरूपसे विकृत अर्थात् परिणत होती रहती है। जब कर्तारूपसे परिणत होती है तब उसको 'विज्ञानमयकोश' कहते हैं। जब करणरूपसे परिणत होती है तब उसको 'मनोमयकोश' कहाजाता है। (एते विज्ञानमनसी परस्परम् अन्तः बहिश्च) ये दोनों आपसमें अन्दर बाहर रहाकरते हैं [बुद्धि अन्दर रहती है, मन बाहर रहता है, उसीसे एकके ही दो कोश होगये हैं।]

भोक्ता आनन्दमयका स्वरूप और अनात्मता

काचिदन्तर्मुखा वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक् ।
पुण्यभोगे, भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते ॥९॥

(पुण्यभोगे काचित् वृत्तिः अन्तर्मुखा सती आनन्दप्रतिबिम्बभाक्) जब हम किसी पुण्यकर्मके फलका अनुभव करते हैं, तब कोई बुद्धिवृत्ति अन्तर्मुख होजाती है और उसपर आनन्दका प्रतिबिम्ब पड़जाता है, (सा एव भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते {सा वृत्तिः आनन्दमयः}) तथा भोगोंके शान्त होजानेपर वही बुद्धिवृत्ति निद्रारूपसे विलीन होजाती है। [उस लीन बुद्धिवृत्तिको ही 'आनन्दमय' कहाजाता है।]

कादाचित्कत्वतो नात्मा स्यादानन्दमयोऽप्ययम् ।

कारणभूत आनन्द आत्मा है

बिम्बभूतो य आनन्द आत्मासौ सर्वदा स्थितेः॥१०॥

(अयम् आनन्दमयः अपि कदाचित्कत्वतः आत्मा न स्यात्) यह आनन्दमय भी कादाचित्क [कभी कभी होनेवाला=सदा न रहनेवाला] होनेसे [मेघ आदि पदार्थोंके समान] आत्मा नहीं है। ({आनन्दमयस्य} बिम्बभूतः यः आनन्दः सर्वदा स्थितेः असौ एव आत्मा) किन्तु बुद्धि आदिमें प्रतिबिम्बित होकर बैठेहुए आनन्दमयका बिम्बभूत अर्थात् कारणभूत जो आनन्द है, वही सच्चा आत्मा है। क्योंकि वह सदा बनारहता है [नित्य है]

ननु देहमुपक्रम्य निद्रानन्दान्तवस्तुषु ।
मा भूदात्मत्वमन्यस्तु न कश्चिदनुभूयते ॥११॥

(ननु देहम् उपक्रम्य निद्रानन्दान्तवस्तुषु आत्मत्वं मा अस्तु) अन्नमय देहसे लेकर निद्रा तथा आनन्दपर्यन्त पदार्थोंमें आत्मभाव नहीं है तो न सही, (अन्यः तु न कश्चित् अनुभूयते) परन्तु इनके अतिरिक्त और कोई वस्तु अनुभवमें नहीं आती [जिसे आत्मा कहा जासकता हो]।

बाढं, निद्रादयः सर्वेऽनुभूयन्ते न चेतरः ।
तथाप्येतेऽनुभूयन्ते येन तं को निवारयेत् ॥१२॥

इस प्रश्नका उत्तर यह है कि (बाढं निद्रानन्दादयः सर्वे अनुभूयन्ते इतरः न अनुभूयते) "निद्रानन्दादिसे लेकर देहपर्यन्त पदार्थ उपलब्ध होते हैं अन्य कुछ भी पदार्थ उपलब्ध नहीं होता" तुम्हारा यह कहना सर्वथा ठीक है। (तथा अपि एते येन अनुभूयन्ते तं कः निवारयेत्) परन्तु इन सब पदार्थोंका अनुभव जो करता है उसे कौन हटा सकता है ?

[तात्पर्य यह है कि यह तो ठीक है कि इनके अतिरिक्त अन्य कोई उपलब्ध नहीं होता है परन्तु जिस अनुभवके बलसे इन सब आनन्दमयादिमें उपलभ्यमानता आगयी है तुम उस अनुभव नामवाले-तत्व की सत्ताका निषेध कैसे करसकते हो]

आत्माके अननुभाव्य तथा अज्ञेय होनेका कारण

स्वयमेवानुभूतित्वाद् विद्यते नानुभाव्यता ।
ज्ञातृज्ञानान्तराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया ॥१३॥

(आनन्दमयादीनां साक्षिणः स्वयम् एव अनुभूतित्वात् तस्य अनुभाव्यता न) वह तत्त्व स्वयं अनुभूतिरूप होनेसे किसीका अनुभाव्य नहीं होता। (आत्मा ज्ञातृज्ञानान्तराभावात् अज्ञेयः) उस आत्मासे भिन्न ज्ञाता और उससे भिन्न ज्ञान दूसरा न होनेसे वह अज्ञेय रहता है। (न तु असत्तया) उसके अज्ञेय होनेका कारण असत्ता नहीं होती।

इन आनन्दमयादियोंका जो साक्षी है वह क्योंकि अनुभवरूप है इसीसे वह अनुभाव्य कभी नहीं होता। उसके अज्ञेय होनेका कारण उसकी असत्ता नहीं है। किन्तु उससे भिन्न ज्ञाता और उससे भिन्न ज्ञान कोई नहीं है इस कारणसे वह अज्ञेय बना हुआ है। ऐसी अवस्थामें उसे केवल अनुपलब्ध होनेसे असत् नहीं मान बैठना चाहिये। उपलब्ध तो विषय हुआ करते हैं। वह किसीका विषय नहीं है। इसीसे वह किसीको

उपलब्ध नहीं होता है। वह तो उपलब्ध करनेवालोंका स्वयं आत्मा [आपा] ही होता है।

अनुभवरूप आत्मके अनुभाव्य न होनेका दृष्टान्त

माधुर्यादिस्वभावानामन्यत्र स्वगुणार्पिणाम्।
स्वस्मिंस्तदर्पणापेक्षा नो, न चास्त्यन्यदर्पकम् ॥१४॥

(माधुर्यादिस्वभावानाम् [गुडादीनाम्] अन्यत्र [चणकादौ] स्वगुणार्पिणां स्वस्मिन् तदर्पणापेक्षा नो विद्यते) माधुर्य आदि स्वभाववाले [गुडादि पदार्थ] जो चने आदिमें, अपने माधुर्य आदि गुणोंको डालदेते हैं, परन्तु वे अपनेआपमें मधुरता आदिको डालनेकी आवश्यकता नहीं रखते [वे गुडादि यह कभी नहीं चाहते कि कोई हमको आकर मीठा करदे] (अन्यत् वा अर्पकं न अस्ति) इसके अतिरिक्त गुडादिमें मधुरता को उत्पन्न करनेवाली कोई भी वस्तु नहीं है।

अर्पकान्तरराहित्येऽप्यस्त्येषां तत्स्वभावता।
माभूत्तथाऽनुभाव्यत्वं बोधात्मा तु न हीयते ॥१५॥

(अर्पकान्तरराहित्ये अपि एषां [गुडादीनाम्] तत्स्वभावता अस्ति) जैसे उनमें माधुर्यादि पैदा करनेवाले किसी दूसरे पदार्थके न होनेपर भी उन गुडादियोंमें माधुर्यादिस्वभावता है (तथा आत्मनः अनुभाव्यत्वं मा भूत्) इसी प्रकार आत्मा भले ही [किसीके] अनुभवका विषय न होता हो, (बोधात्मा तु न हीयते) तो भी उसमें अनुभवरूपता रहती है। उसे कौन हटासकता है ?

आत्माके अननुभाव्य होनेका प्रमाण

स्वयंज्योतिर्भवत्येष पुरोऽस्माद् भासतेऽखिलात्।
तमेव भान्तमन्वेति तद्भासा भास्यते जगत् ॥१६॥

"अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति, अस्मादखिलात्पुरतः भासते,

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'' (काठ २-३-१५) इत्यादि श्रुतियें आत्माको स्वप्रकाश बता रही हैं।

येनेदं जानते सर्वं तत् केनान्येन जानताम्।
विज्ञातारं केन विन्द्याच्छक्तं वेद्ये तु साधनम् ॥१७॥

(प्राणिन: येन आत्मना इदं सर्वं जानते तं केन अन्येन जानताम्) जिससे इस सब 'पसारेको जान रहे हैं, उस [ज्ञाता] को दूसरे किससे जानें ? (विज्ञातारं केन विन्द्यात्) जाननेवालोंको किससे पहचानें ? (साधनं तु मनः वेद्ये शक्तम् न तु ज्ञातरि आत्मनि) क्योंकि जाननेका साधन मन वेद्य पदार्थको ही जाननेमें शक्त है । आत्माको जाननेमें नहीं। प्राणी जिस साक्षिचैतन्यरूप आत्मासे, इस समस्त दृश्य जगत्को जानते हैं, उस साक्षी आत्माको किस साध्य जड़ पदार्थसे जानें ? तात्पर्य यह है कि—इस दृश्यजगत्के ज्ञाताको किस दृश्यसे जाना जाय ? अर्थात् वह किसीसे भी नहीं जाना जासकता। ज्ञानका साधन मन भी वेद्य पदार्थमें ही समर्थ है। ज्ञाता आत्मामें उससे भी कुछ नहीं होता। देखो बृहदारण्यक—येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् विजातारमरे केन विजानीयात् ४-५-१५।

स वेत्ति वेद्यं तत्सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता।
विदिताविदिताभ्यां तत् पृथग्बोधस्वरूपकम् ॥१८॥

आत्माको स्वप्रकाश सिद्ध करनेके लिये इस श्लोकमें 'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता' [श्वे० ३-१६] 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' [केन-१-३] इन दोनों वाक्योंके अर्थका उल्लेख किया गया है—(सः आत्मा यत् यत् वेद्यं तत्सर्वं वेत्ति) वह आत्मा, समस्त वेद्य पदार्थोंको जाना करता है। (तस्य वेदिता अन्यः न अस्ति) परन्तु उस आत्माका ज्ञाता और कोई नहीं है। (तत् बोधस्वरूपकं ब्रह्म बोधस्वरूपत्वात् एव विदिताविदिताभ्यां पृथक्) ज्ञानस्वरूप वह ब्रह्म बोधस्वरूप होने ही के कारण विदित [ज्ञानसे विषय किये हुए] तथा अविदित [अज्ञान

से ढके हुए] दोनोंसे विलक्षण है। [विदित इसलिये नहीं कि वह बुद्धि-वृत्तिका विषय नहीं होता। अविदित इसलिये नहीं कि उससे भिन्न और कोई जाननेवाला नहीं है।]

बोधानुभवकी अङ्गीकार्यता

बोधे ऽप्यनुभवो यस्य न कथंचन जायते ।
तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्ठं नरसमाकृतिम् ॥१९॥

(यस्य बोधे अपि अनुभवः कथंचन न जायते) जिस मूर्खको [घटादिकी प्रतीतिरूपी] बोधका भी अनुभव [साक्षात्कार] किसी प्रकार नहीं होता, (शास्त्रं तं नरसमाकृतिं लोष्ठं कथं बोधयेत्) शास्त्र भी उस मनुष्याकार ढेलेको कैसे समझायेगा ? [तात्पर्य यह है कि "ज्ञात और अज्ञात पदार्थ ही अनुभवमें आते हैं। ज्ञान [बोध] कहीं भी नहीं दीखता" ऐसी यदि कोई शंका करे तो उसको कहना चाहिये कि, ज्ञात [विदित] का विशेषण जो ज्ञान तथा वेदन है वही बोध है। जिस मूर्खको उस बोधका अनुभव न होगा, उसे ज्ञात या विदितका भी अनुभव नहीं हो सकेगा। इस कारण बोधके अनुभवको अवश्य मानना पड़ता है।]

जिह्वा मेऽस्ति न वेत्युक्ति लज्जायै केवलं यथा ।
न बुध्यते मया बोधो बोद्धव्य इति तादृशी ॥२०॥

(यथा मे जिह्वा अस्ति न वा इति उक्तिः केवलं लज्जायै) जैसे "मेरे जिह्वा है या नहीं" यह कहना केवल लज्जाका कारण होता है [ऐसा कहनेवाला मूर्ख समझा जाता है] क्योंकि जिह्वाके बिना भाषण नहीं हो सकता। (एवं मया बोधः न बुध्यते किन्तु इतः परं बोद्धव्यः इति उक्तिः अपि तादृशी) ठीक इसी प्रकार 'मैं बोधको अबतक नहीं जानता, उस बोधको मुझे अभी जानना है' यह कथन भी वैसा ही लज्जा-जनक है। क्योंकि बोधके बिना यह बात भी नहीं कही जासकती।

ब्रह्मनिश्चयका स्वरूप

यस्मिन्यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे ।
यद् बोधमात्रं तद्ब्रह्मेत्येवंधीर्ब्रह्मनिश्चयः ॥२१॥

(लोके यस्मिन् यस्मिन् विषये बोधः अस्ति) लोकमें जिन घटादि नामवाले विषयोंका ज्ञान होता है, (तत्तदुपेक्षणे कृते सति) उन उन विषयोंकी उपेक्षा [अनादर] करदेनेपर (यद् बोधमात्रं अस्ति तत् एव ब्रह्म एवंरूपा धीः ब्रह्मनिश्चयः) [घटादि सब पदार्थोंमें अनुस्यूत] जो केवल ज्ञानरूप एक स्फूर्ति [शान्तभावसे विराजती हुई] दीखने लगती है वही ब्रह्मतत्व है, ऐसा यदि किसीकी बुद्धिको पता चल जाय, तो हम इसीको 'ब्रह्मनिश्चय' कहते हैं [ऐसे निश्चय वालेको ब्रह्मज्ञान होचुका]।

ब्रह्मको प्रत्यग्रूप जाने बिना संसार निवृत्त नहीं होता, उसके लिये पंचकोशाविवेककी आवश्यकता

पञ्चकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः ।
स्वस्वरूपं स एव स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम् ॥२२॥

(पञ्चकोशपरित्यागे कृते साक्षिबोधावशेषतः सः [साक्षिरूपः बोधः] एव स्वस्वरूपं [ब्रह्म] स्यात्) जब हम अन्नमयादि पाँचों कोशोंका परित्याग करदेते हैं, [जब हम अध्यात्मयोगके अभ्याससे इन पाँचों कोशोंमेंसे बाहर निकलना जानजाते हैं जब बुद्धिसे उन [पाँचों कोशों] को अनात्मा समझलेते हैं] तब इन कोशोंका साक्षी जो बोध शेष रह जाता है, वह साक्षिरूपी बोध ही 'निज रूप' अथवा 'ब्रह्म' है । (तस्य शून्यत्वं दुर्घटम्) उस साक्षिरूपी बोधको शून्य [कुछ नहीं] कहदेना हंसीखेल नहीं है ।

साक्षिबोधकी शून्यताकी असंभवता

अस्ति तावत् स्वयं नाम विवादाविषयत्वतः ।
स्वस्मिन्नपि विवादश्चेत् प्रतिवाद्यत्र को भवेत् ॥२३॥

(स्वयंनाम [स्वयंनामकं वस्तु] अस्ति तावत्) स्वयं [अपना आपा] नामकी वस्तु लौकिक और वैदिक सबके मतमें है। क्योंकि वह स्वयं नामवाली वस्तु कभी विवादका विषय नहीं होती। [अपने आपेमें कभी किसीको विप्रतिपत्ति नहीं होती कि मैं हूँ या नहीं हूँ?] (स्वस्मिन् अपि विवादः चेत् अत्र [विप्रतिपत्तौ] प्रतिवादी कः भवेत्) यदि किसीको अपने आपेमें भी विप्रतिपत्ति होती हो, तो बताओ [कि इस विप्रतिपत्ति का] प्रतिवादी कौन होगा?

कोई भी स्वासत्ववादी नहीं होसकता

स्वासत्वं तु न कस्मैचिद्रोचते विभ्रमं विना।
अतएव श्रुतिर्बाधं ब्रूते चासत्ववादिनः ॥२४॥

(विभ्रमं विना स्वासत्वं तु कस्मैचित् न रोचते) भ्रान्ति [पागल-पन] को छोड़कर और किसी भी दशामें अपना अभाव किसीको अच्छा नहीं लगता। (अतः एव श्रुतिः असत्ववादिनः बाधं ब्रूते) यही कारण है कि [अगले श्लोकमें उद्धृत] श्रुति असत्ववादीका बाध कह रही है।

असत्ववादीको अस्वीकार करनेवाली श्रुति

असद्ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत्।
अतोऽस्य मा भूद्वेद्यत्वं स्वसत्वं त्वभ्युपेयताम् ॥२५॥

(असत् ब्रह्म इति वेद चेत् ब्रह्मणः असत्वज्ञानी स्वयम् एव असत् भवेत्) यदि कोई यह समझता है कि 'ब्रह्म असत् है' तो वह [ब्रह्मको असत् जाननेवाला] स्वयं भी असत् होजाता है [क्योंकि वह स्वयं भी ब्रह्मरूप है। उसके 'ब्रह्म नहीं है' कहनेका यही अभिप्राय होता है कि मैं स्वयं नहीं हूं] (अतः अस्य वेद्यत्वं मा भूत्) इसलिये यह तत्व वेद्य भले ही न हो (स्वसत्वं तु अभ्युपेयताम्) परन्तु अपनी सत्ता तो तुम्हें मान लेनी ही चाहिये [कि तुम्हीं ब्रह्म हो]।

वेद्यत्वाभावमें आत्माका स्वरूप

कीदृक्तर्हीति चेत्पृच्छेदीदृक्ता नास्ति तत्र हि ।
यदनीदृगतादृक् च तत् स्वरूपं विनिश्चिनु ॥२६॥

(तर्हि सः आत्मा कीदृक् इति पृच्छेत् चेत् तत्र आत्मनि ईदृक्ता न अस्ति हि) जब यह आत्मा वेद्य भी नहीं है तब फिर वह कैसा है ? ऐसा एक प्रश्न स्वभावसे उठसकता है । इसका उत्तर यह है कि उस आत्मतत्वमें 'ईदृक्ता' अर्थात् 'ऐसापन' और "तादृक्ता" "वैसापन" नहीं है । [यदि उसमें 'ऐसापन' और 'वैसापन' मान लेंगे तो फिर उसे वेद्य होनेसे कौन रोक सकेगा ? (यत् अनीदृक् अतादृक् च तत्स्वरूपं विनिश्चिनु) जो ऐसा भी नहीं और वैसा भी नहीं उसीको आत्माका [अपना] स्वरूप समझो ।

आत्मा ईदृक् तादृक् शब्दोंका अवाच्य है

अक्षाणां विषयस्त्वीदृक् परोक्षस्तादृगुच्यते ।
विषयी नाक्षविषयः स्वत्वान्नास्य परोक्षता ॥२७॥

(अक्षाणां विषयः तु ईदृक्) जिसको इन्द्रियाँ विषय करती हैं, उसे 'ईदृक्' कहा जाता है । (परोक्षः तादृक् उच्यते) जो परोक्ष [इन्द्रियों की गतिसे बाहर] रहजाता है, उसे 'तादृक्' कहते हैं । (विषयी आत्मा अक्षविषयः न) विषयी [ज्ञाता या द्रष्टा आत्मा] इन्द्रियोंका विषय नहीं होता [इससे वह 'ईदृक्' अर्थात 'ऐसा' नहीं कहाता] (स्वत्वात् अस्य परोक्षता न) तथा स्वयं वही होनेसे वह परोक्ष भी नहीं होता, [इससे उसे 'तादृक्' अर्थात् 'वैसा' कहते भी नहीं बनता । इसी कारण पहले श्लोकमें आत्माके 'ऐसा' 'वैसा' होनेका निषेध किया है ।]

स्वयंप्रकाश आत्मामें ब्रह्मलक्षणकी विद्यमानता

अवेद्योप्यपरोक्षोतः स्वप्रकाशो भवत्ययम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम् ॥२८॥

(सः आत्मा अवेद्यः अपि अपरोक्षः अतः अयं स्वप्रकाशः भवति) वह आत्मा अवेद्य होकर भी [इन्द्रियजन्यज्ञानका विषय न होकर भी] अपरोक्ष रहता है इसीसे वह स्वयंप्रकाश मानाजाता है। (सत्यं ज्ञानम् अनन्तं च यत् ब्रह्मलक्षणं तत् इह अस्ति) श्रुतिने जोकि ब्रह्मका सत्यज्ञान तथा अनन्तरूप लक्षण बताया है वह [लक्षण] इस आत्मामें है। [इस कारण इस स्वयंप्रकाश तत्वको ब्रह्म मानलेना चाहिये।]

सत्यका लक्षण तथा साक्षिहीन बाधकी अस्वीकृति

सत्यत्वं बाधराहित्यं, जगद्बाधैकसाक्षिणः।
बाधः किंसाक्षिको ब्रूहि, नत्वसाक्षिक इष्यते ॥२९॥

[सत्य और अबाध्य, मिथ्या और बाध्य ये पर्यायवाची शब्द हैं] (सत्यत्वं बाध्यराहित्यम्) सत्य उसीको कहते हैं जिसकी बाधा [जिसके मिथ्यापनका निश्चय] कभी न होती हो जो इस सकल जगत्की बाधाका एकमात्र साक्षी है, उसके बाधका साक्षी कौन होगा उसे हमें बताओ? (असाक्षिकः बाधः न इष्यते) क्योंकि बिना साक्षीका कोई बाध नहीं मानाजाता।

तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति, मूर्छा तथा समाधिके समय, जब यह स्थूल सूक्ष्म शरीरादि नामका जगत् नहीं रहता, उस समय जगत्के न रहनेको जो जानता है शास्त्रीय शब्दोंमें जो आत्मा इस जगत्के बाधका साक्षी है, उस आत्माके बाधका साक्षी [उस आत्माके न रहनेको जानने वाला] कौन होगा? उसका कोई भी साक्षी नहीं हो सकता। बिना साक्षी के आत्मबाध मान लेना ठीक नहीं है। अतिप्रसक्तिके डरसे साक्षिरहित बाधको कोई नहीं मानता।

बाधरहित आत्माका दर्शन

अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत्।
शक्येषु बाधितेष्वन्ते शिष्यते यत्तदेव तत् ॥३०॥

(यथा मूर्तेषु घटादिषु गृहादिभ्यः अपनीतेषु अमूर्तं वियत् शिष्यते) जैसे मूर्त पदार्थोंके हटादिये जानेपर अमूर्त आकाश शेष रहजाता है, (एवं स्वव्यतिरिक्तेषु मूर्तामूर्तेषु देहेन्द्रियादिषु निराकर्तुम् शक्येषु बाधितेषु अन्ते यत् शिष्यते तदेव तत्) इसी प्रकार बाधा करनेयोग्य देहादि पदार्थोंकी बाधा कर देनेपर पीछेसे जो अबाध्य आत्मतत्व शेष रहजाता है, वही ब्रह्म है।

जब घरमें रक्खे हुए घटादि मूर्त पदार्थ, उसमेंसे बाहर निकाल दियेजाते हैं, तब जैसे घरमेंसे हटाया न जासकनेवाला एक आकाश ही वहां शेष रहजाता है, इसी प्रकार आत्मासे भिन्न देहेन्द्रियादि मूर्त और अमूर्त पदार्थोंके—जिनका कि निराकरण हो सकता है—'नेति नेति' श्रुतिसे हटादिये जानेपर, पीछेसे सम्पूर्ण निराकारणों [निषेधों] का साक्षी जो भी बोध शेष रहजाता है, बाधरहित वही तत्व 'आत्मा' है।

न किंचित् शब्दोक्त चैतन्यकी ब्रह्मता

सर्वबाधे न किञ्चिच्चेद्यन्न किंचित्तदेव तत्।
भाषा एवात्र भिद्यन्ते निर्बाधं तावदस्ति हि ॥३१॥

(सर्वबाधे न किञ्चित् चेत् यत् चैतन्यं न किञ्चित् शब्देन उच्यते तदेव तत् ब्रह्म) 'तुम्हारी कही विधिसे सबकी बाधा करदेनेपर कुछ भी नहीं रहता है' ऐसा यदि कोई कहने लगे, तो उससे कहो कि जो 'कुछ भी नहीं' उसीको ब्रह्म जानलो। [न किंचित्] इस शब्दसे जिस चैतन्य का उल्लेख किया जाता है उसीको ब्रह्म मानलेना चाहिये। [तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य यह कहता है कि 'कुछ भी शेष नहीं रहता' उसको सकलाभाव विषयका [सब कुछ न होनेका] ज्ञान अवश्य मानना होगा। बस तब हम कहेंगे कि यह ज्ञान ही हमारे आत्माका स्वरूप है] (अत्र भाषाः [शब्द] एव भिद्यन्ते) अरे भाई, इस बाधसाक्षी प्रत्यगात्माके विषयमें 'न किंचित्' आदि भाषा ही भिन्न भिन्न होगई हैं। (निर्बाधं तावत् अस्ति हि) बाधारहित साक्षिचैतन्य एक अवश्य है। [यह और बात है कि उस

चैतन्यका वर्णन हम भले ही 'न किञ्चित्' इस अभाववाचक शब्दसे कर डालें या हम उसे साक्षी कहें। हमें बाधका साक्षी प्रत्येक अवस्था में मानना पड़ेगा। उसके वाचक शब्दोंमें झगड़ा हो सकता है। वाच्य आत्मतत्वमें किसी प्रकारकी भी विप्रतिपत्ति नहीं होसकती।]

आत्माकी अबाध्यतामें श्रुतिका प्रमाण

अत एव श्रुतिर्बाध्यं बाधित्वा शेषयत्यदः।
स एष नेति नेत्यात्मेत्यतद्व्यावृत्तिरूपतः ॥३२॥

(अत एव स एष नेतिनेत्यात्मा इति श्रुतिः अतद्व्यावृत्तिरूपतः बाध्यं बाधित्वा अदः शेषयति) क्योंकि यह साक्षिचैतन्य एक अबाध्य वस्तु है इसलिए 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ०३-९-२६) यह श्रुति अनात्मपदार्थों का निषेध करते करते, निषेध करने योग्य सब अनात्मपदार्थोंकी बाधा करके, निराकरणके अयोग्य इस प्रत्यक् स्वरूपको शेष रख लेती है।

बाधशक्य तथा बाधाशक्यका विभाग

इदं रूपं तु यद्यावत् त्यक्तुं शक्यतेऽखिलम्।
अशक्यो ह्यनिदंरूपः स आत्मा बाधवर्जितः ॥३३॥

(इदं रूपं तु यद्यावत् तत् अखिलं त्यक्तुं शक्यते एव) जो 'इदं' है [जो भी कुछ दृश्यरूपसे हमारे अनुभवमें आता है] वह जितना भी [देहेन्द्रियादि सम्पूर्ण दृश्य जगत्) है वह सबका सब त्यागा जासकता है। (अनिदंरूपः साक्षी अशक्यः त्यक्तुम्) परन्तु प्रत्यग्रूप होनेसे जिसको 'इदं' नहीं कह सकते, उस साक्षी आत्माका त्याग नहीं होसकता [क्योंकि वह त्याग करनेवालेका अपना स्वरूप है, फिर उसका त्याग कैसे किया जा सकता है?] निष्कर्ष यही निकलता है कि (यः बाधवर्जितः साक्षी स आत्मा) जो बाधरहित [सत्य] साक्षी है वही आत्मा है [अहंकारादि दृश्य पदार्थ आत्मा नहीं हैं]।

ब्रह्मलक्षणकी सत्यता तथा ज्ञानकी आत्मामें सिद्धि

सिद्धं ब्रह्मणि सत्यत्वं ज्ञानत्वं तु पुरेरितम् ।
स्वयमेवानुभूतित्वादित्यादिवचनैः स्फुटम् ॥३४॥

(ब्रह्मणि [ब्रह्मलक्षणे] यत्सत्यत्वं तत्सत्यत्वम् आत्मनि सिद्धम्) ब्रह्मके लक्षणमें जिस सत्यताका वर्णन आया है वही सत्यता आत्मामें भी है यह यहां तक सिद्ध होगया । (ज्ञानत्वं [ज्ञानरूपत्वं] तु स्वयमेवानुभूतित्वात् इत्यादिवचनैः पुरा स्फुटम् ईरितम्) इसी प्रकरणके 'स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यता' इत्यादि तेरहवें श्लोकमें आत्माकी ज्ञानरूपता भी पहले भले प्रकार कही जाचुकी ।

ब्रह्मकी तीन प्रकारकी अनन्तता

न व्यापित्वाद्देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः ।
न वस्तुतोऽपि सार्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥३५॥

(व्यापित्वात देशतः अन्तः न) व्यापक होनेसे देशकृत अन्त नहीं, (नित्यत्वात् कालतः अपि अन्तः न) नित्य होनेसे कालकृत अन्त भी नहीं, (सार्वात्म्यात् वस्तुतः अपि अन्तः न) सर्वात्मा होनेसे वस्तुकृत अन्त नहीं, (इत्थं ब्रह्मणि त्रिधा आनन्त्यं सिद्धम्) यों ब्रह्ममें तीन प्रकारकी अनन्तता सिद्ध होती है ।

'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' (मुण्ड० १-१-६) 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (कठ० २-४-१३) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २-४-६) 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' (माण्डू० २) 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मकी व्यापकता, नित्यता और सर्वात्मकताका उल्लेख है । इससे ब्रह्ममें तीन प्रकार की अनन्तता माननी चाहिये कि वह ब्रह्म देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे रहित है । व्यापक होनेके कारण उसका देश कृत अन्त कहां नहीं होता—'कि यहां या वहां ब्रह्म नहीं है' । नित्य होनेके कारण उसका कालकृत अन्त कभी नहीं होता कि—'तब ब्रह्म नहीं था, अब ब्रह्म नहीं है, तब ब्रह्म नहीं रहेगा

इत्यादि'। सबका आत्मा होनेके कारण उसका वस्तुकृत अन्त भी नहीं होता। जैसे यह कहा जाता है कि घट पट नहीं है तो यह घटका वस्तुकृत अन्त होगया। ऐसे ब्रह्मको यह नहीं कह सकते कि ब्रह्म घट नहीं है ब्रह्म पट नहीं है। वह सर्वात्मा होनेसे घट भी है और पट भी है। यों ब्रह्ममें तीन प्रकारकी अनन्तता सिद्ध होती है।

युक्तिसे ब्रह्मकी और ब्रह्माभेदसे आत्माकी अनन्तता

देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वाच्च मायया।
न देशादिकृतोऽन्तोस्ति ब्रह्मानन्त्यं स्फुटं ततः ॥३६॥

(देशकालान्यवस्तूनां मायया कल्पितत्वात्) देश काल तथा अन्य वस्तुओंकी कल्पना मायाने करडाली है। इससे (ब्रह्मणि देशादिकृतः अन्तः न अस्ति) ब्रह्ममें उन [देश काल तथा वस्तु] का किया हुआ अन्त नहीं होसकता। (ततः ब्रह्मानन्त्यं स्फुटम्) यों ब्रह्मकी अनन्तता सिद्ध होती है।

परिच्छेद करडालनेवाले देश, काल तथा अन्य पदार्थ सब माया ने कल्पित करलिये हैं। जैसे आकाशमें गन्धर्वनगरके कारण प्रतीत होनेवाला देशादिकृत अन्त पारमार्थिक नहीं होता, इसीप्रकार ब्रह्ममें मायाके बनाये देशआदिका किया हुआ परिच्छेद [खण्ड] नहीं होता। इससे ब्रह्मकी अनन्तता सबको स्पष्ट होजाती है। 'अयमात्मा ब्रह्म' [बृ० २-५-१९] इत्यादि श्रुतियें उस ब्रह्म तथा इस आत्माको एक बता रही हैं, इस ब्रह्मात्मैक्यके कारण आत्माकी अनन्तता स्वतः सिद्ध होजाती है।

कल्पित जीवेश्वरत्व ब्रह्मकी अनन्ताका विघात नहीं करसकते

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म तद्वस्तु, तस्य तत्।
ईश्वरत्वं च जीवत्व मुपाधिद्वयकल्पितम् ॥३७॥

(सत्यं ज्ञानम् अनन्तं यत् ब्रह्म तत् वस्तु [वास्तविकम्] अस्ति) सत्य ज्ञान तथा अनन्तरूप जो ब्रह्मतत्व है वही एक पारमार्थिकवस्तु इस

संसारमें है। (तस्य ब्रह्मणः यत् ईश्वरत्वं जीवत्वं च तत् उपाधिद्वय कल्पितम्) उस ब्रह्मको जोकि 'ईश्वर' या 'जीव' कहा जाता है, वह [आगे कही] दो उपाधियोंसे कल्पित किया हुआ होता है [कल्पित होनेसे ये जीवेश्वर भी उस ब्रह्मके परिच्छेदक नहीं बन सकते]।

ईश्वरकी उपाधिभूत गूढचारिणी शक्तिका निरूपण

शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित् सर्ववस्तुनियामिका ।
आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु ॥३८॥

(ऐश्वरी काचित् सर्ववस्तुनियामिका शक्तिः अस्ति) ऐश्वरी अर्थात् ईश्वरसे सम्बन्ध रखनेवाली [ईश्वरकी उपाधि बनी हुई] कोई एक ऐसी शक्ति है [जिसका सत् या असत् किसी भी रूपसे निर्वचन नहीं होसकता] (आनन्दमयम् आरभ्य सर्वेषु वस्तुषु गूढा [अतः न उपलभ्यते]) वह [पृथिवी आदि] सम्पूर्ण नियम्य वस्तुओंको नियममें रख रही है। वह शक्ति आनन्दमयसे लेकर [ब्रह्माण्डपर्यन्त] सब वस्तुओं में गूढभावसे छिपी बैठी है [यही कारण है कि वह दीख नहीं पड़ रही है]।

जगन्नियमनार्थ शक्तिकी स्वीकृतिकी आवश्यकता

वस्तुधर्मा नियम्येरन् शक्त्या नैव यदा तदा ।
अन्योऽन्यधर्मसांकर्याद् विप्लवेत जगत् खलु ॥३९॥

(यदा शक्त्या वस्तुधर्माः नैव नियम्येरन्) यदि यह शक्ति, पृथिवी आदि वस्तुओंके [काठिन्य द्रवत्व आदि] धर्मोंको नियममें न रखती होती (तदा अन्योन्यधर्मसांकर्यात् जगत् विप्लवेत खलु) तो अन्योऽन्यधर्मकी संकरता [मिश्रण] होजानेसे [किसी एक स्थानपर नियत भावसे न रहनेसे] जगत्में विप्लव मच जाता। व्यवहारके विषय नियत न रहते।

ईश्वरकी उत्पत्ति

चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा ।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् ॥४०॥

(सा शक्तिः चिच्छायावेशतः चेतना इव विभाति) वह शक्ति चिच्छायावेश [चिदाभसके प्रवेश] से चेतनसी प्रतीत हुआ करती है [इसीसे वह नियामक हो सकती है] (तच्छक्त्युपाधिसंयोगात् ब्रह्म एव ईश्वरतां व्रजेत्) उस शक्तिरूपी उपाधिके सम्बन्धसे [सत्यादिरूप] ब्रह्म ही ईश्वरभावको प्राप्त होजाता है [सर्वज्ञत्व आदि धर्मोंसे युक्त होजाता है]।

जीवकी उत्पत्ति

कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम् ।
पिता पितामहश्चैकः पुत्रपौत्रौ यथा प्रति ॥४१॥

(कोशोपाधिविवक्षायां ब्रह्म एव जीवतां याति) जब कोश रूपी उपाधिकी पर्यालोचना कीजाती है, तब सत्यादिलक्षण 'ब्रह्म' ही जो कभी ईश्वर बन जाता है वही 'जीव' भी बन जाता है। (यथा एकः [मनुष्यः] एकदा एव पुत्रं प्रति पिता तथा पौत्रं प्रति तु पितामहः भवति) जैसे कि एक ही देवदत्त एक ही समय पुत्रके प्रति पिता तथा पौत्रके प्रति पितामह हो जाता है [इसीप्रकार ब्रह्म भी कोशरूपी उपाधिकी विवक्षामें तो 'जीव' होजाता है तथा उसी समय शक्तिरूपी उपाधिकी विवक्षामें 'ईश्वर' बन जाता है]।

जीवत्व तथा ईश्वरत्वके वास्तवमें न होनेका दृष्टान्त

पुत्रादेरविवक्षायां न पिता न पितामहः ।
तद्वन्नेशो नापि जीवः शक्तिकोशाविवक्षणे ॥४२॥

(यथा पुत्रादेः अविवक्षायां न पिता न पितामहः) जैसे पुत्रादि की विवक्षा न रहनेपर न तो वह मनुष्य किसीका पिता होता है और न किसीका पितामह कहाता है। (तद्वत् शक्तिकोशाविवक्षणे) ठीक इसी प्रकार जब किसी चतुरसाधकको शक्ति और कोशकी विवक्षा नहीं रहती [जब वह इन उपाधियोंकी ओर दृष्टि नहीं डालता] तब (न ईशः न अपि जीवः) वह ब्रह्म, 'ईश्वर' या 'जीव' कुछ नहीं रहता।

उक्त ज्ञानका माहात्म्य

य एवं ब्रह्म वेदैष ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।
ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेष न जायते ॥४३॥

(यः एवं ब्रह्म वेद) जो ब्रह्मको इसप्रकार जान लेता है (एषः स्वयं ब्रह्म एव भवति) वह स्वयं ब्रह्म ही होजाता है। (यतः ब्रह्मणः जन्म न अस्ति) क्योंकि ब्रह्मका जन्म नहीं होता (अतः एषः पुनः न जायते) इससे वह फिर कभी उत्पन्न नहीं होता। [चारों साधनोंसे युक्त जो कोई महापुरुष इसप्रकार पाँचों कोशोंका विवेक करलेनेके पश्चात् सत्यादिस्वरूप ब्रह्मका साक्षात्कार करलेता है, वह स्वयं ब्रह्म ही होजाता है। 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३-२-६) ब्रह्म विदाप्नोति परम् (तै० २-१) ये श्रुतियाँ भी इसी अर्थको कह रही हैं। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित् ' (का० १-२-१८) यह श्रुति कह रही है कि ब्रह्मका जन्म नहीं होता। यही कारण है कि विद्वान् पुरुष भी अपने आत्माको ब्रह्मरूप समझ लेनेसे फिर कभी नहीं जन्मता। यही बात 'न स पुनरावर्तते' (छा० ८-१५-१) इस श्रुतिने भी कही है।

इति श्री मद्विद्यारण्यमुनिविरचितं पंचकोशविवेकप्रकरणम् समाप्तम् ।

———

द्वैतविवेकप्रकरणम् ४

इस प्रकरणमें जीवके त्याज्य बन्धनको स्पष्ट दिखाते हुए ईश्वर तथा जीवके उत्पादित द्वैतोंका विवेचन किया है।

ग्रन्थारम्भकी प्रतिज्ञा

ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते।

विवेके सति जीवेन हेयो बन्धः स्फुटीभवेत् ॥१॥

(ईश्वरेण तथा जीवेन अपि सृष्टं द्वैतं विविच्यते) [अब कारणोपाधि] ईश्वर तथा [कार्योपाधि] जीवके बनाये हुए द्वैतोंको पृथक् पृथक् करके दिखायाजाता है [कि कौनसा द्वैत ईश्वरकृत है तथा कौनसा जीवका बनाया हुआ है]। (विवेके सति जीवेन हेयः बन्धः [बन्धहेतुः द्वैतम्] स्फुटीभवेत्) जीव और ईश्वरके बनाये हुए द्वैतका विवेक होजानेपर यह ज्ञात होजायगा कि जीवको इस बन्ध [बन्धहेतु द्वैत] को छोड़देना है। [तब यह निश्चय होसकेगा कि जीवको इतना द्वैत छोड़ देना चाहिये और इतना द्वैत छोड़ना अशक्य है। अर्थात् इस द्वैतको हटाना मनुष्यके बसका नहीं है। क्योंकि वह द्वैत ईश्वरके संकल्पसे बना है। मनुष्यको तो अपना ही रचा हुआ द्वैत हटाना है।

जगत्के ईश्वरसृष्ट होनेमें प्रमाण

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

स मायी सृजतीत्याहुः श्वेताश्वतरशाखिनः ॥२॥

(मायां तु प्रकृतिं विद्यात्) प्रकृतिको 'माया' समझना चाहिये (मायिनं तु महेश्वरं विद्यात्) तथा महेश्वरको 'मायी' [मायाका स्वामी] जानना चाहिये। (सः मायी सृजति इति श्वेताश्वतरशाखिनः आहुः) यह मायी ही इस जगत्का सर्जन किया करता है, ऐसा श्वेताश्वतर शाखावाले

कहते हैं [इस प्रमाणके रहते हुए जीवोंके अदृष्टादि किसीको भी जगत्का कारण मानना ठीक नहीं है]।

जगत्के ईश्वरसृष्ट होनेमें ऐतरेयका प्रमाण

आत्मा वा इदमग्रेऽभूत् स ईक्षत सृजा इति ।
संकल्पेनासृजल्लोकान् स एतानिति बह्वृचाः ॥३॥

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमांल्लोकानसृजत' [ऐतरेय २-१-१] इस श्रुतिके द्वारा बह्वृच शाखावालोंने कहा है कि (आत्मावा [एव] इदम् अग्रे अभूत्) यह सब पहले आत्मा ही आत्मा था। (सः ईक्षत सृजा इति) उसने ईक्षण किया कि जगत्का सर्जन करूं। (सः एतान् लोकान् संकल्पेन असृजत् इति बह्वृचाः) बस उसने संकल्पसे ही इन लोकोंको उत्पन्न कर डाला।

ईश्वरकी जगत्कारणतामें प्रमाण

खंवाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः क्रमादमी ।
संभूता ब्रह्मणस्तस्मादेतस्मादात्मनोऽखिलाः ॥४॥

(अमी अखिलाः खंवाय्वग्निजलो र्व्योषध्यन्नदेहाः क्रमात् तस्मात् एतस्मात् ब्रह्मणः आत्मनः संभूता) तैत्तिरीयमें कहा गया है कि ये सब आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, ओषधि, अन्न, तथा देह क्रमानुसार उस इस ब्रह्म नामके आत्मासे ही उत्पन्न हुए हैं।

ईश्वरके जगद्रूप होजानेमें प्रमाण

बहु स्यामहमेवातः प्रजायेयेति कामतः ।
तपस्तप्त्वाऽसृजत् सर्वं जगदित्याह तित्तिरिः ॥५॥

(अतः अयं ब्रह्मात्मा, अहम् एव बहु स्यां प्रजायेय इति कामतः तपः तप्त्वा सर्वं जगत् असृजत् इति तित्तिरिः आह) आत्माने 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २-६-) मैं बहुत हो जाऊं—प्रजारूपसे उत्पन्न

होजाऊँ—इस कामनासे तपको तपकर [विचार करके] इस सब जगत्को उत्पन्न करडाला। यों तित्तिरिने कहा है कि ब्रह्ममें जगत्के सर्जनकी इच्छा और विचारात्मक तप द्वारा जगत्का स्रष्टृत्व है [उसका तप 'यस्य ज्ञानमयं तपः' के अनुसार विचाररूप होता है। साधारण पुरुष जिस कामको शरीरबलमें करते हैं पुरुषोत्तम उसको विचाररूपमें किया करता है। महापुरुषके संकल्पमें ही कर्मका बल रहता है। ज्यों ज्यों बहिर्मुखता बढ़ती जाती है त्यों त्यों संकल्पका बल घटने लगता है और अगत्या कर्मबलसे कार्य चलाना पड़ता है। परमेश्वरमें वह संकल्पबल अत्यधिक मात्रामें रहता है इस कारण वह विचारमात्रसे सब कुछ बना लेता है।]

ईश्वरके जगद्रूप धारण करनेमें छान्दोग्यका प्रमाण

इदमग्रे सदेवासीद् बहुत्वाय तदैक्षत ।
तेजोऽबन्नाण्डजादीनि ससर्जेति च सामगाः ॥६॥

(इदम् अग्रे सत् एव आसीत्, तत् बहुत्वाय ऐक्षत, तेजोऽबन्नाण्ड-जादीनि ससर्ज इति च सामगाः) 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-द्वितीयम्' (छा० ६-२-१) में सद्रूप ब्रह्मका उल्लेख करके सामगोंने कहा है कि उसने बहुभावका विचार किया और तेज, जल, पृथिवी, अन्न तथा अण्डजादि [अण्डज जरायुज और उद्भिज्ज] प्राणियोंको उत्पन्न करडाला।

मुण्डकमें ब्रह्मसे जगदुत्पत्ति

विस्फुलिङ्गा यथा वन्हे र्जायन्तेऽक्षरतस्तथा ।
विविधाश्चिज्जडा भावा इत्याथर्वणिका श्रुतिः ॥७॥

(यथा वन्हेः विस्फुलिङ्गाः जायन्ते) जैसे वन्हिसे चिनगारी निकलती हैं, (तथा अक्षरतः विविधाः चिज्जडाः भावाः जायन्ते इति आथर्वणिका श्रुतिः) इसी प्रकार अक्षर तत्वसे विविध प्रकारके चेतन

और जड पदार्थ उत्पन्न होजाते हैं । यह 'तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावका-द्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' [मुण्ड० २-१-१] इस आथर्वण श्रुतिने कहा है ।

बृहदारण्यकमें अव्याकृतशब्दवाच्य ब्रह्मसे जगकी उत्पत्ति

जगदव्याकृतं पूर्व मासीद् व्याक्रियताधुना ।
दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां विराडादिषु ते स्फुटे ॥८॥
विराण्मनुर्नरा गावः खराश्वाजावयस्तथा ।
पिपीलिकावधि द्वन्द्वमिति वाजसनेयिनः ॥९॥

'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौनामा-यमिदंरूप इति' [बृ० १-४-७] इस प्रकरणमें वाजसनेयियोंने यह कहा है कि (इदं जगत् पूर्वम् अव्याकृतम् आसीत्) यह जगत् पहले अव्याकृत था अब [उसमें केवल यह परिवर्तन और हुआ कि] (तत् अधुना दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां व्याक्रियत) वह दृश्यनाम तथा दृश्यरूपसे व्याकृत होगया (ते [नामरूपे] विराडादिषु स्फुटे) वे नाम और रूप विराट् आदि स्थूल कार्योंमें स्पष्ट दीखते हैं । (ते विराडादयः विराट् मनुः नराः गावः खराश्वाजावयः तथा पिपीलिकावधि द्वन्द्वम् इति वाजसनेयिनः) वे विराडादि विराट् , मनु, मनुष्य, गाय, गधा, घोड़ा, बकरी, भेड़ तथा पिपीलिकापर्यन्त जितने भी मिथुन [जोड़े-दम्पति] हैं वे सब विराडादि कहे जाते हैं ।

ब्रह्म ही जीवरूप धारण करके देहसृष्टिमें प्रविष्ट हुआ

कृत्वा रूपान्तरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः ।
इति ताः श्रुतयः प्राहु र्जीवत्वं प्राणधारणात् ॥१०॥

(ईश्वरः जैवं [विकारि] रूपान्तरं कृत्वा देहे प्राविशत् इति ताः श्रुतयः प्राहुः) इन श्रुतियोंके आधारसे यह बात माननी पड़ती है कि वही

ईश्वर अपना एक विकारी रूपान्तर करके अर्थात् अपने अविक्रिय ब्रह्मत्वसे विलक्षण विकारी जीवरूपको धारण करके देहोंमें प्रवेश करगया अर्थात् जीव बनगया है। (प्राणधारणात् तस्य जीवत्वम्) प्राणोंको धारण करने [उनका स्वामी बनकर उनका प्रेरक होने] से ही उसमें जीवभाव आया है [जैवरूप धारण करके प्रविष्ट होगया इस कथनका यही तात्पर्य है]।

जीवका लक्षण

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः ।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते ॥११॥

(यत् अधिष्ठानं चैतन्यम् अस्ति) जो कि लिङ्गदेहकी कल्पना का आधार अधिष्ठान चैतन्य है एक तो वह, (यः च लिङ्गदेहः अस्ति) दूसरे उसमें कल्पित जोकि लिङ्गदेह है, (पुनः लिङ्गदेहस्था चिच्छाया अस्ति) तीसरे उस लिङ्गदेहमें जो चिदाभास पड़ा हुआ है, (तत्संघः जीवः उच्यते) इन तीनोंका संघ 'जीव' कहाता है।

ईश्वरस्वरूप जीवमें अज्ञता दुःखिता आदि स्वरूपविरोधी धर्म मायाके प्रभावसे आये

माहेश्वरी तु माया या तस्या निर्माणशक्तिवत् ।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ ॥१२॥

(यातु महेश्वरी माया तस्याः निर्माणशक्तिवत् मोहशक्तिः च विद्यते) महेश्वरकी मायामें जैसे जगत्के सर्जनका सामर्थ्य है, इसी प्रकार उसमें मोहनेका सामर्थ्य भी है। (असौ तं जीवं मोहयति) उस मायाकी वह मोहनशक्ति उस जीवको मोहित कर देती है। [उसके मोहक प्रभावमें आकर जीवको अपने चिदानन्दादिस्वरूपका ज्ञान नहीं रहता।]

शरीरके तादात्म्यसे जीवकी शोकमग्नता

मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति ।
ईशसृष्टमिदं द्वैतं सर्वमुक्तं समासतः ॥१३॥

(मोहात् अनीशतां प्राप्य वपुषिमग्नः शोचति) मोहमें फंसकर अनीश बनकर [इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टके परित्यागमें विवश (असमर्थ) होकर] शरीरमें ही अहंभावसे डूबकर, शोक किया करता है। वह अपने आपको शरीरकी टूट-फूट और इसकी आवश्यकताओंसे दुखी मान बैठता है। [यही बात 'समाने वृक्ष पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः' [मु० ३-२-१] इस श्रुतिमें कही है।] (इदं सर्वम् ईशसृष्टं द्वैतं समासतः उक्तम्) यहां तक ईश्वरके बनाये हुए द्वैतको संक्षेपसे कहदिया।

जीवके द्वैतस्रष्टा होनेका प्रमाण

सप्तान्नब्राह्मणे द्वैतं जीवसृष्टं प्रपञ्चितम् ।
अन्नानि सप्त ज्ञानेन कर्मणाऽजनयत् पिता ॥१४॥

(पिता ज्ञानेन कर्मणा सप्त अन्नानि अजनयत् इति सप्तान्नब्राह्मणे जीवसृष्टं द्वैतं प्रपञ्चितम्) 'यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता' (बृ० १-५-१) इस सप्तान्न ब्राह्मणमें जीवके बनाये हुए द्वैतका प्रपंच किया है कि पिता [अर्थात् अदृष्टरूपी भाग (अपना भाग) देकर उसके द्वारा इस जगत्को उत्पन्न करके सकल लोकके पालनेवाले पिता इस जीव] ने अपने ज्ञान और अपने कर्मके द्वारा सात अन्न उत्पन्न किये।

सप्तान्नसृष्टिका विनियोग

मर्त्यान्नमेकं देवान्ने द्वे पश्वन्नं चतुर्थकम् ।
अन्यत्त्रितयमात्मार्थ मन्नानां विनियोजनम् ॥१५॥

'एकमस्य साधारणं, द्वे देवानभाजयत्, त्रीण्यात्मनेऽकुरुत, पशुभ्य एकं प्रायच्छत्' (बृ० १-५-२) इस वाक्यमें उन सातों अन्नोंका विनियोग यों कियागया है कि—(मर्त्यान्नंएकम्) उनमेंसे एक मर्त्यान्न है। (देवान्ने

द्वे) दो देवताओंके अन्न हैं। (चतुर्थकं पश्वन्नम्) चौथा पशुओंका अन्न है। (अन्यत् त्रितयम् आत्मार्थम् इति अन्नानां विनियोजनम् उक्तम्) शेष तीनको उसने केवल आत्माकेलिये रखलिया।

व्रीह्यादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथा मनः।
वाक् प्राणश्चेति सप्तत्व मन्नाना मवगम्यताम् ॥१६॥

व्रीह्यादिक, दर्श, पूर्णमास, दुग्ध, मन, वाक् तथा प्राण ये सात अन्न कहाते हैं।

जीवने ईश्वररचित पदार्थोंको भोग्यरूप दिया

ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः।
तथापि ज्ञानकर्मभ्यां जीवोऽकार्षीत्तदन्नताम् ॥१७॥

(यद्यपि ईशेन एतानि स्वरूपतः निर्मितानि) यद्यपि ईश्वरने इनका स्वरूप ही बनाया था। (तथापि जीवः ज्ञानकर्मभ्यां तदन्नताम् अकार्षीत्) परन्तु इनका अन्नपन अर्थात् भोग्याकार जीवने बनालिया है।

उसने ज्ञान और कर्मके सहारेसे इन व्रीहि आदि प्राणान्त पदार्थोंको अपना अन्न [भोग्य] बना डाला है। जब उस जीवको देवताध्यान आदि विहित ज्ञान तथा परधनापहरणादि प्रतिषिद्ध ज्ञान होता है, जब यह जीव यज्ञादि विहित कर्म और हिंसा आदि प्रतिषिद्ध कर्म कर बैठता है, तब ईश्वरकी बनाई ये सब वस्तुयें उसके भोगके साधन बन जाती हैं। फिर ये वस्तुयें भोग्य बनकर उसके काममें आने लगती हैं। यदि उस जीवको वैसा ज्ञान न हो और वह जीव उस ज्ञानसे वैसे-वैसे कर्म न करे तो ये वस्तुयें उसकी भोग्य अर्थात् उसके अन्न कदापि न बनें। इसीसे कहागया है कि ईश्वरने तो इनका केवल स्वरूप बनाया परन्तु जीवने अपने ज्ञानोंसे और अपने कर्मोंसे इनको अपना अन्न बना लिया।

एकका रचा तथा दूसरेका भोग्य होनेका दृष्टान्त

ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद् द्वाभ्यां समन्वितम् ।
पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित् तथेष्यताम् ॥१८॥

(जगत् ईशकार्यं जीवभोग्यं द्वाभ्यां समन्वितम्) [सामान्नरूपमें वर्णन कियाहुआ] जगत् ईश्वरका उत्पन्न किया हुआ है और जीवका भोग्य है। यों यह जगत् ईश्वर और जीव दोनोंसे सम्बद्ध है। [एक इस जगत्का बनानेवाला है और दूसरा इसको भोगनेवाला है। एक वस्तु दो से सम्बद्ध रहती है इसके लिये दृष्टान्त यह है कि] (इति तथा इष्यतां यथा योषित् पितृजन्या भर्तृभोग्या) जैसे स्त्री अपने पितासे उत्पन्न होती है और पतिकी भोग्य होती है। इसी प्रकार इस जगत्को भी दोसे सम्बद्ध समझ लेना चाहिये।

ईश्वर और जीवकी जगद्रचनाके दो अलग अलग कारण

मायावृत्यात्मको हीशसंकल्पः साधनं जनौ ।
मनोवृत्यात्मको जीवसंकल्पो भोगसाधनम् ॥१९॥

(मायावृत्यात्मकः ईशसंकल्पः जनौ साधनम्) जब ईश्वर मायावृत्यात्मक संकल्प करता है, तब तो यह जगत् उत्पन्न होता है। (मनोवृत्यात्मकः जीवसंकल्पः भोगसाधनम्) तथा जीवके मनोवृत्ति नामके संकल्पसे यह जगत् उसका भोग्य बनता है [यों ईश्वरके संकल्पसे इस जगत्का सर्जन और जीवके संकल्पसे उसका भोग होता है। यह जगत् अज्ञान अर्थात् मायाबलसे बनता और मनसे यह जगत् भोगा जाता है]।

एकमें नानाविध भोगसे भोग्याकारभेदका पता चल रहा है

ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते ।
भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात् तद्भोगो बहुधेष्यते ॥२०॥

हृष्यत्येको मणिं लब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः ।
पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति ॥२१॥

[ईश्वरके बनाये हुए वस्तुस्वरूपसे भिन्न भी कोई भोग्यत्व आकार होता है इसे निश्चय करनेके लिए समझना चाहिए कि] (ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुनि एकविधे स्थिते) जब ही तो, ईश्वरकी बनायी हुई मणि आदि वस्तुके एक प्रकारकी होनेपर भी [भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात् तद्भोगः बहुधा इष्यते) भोक्ता बुद्धिवृत्तियोंके नाना प्रकारकी होनेसे, उस एक ही मणिका नाना प्रकारका भोग होजाता है । पदार्थके एक होनेपर भी उससे भिन्न भिन्न लोगोंको नाना प्रकारके भोग होना सिद्ध करता है कि पदार्थमें भोग्यत्व आकार पृथक पृथक थे ॥२०॥ (एकः मणिं लब्ध्वा हृष्यति) देखते हैं कि मणिका लालची उसे पाकर हृष्ट होता है, (अन्यः हि अलाभतः क्रुध्यति) दूसरे लालचीको जब वह मणि नहीं मिलती तब उसे क्रोध आता है ।

भिन्न भिन्न आकारोंका प्रदर्शन

प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः ।
सृष्टा जीवै रीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु ॥२२॥

[इस श्लोकमें जीवके बनाये हुए आकारभेदोंका वर्णन किया गया है] (प्रियः अप्रियः उपेक्ष्यः इति मणिगाः त्रयः आकाराः जीवैः सृष्टाः) मणिमें प्रिय, अप्रिय तथा उपेक्ष्य ये जो तीन आकार पाये जाते हैं ये तीनों आकार जीवोंके बनाये हुए हैं। (त्रिषु यत् साधारणं रूपं तत् ईशसृष्टम्) इन तीनोंमें साधारण रीतिसे अनुस्यूत जो मणिका स्वरूप है वह ईश्वरका बनाया हुआ है ।

जीवसृष्ट आकारभेदका उदाहरणान्त

भार्या स्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा ।
प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते न स्वरूपतः २३॥

[एक ही वस्तुमें जीवके बनाये हुए आकार किस प्रकार भिन्न भिन्न होते हैं, यह बात इस श्लोकमें दूसरा उदाहरण देकर समझायी है] देखा जाता है कि (एका एव योषित्) एक ही स्त्रीशरीर (प्रतियोगिधिया) सम्बन्धियोंकी भिन्न भिन्न बुद्धिके कारण (भार्या स्नुषा ननान्दा याता माता च इति अनेकधा भिद्यते, स्वरूपतः न) 'भार्या' 'स्नुषा' [पुत्रवधु] 'ननान्दा' 'याता' [देवरकी स्त्री] और 'माता' इन भिन्न भिन्न रूपका बन जाता है। ईश्वरने इसे स्वरूपसे केवल स्त्री बनाया था परन्तु प्राणियोंने अपने भिन्न भिन्न भावोंके अनुसार उस एक ही स्त्रीको पत्नी, पुत्रवधू , ननान्दा [पतिकी बहन] याता, तथा माता इन भिन्न भिन्न रूपोंमें मान लिया है। वह स्त्रीशरीर स्वरूपसे भिन्न भिन्न नहीं हुआ।

ननु ज्ञानानि भिद्यन्ता माकारस्तु न भिद्यते ।
योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः ॥२४॥

(ननु ज्ञानानि भिद्यन्ताम् आकारः तु न भिद्यते) शंका होती है कि—स्त्रीविषयक ज्ञान ही भिन्न भिन्न उपलब्ध होते हैं, उन ज्ञानोंका विषय बनी हुई स्त्रीका आकार या स्वरूप भिन्न नहीं होता। वह वैसेका वैसा ही रहता है। (योषिद्वपुषि जीवनिर्मितः अतिशयः न दृष्टः) स्त्रीके देहमें जीवकी निर्मित कोई विशेषता नहीं पायी जाती। [फिर यह क्यों कहा जाता है कि सम्बन्धियोंकी भिन्न भिन्न बुद्धिसे स्त्री भी भिन्न भिन्न होजाती है ?]

मैवं मांसमयी योषित् काचिदन्या मनोमयी ।
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी ॥२५॥

[ज्ञेय पदार्थकी विलक्षणताके बिना ज्ञानमें विलक्षणता नहीं आती इस सिद्धान्तके कारण ज्ञेयमें आकारका भेद मानना ही होगा, इस अभिप्रायसे इस श्लोकमें पूर्वोक्त आक्षेपका परिहार कियाजाता है कि] (मा एवम्) तुम्हारा आक्षेप ठीक नहीं। (मांसमयी योषित् काचित् अन्या, मनोमयी तदन्या) [क्योंकि एक स्त्रीमें दो स्त्रियाँ होती हैं,

एक मांसमयी दूसरी मनोमयी] मांसमयी स्त्री कोई और है तथा मनोमयी स्त्री उससे सर्वथा भिन्न है। (माँसमय्याः अभेदे अपि मनोमयी भिद्यते हि) मांसमयी स्त्रीके अभिन्न होनेपर भी मनोमयी स्त्री भिन्न भिन्न होती हैं।

भ्रान्तिस्वप्नमनोराज्यस्मृतिष्वस्तु मनोमयम्।
जाग्रन्मानेन मेयस्य न मनोमयतेति चेत् ॥२६॥

(भ्रान्तिस्वप्नमनोराज्यस्मृतिषु मनोमयम् अस्तु) फिर शंका होती होती है कि भ्रान्ति, स्वप्न, मनोराज्य तथा स्मृतिके समय [जब बाह्य विषय नहीं होते] तब वहाँकी वस्तुयें मनोमय हुआ करें, (जाग्रत्कालीनेन मानेन मेयस्य मनोमयता न संभवति इति चेत्) परन्तु जो वस्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे प्रमेय है उस वस्तुको 'मनोमय' क्योंकर मान सकते हैं?

बाढं, माने तु मेयेन योगात् स्याद् विषयाकृतिः।
भाष्यवार्तिककाराभ्या मयमर्थ उदीरितः ॥२७॥

यह तो ठीक है कि प्रमितिके स्थलमें बाह्यविषय रहता है [जब हम उस विषयको मनोमय कहते हैं तब उसका कारण हमसे सुनो कि] (माने विषयाकृतिः तु मानस्य मेयेन योगात् स्यात्) मान [प्रमाण] में जो विषयाकार आता है वह मेय पदार्थके संयोगसे आता है [उसको (मानमें आये हुए विषयाकारको) ही हम मनोमय पदार्थ कहते हैं] (भाष्यवार्तिककाराभ्याम् अयम् अर्थः उदीरितः) भाष्यकार [श्री शंकराचार्य] तथा वार्तिककार [सुरेश्वराचार्य] दोनोंने यह बात कही है।

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते यथा।
रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम् ॥२८॥

भाष्यकारने कहा है कि (यथा द्रुतं ताम्रं मूषासिक्तं सत् तन्निभं जायते) जैसे पिघला हुआ तांबा जब मूषा [मूस] में ढाल दिया जाता है तब वह उसीके आकारका होजाता है (तथा रूपादीन् व्याप्नुवत्

चित्तं ध्रुवं तन्निभं दृश्यते) इसीप्रकार रूपादि विषयोंको व्याप्त करने [अपना विषय बनाने] वाला चित्त भी उन जैसा ही दीखने लगता है ।

व्यञ्जको वा यथाऽऽलोको व्यंग्यस्याकारतामियात् ।
सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्धी रर्थाकारा प्रदृश्यते ॥२६॥

[विषयको व्याप्त करनेवाली बुद्धि स्वयं भी विषयके आकारकी हो जाती है इस बातको सिद्ध करनेवाला दूसरा दृष्टान्त यह है कि] (यथा वा व्यञ्जकः आलोकः व्यंग्यस्य आकारताम् इयात्) अथवा जिस प्रकार व्यञ्जक [आतप आदि] प्रकाश व्यंग्य [घटादि] के आकारका होजाता है, (तथा धीः अपि सर्वार्थव्यञ्जकत्वात् अर्थाकारा प्रदृश्यते) इसी प्रकार यह बुद्धि भी सकल पदार्थोंका व्यञ्जक होनेके कारण पदार्थ के आकारकी सी दीखने लगती है । जैसा आकार पदार्थका होता है वैसा ही आकार उस पदार्थको देखनेवाली बुद्धिका भी होजाता है । [बुद्धिका वह आकार ही मनोमय पदार्थ कहाता है । यही मनोमय पदार्थ जीवोंका बन्धक होता है । हम जिन पदार्थोंका अधिक संकल्प करते हैं हमारी बुद्धिमें उन पदार्थोंके आकार जम जाते हैं । फिर उनके विषयके बहुतसे संकल्प बनने लगते हैं । वे ही हमें बांध रखते हैं । यों ईश्वरकी बनायी वस्तु हमें नहीं बांधती किन्तु हमें बांधनेवाली हमारी बनाई मनोमय वस्तु ही होती है ।

मातु र्मानाभिनिष्पत्ति र्निष्पन्नं मेयमेति तत् ।
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥३०॥

इसी विषयमें वार्तिककारने भी कहा कि—(मातुः मानाभिनिष्पत्तिः भवति) पहले माता [अधिष्ठानसहित बुद्धिस्थ चिदाभासरूप प्रमाता] से प्रमाण (आभाससहित अन्तःकरणवृत्तिरूप प्रमाण) की उत्पत्ति हुआ करती है । (निष्पन्नं तत् मानं मेयम् एति) जब वह प्रमाण उत्पन्न होजाता है तब वह [घटादि] मेय पदार्थोंके पास जाता है । (तत् मानं मेयाभिसंगतं

सत् मेयाभत्वं प्रपद्यते) मेय पदार्थसे सम्बद्ध हुआ वह प्रमाण प्रमेयकेसे आकारका दीखने लगता है ।

सत्येवं विषयौ द्वौ स्तो घटौ मृन्मयधीमयौ ।
मृन्मयो मानमेयः स्यात् साक्षिभास्यस्तु धीमयः॥३१॥

(एवं सति विषयौ घटौ मृन्मयधीमयौ द्वौ स्तः) इस सब कथनसे यही सिद्ध होता है कि—प्रमाणके विषय बने हुए घट दो होते हैं—एक 'मृन्मय' दूसरा 'धीमय' (यथा मृन्मयः मानमेयः स्यात्) जिस प्रकार मृन्मय घट प्रमाणोंसे जाना जाता है (तथा धीमयः साक्षिभास्यः) तथा धीमय घट साक्षिभास्य होता है ।

जब किसी घड़ेको देखते हैं तब वहां दो घड़े होते हैं एक मिट्टीका घड़ा तथा दूसरा मनोमय घड़ा, हम मिट्टीके घड़ोंको तो प्रमाणोंसे जानते हैं। परन्तु उस मिट्टीके घड़ेसे जो मनोमय घड़ा बनता है उसे हम साक्षी से जाना करते हैं ।

जीवसृष्ट द्वैत बन्धक होनेसे हेय है

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबन्धकृत् ।
सत्यस्मिन् सुखदुःखे स्त स्तस्मिन्नसति न द्वयम् ॥३२॥

(अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयः द्वैतप्रपंचः जीवबन्धकृत्) अन्वय और व्यतिरेकसे यह बात सिद्ध होती है कि जीवका बनाया हुआ धीमय [मनोमय] द्वैत संसार ही जीवको बन्धन में डालनेवाला है [इसलिये वही हेय भी है ।] वे अन्वयव्यतिरेक ये हैं कि—(अस्मिन् जीवसृष्टे मानसप्रपञ्चे सति सुखदुःखे) जीवके बनाये हुए इस मानसजगत्के विद्यमान रहनेपर ही सुख दुःख होते हैं। (असति तु तस्मिन् न द्वयम्) उसके न होनेपर सुख या दुःख कुछ नहीं होते ।

असत्यपि च बाह्यार्थे स्वप्नादौ बध्यते नरः ।
समाधिसुप्तिमूर्छासु सत्यप्यस्मिन्न बध्यते ॥३३॥

(नरः स्वप्नादौ बाह्यार्थे असति अपि बध्यते) मनुष्य सुपने आदि में बाह्य पदार्थके न होने पर भी, अनुकूलसे सुखी और प्रतिकूलसे दुःखी होता है (समाधिसुप्तिमूर्छासु सति अपि अस्मिन् बाह्यर्थे न बध्यते) तथा समाधि सुप्ति या मूर्छामें बाह्यार्थके होनेपर भी सुखी दुःखी नहीं होता।

मनुष्यादि प्राणी स्वप्न या स्मृति आदिके समय, जबकि अनुकूल प्रतीत होनेवाला, बाह्यार्थ नहीं होता, जब भी सुखी होता है अथवा जब कि प्रतिकूल व्याघ्रादि सच्चा पदार्थ नहीं होता तब भी दुःखी हुआ करता है। इसके विपरीत समाधि सुषुप्ति तथा मूर्छा के समय, इन बाह्य पदार्थों के विद्यमान रहनेपर भी, सुखी या दुःखी नहीं होता। इससे यही सिद्ध होता है कि सुख दुःख के साथ बाह्य पदार्थके अन्वयव्यतिरेक नहीं हैं। किन्तु [सुख दुःखके साथ] मानस पदार्थोंके ही अन्वयव्यतिरेक हैं। जीव अपने मानस पदार्थोंसे ही सुखी या दुःखी होता है। केवल बाध्यार्थसे कोई सुखी दुःखी नहीं होता।

मनोमय प्रपञ्चकी बन्धकताका उदाहरण

दूरदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता।
विप्रलम्भकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति ॥३४॥
मृतेऽपि तस्मिन् वार्तायामश्रुतायां न रोदिति।
अतः सर्वस्य जीवस्य बन्धकृन्मानसं जगत् ॥३५॥

[मनोमय प्रपञ्च ही बन्धक होता है। उसीके साथ सुख दुःखका अन्वयव्यतिरेक है। यह बात एक अत्यन्त स्पष्ट उदाहरणसे इस श्लोकमें समझायी है] (पुत्रे दूरदेशं गते तत्र तस्मिन् जीवति एव सति अत्र स्वदेश-स्थितः तत्पिता विप्रलम्भकवाक्येन स्वपुत्रं मृतं मत्वा प्ररोदिति) जब किसी का पुत्र किसी दूरदेशको चला गया होता है और वहां भला चंगा रहता है परन्तु घर बैठा हुआ उसका पिता किसी ठगके झूठ-मूठ यह कह देनेसे कि तुम्हारा पुत्र मरगया अपने मनोमय पुत्रको मरा हुआ मानकर, फूट-फूटकर रोने लगता है। [३४] (तस्मिन् एव पुत्रे तत्र गत्वा मृते अपि

मृतिवार्तायाम् अश्रुतायां न रोदिति) तथा उसी पुत्रके परदेशमें यथार्थ मरजाने पर भी उसके मरनेकी बात न सुननेपर नहीं रोता । (अतः सर्वस्य जीवस्य मानसं जगत् बन्धकृत्) इस बातको देखकर यही निश्चय करना पड़ता है कि जीवका मानस जगत् ही सबको बन्धनमें डाला करता है ।

विज्ञानवादो बाह्यार्थवैयर्थ्यात् स्यादिहेति चेत् ।
न हृद्याकारमाधातुं बाह्यस्यापेक्षितत्वतः ॥२६॥

(इह बाह्यार्थवैयर्थ्यात् विज्ञानवादः स्यात् इति चेत्) 'यदि धीमय जगत्को ही बन्धनका कारण मानें तो फिर बाह्यार्थकी कुछ आवश्यकता नहीं रहती और ऐसी अवस्थामें विज्ञानवाद आखड़ा होता है' ऐसी किसीको शंका हो तो उससे कहो कि (न हृदि आकारम् आधातुं बाह्यस्य अपेक्षितत्वतः) नहीं, हृदयमें आकारको बैठाने [जमाने] के लिये बाह्य पदार्थकी अपेक्षा है । [तात्पर्य यह है कि यद्यपि बन्धका कारण मानस प्रपंच है, परन्तु मानसप्रपंचको उत्पन्न करनेवाला बाह्यप्रपंच ही होता है । यों हम बाह्यार्थको भी स्वीकार करनेके कारण विज्ञानवादी नहीं हैं]।

वैयर्थ्यमस्तु वा, बाह्यं न वारयितुमीश्महे ।
प्रयोजनमपेक्षन्ते न मानानीति हि स्थितिः ॥२७॥

(अस्तु वा वैयर्थ्यम्) अथवा बाह्यार्थ व्यर्थ भी रहो, (वयं बाह्यं वारयितुं न ईश्महे) तो भी हम [विज्ञानवादीकी भांति] बाह्य पदार्थका वारण नहीं कर सकते । [विज्ञानवादी बाह्यपदार्थका अपलाप करते हैं । हम नहीं करते । यही हमारा उनका भेद है] (मानानि प्रयोजनं न अपेक्षन्ते इति हि स्थितिः) प्रमाण प्रयोजनकी अपेक्षा (परवाह) नहीं करते यह सिद्धान्त है ।

किसी भी वस्तुकी सिद्धि प्रयोजनके अधीन नहीं होती है । किन्तु प्रमाणोंके अधीन होती है । जिस पदार्थको प्रमाणोंने सिद्ध करदिया हो

फिर भले ही उसका कुछ भी प्रयोजन न हो, उसे असत् नहीं माना जासकता।

बन्धश्चेन्मानसद्वैतं तन्निरोधेन शाम्यति।
अभ्यसेद् योगमेवातो ब्रह्मज्ञानेन किं वद ॥३८॥

(मानसद्वैतं बन्धः चेत् तन्निरोधेन [मनोनिरोधात्मकेन योगेन] शाम्यति) यदि मानस द्वैत ही बन्धका कारण हो, तो केवल उस मनका निरोधरूपी योग करनेसे ही वह बन्ध शान्त होसकता है। (अतः योगम् एव अभ्यसेत्) ऐसी अवस्थामें मनोनिरोधरूपी योगका अभ्यास करना चाहिये। (ब्रह्मज्ञानेन किम् इति वद) तब इस ब्रह्मज्ञानसे क्या होगा सो बताओ? [ब्रह्मज्ञानको बन्धका निवर्तक मानना ठीक नहीं है]।

ब्रह्मज्ञानसे ही बन्धनिवृत्ति

तात्कालिकद्वैतशान्तावप्यागामिजनिक्षयः।
ब्रह्मज्ञानं विना न स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥३९॥

सुनो, योगसे तात्कालिक द्वैत तो शान्त होसकता है, परन्तु आगामी जन्मोंका नाश ब्रह्मज्ञानके बिना नहीं होसकता। [यह बात 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' [श्वे० ५-१३] 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति। यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति।' [श्वे० ६-२०] इत्यादि श्रुतियोंमें डंकेकी चोट कही गई है। ये श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञानसे बन्धकी निवृत्तिको कह रही हैं]।

द्वैतमिथ्यात्वज्ञान अद्वैतबोधका उपाय

अनिवृत्तेऽपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम्।
बुद्ध्वा ब्रह्माद्वयं बोद्धुं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः ॥४०॥

(वस्त्वैक्यवादिनः मते ईशसृष्टे द्वैते अनिवृत्ते अपि तस्य मृषात्मतां बुद्ध्वा अद्वयं ब्रह्म बोद्धुं शक्यम्) एकवस्तुवादीके मतमें

ईश्वरका बनाया हुआ द्वैत भले ही बना रहो, उसको मिथ्या समझ लेने मात्रसे अद्वितीय वस्तु या ब्रह्मका बोध होसकता है। [यदि द्वैतको ईश्वरके बनाये हुए द्वैतकी विद्यमानतामें ही मिथ्या समझ लिया जाय तब ही अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व जाना जासकता है। यदि ईश्वरका बनाया हुआ द्वैत न रहे तो अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व समझमें ही नहीं आसकता। क्योंकि तब उसको जाननेका साधन कुछ नहीं रहता। जब हम ईश्वरके द्वैतपर अपना द्वैत बनाने लगते हैं तब यह हमें बांधता है। जब हम इसको हटा कर इसके मूलाधारको टटोलते हैं तब हमारी दृष्टि ब्रह्मतत्त्वपर जापड़ती है। यों हम इसकी सत्यता माननेसे बंधते हैं और इसके नकारसे छुट जाते हैं। यों ईश्वरका द्वैत हमारे बड़े उपयोगकी वस्तु है]।

प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः।
विरोधिद्वैताभावेपि न शक्यं बोद्धुमद्वयम् ॥४१॥

(प्रलये तन्निवृत्तौ तु) प्रलयकालमें, जबकि द्वैत छिपा होता है, (विरोधिद्वैताभावे अपि) और अद्वैत ज्ञानका विरोधी द्वैत नहीं रहता, (गुरुशास्त्राद्यभावतः अद्वयं बोद्धुं न शक्यम्) तब अद्वयभावको जताने वाले गुरु या शास्त्रके न रहनेसे अद्वयतत्त्व समझमें नहीं आसकता।

जो यह समझा बैठा हो कि द्वैतको मिथ्या समझनेसे अद्वैतज्ञान उत्पन्न नहीं होसकता, किन्तु उसकेलिए द्वैतका निवारण करना—द्वैतको मार भगाना—आवश्यक है, उसे यों समझना चाहिये कि—प्रलयकालमें, जब तुम्हारे भी मतमें द्वैतकी निवृत्ति होजाती है, जब विरोधी द्वैतका सर्वथा निवारण होजाता है, जब अद्वैतज्ञानका विरोध करनेवाला द्वैत शेष नहीं रहता, तब ज्ञानके साधन गुरु अथवा शास्त्रादिके न रह जानेसे किसीको भी अद्वयवस्तुका बोध नहीं होता। इसीसे कहते हैं कि द्वैतका निवारण करना कोई आवश्यक बात नहीं है। साधकका काम द्वैतको मिथ्या समझनेसे ही चलता है। यों द्वैतको मिथ्या समझनेमें ईश्वरके द्वैतका उपयोग है।

अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम् ।
अपनेतुमशक्यं चेत्यास्तां तद् द्विष्यते कुतः ॥४२॥

['द्वैतके रहते रहते अद्वैतज्ञान कैसे होसकता है' इसका समाधान यह है कि] (ईश्वरनिर्मितं द्वैतं अद्वैतज्ञानस्य अबाधकम्) ईश्वरका बनाया हुआ द्वैत अद्वैतके ज्ञानमें बाधा नहीं डालता । (साधकं च) ईश्वरनिर्मित द्वैत अद्वैतज्ञानका साधक है। उसीको मिथ्या समझनेसे अद्वैतज्ञानकी उत्पत्ति हुआ करती है । [गुरुशास्त्रादिरूपी द्वैत तो अद्वैतज्ञानका साधक होता है]। (अपनेतुम् अशक्यं च) इसके अतिरिक्त हम क्षुद्र संकल्पवाले लोग ईश्वरके बनाये हुए आकाशादि रूप द्वैतको हटा भी नहीं सकते [क्योंकि वह ईश्वर सत्यसंकल्प है। उसका संकल्प हमसे नहीं तोड़ा जासकता] (इति तत् आस्तां तत् कुतः द्विष्यते) इन हेतुओंसे उस द्वैतको रहने दो, उससे द्वेष क्यों करते हो ?

जीवसृष्ट द्वैतके दो भेद

जीवद्वैतं तु शास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विधा ।
उपाददीत शास्त्रीयमातत्वस्यावबोधनात् ॥४३॥

(जीवद्वैतं तु शास्त्रीयम् अशास्त्रीयम् इति द्विधा) जीवका बनाया हुआ द्वैत 'शास्त्रीय' और 'अशास्त्रीय' भेदसे दो प्रकारका है । (आतत्वस्य अवबोधनात् शास्त्रीयं द्वैतम् आददीत) उसमेंसे शास्त्रीय द्वैतको तत्त्वका ज्ञान होने तक पकड़े रहना चाहिये ।

शास्त्रीय द्वैत और उसके त्यागका समय

आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत् ।
बुद्धे तत्वे तच्च हेयमिति श्रुत्यनुशासनम् ॥४४॥

(आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत्) जिससे आत्मा अर्थात् प्रत्यग्रूप ब्रह्मका विचार या श्रवण आदि कहते हैं वह शास्त्रीय मानस जगत् [द्वैत] है (तत् च बुद्धे तत्वे हेयम्) उस शास्त्रीय द्वैतका

परित्याग तब करना चाहिये जब मनुष्यको तत्वका पूर्णज्ञान होचुके यह बात श्रुतिने कही है।

साधक लोग तत्वके समझमें आजानेपर भी शास्त्रवासनामें उलझे न रहें प्रत्युत ब्रह्माभ्यासको बढ़ाते जायं यही इसका भाव है।

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत् तान्यथोत्सृजेत् ॥४५॥
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः ॥४६॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥४७॥

[तत्वबोधके पश्चात् शास्त्रीय द्वैतको छोड़ देना चाहिये यह बात इन श्रुतियोंमें कही है] (मेधावी शास्त्राणि अधीत्य) मेधावी पुरुष शास्त्रों को पढ़े, (पुनः पुनः अभ्यस्य च) उनका बार बार अभ्यास करे, (परमं ब्रह्म विज्ञाय) जब परब्रह्मको पहचान चुके, (अथ तानि उल्कावत् उत्सृजेत्) तब उन्हें मार्ग देखकर निकम्मी होकर फेंकी हुई उल्काके समान तुरन्त फेंक दे ॥४५॥ (मेधावी ग्रन्थम् अभ्यस्य) मेधावी मनुष्य ग्रन्थोंका अभ्यास करके (ज्ञानविज्ञानतत्परः सन्) ज्ञान तथा विज्ञानमें तत्पर होकर (धान्यार्थी पलालम् इव ग्रन्थम् अशेषतः त्यजेत्) ग्रन्थोंका पूर्ण परित्याग इस प्रकार करदे जैसे धान्यार्थी लोग धान्य निकालकर पुरालको कहीं भी पड़ा छोड़ देते हैं। [फिर साधकोंको ग्रन्थव्यसनमें नहीं उलझे रहना चाहिये। ग्रन्थ हमें इस मार्ग तक पहुँचा देनेके लिये थे। इस परमपदको देखकर भी ग्रन्थों में फंसे रहना ऐसा है जैसे कोई नदी पार जाकर भी नावपरसे उतरना न चाहता हो] ॥४६॥ (धीरः ब्राह्मणः तम् एव विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत) धीर ब्राह्मण उसी आत्म-तत्वको जानकर अपनी बुद्धि को सदा तदाकार बनाकर रक्खे। (बहून् शब्दान् न

अनुध्यायात्) शास्त्रोंकी खटपटमें या बहुतसी बातोंकी उलझनोंमें फँसा न रह जाय। (तत् वाचः विग्लापनं हि) क्योंकि वह वाणीका कोरा व्यायाम है ॥४७॥

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ।
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ इत्याद्याः श्रुतयः स्फुटाः ॥४८॥

'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः' [मुण्ड० २-२-५] इस श्रुतिमें कहा गया है कि (तम् एव एकं विजानीथ) उसी एक तत्वको जानलो। (अन्याः वाचः विमुञ्चथ) उससे भिन्न समस्त वाणियोंका परित्याग करदो। 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' [कठ १-३-१] ज्ञानी पुरुष वाणीको मनमें रोककर रक्खे [फिर निरर्थक होचुके हुए वाग्व्यापारमें फँसा न रहे।] (इत्याद्याः श्रुतयः स्फुटाः) इत्यादि श्रुतियोंमें स्पष्ट रीतिसे इसी बातका प्रतिपादन किया गया है।

अशास्त्रीय द्वैतके दो भेद और बोधसे प्रथम उनके त्यागकी आवश्यकता

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति द्विधा ।
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत् ॥४९॥
उभयं तत्वबोधात् प्राङ् निवार्यं बोधसिद्धये ।
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः ॥५०॥

अशास्त्रीय द्वैत भी 'तीव्र' और 'मन्द' दो प्रकारका होता है। कामक्रोधादि 'तीव्र द्वैत' कहाता है। (तथा मनोराज्यम् इतरत्) मनोराज्यको 'मन्दद्वैत' कहते हैं ॥४९॥ (तत्त्वबोधात् प्राक् बोधसिद्धये उभयं निवार्यम्) तत्वबोध होनेसे पहले पहले तो ज्ञानकी सिद्धिके लिये इन दोनों प्रकारके द्वैतोंका परित्याग कर देना चाहिये। (यतः शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतम्) क्योंकि ब्रह्मज्ञानके साधनोंमें शान्ति और समाधि दोनों सुने जाते हैं। [इसका अभिप्राय यह है कि जबतक

शान्ति और समाधि नहीं होगी, तब तक तत्वज्ञान उत्पन्न न होसकेगा। इस कारण तत्वज्ञानसे प्रथम तीव्र और मन्द दोनों प्रकारके द्वैतका परित्याग होजाना चाहिये।]

बोधके पश्चात् कामादि तथा मनोराज्यके त्यागकी आवश्यकता

बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये ।

कामादिक्लेशबन्धेन युक्तस्य नहि मुक्तता ॥५१॥

(तथा बोधात् ऊर्ध्वं तत् उभयविधं द्वैतं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये हेयम्) तथा बोध हो चुकने पर, इन दोनों प्रकारके द्वैतोंका, परित्याग जीवन्मुक्तिकी सिद्धिकेलिये करना चाहिये [नहीं तो जीवन्मुक्तिका स्वाद नहीं मिलेगा] (हि कामादिक्लेशबन्धेन युक्तस्य मुक्तता न हि) क्योंकि कामादिरूपी महाक्लेशकारक बन्धनोंसे युक्त पुरुष मुक्त कैसे होसकेगा ? [बोधका इतना प्रताप तो होना ही चाहिये कि ज्ञानीमें गीतोक्त दैवी संपत्तिका विकास होजाय। यदि ज्ञानके पश्चात् दैवीसंपत्ति न आयी तो ज्ञान ज्ञान नहीं है ज्ञानाभास है। "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्"। जो दुश्चरितोंसे नहीं हटा, जो शान्त नहीं हुआ, जो समाहित नहीं होता, जिसका मन शान्त नहीं हुआ, वह पुरुष सूखे तत्वज्ञानसे इस तत्वको नहीं पा सकता। मनुष्य कोरे तत्वज्ञानसे तो आत्मवंचन करता रहता है और परमार्थ पदको पानेसे वंचित रहता है।

जीवन्मुक्त ही विदेहमुक्त होसकता है

जीवन्मुक्तिरियं मा भूज्जन्माभावे त्वहं कृती ।

तर्हि जन्मापि तेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात् कृती भवान् ॥५२॥

(इयं जीवन्मुक्तिः मा भूत् अहं तु जन्माभावे कृती) "यह जीवन्मुक्ति न मिले तो पड़ी न मिलो, मैं तो केवल आगामी जन्म न मिलने या विदेहमुक्ति पाजानेसे ही धन्य हो जाऊँगा" यह विचार दोष-

युक्त है, (यतः भवान् स्वर्गमात्रात् कृती तर्हि ते जन्म अपि अस्तु एव) क्योंकि तुम स्वर्ग अर्थात् वैषयिक सुखमात्रसे धन्यता मान लेनेवाले हो इसलिये तुम जन्मके बन्धनसे भी नहीं छुट सकोगे।

"जो मैं जन्म-मरणलक्षण संसारसे घबरा उठा हूँ, उस मुझे केवल विदेहमुक्ति चाहिये मैं इसीसे कृतकृत्य हो जाऊंगा कि मुझे वार बार जन्म लेना न पड़े। मुझे इस बीचकी जीवन्मुक्तिसे क्या लेना है? यह मुझे न मिले तो न सही।" जिसको ऐसा भ्रम हुआ हो उससे कहो कि जबकि तुम ऐहिक तुच्छ भोगोंके छूटनेके डरसे जीवन्मुक्ति जैसे पदका त्याग कर रहे हो, तब क्या तुम स्वर्गसुखके लोभमें फँसकर विदेह-मुक्तिको नहीं छोड़ बैठोगे? यों तुम्हारा जन्म बार बार होता रहेगा। क्योंकि तुम तो स्वर्गमात्रसे ही सन्तुष्ट होनेवाले प्राणी ठहरे। जो ऐहिक भोगोंका लालच नहीं छोड़ सकता उसे मुक्तिका ढोंग छोड़ देना चाहिये।

क्षयातिशयदोषेण स्वर्गो हेयो यदा तदा।
स्वयं दोषतमात्मायं कामादिः किं न हीयते ॥५३॥

(यदा क्षयातिशयदोषेण स्वर्गः हेयः इति मन्यसे तदा) यदि तुम क्षय तथा दूसरोंकी अधिकता देखकर ईर्ष्यारूपी दोषसे स्वर्गको परित्याज्य मानों तो (स्वयंदोषतमात्मा अयं कामादिः किं न हीयते) सकल पुरुषार्थोंके विघातक इस दोषरूप कामादिको ही क्यों नहीं छोड़ देते हो? [दोषी स्वर्गको छोड़ने वालेको अत्यन्त दोषी कामादि तो उससे भी पहले छोड़ देने चाहियें।]

तत्वं बुद्ध्वापि कामादीन्निःशेषं न जहासि चेत्।
यथेष्टाचरणं ते स्यात् कर्मशास्त्रातिलङ्घिनः ॥५४॥

(त्वं तत्त्वं बुद्ध्वा अपि कामादीन् निःशेषं न जहासि चेत्) यदि तू आत्मतत्वको जानकर भी पूर्णरूपसे कामादिको नहीं छोड़ेगा तो (कर्मशास्त्रातिलंघिनः ते यथेष्टाचरणं स्यात्) इसका परिणाम यह होगा

कि तू [तत्वज्ञानीपनेके अभिमानमें आकर] कर्मशास्त्र [कर्तव्य बतानेवाले शास्त्र] की आज्ञाओंको टालने वाला बनकर यथेष्टाचारी होजायगा [सो भाई यह भला तत्वज्ञान हुआ ? यों तो तू संसारियोंसे भी गया बीता हो जायगा । तू भी ज्ञानका भांड, या मुखमात्रसे राम राम रटने वाला तोता होजायगा ।]

बुद्धाद्वैतस्वतत्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥५५॥

सुरेश्वराचार्यने कहा कि—(यदि बुद्धाद्वैतस्वतत्वस्य यथेष्टाचरणं तर्हि अशुचिभक्षणे शुना तत्वदृशां च एव कः भेदः स्यात्) अद्वैत-रूप आत्मतत्वको जाननेवाले भी यथेष्टाचार करें तो फिर वे अशुचि-भक्षणादि गर्हित काम भी अवश्य करेंगे और तब विधिनिषेधकी आज्ञा न माननेवाले ऐसे तत्वज्ञानियोंमें और कुत्तोंमें क्या भेद रहजायगा ?

'सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति संप्राप्ते हि कलौ युगे । नानुतिष्ठन्ति मैत्रेय शिश्नोदरपरायणाः' जब कलयुग आयगा तब ब्रह्मकी चर्चा तो अधिकतासे होगी, परन्तु लोग उपस्थ और पेटके दास बनकर करें धरेंगे कुछ नहीं । जिसकी ऐसी शोचनीय अवस्था है वह ज्ञानी नहीं है वह ज्ञानिविदूषक है । ऐसे ज्ञानीसे तो अज्ञानो ही अच्छे । क्योंकि वे अपने दोषको स्वीकार तो करते हैं । जैसे औषध खाकर पथ्य न किया जाय ऐसे ही यदि ब्रह्मज्ञानी होकर व्यवहारशुद्धि न हो, यदि दैवीसंपत्ति न आयी हो तो सूखे ब्रह्मज्ञानसे क्या होना है ? प्रत्युत ऐसा ब्रह्मज्ञान घातक होगा । जैसे सरकण्डेके फूलपर फल नहीं लगता इसी प्रकार ऐसे शुष्क ब्रह्मज्ञान-रूपी पुष्पपर मुक्तिरूपी फल नहीं लगता ।

बोधात् पुरा मनोदोषमात्रात् क्लिश्नास्यथाधुना ।
अशेषलोकनिन्दा चेत्यहो ते बोधवैभवम् ॥५६॥

(बोधात् पुरा मनोदोषमात्रात् क्लिश्नासि) जब तक तुझे तत्वज्ञान नहीं हुआ था तब तक तो तुझे केवल काम क्रोधादि मनोदोष ही क्लेश

पहुँचाया करते थे। (अथ अधुना अशेषलोकनिन्दा च इति ते बोधवैभम अहो) परन्तु अब तत्वज्ञान होजानेपर वे कामादि मनोदोष भी हैं और उनके साथ ही साथ अब तेरी सर्वलोकनिन्दा भी होने लगी है [कि देखो यह तत्त्वज्ञानी होकर भी बुरे बुरे काम करता है] यों तुझे अब दुगना क्लेश हो गया। अरे भाई, तेरा बोधवैभव भी विचित्र है [परमात्मा करे ऐसा बोध किसीको न हो।]

विड्वराहादितुल्यत्वं मा कांक्षीस्तत्वविद् भवान्।
सर्वधीदोषसन्त्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत् ॥५७॥

(यदि भवान् तत्त्ववित् तर्हि विड्वराहादितुल्यत्वं मा कांक्षीः) तुम तत्वज्ञानी होगये हो तो मैला खानेवाले सूकरादि अधम प्राणियोंके समान होना मत चाहो। (किन्तु सर्वधीदोषसन्त्यागात् लोकैः देववत् पूज्यस्व) किन्तु सब बुद्धिदोषोंको छोड़कर देवताओंकी भांति पुजो।

यदि तुम तत्वज्ञानी होगये हो—यदि तुम्हें सर्वाधिक उत्कर्षका कारण ज्ञान प्राप्त होगया है—तो कामादिको त्याग देनेमें असमर्थ होकर निकृष्ट से निकृष्ट ग्रामसूकर आदिके तुल्य मत हो। जिन काम क्रोधादिमें ग्रामके सूकर आदि अधम प्राणी फँसरहे हैं, तुम तत्त्वज्ञानी होकर उन काम क्रोधादिमें मत फंसे रहो। किन्तु तुम कामादि नामके जितने मनोदोष हैं, उन सबको छोड़कर देवताके समान सब लोगोंके पूज्य बनो। तत्त्वज्ञान का इतना तो दृष्ट फल भी होना ही चाहिये।

कामादि त्यागका उपाय

काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः कामादित्यागहेतवः।
प्रसिद्धा मोक्षशास्त्रेषु तानन्विष्य सुखी भव ॥५८॥

(मोक्षशास्त्रेषु काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः कामादित्यागहेतवः प्रसिद्धाः) मोक्षप्रतिपादक शास्त्रोंमें काम्यआदि अर्थात् काम्य और द्वेष्य पदार्थों में जो [अनित्यता तथा सातिशयता आदि] दोष भरे पड़े हैं, उन दोषोंपर दृष्टि रखना आदि बातें, कामादिके त्याग करनेके साधन वर्णित

हैं । (तान् अन्विष्य सुखी भव) उन सब साधनोंको वहांसे ढूंढ लो [वैसे बनो] और सुखी होजाओ ।

त्यज्यतामेष कामादि मनोराज्ये तु का क्षतिः ।
अशेषदोषबीजत्वात् क्षतिर्भगवतेरिता ॥५६॥

(एष कामादिः त्यज्यतां मनोराज्ये तु का क्षतिः) अनर्थके कारण इन कामादियोंको तो हम त्याज्य मान लेते हैं । परन्तु मनोराज्य तो वैसा नहीं है । सो हम मनोराज्य करते रहें, उसमें क्या हानि है ? यह विचार ठीक नहीं है (अशेषदोषबीजत्वात् भगवता क्षतिः ईरिता) क्योंकि—यद्यपि मनोराज्यसे साक्षात् कोई अनर्थ नहीं होता, परन्तु यह मनोराज्य ही परम्परासे सम्पूर्ण दोषोंका मूलकारण है । इससे मनोराज्य से भी हानि होती है यह बात भगवान् कृष्णने कही है ।

मनोराज्यसे हानि

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६०॥

(विषयान् ध्यायतः पुंसः तेषु सङ्गः उपजायते) जो पुरुष विषयों का ध्यान [मनोराज्य] करता रहता है, उसे उन विषयोंमें सङ्ग होजाता और वह उन्हें अच्छा समझने लगता है । (सङ्गात् कामः उपजायते) सङ्गसे कामना [माँग] की उत्पत्ति होती है (कामात् क्रोधः उपजायते) उस कामनासे क्रोध उत्पन्न होजाता है । [जो उस कामनाके पूरा होनेमें रुकावट डालता है उसपर कामीको क्रोध आता है । यों मनोराज्य सम्पूर्ण अनर्थोंका मूल है] ।

मनोराज्यके परिहारका उपाय

शक्यं जेतुं मनोराज्यं निर्विकल्पसमाधितः ।
सुसंपादः क्रमात् सोऽपि सविकल्पसमाधिना ॥६१॥

(मनोराज्यं निर्विकल्पसमाधितः जेतुं शक्यम्) मनोराज्य निर्विकल्प समाधिसे जीता जासकता है। (सः अपि सविकल्पसमाधिना क्रमात् सुसंपादः) वह निर्विकल्प समाधि भी क्रम क्रमसे सविकल्प समाधि करते करते प्राप्त होती है।

अष्टाङ्गयोग न कर सकने वालेके लिये मनोराज्यपर विजय पानेका उपाय

बुद्धतत्वेन धीदोषशून्येनैकान्तवासिना ।
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते ॥६२॥

जिसको आत्मतत्वका ज्ञान होचुका हो—जिसको सद्गुरुसे आत्मद्रव्यकी सूचना मिल चुकी हो—जो बुद्धिके काम क्रोधादि दोषोंसे रहित हो चुका हो, जो विजन देश [हृदय] में रहने लगा हो, ऐसा पुरुष लम्बे [चार छः आठ दस किंवा बारह मात्राके] प्रणवका उच्चारण कर करके मनोराज्यको जीत या हटा सकता है।

मनोराज्यविजयकी अवस्था

जिते तस्मिन् वृत्तिशून्यं मनस्तिष्ठति मूकवत् ।
एतत्पदं वशिष्ठेन रामाय बहुधेरितम् ॥६३॥

(तस्मिन् जिते वृत्तिशन्यं मनः मूकवत् तिष्ठति) उस मनोराज्यको जीत लेनेपर मनके सकल व्यापार इस प्रकार रुक जाते हैं जैसे गूंगा आदमी वाग्व्यवहारसे रहित होकर चुपचाप बैठा होता है (वशिष्ठेन रामाय एतत् पदं बहुधा ईरितम्) वशिष्ठने रामके प्रति ऐसी शान्त दशा का वर्णन अनेक प्रकारसे किया है। [इस कारण इस दशाको परम-पुरुषार्थ मानना चाहिये]।

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ।
संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥६४॥

'नेह नानास्ति किंचन' [बृ० ४-४-१६] इस श्रुतिके अनुसार (दृश्यं न अस्ति इति बोधेन मनसः सकाशात् दृश्यमार्जनं सम्पन्नं चेत्)

जब यह ज्ञान होजाय कि 'दृश्य नहीं है' और जब इस ज्ञानके प्रतापसे मनमेंसे दृश्यका निवारण होचुका हो [जब मनरूपी घटमेंसे बोधरूपी झाडूसे दृश्यरूपी कूड़ेको बुहार डाला गया हो] (तदा परा निर्वाण निर्वृतिः उत्पन्ना इति जानीयात्) तब मनुष्य यह जानले कि परा निर्वाण निर्वृति किंवा निरतिशय मोक्षसुख प्राप्त होचुका।

विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः ।
सन्त्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ॥६५॥

(शास्त्रम् अलं विचारितम्) हमने भले प्रकार अद्वैतशास्त्रको विचार देखा, (तथा मिथः चिरम् उद्ग्राहितम्) गुरु शिष्यादिसंवादके द्वारा आपसमें बहुत दिनों तक एक दूसरेको समझा देखा, (सन्त्यक्त-वासनात् मौनात् ऋते [अधिकम्] उत्तमं पदं न अस्ति) इतना सब करनेपर हम इसी निश्चय पर पहुँचे कि वासनारहित मौनसे अधिक उत्तम कोई पद नहीं है [तात्पर्य यह है कि कामादि वासनाओंके निकल जानेसे मनमें जब तूष्णींभाव किंवा मौनावस्था आती है तब इस दशासे उत्तम दशा या पुरुषार्थ कोई नहीं है]।

विक्षेपपरिहारका उपाय

विक्षिप्यते कदाचिद्धीः कर्मणा भोगदायिना ।
पुनः समाहिता सा स्यात् तदैवाभ्यासपाटवात् ॥६६॥

[वृत्तिरहित हुआ चित्त जब कभी प्रारब्ध कर्मोंसे विक्षिप्त होने लगे तब उसका प्रतिकार बताया जाता है कि] (भोगदायिना कर्मणा कदाचित् धीः विक्षिप्यते यदि) यदि कभी बुद्धि भोगदायी प्रारब्ध कर्मके बलसे विक्षिप्त हो जाती हो (तर्हि सा अभ्यासपाटवात् तदा एव पुनः समाहिता स्यात्) तो वह बुद्धि प्रबल अभ्यासके सामर्थ्यसे फिर समाहित हो सकती है। [इससे साधकोंको अभ्यासको बढ़ाकर चित्तकी वृत्तिहीनता को गम्भीर अवस्था तक लेजाना चाहिये।]

विक्षेपो यस्य नास्त्यस्य ब्रह्मवित्वं न मन्यते ।
ब्रह्मैवायमिति प्राहुर्मुनयः पारदर्शिनः ॥६७॥

(यस्य विक्षेपः न अस्ति अस्य ब्रह्मवित्वं न मन्यते) जिसको कभी भी विक्षेप नहीं होता उसको ब्रह्मवित् नहीं माना जाता। (पारदर्शिनः मुनयः अयं ब्रह्म एव इति प्राहुः) वेदान्तके पारदर्शी मुनिलोग कहते हैं कि वह साक्षात् ब्रह्म है। [उस महापुरुषको पूर्वाभ्यासवश गौणरूपसे 'ब्रह्मवित्' कहा जासकता है]।

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः ।
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम् ॥६८॥

वशिष्ठने भी कहा है कि (यः दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः तिष्ठति हे ब्रह्मन् ! सः तु स्वयं ब्रह्म एव न ब्रह्मवित्) जो महापुरुष ब्रह्मको जानता हूं या ब्रह्मको नहीं जानता हूं इन दोनों झगड़ोंको छोड़कर स्वयं केवल अद्वितीय चैतन्यरूपसे अवस्थित हो बैठा अथवा केवल बन गया हे ब्रह्मन् ! वह साक्षात् ब्रह्म है। वह ब्रह्मज्ञानी नहीं है। [ऐसे महापुरुष को ब्रह्मज्ञानी कहकर छोटा बना देना ठीक नहीं]।

द्वैतविवेचनका उपसंहार

जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात् ।
लभ्यतेऽसावतोऽत्रेदमीशद्वैताद्विवेचितम् ॥६९॥

(जीवन्मुक्तेः या पराकाष्ठा असौ जीवद्वैतविवर्जनात् लभ्यते) उक्त प्रकारकी जीवन्मुक्तिकी जो पराकाष्ठा या अन्तिम अवस्था है वह किसीको तब ही मिल सकती है जब वह जीवके द्वैत [मनोमय प्रपंच] का परित्याग करचुका हो। (अतः अत्र इदं [जीवद्वैतम्] ईशद्वैतात् विवेचितम्) इसी कारणसे हमने ईश्वरके बनाये हुए द्वैतसे जीवके रचे हुए द्वैतको पृथक् करके मुमुक्षु लोगोंको दिखा दिया।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितं द्वैतविवेकप्रकरणम् समाप्तम्

महावाक्यविवेकप्रकरणम् ५

'प्रज्ञानं ब्रह्म' [ऐत० ५-१] 'अहं ब्रह्मास्मि' [बृ० १-४-१०] 'तत्त्वमसि' [छा० ६-८-७] 'अयमात्मा ब्रह्म' [बृ० २-५-१९] ये चार महावाक्य हैं। मुमुक्षुको इनसे ही मोक्षके साधन ब्रह्मात्मैकताका ज्ञान होता है। इस प्रकरणमें इन्हीं चारों वाक्योंके अर्थोंका निरूपण किया है।

प्रज्ञानं ब्रह्म

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च ।
स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥१॥

(पुरुषः येन इदम्) पुरुष जिससे इस दृश्य संसारको (ईक्षते शृणोति जिघ्रति व्याकरोति स्वाद्वस्वादु विजानाति) देखता, श्राव्य शब्दों को सुनता, गन्धोंको सूंघता, शब्दोंको बोलता तथा स्वादु अस्वादु रसों को जानता है, (तत् प्रज्ञानं उदीरितम्) वह चैतन्य 'प्रज्ञान' कहाता है।

सबसे प्रथम ऋक्शाखाके ऐतरेयारण्यकके 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इस महावाक्यका अर्थ करते हुए प्रज्ञान शब्दका अर्थ बताया जारहा है कि यह संसार चक्षु और श्रोत्रके द्वारा बाहर निकली हुई अन्तःकरणकी वृत्ति से उपहित जिस चैतन्यसे रूपादि पथार्थोंको देखता और शब्दोंको सुनता है, नासिकाके द्वारा बाहर निकली हुई अन्तःकरणवृत्तिको उपाधि बनाये हुए जिस चैतन्यसे भले बुरे गन्ध सूंघे जाते हैं, वागिन्द्रियसे ढके हुए जिस चैतन्यसे शब्द बोले जाते हैं, रसनासे निकले हुए अन्तःकरणकी वृत्तिको अपनी उपाधि बनाये हुए जिस चैतन्यसे स्वादु और अस्वादु रस पहचाने जाते हैं, एवं अन्य इन्द्रियों तथा अन्तःकरणकी भिन्न भिन्न वृत्तियोंसे जिस चैतन्यकी सूचना तत्वदर्शीको जब तब मिला करती है, उसी चैतन्यको इस महावाक्यमें 'प्रज्ञान' कहागया है।

चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु ।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि ॥२॥

अब ब्रह्म शब्दका अर्थ बतायाजाता है [उत्तम कहानेवाले] (चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु) चतुर्मुख इन्द्र तथा देवोंमें [मध्यम कहानेवाले] (मनुष्याश्वगवादिषु देहधारिषु आकाशादिभूतेषु च यत् एकं चैतन्यम् अस्ति तत् ब्रह्म) मनुष्योंमें तथा [अधम कहानेवाले] घोड़े गाय आदिमें [एवं आकाशादि भूतोंमें] जगत्के जन्मादिका कारण जो एक चैतन्य व्याप्त है [जिससे इस जगत्के जन्म स्थिति और प्रलय हो रहे हैं और प्रतीत भी हो रहे हैं] वही ब्रह्मतत्व है । (यतः सर्वत्र अवस्थितं प्रज्ञानं ब्रह्म अतः मयि अपि स्थितं प्रज्ञानं ब्रह्म एव) क्योंकि सर्वत्र रहनेवाला 'प्रज्ञान' ही 'ब्रह्म' है इसीसे कहता हूं कि मुझमें भी जो प्रज्ञान' है वह भी 'ब्रह्म' ही है [क्योंकि मेरे और उनके 'प्रज्ञान' की प्रज्ञानतामें कोई भेद नहीं है] ।

अहं ब्रह्मास्मि

परिपूर्णः परात्मास्मिन् देहे विद्याधिकारिणि ।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ॥३॥

[अब यजुः शाखा की बृहदारण्यक उपनिषद्के 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यके अर्थको प्रकट करनेके लिये इस श्लोकमें 'अहं' शब्दका अर्थ बतायाजाता है] (परिपूर्णः परात्मा अस्मिन् विद्याधिकारिणि देहे) स्वभावसे देशकाल वस्तु परिच्छेद रहित परमात्मा इस मायिक संसारमें ब्रह्मविद्याको पाने योग्य देहमें, (बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन् अहम् इति ईर्यते) बुद्धि अर्थात् सूक्ष्मशरीरके साक्षी अर्थात् अवभासक रूपमें रहकर प्रकाशित होता हुआ लक्षणासे अहंपदसे कहाजाता है ।

यद्यपि परात्मतत्व समस्त देशों, सम्पूर्ण कालों, तथा सकल वस्तुओं से अपरिच्छन्न ही है, परन्तु वह इस मायाकल्पित जगत्में मायाकी ओढ़नी ओढ़कर छिपकर बैठ गया है । जब वही परमात्मा शमदमादि

साधनोंसे युक्त होनेके कारण, ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके योग्य बने हुए, और श्रवण मननादि किए हुए, मनुष्यादिके अधिकारीशरीरमें, बुद्धि किंवा सूक्ष्मशरीरका भासक होकर प्रकाशित होता रहता है—जब वह अपनी मायाकी ओढ़नीको उतारकर फेंक देता है—तब इस महावाक्यका 'अहं' शब्द उसी परमात्माकी ओर सँकेत करता है।

स्वतः पूर्णः परात्मात्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः ।
अस्मीत्यैक्यपरामर्श स्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ॥४॥

[अब इसी 'अहं ब्रह्मास्मि, महावाक्यके ब्रह्म शब्दका अर्थ बताया जाता है] (स्वतः पूर्णः परात्मा अत्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः) इस महावाक्यमें स्वभाव से [देशकालादिके परिच्छेदमें न आनेवाले] परिपूर्ण परात्माको 'ब्रह्म' इस पदसे लक्षणादिसे कहागया है। (अस्मि इति ऐक्यपरामर्शः) इसी महावाक्यमें जोकि 'अस्मि' [हूं] पद है, उससे [दोनों पदोंके सामानाधिकरण्यसे] जीव और ब्रह्मकी एकताका परामर्श किया है। (तेन अहं ब्रह्म भवामि) जिसका यही सारांश है कि मैं ब्रह्म ही हूं। [मैं मनुष्यादि देहोंकी दुर्बलताओंसे दबकर मरनेवाला—मनुष्यादि देहोंके परिच्छेदमें आकर बन्दी बना हुआ—इन देहेन्द्रियादिरूपी उपनेत्रकी क्षुद्र और संकीर्ण दृष्टिसे विचार करनेवाला—क्षुद्र प्राणी नहीं हूं]।

तत्त्वमसि

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम् ।
सृष्टेः पुराधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥५॥

[अब सामवेद शाखाके छान्दोग्य उपनिषत्के 'तत्वमसि' इस महावाक्यका अर्थ बतानेके लिये पहले 'तत्' पदका लक्ष्य अर्थ बताया जाता है] (सृष्टेः पुरा नामरूपविवर्जितम् एकम् एव अद्वितीयम् सत् वस्तु प्रतिपादितम् अस्ति) सृष्टिसे पहले जो सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदसे शून्य नामरूपसे रहित सद्वस्तु ['सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-

द्वितीयम्' इस श्रुतिमें] बतायी गई है, (अस्य सद्वस्तुनः अधुना अपि यत् तादृक्त्वं वर्तते तत् 'तत्' इति पदेन ईर्यते) सृष्टि बनजानेके पश्चात् अब भी वह सद्वस्तु वैसीकी वैसी ही है [यह बात विचारदृष्टिसे देखनेकी है । उस सद्वस्तुमें अब भी कोई विकार नहीं आया है] 'तत्वमसि' इस महावाक्यका 'तत्' शब्द उसी अविकृत सद्वस्तुकी ओर संकेत कररहा है [तत् शब्दके उस लक्ष्यार्थ तक केवल अधिकारीकी उदार दृष्टि पहुँचसकती है । जिसका यह देह अन्तिम देह हो, जिसको इस देहके पश्चात् दूसरा देह न मिलना हो, उसको अधिकारीदेह कहते हैं । सबसे पिछले देहको विद्याधिकारी देह कहा जाता है ।]

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम् ।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥६॥

(श्रोतुः देहेन्द्रियातीतं सद्वस्तु अत्र त्वंपदेरितम्) [अब 'तत्वमसि' के 'त्वं' पदका लक्ष्यार्थ बताया जाता है] जिस श्रोताने श्रवणादिका अनुष्ठान करके इस महावाक्यको समझना है, उसके देहेन्द्रियों किंवा तीनों देहोंसे अलग रहनेवाले उसके तीनों देहोंके साक्षी पदार्थको इस महावाक्यका 'त्वं' पद लक्षणासे कह रहा है । (असि इति पदेन एकता ग्राह्यते) इसी वाक्यके 'असि' पदसे अधिकारीको 'तत्' और 'त्वं' दोनों पदोंमें रहनेवाली एकताका ग्रहण कराया जाता है । (मुमुक्षुभिः तदैक्यम् अनुभूयताम्) मुमुक्षु लोगोंको चाहिये कि वे उन 'तत्' और 'त्वं' पदार्थोंकी प्रमाणपुष्ट एकताका दिव्यानुभव लें ।

अयमात्मा ब्रह्म

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम् ।
अहंकारादिदेहान्तात् प्रत्यगात्मेति गीयते ॥७॥

[अब क्रमानुगत अथर्ववेदके 'अयमात्मा ब्रह्म' इस वाक्यके अर्थका व्याख्यान करते हुए 'अयम्' और 'आत्मा' इन दोनोंका अभिप्राय क्रमसे दिखाया जाता है] (अयम् इति उक्तितः स्वप्रकाशापरोक्षत्वं मतम्)

अयमात्मा ब्रह्म इस महावाक्यके अयम् शब्दसे आत्माकी जो स्वयंप्रकाश होनेसे सदातन अपरोक्षता है वह कही गयी है। [क्योंकि यह तत्व धर्माधर्मादिके समान सदा परोक्ष रहनेवाला भी नहीं है तथा घटादिके समान दृश्य पदार्थ भी नहीं है] (यः अहंकारादिदेहान्तात् प्रत्यक् सः आत्मा इति गीयते) जो तत्व अहंकारसे लेकर देहपर्यन्त [अहंकार प्राण मन इन्द्रिय तथा देहके संघातका अधिष्ठान तथा सबका साक्षी होनेके कारण] सबसे प्रत्यक् किंवा सबसे आन्तर है, उसको इस महावाक्यमें 'आत्मा' कहागया है।

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्वमीर्यते ।
ब्रह्मशब्देन, तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ॥८॥

[अब 'अयमात्मा ब्रह्म' इस महावाक्यके ब्रह्म शब्दका जो अर्थ विवक्षित है उसका वर्णन किया जाता है] (दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतः यत् तत्वं तत् ब्रह्मशब्देन ईर्यते) इस दृश्यमान मिथ्या क्षणभंगुर जगत्का जो गुप्त सच्चिदानन्द रूप है, उसे 'ब्रह्म' शब्द कह रहा है। (ब्रह्म तत् यत् स्वप्रकाशात्मरूपकम्) ब्रह्मतत्व वह है जोकि मनुष्यका स्वयंप्रकाश आत्मा या आपा है यह इस महावाक्यका सारांश है। सबको सदा स्वभावसे प्रत्यक्ष रहनेवाले इस आत्मासे भिन्न ब्रह्म नामका कोई तत्व संसारमें नहीं है।

जो दृश्य होनेके कारण मिथ्या आकाश आदि जगतका अधिष्ठान है, जो पारमार्थिक तत्व इस जगत्की बाधा होजाने पर भी शेष रहजाता है, जिसको सच्चिदानन्दस्वरूप भी कहाजाता है, वही इस वाक्यके 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ है। इस महावाक्यका संपिण्डित अर्थ यह हुआ कि वह जो मनुष्यका स्वयंप्रकाश आत्मा है वह ही ब्रह्म है। तथा वह जो ब्रह्म है वह यह मनुष्यका स्वयंप्रकाश आत्मा ही है। इस आत्मासे भिन्न किसीको ब्रह्म समझना मनुष्यकी भूल है।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितं महावाक्यविवेकप्रकरणं समाप्तम् ।

चित्रदीपप्रकरणम् ६

इस प्रकरणमें मनुष्यके आत्मचैतन्यरूपी पटके ऊपर मायासे खिंचे हुए जगत्‌रूपी चित्रकी उपेक्षा करके चैतन्यमात्र शेष रखनेकी विधि बतायी जारही है।

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपञ्च्यते' क्योंकि आत्मतत्व निष्प्रपंच है, इस प्रकरण उसका सीधा निरूपण नहीं हो सकता, परन्तु अध्यात्मशास्त्रने अध्यारोप तथा अपवाद नामके दो ऐसे सहारे ढूंढ निकाले हैं जिनसे उसका वर्णन शक्य होगया है। इस न्यायके अनुसार इस प्रकरणमें जो जगत् परमात्मामें आरोपित होरहा है, उसकी स्थिति कैसी है, इसका स्पष्टीकरण किया गया है। इस निरूपणसे यह होगा कि इस आरोपित जगत्‌का निषेध करनेमें सुकरता होजायगी।

यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम्।
परमात्मनि विज्ञेयं तथावस्थाचतुष्टयम् ॥१॥

(यथा चित्रपटे [वक्ष्यमाणानाम्] अवस्थानां चतुष्टयं दृष्टं, जैसे चित्रयुक्त पटमें [आगे कही हुई] चार अवस्थायें देखी जाती हैं, (तथा एव परमात्मनि अपि [वक्ष्यमाणम्] अवस्थाचतुष्टयं विज्ञेयम्) इसी प्रकार परमात्मामें भी [आगे कही] चार अवस्थायें जाननी चाहियें।

चित्रपट तथा परमात्माकी चार अवस्थायें

यथा धौतो घट्टितश्च लाञ्छितो रञ्जितः पटः।
चिदन्तर्यामी सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते ॥२॥

जैसे छींटके वस्त्रकी (१) धुला हुआ, (२) मांडी दिया हुआ, (३) चित्रोंकी रेखावाला, तथा (४) रङ्ग भरा हुआ—ये चार अवस्थायें होती हैं, इसी प्रकार परमात्मामें भी (१) चित्, (२) अन्तर्यामी, (३) सूत्रात्मा, (४) विराट् ये चार अवस्थायें होती हैं।

पटकी चार अवस्था—धौत, घट्टित, लाञ्छित, रञ्जित	
आत्माकी चार अवस्था—चित्, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा, विराट्	

स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्याद् घट्टितोऽन्नविलेपनात् ।
मष्याकारैर्लाञ्छितः स्याद् रञ्जितो वर्णपूरणात् ॥३॥

(अत्र दृष्टान्ते स्वतः शुभ्रः धौतः स्यात्) यहां दृष्टान्तमें जो वस्त्र स्वतः [दूसरे द्रव्यसे सम्बन्ध हुए बिना] ही शुभ्र है उसको 'धौत' कहा जाता है। अन्नविलेपनात् घट्टितः) अन्न [मांडी] से पुतने पर उसको 'घट्टित' कहते हैं। (मष्याकारैः लाञ्छितः) जिसपर स्याहीसे रेखामय आकार बना दिये गये हों वह 'लाञ्छित' कहाता है। (यथायोग्यं वर्णपूर्णात् रञ्जितः) [यथायोग्य] रङ्ग भर देनेपर वही 'रञ्जित' कहाने लगता है।

स्वतश्चिदन्तर्यामी तु मायावी, सूक्ष्मसृष्टितः ।
सूत्रात्मा, स्थूलसृष्ट्यैव विराडित्युच्यते परः ॥४॥

(परः स्वतः चित्) वह परमात्मा जब स्वतः हो [जबतक उसमें माया और मायाके कार्योंका मिश्रण न हुआ हो] तब तक 'चित्' कहाता है। (मायावी तु अन्तर्यामी) मायाका योग होजानेपर वही परमात्मा 'अन्तर्यामी' होजाता है। (सूक्ष्मसृष्टितः सूत्रात्मा) जब उसका सूक्ष्म सृष्टिसे योग हो [जब उसे अपंचीकृत भूतोंसे बना हुआ समष्टि सूक्ष्मशरीर मिल] जाता है तब वह 'सूत्रात्मा' कहा जाता है। (स्थूलसृष्ट्या एव विराट् इति उच्यते) स्थूल सृष्टि [किंवा पंचीकृत भूतोंके बने हुए समष्टि स्थूलशरीर] के कारण वही परमात्मा अन्तमें 'विराट्' कहानेलगता है।

परमात्माश्रित चित्र

ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ताः प्राणिनोऽत्र जडा अपि ।
उत्तमाधमभावेन वर्तन्ते पटचित्रवत् ॥५॥

(अत्र परमात्मनि ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ताः प्राणिनः जडा अपि चित्रपटवत् उत्तमाधमभावेन वर्तन्ते) इस परमात्मामें ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त चेतन प्राणी तथा गिरि नदी आदि समस्त जड जगत्, ठीक इस प्रकार रह रहा है, जैसे कपड़ेके चित्र हों और वे परस्पर एक दूसरेसे उत्तम वा अधम हों । [जैसे कपड़ेके चित्रोंका उच्चनीचभाव परिणाममें कोई महत्व नहीं रखता इसी प्रकार प्राणियोंका उच्च नीचभाव भी व्यर्थ है । उच्चनीच कोई नहीं है, सबके सब जीव अनन्तकी साधनामें लगे हुए हैं, जिसने उसे जितना पा लिया है वह उतना उच्चहै । न पानेवाला नीच है । उच्च नीच उसको पाने या न पानेकी ही अवस्थायें हैं । जैसे विद्यालय और महाविद्यालयमें पढ़नेवाले छोटे बड़े छात्रोंमें उच्चनीचभाव नहीं गिना जाता, यही अवस्था इस संसाररूपी महाविद्यालयके विद्यार्थी सब प्राणियोंकी है ।]

चित्रार्पितमनुष्याणां वस्त्राभासाः पृथक् पृथक् ।
चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः ॥६॥

पृथक् पृथक् चिदाभासाश्चैतन्याध्यस्तदेहिनाम् ।
कल्प्यन्ते जीवनामानो बहुधा संसरन्त्यमी ॥७॥

(यथा चित्रार्पितमनुष्याणाम् एव पृथक् पृथक् वस्त्राभासाः चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशाः इव कल्पिताः) [यों तो चित्रमें पर्वत, वृक्ष, मनुष्य आदि सब कुछ होते हैं परन्तु] जैसे चित्रमें केवल मनुष्यशरीरोंके ही पृथक् पृथक् रङ्ग विरंगे वस्त्राभास उस चित्रके आधारवस्त्रके समान दीखनेवाले कल्पित किये जाते हैं [उस चित्रमें पर्वतादिके वस्त्र नहीं बनाये जाते । चित्रके वे वस्त्र भी वस्त्र नहीं होते । वे बनावटी वस्त्र होते हैं । उन वस्त्रोंसे किसीके शीत आदिका निवारण नहीं होता] । (तथा एव चैतन्ये परमात्मनि अध्यस्तानां देहिनाम् एवं पृथक् पृथक् जीवनामानः चिदाभासाः कल्प्यन्ते) ठीक इसी प्रकार [परमात्मामें यद्यपि देव पर्वतादि

सब आरोपित हैं, परन्तु पर्वतादिका चिदाभास नहीं होता किन्तु] जो देवादि देहधारी चैतन्यमें अध्यस्त हैं, उन्हींके पृथक्-पृथक् जीवनामक चिदाभास कल्पित कर लिये जाते हैं। [उनके चिदाभासकी कल्पनाका कारण यह है कि देव, तिर्यङ्, मनुष्यादिके शरीरको पाकर] (अमी जीवाः एव शरीरप्राप्त्या बहुधा संसरन्ति न तु परमात्मा) ये जीव ही संसारमें अनेक प्रकारसे चक्कर लगाते हैं [निर्विकार रहनेके कारण वह परमात्मा संसारमें नहीं फंसता]।

वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् यद्वदाधारवस्त्रगान् ।
वदन्त्यज्ञास्तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः ॥८॥

(यद्वत् अज्ञाः वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् आधारवस्त्रगान् वदन्ति) जैसे अज्ञलोग उन बनावटी कपड़ोंमें भरे हुए रंगोंको आधारवस्त्रके रंग कहने लगते हैं, (तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः) ठीक इसी प्रकार सम्पूर्ण वादी तथा सब लौकिकलोग मिलकर, अपने अज्ञानसे वृथा ही कहने लगे हैं कि चेतन आत्मा संसारमें संसरण कररहा है [विचार कर देखनेसे यह संसार जीवका है। आत्मा नामका असंग तत्व कभी संसार में नहीं फंसता।]

चित्रस्थपर्वतादीनां वस्त्राभासो न लिख्यते ।
सृष्टिस्थमृत्तिकादीनां चिदाभासस्तथा न हि ॥९॥

(यथा चित्रस्थपर्वतादीनां वस्त्राभासः न लिख्यते) जैसे चित्रोंमें चित्रस्थ पर्वतादिका वस्त्राभास नहीं बनाया जाता, (तथा सृष्टिस्थमृत्तिकादीनां चिदाभासः न मन्यते) इसी प्रकार [निष्प्रयोजन होनेसे] सृष्टिमें मिट्टी आदिमें चिदाभास नहीं मानाजाता।

संसारमूल अविद्याका लक्षण

संसारः परमार्थोऽयं संलग्नः स्वात्मवस्तुनि ।
इति भ्रान्तिरविद्या स्याद् विद्ययैषा निवर्तते ॥१०॥

[देहादिको ही आत्मा मानने वाले कहते हैं कि] (अयं संसार: परमार्थ: अयं स्वात्मवस्तुनि संलग्न:) और यह संसार अपने आत्मामें [आत्माराधनमें] लगा हुआ है। (इति भ्रान्ति: अविद्या स्यात्) यह भ्रान्ति ही [इस संसारका मूलकारण] अविद्या कहाती है। [इस भ्रान्ति ने ही इस संसारव्यापारको चला रक्खा है] (एषा अविद्या विद्यया निवर्तते) यह अविद्या विद्यासे निवृत्त होती है।

विद्याका स्वरूप तथा उसकी प्राप्तिका उपाय

आत्माभासस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनः ।
इति बोधो भवेद् विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात् ॥११॥

(अयं संसार: आत्माभासस्य जीवस्य अस्ति आत्मवस्तुन: संसार: न अस्ति) 'यह संसार आत्माभास [चिदाभास] जीवका है। आत्म-वस्तुका संसार नहीं है' (इति बोध: विद्या भवेत्) ऐसा ज्ञान 'विद्या' कहाती है। (असौ विद्या विचारणात् लभ्यते) यह विद्या अध्यात्म-विचार करतेरहनेसे [कालान्तरमें] हाथ आती है। [सूखे अध्ययनसे इसकी प्राप्ति नहीं होती।]

विचारकी महिमासे परमात्मावशेष

सदा विचारयेत् तस्माज्जगज्जीवपरात्मनः ।
जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मैव शिष्यते ॥१२॥

(तस्मात् जगज्जीवपरात्मन: सदा विचारयेत्) क्योंकि विचारसे विद्या मिलती है, इसलिये सदा ही जगत्, जीव और परात्मा तीनोंका विचार करता रहे [कि इनका कैसा कैसा स्वरूप है इत्यादि। यहांपर प्रश्न होता है कि मोक्षावस्था मिल जानेपर फलरूपमें हाथ आने वाले परात्माका विचार तो ठीक है, परन्तु जगत् और जीवका विचार करके हम क्या करें ? उसका उत्तर यह है कि—] (जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मा एव शिष्यते) जब जीवभाव और जगद्भावकी बाधा होजाती है,

किंवा जब जीवभाव और जगद्भावका अपवाद करदिया जाता है उस समय केवल अपना आत्मा जिसे परमात्मा भी कहाजाता है शेष रह जाता है [इसीसे कहते हैं कि परमात्माके विचारके साथ जीव और जगत् दोनोंका विचार भी करना चाहिये]।

बाधशब्दार्थ

नाप्रतीति स्तयोर्बाधः किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः ।
नो चेत् सुषुप्तिमूर्छादौ मुच्येतायत्नतो जनः ॥१३॥

(तयोः जीवजगतोः बाधः अप्रतीतिः न किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः तयोः बाधः) हम जीव और जगत्की प्रतीतिके बन्द होजानेको उनका 'बाध' नहीं कहते । किन्तु उन दोनोंके मिथ्याभावका निश्चय होजाना ही हमारे मतमें उनका 'बाध' है । (नो चेत् , जनः सुषुप्तिमूर्छादौ अयत्नतः मुच्येत) यदि प्रतीति न होनेको बाध कहते हों तब तो सुषुप्ति या मूर्छा आदिके समय [जबकि स्वतः ही द्वैतकी प्रतीति रुकी होती है] तब बिना ही यत्न किये [तत्त्वज्ञानका सम्पादन बिना किये ही] मनुष्य मुक्त हो जाया करें ।

परमात्मावशेषका अर्थ

परमात्मावशेषोऽपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः ।
न जगद्विस्मृतिर्नो चेज्जीवन्मुक्तिर्न संभवेत् ॥१४॥

(परमात्मावशेषः अपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः) पिछले १२वें श्लोक में जो कि 'स्वात्मैव शिष्यते' कहा है उस स्वात्ममात्र शेष रहजानेका अर्थ भी केवल उसीको सत्य समझ लेनेसे है । (जगद्विस्मृतिः न) परमात्मासे भिन्न सब जगत्को भूलजाना उस परमात्मावशेषका अर्थ कदापि नहीं है । (नो चेत् जीवन्मुक्तिः न संभवेत्) यदि स्वात्ममात्र शेष रहजानेका अभिप्राय जगद्विस्मरणसे हो तब तो जीवन्मुक्ति कोई वस्तु ही न रहे । [जीवन्मुक्तिका अर्थ यही है कि—मनुष्य संसारकी

खटपटमें भी स्थिरबुद्धि रह सके। मनुष्य गम्भीरसे गम्भीर और उत्तेजक से उत्तेजक अवस्थामें भी परमात्मतत्वको स्मरण रखता हुआ उसपर दृढ दृष्टि जमाये हुए संसारकी यात्रा करे।]

विचारकी अवधि

परोक्षा चापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा ।
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते ॥१५॥

[जीव जगत् तथा परमात्माका विचार कब तक करते रहें? उसकी अवधि इस श्लोकमें बतायी गयी है] (विचारजा विद्या परोक्षा अपरोक्षा च इति द्वेधा) विचारसे उत्पन्न होनेवाली विद्या 'परोक्ष' और 'अपरोक्ष' दो प्रकारकी है। (तत्र अयं विचार: अपरोक्षविद्याप्तौ समाप्यते) जगत् जीव तथा परात्माका यह विचार अपरोक्षज्ञान होनेपर स्वत: समाप्त होजाता है।

परोक्षज्ञान तथा अपरोक्षज्ञानका स्वरूप

अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद परोक्षज्ञानमेव तत् ।
अहं ब्रह्मेति चेद् वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥१६॥

(कश्चित् अस्ति ब्रह्म इति चेत् वेद तत् परोक्षज्ञानम् एव) यदि कोई [किसीके समझानेसे] यह समझ जाय कि 'ब्रह्मतत्व है' तो यह 'परोक्षज्ञान' कहाता है। (यदि कश्चित् अहं ब्रह्म इति वेद स: साक्षात्कार: उच्यते) परन्तु जब किसीको यह विश्वास होजाय कि 'मैं ही ब्रह्म हूं' तब इसको 'साक्षात्कार' कहते हैं।

आत्मतत्वविवेककी प्रतिज्ञा

तत्साक्षात्कारसिद्ध्यर्थ मात्मतत्वं विविच्यते ।
येनायं सर्वसंसारात् सद्य एव विमुच्यते ॥१७॥

(येन साक्षात्कारेण अयं सर्वसंसारात् सद्य: एव विमुच्यते तत्साक्षात्कारसिद्ध्यर्थम् आत्मतत्वं विविच्यते) यह मनुष्य जिस

साक्षात्कार से सब संसारसे तुरन्त [साक्षात्कार होते ही] मुक्त होजाता है, अब हम उस साक्षात्कारको सिद्ध करनेके लिये आत्मतत्वका विवेचन करते हैं ।

चैतन्यके चार भेद

कूटस्थो, ब्रह्म, जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा ।
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा॥ ।१८॥

(यथा घटाकाशमहाकाशौ यथा च जलाकाशभ्रखे एवं चित् ,कूटस्थः ब्रह्म जीवेशौ इति चतुर्विधा अस्ति) जैसे एक ही आकाश (१) घटाकाश, (२) महाकाश, (३) जलाकाश, तथा (४) मेघाकाश भेदसे चार प्रकारका होताहै, इसी प्रकार एक ही चेतन (१) कूटस्थ, (२) ब्रह्म, (३) जीव तथा ईश भेदसे चार प्रकारका है ।

जलाकाशका रूप

घटावच्छिन्नखे नीरं यत्तत्र प्रतिबिम्बितः ।
साभ्रनक्षत्र आकाशो जलाकाश उदीर्यते ॥१९॥

[प्रसिद्ध होनेके कारण इस श्लोक में 'घटाकाश' तथा 'महाकाश' का निरूपण करना छोड़कर जलाकाशका निरूपण किया जाता है] (घटावच्छिन्नखे यत् नीरम् अस्ति तत्र प्रतिबिम्बितः यः साभ्रनक्षत्रः आकाशः सः जलाकाशः उदीर्यत) घटके भीतरके आकाशमें जो जल भरा है, उस जल में जो मेघ और नक्षत्रसहित आकाश प्रतिबिम्बित होरहा है, उसको यहां 'जलाकाश' कहाजाता है ।

मेघाकाशका स्वरूप

महाकाशस्य मध्ये यन्मेघमण्डलमीक्ष्यते ।
प्रतिबिम्बतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः ॥२०॥

(महाकाशस्य मध्ये यत् मेघमण्डलम् ईक्ष्यते तत्र मेघमण्डले यत् जलं तस्मिन् जले प्रतिबिम्बतया स्थितः आकाशः मेघाकाशः) इस महाकाश

में जो मेघमण्डल दीखता है [उस मेघमण्डलमें जो जल रहता है] उस जलमें प्रतिबिम्बित जो आकाश है वह 'मेघाकाश' कहाता है।

मेघांशरूपमुदकं तुषाराकारसंस्थितम्।
तत्र खप्रतिबिम्बोऽयं नीरत्वादनुमीयते ॥२१॥

(मेघांशरूपम् उदकं तुषाराकारसंस्थितं भवति) मेघका अंशरूपी जो जल होता है वह तुषारके [बहुत छोटेसे] आकारमें रहता है। (तत्र नीरत्वात् अयं खप्रतिबिम्बः अनुमीयते) तुषारके जल होनेसे यह अनुमान किया जाता है कि उसमें भी आकाशका प्रतिबिम्ब है।

कूटस्थकी व्याख्या

अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते ॥२२॥

(अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः कूटवत् निर्विकारभावेन स्थितः कूटस्थः उच्यते) [स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकारके देह अविद्याकल्पित हैं] जो चेतन दोनों देहोंका अधिष्ठान होनेसे दोनों देहोंसे अवच्छिन्न (घिरा) हुआ रहता है, उस चेतनको 'कूटस्थ' कहते हैं। क्योंकि वह लुहार के कूट [ऐरन=जिस लोहेपर रखकर दूसरे लोहे ठोकेपीटे जाते हैं, परन्तु जो स्वयं सदा एकसा बना रहता है] के समान निर्विकार रहता है इससे उसे 'कूटस्थ' कहा जाता है।

जीवका लक्षण

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥२३॥

(कूटस्थे बुद्धिः कल्पिता तत्र बुद्धौ यः चित्प्रतिबिम्बकः) बुद्धि उस कूटस्थमें कल्पित है। उस बुद्धिमें चेतनका जो प्रतिबिम्ब है (सः प्राणानां धारणात् जीवः) वह जब प्राणोंको धारण कर लेता है तब उस को 'जीव' कहने लगते हैं। (सः जीवः एव संसारेण युज्यते न कूटस्थः)

यह जीव ही संसारमें फंसा करता है। [कूटस्थ आत्मा संसारसे युक्त कभी नहीं होता]

जीवसे तिरोहित होनेसे कूटस्थ प्रतीत नहीं होता

जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः ।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योऽन्याध्यास उच्यते ॥२४॥

(यथा जलव्योम्ना सर्वः घटाकाशः तिरोहितः) जैसे जलाकाशसे सम्पूर्ण घटाकाश ढक जाता है [जैसे वह उसे दीखने नहीं देता] (तथा जीवेन सर्वः कूटस्थः तिरोहितः) इसी प्रकार इस जीवने समस्त कूटस्थ आत्माको तिरोहित करडाला है [उसे कहीं भी प्रकट नहीं रहनेदिया है] (सः कूटस्थतिरोधानव्यापारः अन्योन्याध्यासः उच्यते) इसी तिरोधानको [भाष्यादिमें] 'अन्योन्याध्यास' कहा है।

मूलाविद्याका लक्षण

अयं जीवो न कूटस्थं विविनक्ति कदाचन ।
अनादिरविवेकोऽयं मूलाविद्येति गम्यताम् ॥२५॥

(अयं जीवः कदाचन कूटस्थं न विविनक्ति अस्य जीवस्य यः अयम् अनादिः अविवेकः सा मूला अविद्या इति गम्यताम्) यह जीव कभी भी उस कूटस्थ तत्वको पृथक् नहीं पहचानता। अनादि कालसे चली आने वाली उसकी यह जीव और कूटस्थके भेदकी अप्रतीति 'मूलाविद्या' माननी चाहिये [उसकी इस अविद्यासे ही अन्योन्याध्यासकी उत्पत्ति हुई है]

जीवकल्पक अविद्याके दो रूप–विक्षेप और आवरण

विक्षेपावृतिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता ।
न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यापादनमावृतिः ॥२६॥

(सा अविद्या विक्षेपावृतिरूपाभ्यां द्विधा व्यवस्थिता) वह अविद्या 'विक्षेप' और 'आवृति' इन दो भेदों वाली है। (न भाति न अस्ति

कूटस्थः इति आपादनम् आवृतिः) 'कूटस्थ नामकी वस्तु न तो प्रतीत होती है और न वह है ही' ऐसा मिथ्या व्यवहार करानेका कारण 'आवरण' है।

अविद्या और आवरणके विषयमें लोकानुभव प्रमाण

अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रबुध्यते ।
न भाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्ध्वा वदत्यपि ॥२७॥

(कूटस्थं जानासि किम् इति विदुषा पृष्टः अज्ञानी कूटस्थं न प्रबुध्यते । स्वस्य अज्ञानम् अनुभूय न जानामि इति उत्तरति) अज्ञानीसे जब विद्वान् पूछता है तब वह एक ओर तो अपने अज्ञानका अनुभव करके कहता है कि मैं कूटस्थको नहीं जानता [यहीतो उसका अविद्याका अनुभव हुआ] (कूटस्थः न भाति न अस्ति इति बुद्ध्वा वदति अपि) दूसरी ओर वह कूटस्थके अभाव और अप्रतीतिका अनुभव करके यह उत्तर भी दे रहा है कि कूटस्थ न तो मुझे प्रतीत होता है और न वह है ही, यह उसका आवरणानुभव हुआ ।

अविद्या तथा उसके आवरणको जानने में लोकानुभवको प्रमाण मानना चाहिये । यही बात इस श्लोकमें कही है—जब कोई विद्वान् किसी अज्ञानीसे यह पूछता है कि 'क्या तू कूटस्थको जानता है ?' तब वह अज्ञानी कहता है कि मैं कूटस्थको नहीं जानता—अर्थात् उसे कूटस्थ का अज्ञान रहता है । वह इस अज्ञान किंवा अविद्याको अनुभव करके ही चुप नहीं हो जाता । वह यह भी कहता है कि तुम्हारा पृष्ट वह कूटस्थ न तो मुझे प्रतीत होता है और न वह है ही । यों इस रूपमें उसे अविद्याकृत आवरणका भी अनुभव होता है । यों अविद्या और आवरण दोनोंमें अनुभवको ही प्रमाण मानना चाहिये ।

अनुभवसे आत्मविषयक शंकाओंकी बाधा

स्वप्रकाशे कुतोऽविद्या तां विना कथमावृतिः ।
इत्यादितर्कजालानि स्वानुभूतिर्ग्रसत्यसौ ॥२८॥

(स्वप्रकाशे अविद्या कुतः) स्वप्रकाश पदार्थमें अविद्या कहांसे आयी ? (ताम् अविद्यां विना तत्कृता आवृतिः कुतः) तथा अविद्याके विना आवरण कैसे हुआ ? (इत्यादितर्कजालानि असौ पूर्वश्लोकदर्शिता स्वानुभूतिः ग्रसति) इत्यादि तर्कोंको पहले श्लोकमें प्रदर्शित स्वानुभव ग्रसलेता है ।

आप आत्माको स्वयंप्रकाश मानते हो । इसीसे उसमें अविद्याका होना ठीक नहीं है । प्रकाश और अन्धकारके समान विरुद्ध स्वभाववाले होनेसे इन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध नहीं बनता । जब उस आत्मामें अविद्या नहीं रह सकती तब अविद्याका किया हुआ आवरण भी कैसा ? जब आवरण ही न रहा तो विक्षेप भी कहां ठहरेगा ? जब विक्षेप न रहे तब ज्ञानसे नष्ट करनेयोग्य अनर्थ भी न रहेंगे । यों ज्ञान भी व्यर्थ होजायगा तथा ज्ञानको बतानेवाले शास्त्र भी प्रमाण नहीं रहेंगे । इन सब शंकाओंका एकमात्र समाधान स्वानुभव है । जब यह सब अनुभवमें आ ही रहा है तो इसे अनुपपन्न कैसे कह बैठें ? अनुभवसे बड़ा कोई प्रमाण नहीं है । अनुभव ही अन्तिम निर्णय करता है ।

अनुभवपर अविश्वास करनेके दोष

स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः ।
कथं वा तार्किकंमन्य स्तत्वनिश्चयमाप्नुयात् ॥२९॥

(स्वानुभूतौ अविश्वासे तर्कस्य अपि अनवस्थितेः तार्किकम्मन्यः कथं वा तत्वनिश्चयम् आप्नुयात्) यदि [तर्क के अनुभवके विरोधी पड़ जानेकी अवस्थामें] अपने अनुभव पर विश्वास नहीं किया जायगा तो तर्क अनवस्थित होनेसे तार्किकम्मन्यको तत्वका निश्चय कैसे हुआ करेगा ?

जो जितना बड़ा तार्किक होता है उसका तर्क उतना ही प्रबल होता है । ऐसी अवस्थामें केवल अपना अनुभव ही एक ऐसी वस्तु है जिससे किसी बातका निर्णय किया जा सकता है । परन्तु जब तार्किक उस अनुभवपर भी विश्वास न करेगा तो उसे तत्वका निश्चय कैसे होगा ?

तर्कका अनुभवानुसारी होना आवश्यक

बुद्ध्यारोहाय तर्कश्चेदपेक्षेत तथा सति ।
स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम् ॥३०॥

(बुद्ध्यारोहाय तर्कः अपेक्षेत चेत्) यदि बुद्धिमें आनेकेलिये तर्ककी अपेक्षा होती हो तो (तथा सति स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्) अपने अनुभवके अनुसार ही तर्क करना चाहिये । कुतर्क नहीं करना चाहिये ।

यद्यपि अनुभवसे ही तत्वका निश्चय होता है । परन्तु जब "अनुभव किया हुआ पदार्थ हो भी सकता है या नहीं" यह संभावना करनी हो उस समय तर्कको भी मानना पड़ता है ऐसा यदि कहाजाय तो हम कहेंगे कि तब अनुभवके अनुसार ही तर्कका वर्णन करना चाहिये । अनुभवविरोधी तर्क करना ठीक नहीं ।

स्वानुभूति रविद्याया मावृतौ च प्रदर्शिता ।
अतः कूटस्थचैतन्य मविरोधीति तर्क्यताम् ॥३१॥

(अविद्यायाम् आवृतौ च स्वानुभूतिः प्रदर्शिता) हम अविद्या तथा आवृति [आवरण] के विषयके अनुभवका प्रदर्शन [इसी प्रकरण के 'अज्ञानी विदुषा पृष्टः' इस २७वें श्लोकमें] करचुके हैं । (अतः कूटस्थचैतन्यम् अविरोधि इति तर्क्यताम्) इससे ऐसी तर्कणा करनी चाहिये कि वह कूटस्थ चैतन्य आवृति [आवरण] का विरोधी नहीं है । [जैसे सूरज अपना आवरण करनेवाले मेघमण्डलका विरोधी नहीं है, इसी प्रकार कूटस्थतत्व अपने ऊपर आनेवाले आवरणका विरोधी नहीं है किन्तु वह उस आवरणको भी जतलाता रहता है ।]

तच्चेद्विरोधि, केनेयमावृतिर्ह्यनुभूयताम् ।

उपनिषद्विचारजन्य ज्ञान अविद्याका विरोधी

विवेकस्तु विरोध्यस्यास्तत्वज्ञानिनि दृश्यताम् ॥३२॥

[वह तर्क ऐसा होना चाहिये] (तत् कूटस्थचैतन्यम् आवृतेः विरोधि चेत्) यदि वह कूटस्थ चैतन्य इस अविद्या नाम के आवरणका विरोधी हो तो (इयम् आवृतिः केन अनुभूयताम्) इस आवरणको कौन अनुभव करता है उसे बताओ ? [इस अविद्याका विरोधी कूटस्थ चैतन्य नहीं है] (अस्याः विरोधी तु विवेकः इति तत्वज्ञानिनि दृश्यताम्) इस अविद्याका विरोधी तो विवेक है यह बात तत्वज्ञानी पुरुषमें स्पष्ट ही देखलो [कि उसके विवेक अर्थात् औपनिषत तत्वज्ञानने अविद्याको मारडाला है । जो चैतन्य अविद्याके आवरणको सिद्ध किया करता है, वही यदि उसका विरोधी भी हो, तब तो अविद्याकी प्रतीति ही न होनी चाहिये ।]

विक्षेपाध्यासका लक्षण

अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुता चितिः ।
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्ता विक्षेपाध्यास एव हि ॥३३॥

(देहद्वययुता चितिः चिदाभासः शुक्तौ रूप्यवत् अविद्यावृतकूटस्थे अध्यस्ता विक्षेपाध्यासः एव) [अब विक्षेपाध्यासको कहते हैं]—दोनों देहोंसे युक्त चिदाभास शुक्तिमें रूप्यके समान अविद्यासे आवृत कूटस्थमें अध्यस्त होजाता है, बस उसीको 'विक्षेपाध्यास' कहते हैं ।

विक्षेपाध्यासमें शुक्तिरजताध्यासकी समानता

इदमंशश्च सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्ष्यते ।
स्वयन्त्वं वस्तुता चैवं विक्षेपे वीक्ष्यतेऽन्यगम् ॥३४॥

(यथा रूप्ये इदमंशः सत्यत्वं च शुक्तिगम् ईक्ष्यते) जैसे भ्रमस्थल में रजतमें इदं भाग तथा सत्यता [अबाधितता] दोनों धर्म सीपके प्रतीत होते हैं, (एवं विक्षेपे स्वयन्त्वं वस्तुता च अन्यगम् वीक्ष्यते) इसी प्रकार विक्षेप [चिदाभास] में भी स्वयन्ता तथा वस्तुता दूसरे [कूटस्थ] की दीख पड़ती हैं ।

जैसे आरोपित रजतमें शुक्ति की इदन्ता [पुरोदेशादिसे सम्बन्धित्व] तथा सत्यता [अबाधितत्व] भासा करती है इसी प्रकार आरोपित चिदाभासमें स्वयन्ता तथा वस्तुता कूटस्थकी भासने लगी हैं ।

शुक्तिरजताध्यास तथा विक्षेपाध्यासकी विशेषांशकी अप्रतीति

नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं यथा शुक्तौ तिरोहितम् ।
असङ्गानन्दताद्येवं कूटस्थेऽपि तिरोहितम् ॥३५॥

(यथा शुक्तौ नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं तिरोहितम्) जैसे शुक्ति की नीली पीठ और त्रिकोणपना ढक गया है, (एवं कूटस्थे अपि असङ्गानन्दतादि तिरोहितम्) इसी प्रकार कूटस्थमें से भी असङ्गता तथा आनन्दता आदि तिरोहित होगये हैं । [यों दोनों ही अध्यासों में विशेष अंशों की अप्रतीति होरही है ।]

इन दोनोंकी एक अन्य समानता

आरोपितस्य दृष्टान्ते रूप्यं नाम यथा तथा ।
कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामाहमिति निश्चयः ॥३६॥

(यथा दृष्टान्ते आरोपितस्य पदार्थस्य रूप्यम् इति नाम) जैसे शुक्तिरजतके दृष्टान्तमें आरोपित पदार्थका नाम 'रूप्य' होता है (तथा कूटस्थे अध्यस्तस्य चिदाभासरूपविक्षेपस्य अहम् इति नाम इति निश्चयः) इसीप्रकार कूटस्थमें कल्पित विक्षेप [चिदाभास] का ही नाम 'अहम्' है यह निश्चय है ।

दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकमें विषमताका अभाव

इदमशं स्वतः पश्यन् रूप्यमित्यभिमन्यते ।
तथा स्वं च स्वतः पश्यन्नहमित्यभिमन्यते ॥३७॥

(यथा इदमंशं स्वतः पश्यन् रूप्यम् इति अभिमन्यते) जैसे 'इदं' भागको स्वतः [आंखोंसे] देखता हुआ भी झूठ मूठ यह अभिमान कर

लेता है कि यह 'रूप्य' है, (तथा स्वं स्वतः पश्यन् अहम् इति अभिमन्यते) इसी प्रकार अपने आपको स्वतः देखकर [वृथा ही] 'मैं' ऐसा अभिमान करबैठता है। [मनुष्यका चिदात्मा उसे स्वयंप्रकाशरूपमें भासा करता है। उस समय अविवेकसे उसे चिदात्मासे भिन्न अहंपनेका अभिमान होजाता है। जब हम अपने आपको देखते हों तब यद्यपि हमको 'अहं' आदि कोई भी शब्द बोलनेकी आवश्यकता नहीं होती तो भी यह जीव उस समय अज्ञानवश 'मैं' कह बैठता है जो अयथार्थ है।]

इदन्त्वरूप्यते भिन्ने स्वत्वाहन्ते तथेष्यताम् ।
सामान्यं च विशेषश्च ह्युभयत्रापि गम्यते ॥३८॥

(यथा इदन्त्वरूप्यते भिन्ने तथा स्वत्वाहन्ते अपि भिन्ने इष्यताम्) जैसे इदन्ता तथा रूप्यता भिन्न भिन्न हैं, इसी प्रकार स्वत्व और अहन्ता को भी भिन्न भिन्न मानना चाहिये। ये एकार्थक नहीं हैं। (उभयत्र अपि सामान्यं च विशेषश्च गम्यते हि) क्योंकि इन दोनों [दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक] में सामान्यविशेषभाव समान पाया जाता है।

शङ्का यह है कि स्वयं और अहं शब्दके एकार्थक होनेपर दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें समता कैसे होगी? इसका उत्तर यह दिया गया कि— इदं और रूप्य शब्दार्थोंमें तथा स्वयं और अहं शब्दार्थोंमें एकार्थकता नहीं है किन्तु सामान्यविशेषभाव है और वह दोनोंमें समान है। यह दृष्टान्त उसी समताको लेकर दिया गया है।

स्वयंशब्दार्थकी सामान्यरूपता

देवदत्तः स्वयं गच्छेत् त्वं वीक्षस्व स्वयं तथा ।
अहं स्वयं न शक्नोमीत्येवं लोके प्रयुज्यते ॥३९॥

(देवदत्तः स्वयं गच्छेत्) देवदत्त स्वयं [जाता है तो] जाय, (त्वं स्वयं वीक्षस्व) तू स्वयं [देखता है तो] देख (तथा अहं स्वयं न शक्नोमि) पर मैं स्वयं ऐसा नहीं कर सकता हूं, (इति एवं लोके प्रयुज्यते)

ऐसे प्रयोग लोकमें होते हैं [इन प्रयोगोंसे यह प्रकट होता है कि स्वयं शब्दार्थ सामान्यरूप होता है और अहं [मैं] उसका विशेषरूप है ।

इदं रूप्यमिदं वस्त्रमिति यद्वदिदं तथा ।
असौ त्वमहमित्येषु स्वयमित्यभिमन्यते ॥४०॥

(यद्वत् इदं रूप्यम् इदं वस्त्रम् इति प्रयुज्यते) जैसे 'यह रूप्य है' 'यह वस्त्र है' इत्यादि स्थलोंमें इदं शब्दका प्रयोग होता है [और उनमें जैसे इदं शब्दार्थ सामान्य होता है] (तथा असौ त्वम् अहम् इत्येषु सर्वत्र स्वयम् इति अभिमन्यते) इसी प्रकार असौ [यह] त्वम् [तू] अहम् [मैं] इन तीनोंमें [तीनोंके साथ] स्वयं यह शब्द प्रयोगमें आता है । [इससे स्वयंका अर्थ भी सामान्य समझना चाहिये और अहंका अर्थ विशेष लेना चाहिये] ।

अहन्त्वाद् भिद्यतां स्वत्वं कूटस्थे तेन किं तव ।
स्वयंशब्दार्थ एवैष कूटस्थ इति मे भवेत् ॥४१॥

प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि (स्वत्वम् अहन्त्वात् भिद्यतां तेन तव कूटस्थे किम् आयातम् ?) 'स्वपन' 'अहं' से भिन्न है तो हुआ करो, इससे तेरे कूटस्थ आत्माके विषयमें क्या सिद्ध हुआ ? उत्तर यह है कि (सामान्यरूपः स्वयंशब्दार्थ एव एषः कूटस्थः इति मे भवेत्) 'यह सामान्य रूप जो स्वयंशब्दार्थ है वह ही कूटस्थ है' यह मेरी बात सिद्ध हो जाती है ।

अन्यत्ववारकं स्वत्वमिति चेदन्यवारणम् ।
कूटस्थस्यात्मतां वक्तु रिष्टमेव हि तद् भवेत् ॥४२॥

(अन्यत्ववारकं स्वत्वम् इति चेत् तत् अन्यवारणम् कूटस्थस्य आत्मतां वक्तुः इष्टम् एव हि भवेत्) स्वत्व अन्यत्वका निवारक होता है, ऐसा यदि कहाजाय तो वह अन्यत्वका वारण कूटस्थको आत्मा बताने वाले मेरे मतमें इष्ट होगा ।

शंका यह है कि स्वत्वरूपी धर्म, अन्यताका वारण करता है अर्थात् जो 'स्व' है वह अन्य नहीं होसकता, परन्तु वह स्वत्वरूप धर्म कूटस्थताका बोध कैसे करने देगा ? इसका समाधान यह है कि स्वयं शब्दका अर्थ जो कूटस्थ तत्व है वही तो हमारा अभिमत आत्मा है। इस कारण यदि स्वत्वसे अन्यका वारण होता है तो यह इष्ट है। [जो अनात्मा है उसका वारण करदेनेसे आत्मा तो स्वयं ही शेष रहजाता है। फिर उसके लिये कुछ भी करना नहीं पड़ता। यों जब यह स्वयं शब्द अन्योंको हटा देता है तब इससे अर्थात् ही कूटस्थका बोध होजाता है।]

स्वयमात्मेति पर्यायौ, तेन लोके तयोः सह ।
प्रयोगो नास्त्यतः स्वत्वमात्मत्वं चान्यवारकम् ॥४३॥

(स्वयम् आत्मा इति पर्यायौ) स्वयम् और आत्मा दोनों शब्द पर्यायवाची हैं (तेन लोके तयोः सह प्रयोगः न अस्ति) इसीसे लोकमें इनका एकसाथ प्रयोग नहीं होता। (अतः स्वत्वं आत्मत्वं च अन्यवारकम्) इसलिये स्वत्व और आत्मत्व दोनों शब्द अन्यत्वके वारक हैं। [यों स्वयं शब्दका अर्थ कूटस्थ आत्मा है।]

घटः स्वयं न जानातीत्येवं स्वत्वं घटादिषु ।
अचेतनेषु दृष्टं चेद् दृश्यतामात्मसत्त्वतः ॥४४॥

(घटः स्वयं न जानाति इति एवं घटादिषु अचेतनेषु अपि स्वत्वं दृष्टं चेत्) यदि कहो कि 'घट स्वयं नहीं जानता' इस वाक्यमें अचेतन घटादि पदार्थोंमें भी स्वत्व देखा जाता है [फिर स्वत्व और आत्मत्व भिन्न भिन्न क्यों नहीं हैं ?] तो इसका समाधान यह है कि—(दृश्यताम तेषु अपि आत्मसत्वतः) घटादि जड पदार्थोंमें भी स्वयंपना दीखता है तो दीखे। क्योंकि उनमें भी स्फुरण रूपसे आत्मचैतन्य रहता है [इस कारण उन जड पदार्थोंको भी 'स्वयं' कह देनेसे कोई विरोध नहीं होता। यों भी स्वयन्ता और आत्मता एक ही बात होजाती है।]

चेतनाचेतनभिदा कूटस्थात्मकृता न हि ।
किन्तु बुद्धिकृताभासकृतैवेत्यवगम्यताम् ॥४५॥

(जबकि घट आदि जड पदार्थोंमें भी आत्मचैतन्य है तो फिर चेतन और अचेतनका भेद कहां रहा ? इसका यह उत्तर है कि (हि चेतनाचेतनभिदा कूटस्थात्मकृता न किन्तु बुद्धिकृताभासकृता इति अवगम्यताम्) चेतन और अचेतनका भेद कूटस्थ आत्माका किया हुआ नहीं है किन्तु बुद्धिकृत आभास [चिदाभास] का किया हुआ है । [जहां चिदाभास होता है उसे चेतन कहाजाता है । जहां चिदाभास नहीं होता उसे अचेतन कहते हैं ।]

यथा चेतन आभासः कूटस्थे भ्रान्तिकल्पितः ।
अचेतनो घटादिश्च तथा तत्रैव कल्पितः ॥४६॥

(यथा कूटस्थे चेतनः आभासः भ्रान्तिकल्पितः) जैसे कूटस्थमें चेतन आभास भ्रान्तिसे कल्पित है, (तथा तत्र एव अचेतनः घटादिश्च कल्पितः) ठीक इसी प्रकार उसी कूटस्थमें अचेतन घटादि भी भ्रान्तिसे कल्पित हैं ।

यह तो ठीक है कि चेतन और अचेतनके विभागका कारण कूटस्थ तत्व नहीं है, परन्तु वह कूटस्थ अचेतन पदार्थोंकी कल्पनाका अधिष्ठान तो ठीक वैसे ही है जैसे कि वह चिदाभासकी कल्पनाका अधिष्ठान है [इस कारण अचेतनोंमें भी आत्माकी सत्ताको मानना निष्प्रयोजन नहीं रहता ।]

तत्तेदन्ते अपि स्वत्वमिव त्वमहमादिषु ।
सर्वत्रानुगते तेन तयोरप्यात्मतेति चेत् ॥४७॥
ते आत्मत्वेऽप्यनुगते तत्तेदन्ते ततस्तयोः ।
आत्मत्वं नैव संभाव्यं सम्यक्त्वादेर्यथा तथा ॥४८॥

(यत: त्वमहमादिषु स्वत्वम् इव तत्तेदन्ते अपि सर्वत्र अनुगते तेन तयो: अपि आत्मता इति चेत्) शंका होती है कि—यदि 'स्वपन' और आत्मा एक ही पदार्थ हैं तो यह बताओ कि—जैसे तुम त्वम् [तू] अहम [मैं] आदि में सर्वत्र रहने वाले स्वपन को आत्मा मानते हो इसी प्रकार तुम्हें सर्वत्र अनुगत तत्ता और इदन्ता [वह और यहपने] को भी आत्मा क्यों न मानना पड़ेगा ? ।।४७।। इसका समाधान (ते तत्तेदन्ते [यद्यपि स्वत्वम् इव त्वमहमादिषु अनुगते तथापि ते तेषु अनुवर्तमाने] आत्मत्वे अपि अनुगते । ततः यथा सम्यक्त्वादेः आत्मत्वं नैव संभाव्यं तथा तयोः आत्मत्वं नैव संभाव्यम्) क्योंकि वे तत्ता और इदन्ता [चाहे स्वत्व की भाँति त्वं अहम् आदि में अनुगत हों तौ भी वे उनमें रहने वाले] आत्मत्व में भी अनुगत हैं । इस लिए इन तत्ता इदन्ता को आत्मा में तथा आत्मा से अन्यत्र अर्थात् अधिक देश में भी रहने के कारण ठीक इसी प्रकार आत्मरूप नहीं माना जा सकता, जैसे कि सम्यक्पन आदि को आत्मा नहीं माना जाता । [जैसे कोई 'आत्मत्व सम्यक् है' 'आत्मत्व असम्यक् है' इस व्यवहार के प्रताप से आत्मत्व में भी अनुवृत्त हुए सम्यक्त्व और असम्यक्त्व को आत्मा नहीं मानता, इसी प्रकार आत्मा में भी रहने वाली इन तत्ता और इदन्ता को भी आत्मा नहीं मान सकता] ।

तत्तेदन्ते स्वतान्यत्वे त्वन्ताहन्ते परस्परम् ।
प्रतिद्वन्द्वितया लोके प्रसिद्धे नास्ति संशयः ।।४६।।

(लोके तत्तेदन्ते स्वतान्यत्वे त्वन्ताहन्ते परस्परं प्रतिद्वन्द्वितया प्रसिद्धे अत्र संशयः न अस्ति) लोक में तत्ता और इदन्ता [वह और यह] स्वत्व तथा अन्यत्व [स्वयम् और दूसरा] त्वन्ता और अहन्ता [तू और मैं] ये परस्पर प्रतिद्वन्द्वी [विरोधी] रूप से प्रसिद्ध हैं । इस में कोई संशय नहीं है ।

अन्यतायाः प्रतिद्वन्द्वी स्वयं कूटस्थ इष्यताम् ।
त्वन्तायाः प्रतियोग्येषोऽहमित्यात्मनि कल्पितः ।।५०।।

(स्वयं कूटस्थः अन्यतायाः प्रतिद्वन्द्वी इष्यताम्)स्वयं कूटस्थ को ही अन्यता [दूसरेपन] का प्रतिद्वन्द्वी [प्रतियोगी] मानना चाहिये। (स्वन्तायाः प्रतियोगो यः एषः अहम् इति सः आत्मनि कल्पितः) स्वन्ता का प्रतियोगी यह जो अहम् शब्दार्थ है [जिसको चिदाभास कहा जाता है] वह कूटस्थ आत्मा में कल्पित किया हुआ है।

अहन्तास्वत्वयोर्भेदे रूप्यतेदन्तयोरिव।
स्पष्टेऽपि मोहमापन्ना एकत्वं प्रतिपेदिरे ॥५१॥

(रूप्यतेदन्तयोः इव अहन्तास्वत्वयोः भेदे स्पष्टे अपि मोहम् आपन्नाः एकत्वं प्रतिपेदिरे) जैसे रूप्यता और इदन्ता में भेद है, उसी प्रकार अहन्ता और स्वत्व में भी भेद स्पष्ट है, तो भी भ्रान्त लोगों ने इन्हें [अहन्त्व और स्वत्व को] एक मान लिया है [तात्पर्य यह है कि जीव और कूटस्थ का भेद होने पर भी, सब किसी को इस बात का ज्ञान न होने का कारण यह है कि बुद्धि के साक्षी कूटस्थ का प्रत्यक्ष बुद्धि से किसी को नहीं हो सकता, इस कारण 'अहं' इस शब्द से प्रतीत होने वाले जीव और कूटस्थ दोनों को भ्रान्ति से एक मान लिया गया है।]

अविद्यानिवर्तक ज्ञानसे जीवकूटस्थ का एकत्वभ्रम [तादात्म्याध्यास] हट जाता है

तादात्म्याध्यास एवात्र पूर्वोक्ताविद्यया कृतः।
अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते ॥५२॥

[जीव और कूटस्थ की एकता के भ्रम का कारण बताया जा रहा है] इसी ग्रन्थ में 'अनादिरविवेकोऽयम्' इस २५वें श्लोक में वर्णित (अत्र-पूर्वोक्ताविद्यया एव तादात्म्याध्यासः कृतः) पूर्वोक्त अविद्या ने ही तादात्म्याध्यास [एकत्वका भ्रम] कर रक्खा है। (अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते) अविद्या के निवृत्त हो जाने पर अविद्या का कार्य [यह एकत्वभ्रम] भी भाग जाता है। क्योंकि वह तादात्म्याध्यास [एकत्व

भ्रम] अविद्या का किया हुआ है इस लिये वह अविद्या को हटाने वाले ज्ञान से ही हट जाता है। इसे हटाने के लिये पृथक् उद्योग नहीं करना पड़ता।

प्रारब्ध कर्मों का अवसान होने पर विक्षेपस्वरूप का नाश

अविद्यावृतितादात्म्ये विद्ययैव विनश्यतः।
विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥५३॥

(अविद्यावृतितादात्म्ये विद्यया एव विनश्यतः)—अविद्या के उत्पन्न किये हुए आवरण और तादात्म्य दोनों तो विद्या [ज्ञान] होते ही नष्ट हो जाते हैं। (विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयम् ईक्षते) परन्तु विक्षेप का स्वरूप तो प्रारब्धक्षय होने की बाट देखा करता है।

शंका यह है कि अध्यास, अविद्याका कार्य होनेसे, अविद्याके हटते ही हट जाता है, यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि ब्रह्मात्मैकत्वविद्या के उत्पन्न हो जाने पर भी अविद्या के कार्य देहादि दीखते रहते हैं। इसका समाधान यह है कि-केवल अविद्या से उत्पन्न होने वाले आवरण और तादात्म्य तो विद्या [ज्ञान] के उत्पन्न होते ही निवृत्त हो जाते हैं। परन्तु जिस विक्षेप के बनने में अकेली अविद्या ही नहीं किन्तु कर्म और अविद्या दोनों मिलकर कारण होते हैं वह 'विक्षेप' तब तक बना रहता है, जब तक कि भोग के द्वारा उस विक्षेप को बनाने वाले प्रारब्ध कर्म पूरे पूरे क्षीण नहीं होजाते। तात्पर्य यह है कि अकेली अविद्या के नष्ट होनेसे ही विक्षेप नष्ट नहीं होगा, किन्तु जब कर्म और अविद्या दोनों नष्ट हो चुकेंगे तब ही इस 'विक्षेप' की निवृत्ति होगी।

उपादाने विनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते।
इत्याहुस्तार्किका स्तद्वदस्माकं किं न संभवेत् ॥५४॥

[प्रश्न यह है कि—प्रारब्ध कर्म तो निमित्त कारण हैं, फिर वे बने भी रहें, परन्तु जब विक्षेप का उपादान [अविद्या] ही नष्ट हो गया

तब विक्षेप रूपी कार्य कैसे बना रह सकता है ? सो बताओ । इसका उत्तर न्यायसिद्धान्तके अनुसार दियाजाता है] (तार्किका: कार्यं उपादने विनष्टे अपि क्षणं प्रतीक्षते इति आहु:) तार्किक कहते हैं कि कार्य उपादानके नष्ट होजानेपर भी क्षणभर ठहरा रहता है । तार्किकोंने अपने कार्यकारणभाव को सिद्ध करनेके लिए यह बात मानी है । (तद्वत् अस्माकं किं न सम्भवेत्) उनके समान हमारे सिद्धान्तमें विक्षेपका बना रहना क्यों नहीं हो सकता ?

तन्तूनां दिनसंख्यानां तैस्तादृक् क्षण ईरितः ।
भ्रमस्यासंख्यकल्पस्य योग्यः क्षण इहेष्यताम् ॥५५॥

(तैः दिनसंख्यानां तन्तूनां क्षणः तादृक् ईरितः) उन्होंने दिनोंमें गिनी जासकनेवाली अवस्थावाले तन्तुओंका क्षण उन जैसा ही छोटासा माना है । (इह तु असंख्यकल्पस्य भ्रमस्य क्षणः योग्यः इष्यताम्) परन्तु इस विषयमें असंख्य कल्पोंकी आयुवाले इस भ्रमका क्षण इसी अनुपात से कुछ लम्बा होना चाहिये ।

ऐसी अवस्थामें यह आक्षेप ठीक नहीं कि तार्किकोंने तो कार्यको क्षणमात्र रहनेवाला माना है । उनके विपरीत तुम विक्षेपरूप कार्यको चिरकाल तक रहनेवाला क्यों मानते हो ? तार्किक देखे कि यह संसार अनादिकाल से चला आ रहा है । जब कुम्हार अपने चक्रको घुमाकर छोड़ देता है, तब वह पीछे भी चिरकाल तक घूमा करता है । इसी प्रकार यह विक्षेप भी अनादिकालके संस्कारोंकी प्रबलतासे कुछ दिनों तो बिना चलाये भी चलता रहता है । वह ज्ञान होते ही तुरन्त नष्ट नहीं हो जाता ।

विना क्षोदक्षमं मानं तैर्वृथा परिकल्प्यते ।
श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किं नु दुःशकम् ॥५६॥

(तैः क्षोदक्षमं मानं विना वृथा परिकल्प्यते) उन तार्किकोंने क्षोद-क्षम अर्थात् विचारको सह लेनेवाले—विचार करनेपर भी अपने निर्णय को उलट-पुलट न होने देनेवाले—प्रमाणोंके बिना ही मिथ्या कल्पनाकर

रक्खी है, (श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः वदतां किं नु दुःशकम्) परन्तु श्रुति [तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये] युक्ति [चक्र भ्रमादिके दृष्टान्त] तथा अनुभूति [विद्वान् लोगोंके अनुभव] रूपी प्रमाणोंके सहारे से ही बोलनेवाले हमको क्या कठिनाई है। [तार्किकोंमें और हममें इतना भेद है कि वे तो विचारसह प्रमाणके बिना ऐसा कहते हैं तथा हम श्रुति, युक्ति और विद्वदनुभवके आधारसे ऐसा बोलते हैं।]

आस्तां दुस्तार्किकैः साकं विवादः प्रकृतं ब्रुवे ।
स्वाहमोः सिद्धमेकत्वं कूटस्थपरिणामिनोः ॥५७॥

(दुस्तार्किकैः साकं विवादः आस्ताम् अधुना प्रकृतं ब्रुवे) अब हम दुस्तार्किकोंके साथ विवादको यहीं छोड़कर प्रकृतपर आते हैं। (कूटस्थ परिणामिनोः स्वाहमोः एकत्वं भ्रान्त्या सिद्धम्) स्व जो कूटस्थ है तथा अहं जो परिणामी है उन दोनोंकी एकता [भ्रान्तिसे]· होजाती है, यह बात यहां तक सिद्ध की जाचुकी।

भ्राम्यन्ते पण्डितम्मन्याः सर्वे लौकिकतैर्थिकाः ।
अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यात् केवलां युक्तिमाश्रिताः ॥५८॥

(पण्डितम्मन्याः सर्वे लौकिकतैर्थिकाः मौर्ख्यात् श्रुतिम् अनादृत्य केवलां युक्तिम् आश्रिताः सन्तः भ्राम्यन्ते) अपने आपको ज्ञानी मान लेने वाले सबके सब लौकिक और तैर्थिक लोग अपनी मूढतासे श्रुतिके तात्पर्य की अवहेलना करके केवल युक्तिपर निर्भर होकर भ्रममें गोते खा रहे हैं। [और कूटस्थ तथा जीवको एक मान बैठे हैं।] यदि वे श्रुतिके तात्पर्य का विचार करते तो इन दोनोंकी इस भ्रान्तिसिद्ध एकता को पहचान जाते।]

पूर्वापरपरामर्शविकलास्तत्र केचन ।
वाक्याभासान् स्वस्वपक्षे योजयन्त्यप्यलज्जया ॥५९॥

(तत्र पूर्वापरपरामर्शविकलाः केचन अलज्जया स्वस्वपक्षे वाक्याभासान् अपि योजयन्ति) उन्हीं लोगोंमेंसे पूर्वापरका विचार करनेमें असमर्थ कुछ लोग निर्लज्ज होकर श्रुतिके वाक्याभासोंको अपने अपने पक्षमें लगाया करते हैं।

प्रत्यक्षवादी पामरोंका पक्ष

कूटस्थादिशरीरान्तसंघातस्यात्मतां जगुः।
लोकायताः पामराश्च प्रत्यक्षाभासमाश्रिताः ॥६०॥

(प्रत्यक्षाभासम् आश्रिताः लोकायताः पामराः च) प्रत्यक्षाभासका आश्रय लिये हुए लोकायत तथा पामर [महामूर्ख] लोग (कूटस्थादिशरीरान्तसंघातस्य आत्मतां जगुः) कूटस्थसे लेकर शरीरपर्यन्त अनेक पदार्थोंके इस संघात [जमघट्ट] को ही आत्मा कह रहे हैं।

श्रौतीकर्तुं स्वपक्षं ते कोशमन्नमयं तथा।
विरोचनस्य सिद्धान्तं प्रमाणं प्रतिजज्ञिरे ॥६१॥

(ते स्वपक्षं श्रौतीकर्तुम् अन्नमयं कोशं तथा विरोचनस्य सिद्धान्तं प्रमाणं प्रतिजज्ञिरे) उन्होंने अपने पक्षको श्रुतिकी मुद्रासे प्रमाणित करनेकेलिये अन्नमयकोशका प्रतिपादन करनेवाले 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इस वाक्यको तथा विरोचनके 'आत्मैव देहमयः' इस सिद्धान्तको प्रमाण माना है [परन्तु प्रकरण-विरोधके कारण उनमें ऐसा उपपादन करनेका सामर्थ्य नहीं है।]

लोकायतसिद्धान्त

जीवात्मनिर्गमे देहमरणस्यात्र दर्शनात्।
देहातिरिक्त एवात्मेत्याहुर्लोकायताः परे ॥६२॥

(परे लोकायताः अत्र जीवात्मनिर्गमे देहमरणस्य दर्शनात् आत्मा देहातिरिक्तः एव इति आहुः) दूसरे लोकायत लोग जीवात्माके निकल जानेपर देहको मरा हुआ देखकर कहते हैं कि आत्मा देहसे भिन्न है।

इन्द्रियात्मवाद

प्रत्यक्षत्वेनाभिमताहंधी देहातिरेकिणम् ।
गमयेदिन्द्रियात्मानं वच्मीत्यादिप्रयोगतः ॥६३॥

(वच्मि इत्यादिप्रयोगतः प्रत्यक्षत्वेन अभिमता अहंधीः देहातिरिक्तम् इन्द्रियात्मानं गमयेत्) अहं वच्मि, अहं पश्यामि=मैं बोलता हूं मैं देखता हूं इत्यादि प्रयोगोंसे प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष मानी हुई यह अहंबुद्धि, देहसे भिन्न इन्द्रियोंको आत्मा बता रही है ।

वागादीनामिन्द्रियाणां कलहः श्रुतिषु श्रुतः ।
तेन चैतन्यमेतेषा मात्मत्वं तत एव हि ॥६४॥

(श्रुतिषु वागादीनाम् इन्द्रियाणां कलहः श्रुतः) श्रुतियोंमें वाणी आदि इन्द्रियोंका कलह सुना गया है । (तेन एतेषां चैतन्यम्) इस कारण ये इन्द्रियां चेतन हैं । (ततः एव हि एतेषाम् आत्मत्वम्) चेतन होनेके कारण ये इन्द्रियां आत्मा भी हैं । [चेतनता ही आत्माका लक्षण है]

हैरण्यगर्भ मत

हैरण्यगर्भाः प्राणात्मवादिनस्त्वेवमूचिरे ।
चक्षुराद्यक्षलोपेऽपि प्राणसत्वे तु जीवति ॥६५॥

(प्राणात्मवादिनः हैरण्यगर्भाः तु एवम् ऊचिरे यत् चक्षुराद्यक्ष लोपे अपि प्राणसत्वे तु जीवति) प्राणात्मवादी हैरण्यगर्भ तो यह कहते हैं कि चक्षु आदि इन्द्रियोंके टूट फूट जाने पर भी प्राणके रहनेसे जीता रहता है, [इस कारण प्राण ही आत्मा है] ।

प्राणात्मवाद

प्राणो जागर्ति सुप्तेऽपि प्राणश्रैष्ठ्यादिकं श्रुतम् ।
कोशः प्राणमयः सम्यग्विस्तरेण प्रपञ्चितः ॥६६॥

(प्राणः सुप्ते अपि जागर्ति) प्राणादय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति [प्रश्न ४-३] इसमें (प्राणश्रैष्ठ्यादिकं श्रुतम) कहा गया है कि सो जानेपर भी प्राण जागता रहता है। तदेतदुक्थम् [छा० १-७-५] इसमें प्राणको श्रेष्ठता आदि गुणोंवाला बताया गया है। (प्राणमयः कोशः विस्तरेण सम्यक् प्रपञ्चितः) अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः [तै० २-२] इसमें प्राणमय कोशका कथन विस्तारसे भली भांति किया है। [यों प्राण को आत्मा सिद्ध करनेवाले अनेक श्रौत लिंग हैं।]

अन्तःकरणात्मवाद

मन आत्मेति मन्यन्त उपासनपरा जनाः ।
प्राणस्याभोक्तृता स्पष्टा भोक्तृत्वं मनस्ततः ॥६७॥

(उपासनपराः जनाः मनः आत्मा इति मन्यन्ते) उपासना करने वाले मनको आत्मा मानते हैं। (अतः प्राणस्य अभोक्तृता स्पष्टा ततः मनसः भोक्तृत्वम् ।) क्योंकि प्राणका अभोक्तापन सबको विदित है इस कारण मन ही भोक्ता है [और वही आत्मा है]।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
श्रुतो मनोमयो कोश स्तेनात्मेतीरितं मनः ॥६८॥

(यतः मनुष्याणां बन्धमोक्षयोः कारणं मनः एव) क्योंकि मनुष्यों के बन्धन और मोक्षका कारण मन ही है। (मनोमयः कोशः च श्रुतः) तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः [तै० २-३] इस श्रुतिमें मनोमय कोशका वर्णन भी आता है, (तेन मनः आत्मा इति ईरितम्) इससे मनको ही आत्मा कहाजाता है।

विज्ञानवादी बौद्धमत

विज्ञान मात्मेति पर आहुः क्षणिकवादिनः ।
यतो विज्ञानमूलत्वं मनसो गम्यते स्फुटम् ॥६९॥

(परे क्षणिकवादिनः विज्ञानम् आत्मा इति आहुः) दूसरे क्षणिकवादी बौद्ध लोग विज्ञानको आत्मा कहते हैं। (यतः मनसः विज्ञानमूलत्वं स्फुटं गम्यते) क्योंकि मनका विज्ञानमूलक होना सबको प्रत्यक्ष है।

अहंवृत्ति रिदंवृत्ति रित्यन्तःकरणं द्विधा।
विज्ञानं स्यादहंवृत्ति रिदंवृत्तिर्मनो भवेत् ॥७०॥

(अन्वय सरल) अन्तःकरण दो प्रकारका होता है—एक 'अहंवृत्ति' दूसरा 'इदंवृत्ति'। विज्ञान अर्थात् बुद्धिको 'अहंवृत्ति' कहते हैं, मनको 'इदंवृत्ति' कहाजाता है। [इस प्रकार अन्तःकरण नामसे एक होनेपर भी वृत्तिभेदके कारण 'मन' और 'विज्ञान' में भेद है।]

[जब बाहरके पदार्थोंका ज्ञान होता है, तब मन उत्पन्न होजाता है। जब बाहरके पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता तब केवल अपने आपेका बोध रहता है उस समय बुद्धिका राज्य रहता है। बुद्धिका काम आपेको जानना है मनका काम बाहरके पदार्थोंकी देखभाल करना है।]

अहंप्रत्ययबीजत्व मिदंवृत्ते रिति स्फुटम्।
अविदित्वा स्वमात्मानं बाह्यं वेत्ति न तु क्वचित् ॥७१॥

[इस श्लोकमें मन और विज्ञानका कार्यकारणभाव बतायागया है] (इदंवृत्तेः अहंप्रत्ययबीजत्वम्) यह 'इदंवृत्ति' [बाहरके पदार्थोंकी प्रतीति] 'अहं प्रत्यय' से [मैं इस ज्ञानके भीतरसे] उत्पन्न हुआ करती है यह बात स्पष्ट है। (स्वम् आत्मानम् अविदित्वा क्वचित् बाह्यं न तु वेत्ति) यही कारण है कि पहले अपने आपेको बिना जाने कहीं भी कोई बाह्य पदार्थको नहीं जानता। [तात्पर्य यह कि पहले अहंवृत्ति [मैं भाव] उदय होलेती है, तब पीछेसे इदंवृत्ति पैदा हुआ करती है। यों इन दोनोंमें कार्यकारण भाव है।]

विज्ञानकी क्षणिकतामें अनुभव प्रमाण

क्षणे क्षणे जन्मनाशावहंवृत्ते र्मितौ यतः।
विज्ञानं क्षणिकं तेन, स्वप्रकाशं स्वतो मितेः ॥७२॥

(यत: अहंवृत्ते: जन्मनाशौ क्षणे क्षणे मितौ तेन विज्ञानं क्षणिकम्) क्योंकि इस अहंवृत्तिके जन्म और नाश क्षण क्षणमें होते जान लिये गये [कि कभी यह पैदा होती है, क्षण भर रहकर फिर मर जाती है] इससे अनुभवसे विज्ञान [अहंवृत्ति] क्षणिक सिद्ध होजाता है। (स्वप्रकाशं स्वतो मिते:) अपनेसे ही प्रमित होनेके कारण यह विज्ञान स्वयंप्रकाश भी है। [क्योंकि यह ज्ञान ही अपने आपको जानता है, इसलिये यह स्वयंप्रकाश है।]

विज्ञानके आत्मा होनेमें आगम प्रमाण

विज्ञानमयकोशोयं जीव इत्यागमा जगुः ।
सर्वसंसार एतस्य जन्मनाशसुखादिकः ॥७३॥

(आगमा: अयं विज्ञानमयकोश: जीव: इति जगु:) 'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तरआत्मा विज्ञानमय:' [तै० २-४] 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' [तै० २-५] इत्यादि आगमोंने विज्ञानमय कोषको 'जीव' कहा है। (जन्मनाशसुखादिक: सर्वसंसार: एतस्य जीवस्य) जन्म, नाश तथा सुखादि नामक यह सम्पूर्ण संसार इस विज्ञानमय कहानेवाले जीवका ही है।

बौद्धोंके अवान्तरभेद माध्यमिक (शून्यवादी) का मत

विज्ञानं क्षणिकं नात्मा विद्युदभ्रनिमेषवत् ।
अन्यस्यानुपलब्धत्वाच्छून्यं माध्यमिका जगुः ॥७४॥

(विद्युदभ्रनिमेषवत् क्षणिकं विज्ञानं न आत्मा) बिजली, बादल तथा आंखोंके निमेषके समान क्षणिक [क्षण भरमें नष्ट होजाने वाले] विज्ञान, आत्मा नहीं है। (माध्यमिका: अन्यस्य अनुपलभ्यत्वात् शून्यम् आत्मानं जगु:) माध्यमिक नामक शून्यवादी बौद्ध इसके अतिरिक्त और कुछ न दीखनेसे 'शून्य' को ही आत्मा कहगये हैं।

शून्यवादमें इस प्रतीयमान जगतकी गति

असदेवेदमित्यादाविदमेव श्रुतं ततः ।
ज्ञानज्ञेयात्मकं सर्वं जगद् भ्रान्तिप्रकल्पितम् ॥७५॥

(यतः असदेवेदमित्यादौ इदम् एव श्रुतं ततः ज्ञानज्ञेयात्मकं सर्वं जगत् भ्रान्तिप्रकल्पितम्) क्योंकि असदेव सोम्येदमग्र आसीत् इत्यादि उपनिषदोंमें इसी शून्यवादका उल्लेख है। इसलिये यह ज्ञानज्ञेयात्मक समस्त जगत् भ्रान्तिकल्पित है।

निरधिष्ठानविभ्रान्ते रभावादात्मनोऽस्तिता ।
शून्यस्यापिससाक्षित्वा दन्यथा नोक्तिरस्य ते ॥७६॥

उन शून्यवादियोंका यह मत ठीक नहीं। (निरधिष्ठानविभ्रान्तेः अभावात् आत्मनः अस्तिता) क्योंकि बिना अधिष्ठान का कोई भ्रम नहीं होता, इस कारण इस भ्रान्त जगत्कल्पनाके अधिष्ठान आत्माको मानना ही पड़ेगा। (शून्यस्य अपि ससाक्षित्वात्) शून्यवादीका यह शून्य भी ससाक्षिक होना चाहिये। [इस शून्यका साक्षी अर्थात् शून्यको जानने वाला भी तो कोई होना चाहिये] (अन्यथा अस्य शून्यस्य उक्तिः ते मते न सिद्ध्येत) यदि उस साक्षीको न मानोगे तो तुम्हारे [बौद्धके] मतमें शून्यका कहना भी सिद्ध नहीं होसकेगा। [यों शून्यको जाननेवाला तत्व तुम्हें मानना ही पड़ेगा।]

वैदिक सिद्धान्त

अन्यो विज्ञानमयत आनन्दमय आन्तरः ।
अस्तीत्येवोपलब्धव्य इति वैदिकदर्शनम् ॥७७॥

(विज्ञानमयतः आन्तरः अन्यः आनन्दमयः) [सबको मना करते जाते हो फिर आत्मा क्या वस्तु है ? इस श्लोकमें इस बातका उत्तर दिया है] तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः (तै० २-५) (अस्तीत्येवोपलब्धव्यः इति वैदिकदर्शनम्) अस्तीत्येवोपलब्धव्य-

स्तत्वभावेन (क० २-६-१३) इन श्रुतियोंके अनुसार विज्ञानमयसे भीतर रहनेवाला विज्ञानमयसे भिन्न आनन्दमय आत्मा मानना चाहिये, ऐसा वैदिक सिद्धान्त है ।

आत्मपरिमाणके विषयमें विभिन्न विचार

अणुर्महान् मध्यमो वेत्येवं तत्रापि वादिनः ।
बहुधा विवदन्ते हि श्रुतियुक्तिसमाश्रयात् ॥७८॥

(वादिनः श्रुतियुक्तिसमाश्रयात् अणुः महान् मध्यमः वा इति एवं बहुधा विवदन्ते) ['आत्मस्वरूपमें ही नहीं उसके परिमाणमें भी लोगों के अनेक मत हैं' यह अब दिखाया जाता है] वादी लोग श्रुति और युक्ति के सहारेसे आत्मा अणु है महान् है या मध्यम हैं इस प्रकार आपसमें एक दूसरेसे अनेक प्रकारके विवाद करते हैं ।

अणुत्ववादी

अणुं वदन्त्यन्तरालाः सूक्ष्मनाडीप्रचारतः ।
रोम्णः सहस्रभागेन तुल्यासु प्रचरत्ययम् ॥७९॥

(अन्तरालाः सूक्ष्मनाडीप्रचारतः आत्मानम् अणुं वदन्ति) अणुत्ववादीलोग सूक्ष्म नाडियोंमें प्रचारके कारण आत्माको अणु कहते हैं। (अयम् आत्मा रोम्णः सहस्रभागेन तुल्यासु नाडीषु प्रचरति) यह आत्मा रोमके सहस्र भागके तुल्य नाडियोंमें भी घूमाकरता है । [ऐसी सूक्ष्म नाडियोंमें अणु होनेके बिना आत्माका प्रचार कैसे हो ?]

अणुवादमें प्रमाण

अणोरणीयानेषोऽणुः सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं त्विति ।
अणुत्वमाहुः श्रुतयः शतशोऽथ सहस्रशः ॥८०॥

(अणोरणीयान् महतो महतो महीयान् [कठ १-२-२०] एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं त्विति [मुण्ड० ३-१-६] इति श्रुतयः शतशः अथ सहस्रशः आत्मनः अणुत्वम् आहुः) इत्यादि

श्रुतियां सैकड़ों सहस्रों स्थानोंपर आत्माको अणुसे भी अणीयान् तथा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर कहती हैं।

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेय इति चाहापरा श्रुतिः ॥८१॥

बालाग्रका सौवां भाग लिया जाय, फिर उसका भी सौवां भाग बनाया जाय तो उतने अत्यन्त छोटे भागको जीव जानना चाहिये। (अपरा श्रुतिः इति च आह) यह भी एक श्रुतिमें कहा है।

मध्यमपरिमाणवादी

दिगम्बरा मध्यमत्व माहुरापादमस्तकम्।
चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टे रानखाग्रश्रुतेरपि ॥८२॥

(दिगम्बराः मध्यमत्वम् आहुः) दिगम्बर [जैन] लोग आत्माको मध्यम परिमाणवाला मानते हैं। (आपादमस्तकं चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टेः) क्योंकि पैरसे लेकर चोटी पर्यन्त चैतन्यकी व्याप्ति देखी जाती है। (आनखाग्रश्रुतेः अपि) 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' इस श्रुतिसेभी वे आत्माको मध्यम परिमाण वाला सिद्ध करते हैं।

सूक्ष्मनाडीप्रचारस्तु सूक्ष्मैरवयवैर्भवेत्।
स्थूलदेहस्य हस्ताभ्यां कञ्चुकप्रतिमोकवत् ॥८३॥

आत्माको मध्यम परिमाणवाला माननेपर भी (आत्मनः सूक्ष्मनाडीप्रचारः तु स्थूलदेहस्य हस्ताभ्यां कञ्चुकप्रतिमोकवत् आत्मनः सूक्ष्मैः अवयवैः भवेत्) उस आत्माका सूक्ष्म नाडियोंमें प्रचार तो सूक्ष्म अवयवों के द्वारा ठीक इसी प्रकार होजायगा जैसे कि देहके हाथ आदि अवयव जब कुर्तेमें घुसते हैं तब वह देहका ही कुर्तेमें घुसना मानाजाता है [जब आत्माके अवयव सूक्ष्मनाडियोंमें प्रचार करेंगे तब उसे आत्माका ही प्रचार मान लियाजायगा।]

न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेशोऽपि गमागमैः ।
आत्मांशानां भवेत्, तेन मध्यमत्वं विनिश्चितम् ॥८४॥

(आत्मनः मध्यमपरिमाणत्वे न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेशः अपि आत्मांशानां गमागमैः भवेत्) जब आत्माका एक नियत मध्यम परिमाण मानेंगे तब जब वह छोटे बड़े शरीरोंमें प्रवेश करेगा, उस समय आत्माके कुछ अवयव घटबढ़ जाया करेंगे । [फिर जैसे देह छोटे बड़े हो जाते हैं इसी प्रकार आत्माके अंश भी घट बढ़ जायगे ।] (तेन मध्यमत्वं विनिश्चितम्) यों आत्मा मध्यम परिमाण है [ऐसा उन्होंने अपने मनको समझा रक्खा है ।]

सांशस्य घटवन्नाशो भवत्येव, तथा सति ।
कृतनाशाकृताभ्यागमयोः को वारको भवेत् ॥८५॥

आत्माको सावयव मानने पर (सांशस्य घटवत् नाशः भवति एव) घटादिकी भांति सावयवका नाश अवश्य होता है । इस सिद्धान्तानुसार (कृतनाशाकृताभ्यागमयोः वारकः कः भवेत्) फिर कृतनाश और अकृताभ्यागम नामके दोषोंको हटानेवाला कौन होगा उसे बताओ ? [किये हुए पुण्य पापोंका बिना भोग दिये नष्ट हो जाना 'कृतनाश' तथा बिना किये ही कुछ भोगना पड़ जाना 'अकृताभ्यागम' कहाता है । आत्माको अनित्य माननेमें ये दोष आते हैं ।]

आत्माकी विभुता और उसमें प्रमाण

तस्मादात्मा महानेव नैवाणुर्नापि मध्यमः ।
आकाशवत् सर्वगतो निरंशः श्रुतिसम्मतः ॥८६॥

(तस्मात्) यों परिशेषसे यही सिद्ध होता है कि यह (आत्मा महान् एव) आत्मा महान् [विभु=व्यापक] ही है । (न एव अणुः न अपि मध्यमः) यह न तो अणु है और न यह मध्यम परिमाणवाला है । (आकाशवत् सर्वगतो निरंशः श्रुतिसम्मतः) आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः

निष्कलं निष्क्रियम् [श्वेता० ६-१६] इत्यादि श्रुतियें आत्माको आकाश की भांति सर्वत्र व्यापक तथा निरवयव मानती हैं।

आत्माको चिद्रूप सिद्ध करनेके लिये विचार

इत्युक्त्वा तद्विशेषे तु बहुधा कलहं ययुः।
अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपश्चिदचिद्रूप इत्यपि ॥८७॥

(इति उक्त्वा) यों आत्माकी विभूता सिद्ध करनेपर वादी लोग (तद्विशेषे तु अचिद्रूपः अथ चिद्रूपःअथ चिदचिद्रूप इत्यपि बहुधा कलहं ययुः) आत्मा 'अचिद्रूप' है 'चिद्रूप' है या चिदचिद्रूप है। इस प्रकार उसके विशेष धर्मोंके विषयमें भी अनेक विवाद करते हैं।

प्राभाकरास्तार्किकाश्च प्राहुरस्याचिदात्मताम्।
आकाशवद् द्रव्यमात्मा शब्दवत् तद्गुणश्चितिः ॥८८॥

(प्राभाकराः तार्किकाः च अस्य अचिदात्मताम् आहुः) प्राभाकर और तार्किक दोनों इसको अचिद्रूप बताते हैं। वे कहते हैं कि (आत्मा द्रव्यम् आकाशवत् चितिः तद्गुणः शब्दवत्) आत्मा भी आकाशकी भांति एक द्रव्य है। जैसे शब्द आकाशका गुण है इसी प्रकार चिति [चैतन्य] उस आत्माका गुण है। [इस चैतन्य गुणने ही इस आत्माको पृथिवी आदि सबसे भिन्न कर दिया है]।

आत्माके विशेष गुण

इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च धर्माधर्मौ सुखासुखे।
तत्संस्काराश्च तस्यैते गुणाश्चितिवदीरिताः ॥८९॥

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म, सुख, दुःख तथा उनके संस्कार (एते चितिवत् तस्य गुणाः ईरिताः) ये सब चेतनाके समान उस आत्मा के गुण हैं।

गुणोंके उत्पत्तिविनाश के कारण

आत्मनो मनसा योगे स्वादृष्टवशतो गुणाः।
जायन्तेऽथ प्रलीयन्ते सुषुप्तेऽदृष्टसंक्षयात् ॥९०॥

(स्वादृष्टवशतः आत्मनः मनसा योगे एते गुणाः जायन्ते) जब अपने अदृष्टके प्रतापसे आत्माका मनसे योग होता है तब ये गुण उत्पन्न होजाते हैं, (अथ सुषुप्ते अदृष्टसंक्षयात् एते गुणाः प्रलीयन्ते) तथा सुषुप्ति के समय जब उसके अदृष्टका क्षय होजाता है तब ये गुण नष्ट होजाते हैं।

चितिमत्त्वाच्चेतनोऽयमिच्छाद्वेषप्रयत्नवान्।
स्याद्धर्माधर्मयोः कर्ता भोक्ता दुःखादिमत्त्वतः ॥६१॥

(अयं चितिमत्त्वात् चेतन इति व्यवह्रियते) चिति नामक गुणवाला होनेसे यह चेतन है [यों स्वयं अचिद्रूप होनेपर भी इसको चेतन कहा जाता है] चेतन होनेका एक और भी प्रमाण है कि (अयम् इच्छाद्वेषप्रयत्नवान्) इसमें इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न नामके गुण विद्यमान हैं। (अयं धर्माधर्मयोः कर्ता स्यात्) यह आत्मा धर्माधर्मका कर्ता है। (दुःखादिमत्त्वतः अयं भोक्ता मन्यते) दुःखादिवाला होनेसे इसे भोक्ता मानाजाता है। [यों यह ईश्वरतत्त्वसे विलक्षण है।]

आत्मामें औपचारिक गमनादि

यथात्र कर्मवशतः कादाचित्कं सुखादिकम्।
तथा लोकान्तरे देहे कर्मणेच्छादि जन्यते ॥६२॥

(यथा अत्र कर्मवशतः कादाचित्कं सुखादिकम्) जैसे आत्माके विभु होते हुए भी कर्मके वश यहां [इस देहमें] कभी कभी होनेवाले सुखादि उत्पन्न होते हैं और इससे आत्माकी स्थितिसे समस्त व्यवहार चलता है। (तथा लोकान्तरे कर्मणा देहः समुत्पद्यते। तत्र च देहे कर्मणा इच्छादि जन्यते) इसी प्रकार लोकान्तरमें [कर्मसे देह मिलता है और उस मिले हुए] दूसरे देहमें भी, कर्मसे ही इच्छादि होजाते हैं।

विभु होनेपर आत्मा लोकान्तरगमन आदि कैसे करेगा ? इसका समाधान यह है कि—जैसे इस देहमें कर्मके वश सुख आदि सब उत्पन्न

होते हैं तो इसे यहां आत्माका रहना मान लियाजाता है, इसी प्रकार जब कर्मके वश लोकान्तरमें देहान्तर मिलता है तब उस देहावच्छिन्न आत्माके प्रदेशमें ही इच्छा आदि गुण उत्पन्न होने लगते हैं और वहां आत्माका गमनादि मान लियाजाता है। वस्तुतः आत्मामें गमनादि कुछ नहीं होता। आत्माका गमनादि औपचारिक है।

आत्माके कर्तृत्व आदि धर्मवाला होनेका प्रमाण

एवं च सर्वगस्यापि संभवेतां गमागमौ ।

कर्मकाण्डः समग्रोऽत्र प्रमाणमिति तेऽवदन् ॥६३॥

(एवं च सर्वगस्य अपि गमागमौ संभवेताम्) इस प्रकार सर्वग [सर्वत्र व्यापक] आत्माका भी आना जाना संभव होजाता है। (अत्र समग्रः कर्मकाण्डः प्रमाणम् इति ते अवदन्) आत्मामें कर्तृत्वादि धर्म रहते हैं इस बातमें सम्पूर्ण कर्मकाण्ड प्रमाण है ऐसा वे कहते हैं। [यदि आत्मा कर्ता नहीं है तो कर्मकाण्डकी रचना क्यों की गई ?]

आनन्दमयकोशो यः सुषुप्तौ परिशिष्यते ।

अस्पष्टचित् स आत्मैषां पूर्वकोशोऽस्य ते गुणाः ॥६४॥

(सुषुप्तौ अस्पष्टचित् यः आनन्दमयकोशः परिशिष्यते) सुषुप्तिके समय अस्पष्टचेतनावाला जो 'आनन्दमय कोश' शेष रहजाता है (सः पूर्वकोशः एषाम् आत्मा) वह कोशोंमें सबसे पहला कोश यह आनन्दमय कोश ही इन प्रभाकर आदियोंका आत्मा है। (ते गुणाः अस्य) वे पूर्वोक्त इच्छा आदि इसीके गुण हैं।

भाट्ट मतमें आत्माकी चिदचिद्रूपता

गूढं चैतन्यमुत्प्रेक्ष्य जडबोधस्वरूपताम् ।

आत्मनो ब्रुवते भाट्टाश्चिदुत्प्रेक्षोत्थितस्मृतेः ॥६५॥

(भाट्टाः आत्मनः गूढं चैतन्यम् उत्प्रेक्ष्य जडबोधस्वरूपतां ब्रुवते) कुमारिल भट्टके अनुयायी इस आत्माके गूढ अर्थात् अस्पष्ट चैतन्यकी

ऊहना करलेते हैं। वे इसको चैतन्य और जड उभयरूप मानते हैं। (उत्थितस्मृतेः चिदुत्प्रेक्षा भवति) वे कहते हैं कि सोकर उठे हुए पुरुषको जो स्मृति होती है उससे चैतन्यकी उत्प्रेक्षा होती है।

चिदुत्प्रेक्षाकी रीति

जडो भूत्वा तदास्वाप्समिति जाड्यस्मृतिस्तदा ।
विना जाड्यानुभूतिं न कथंचिदुपपद्यते ॥९६॥

[चैतन्य की उत्प्रेक्षा करनेकी उनकी परिपाटी यह है कि] (तदा जडः भूत्वा अस्वाप्सम् इति जाड्यस्मृतिः) सुषुप्तिके समय 'मैं जड होकर सोया पड़ा था' ऐसा एक जडताका स्मरण सोकर उठे हुए पुरुषोंको होता है। (जाड्यानुभूतिं विना कथंचित् न उपपद्यते) सो यह स्मरण तबतक किसी भी प्रकार नहीं होसकता जबतक कि उसने सुषुप्ति कालकी जडताको अनुभव न किया हो।

सुषुप्तिमें चैतन्यलोप न होनेका प्रमाण

द्रष्टुर्दृष्टेरलोपश्च श्रुतः सुप्तौ ततस्त्वयम् ।
अप्रकाशप्रकाशाभ्यामात्मा खद्योतवद् युतः ॥९७॥

(सुप्तौ द्रष्टुः दृष्टेः अलोपः च श्रुतः) नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात् [बृ॰ ४-३-२३] इस श्रुतिमें अविनाशी स्वभाव वाले द्रष्टा आत्माकी स्वरूपभूत दृष्टिका लोप कभी नहीं होता ऐसा कहा है। (ततः अयम् आत्मा खद्योतवत् अप्रकाशप्रकाशाभ्यां युतः) इस प्रमाणसे भी यही सिद्ध होता है कि यह आत्मा खद्योतके समान प्रकाश और अप्रकाश [स्फुरण और अस्फुरण] दोनोंसे युक्त है।

आत्मविषयमें सांख्यमत

निरंशस्योभयात्मत्वं न कथंचिद् घटिष्यते ।
तेन चिद्रूप एवात्मेत्याहुः सांख्यविवेकिनः ॥ ९८॥

(निरंशस्य उभयरूपत्वं कथं चित् न घटिष्यते) निरंश [निरवयव] पदार्थ किसी प्रकार भी उभयरूप नहीं हो सकता। (तेन सांख्यविवेकिनः चिद्रूपः एव आत्मा इति आहुः) इस कारण सांख्यविवेकी यह कहते हैं कि आत्मा केवल चिद्रूप है।

जाड्यांशः प्रकृते रूपं विकारि त्रिगुणं च तत्।
चितो भोगापवर्गार्थं प्रकृतिः सा प्रवर्तते ॥९९॥

[जाड्यका जो स्मरण उठे हुए पुरुषोंको होता है उस स्मरणमें] जो (जाड्यांशः प्रकृतेः रूपम्) जाड्य भाग है वह प्रकृतिका रूप है। (तत् विकारि त्रिगुणं च) वह विकारी है। वह सत्व रज तम से त्रिगुणात्मक है। (सा प्रकृतिः चितः भोगापवर्गार्थं प्रवर्तते) वह प्रकृति चेतन पुरुषको भोग और अपवर्ग दिलानेके लिये प्रवृत्त हुआ करती है [जब तक यह पुरुष मूर्ख बना रहता है तब तक यह प्रकृति उसे भोग देती है जब यह पुरुष भोगोंसे उकताजाता है, विवेकी होजाता है, तब यही प्रकृति उसे अपवर्ग अर्थात् मुक्ति दे देती है]।

असङ्गायाश्चितेर्बन्धमोक्षौ भेदाग्रहान्मतौ।
बन्धमुक्तिव्यवस्थार्थं पूर्वेषामिव चिद्भिदा ॥१००॥

(भेदाग्रहात् असंगायाः चितेः बन्धमोक्षौ मतौ) यद्यपि चिति असंग है, परन्तु भेदाग्रहके कारण बद्ध भी मानी जाने लगी है और मुक्त भी कही जाती है। (बन्धमुक्तिव्यवस्थार्थं पूर्वेषाम् इव एषाम् अपि मते चिद्भिदा) ये सांख्य भी बन्ध और मुक्तिकी व्यवस्थाके लिये पहलों [नैयायिकों, प्राभाकारों, भाट्टों] की भांति चेतनोंका भेद मानते हैं।

प्रश्न यह था कि जब चिति असंग है और जबकि प्रकृति तथा पुरुष अत्यन्त विविक्त हैं, फिर बिचारी प्रकृतिकी प्रवृत्तिसे असंग पुरुषको भोग और अपवर्ग कैसे होगये? सांख्य इसका यह उत्तर देते हैं कि

प्रकृति और पुरुषके भेदको ग्रहण न करनेसे भोग और अपवर्ग [बन्ध और मोक्ष] दोनों होगये हैं।

प्रकृतिके अस्तित्व और आत्माकी असंगतामें श्रुतिप्रमाण

महतः परमव्यक्तमिति प्रकृति रुच्यते ।
श्रुतावसङ्गता तद्वदसङ्गो हीत्यतः स्फुटा ॥१०१॥

(महतः परमव्यक्तम् इति श्रुतौ प्रकृतिः उच्यते) महतः परमव्यक्तम् [कठ ३-११] इस श्रुतिमें प्रकृतिका वर्णन है। (तद्वत् असङ्गो हि इत्यतः असङ्गता स्फुटा) इसी प्रकार असङ्गो ह्ययं पुरुषः [बृ० ४-३-१५] इस श्रुतिमें पुरुषकी असंगताका स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन है।

ईश्वररूपकी स्थापना

चित्सन्निधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेर्हि नियामकम् ।
ईश्वरं ब्रुवते योगाः स जीवेभ्यः परः श्रुतः ॥१०२॥

[जीवके विषयमें ही नहीं ईश्वरविषयमें भी वादियोंके बड़े उलटे सीधे विचार हैं। उन्हींको अब दिखाया जाता है] (योगाः चित्सन्निधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेः नियामकम् ईश्वरं ब्रुवते) योगवाले कहते हैं कि चेतन आत्माओंकी सन्निधिमें जो प्रकृति प्रवृत्त होती है उस प्रकृति को नियममें रखनेवाला 'ईश्वर' है। (सः जीवेभ्यः परः श्रुतः) उसीको श्रुतिमें जीवोंसे 'पर' कहा गया है।

ईश्वरसद्भावप्रतिपादक श्रुति

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति हि श्रुतिः ।
आरण्यके संभ्रमेण ह्यन्तर्याम्युपपादितः ॥१०३॥

(प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः [श्वे० ६-१६] इति हि श्रुतिः) इस श्रुतिमें ईश्वरको प्रधानपति, जीवपति और गुणनियामक कहा है। (आरण्यके संभ्रमेण अन्तर्यामी उपपादितः) बृहदारण्यकके अन्तर्यामी ब्राह्मणमें बड़ी तत्परतासे 'अन्तर्यामी'का उपपादन किया है।

अत्रापि कलहायन्ते वादिनः स्वस्वयुक्तिभिः ।
वाक्यान्यपि यथाप्रज्ञं दार्ढ्यायोदाहरन्ति हि ॥१०४॥

(वादिनः अत्र अपि स्वस्वयुक्तिभिः कलहायन्ते) वादी लोग ईश्वरके विषयमें भी अपनी अपनी युक्तियोंसे विवाद करते हैं (स्वमत दार्ढ्याय यथाप्रज्ञं वाक्यानि अपि उदाहरन्ति हि) और अपने मतकी दृढताकेलिये अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार श्रुतिवाक्योंका उद्धरण भी करते हैं ।

पतंजलिकी ईश्वरकल्पना

क्लेशकर्मविपाकै स्तदाशयैरप्यसंयुतः ।
पुंविशेषो भवेदीशो जीववत् सोप्यसंगचित् ॥१०५॥

(क्लेशकर्मविपाकैः तदाशयैः अपि असंयुतः) अविद्या आदि पांच क्लेशों, शुक्ल, कृष्ण, शुक्लकृष्ण तथा अशुक्लकृष्ण चार प्रकारके कर्मों, जाति आयु तथा भोग नामक कर्मविपाकों तथा इनके संस्कारोंसे अस्पृष्ट रहनेवाला, (पुंविशेषः सः ईशः भवेत्) जो कोई पुरुषविशेष है, वह ईश्वर है । (सः अपि जीववत् असङ्गचित्) वह भी जीवके समान असङ्ग और चिद्रूप है ।

असंगचिद्रूप होनेपर भी नियन्तृत्व

तथापि पुंविशेषत्वाद् घटतेऽस्य नियन्तृता ।
अव्यवस्थौ बन्धमोक्षा वापतेतामिहान्यथा ॥१०६॥

(तथापि पुंविशेषत्वात् अस्य नियन्तृता घटते) यद्यपि वह ईश्वर असङ्गचित् है तो भी, पुरुषविशेष होनेके कारण, यह नियामक हो सकता है । (अन्यथा इह बन्धमोक्षौ अव्यवस्थौ आपतेताम्) ईश्वरको यदि नियामक न मानें तो इस लोकमें बन्ध मोक्षकी कोई व्यवस्था न रहे । [फिर इस व्यवस्थाको कौन करे ?]

असंग ईश्वरकी नियामकतामें श्रुतिप्रमाण

भीषास्मादित्येवमादा वसङ्गस्य परात्मनः ।
श्रुतं तद्युक्तमप्यस्य क्लेशकर्माद्यसंगमात् ॥१०७॥

(भीषास्माद्वातः पवते [तै० २-८] इत्येवमादौ असंगस्य परात्मनः नियन्तृत्वं श्रुतम्) इत्यादि श्रुतियोंमें इस असंग परमात्माको नियन्ता सुना गया है। (तत् अस्य क्लेशकर्माद्यसंगमात् युक्तम् अपि) क्योंकि उसमें जीवोंमें पायेजानेवाले क्लेशादिके न होनेसे उसकी नियामकता युक्तिसंगत भी है।

जीवानामप्यसङ्गत्वात् क्लेशादिर्न ह्यथापि च ।
विवेकाग्रहतः क्लेशकर्मादि प्रागुदीरितम् ।१०८॥

(जीवानाम् अपि असंगत्वात् क्लेशादिः न) असङ्ग होनेके कारण यद्यपि जीवोंको भी क्लेशादि नहीं होते हैं (अथापि विवेकाग्रहतः क्लेशकर्मादि प्राक् उदीरितम्) परन्तु विवेकाग्रह [प्रकृति और पुरुषके भेदको न समझने] के कारण इन जीवोंको क्लेशादि होते हैं, यह बात हम पहले कह चुके हैं।

तार्किकोंकी ईश्वरकल्पना

नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छा गुणानीशस्य मन्वते ।
असङ्गस्य नियन्तृत्व मयुक्तमिति तार्किकाः ॥१ ९

(तार्किकाः असंगस्य नियन्तृत्वम् अयुक्तम् इति) क्योंकि असंग आत्माका नियामकपना ठीक नहीं है इससे तार्किक लोग (ईशस्य नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छाः गुणान् मन्वते) [ईश्वरको जीवोंसे विलक्षण रखनेकेलिये] ईश्वरमें नित्यज्ञान, नित्य प्रयत्न तथा नित्य इच्छा नामक गुण मानते हैं।

ईश्वर अपने नित्यगुणोंसे विशेषपुरुष कहाता है

पुंविशेषत्वमप्यस्य गुणैरेव न चान्यथा ।
सत्यकामः सत्यसंकल्प इत्यादि श्रुतिर्जगौ ॥११०॥

(अस्य पुंविशेषत्वम् अपि नित्यैः गुणैः एव) उसको पुरुषविशेष उसके नित्य गुणोंके ही कारण मान लिया है। [जीवोंके इच्छा आदि गुण अनित्य हैं। ईश्वरके इच्छा आदि तीनों गुण नित्य हैं।] (अन्यथा च न) इनके अतिरिक्त जीव और ईश्वरके विलक्षण होनेका और कोई कारण नहीं है। (श्रुतिः सत्यकामः सत्यसंकल्पः इत्यादि जगौ) ईशके गुणों की नित्यताके विषयमें श्रुतिने स्वयं कहा है कि वह सत्यकाम है सत्य संकल्प है।

ईश्वरकी एक अन्य कल्पना

नित्यज्ञानादिमत्त्वेऽस्य सृष्टिरेव सदा भवेत्।
हिरण्यगर्भ ईशोऽतो लिङ्गदेहेन संयुतः ॥१११॥

(अस्य नित्यज्ञानादिमत्वे सदा सृष्टिः एव भवेत्) ईश्वरको यदि नित्यज्ञानादिवाला मानें तो सदा सृष्टि ही बनी रहे। (अतः लिङ्गदेहेन संयुतः हिरण्यगर्भः ईश) इस कारण लिङ्गदेहसे युक्त हिरण्यगर्भ ईश्वर है [समष्टिलिङ्गशरीरके अभिमानी परमात्माको हिरण्यगर्भ कहते हैं। जब उसके लिङ्गदेह [मन] में इच्छा होगी तब ही वह सृष्टि बनायेगा, यों सदा सृष्टि नहीं रहेगी। कभी कभी होगी।]

हिरण्यगर्भकी ईश्वरतामें प्रमाण

उद्गीथब्राह्मणे तस्य माहात्म्यमतिविस्तृतम्।
लिङ्गसत्त्वेऽपि जीवत्वं नास्य कर्माद्यभावतः ॥११२॥

(तस्य माहात्म्यं उद्गीथब्राह्मणे अतिविस्तृतम्) इस हिरण्यगर्भकी महत्ता उद्गीथ ब्राह्मणमें विस्तारपूर्वक वर्णित है। (कर्माद्यभावतः लिङ्ग-सत्वे अपि अस्य जीवत्वं न) लिङ्गशरीर होनेपर इसमें जीवभाव इसलिये नहीं आता कि इसमें अविद्या, काम तथा कर्म नहीं होते।

विराडेश्वरवाद

स्थूलदेहं विना लिङ्गदेहो न क्वापि दृश्यते।
वैराजो देह ईशोऽतः सर्वतो मस्तकादिमान् ॥११३॥

(स्थूलदेहं विना क्वापि लिङ्गदेहः न दृश्यते) स्थूल देहके बिना केवल लिङ्गदेह कहीं नहीं दीखता (अतः सर्वतः मस्तकादिमान् वैराजः देहः ईशः) इस कारण सर्वत्र मस्तकादिवाला अर्थात् स्थूल शरीरोंकी समष्टिका अभिमानी जो 'विराट्' है वह ईश्वर है।

विराडेश्वरमें प्रमाण

सहस्रशीर्षेत्येवं च विश्वतश्चक्षुरित्यपि ।
श्रुतमित्याहुरनिशं विश्वरूपस्य चिन्तकाः ॥११४॥

(विश्वरूपस्य चिन्तकाः) विराट्के उपासक [अपने समर्थनमें] (सहस्रशीर्षा पुरुषः [यजुर्वेद] तथा विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतस्पात् [श्वे० ३-३] इत्यपि वाक्यं श्रुतम् इति आहुः) इत्यादि वाक्य अनेक बार श्रुतियोंमें आये हैं ऐसा कहते हैं। [इन वाक्योंसे विराट्के ईश्वरभावका समर्थन होता है।]

देवतान्तरवाद

सर्वतः पाणिपादत्वे कृम्यादेरपि चेशता ।
ततश्चतुर्मुखो देव एवेशो नेतरः पुमान् ॥११५॥

(सर्वतः पाणिपादत्वे च कृम्यादेः अपि ईशता) उपर्युक्त श्रुतिके अनुसार यदि उस ईश्वरको सब ओर हाथ पैरवाला मानलें तो ऐसी कीडियां भी हैं जिनके चारों ओर हाथ पैर होते हैं वे भी ईश्वर होजायंगी। (ततः चतुर्मुखः देवः एव ईशः इतरः पुमान् न) इस कारण चार मुखवाला देवता ही ईश्वर है दूसरा कोई विराट् पुरुष ईश्वर नहीं है।

पुत्रार्थं तमुपासीना एवमाहुः, प्रजापतिः ।
प्रजा असृजतेत्यादिश्रुतिं चोदाहरन्त्यमी ॥११६॥

(पुत्रार्थम् तम् उपासीनाः एवम् आहुः) यह बात सन्तानके लिये ब्रह्माके उपासकोंने कही है। (अमी प्रजापतिः प्रजाः असृजत इत्यादि

श्रुतिं च उदाहरन्ति) वे लोग अपनी पुष्टिमें 'प्रजापतिः प्रजा असृजत' इत्यादि श्रुतिका प्रमाण भी देते हैं।

भागवतमत

विष्णोर्नाभेः समुद्भूतो वेधाः कमलजस्ततः।
विष्णुरेवेश इत्याहुर्लोके भागवता जनाः ॥११७॥

(भागवताः जनाः कमलजः वेधाः विष्णोः नाभेः समुद्भूतः) भागवतों का कहना है कि कमलयोनि विधाता विष्णुकी नाभिसे उत्पन्न हुआ है। (ततः विष्णुः एव ईशः इति लोके आहुः) इस कारण 'विष्णु' ही ईश्वर है।

शैवमत

शिवस्य पादावन्वेष्टुं शार्ङ्ग्यशक्तस्ततः शिवः।
ईशो न विष्णु रित्याहुः शैवा आगममानिनः ॥११८॥

(आगममानिनः शैवाः शार्ङ्गी शिवस्य पादौ अन्वेष्टुम् अशक्तः) आगममानी शैव कहते हैं कि विष्णु शिवके पैरोंको ढूंढने में अशक्त होगया था। (ततः शिवः ईशः न विष्णुः इति आहुः) इस कारण विष्णु ईश्वर नहीं है किन्तु 'शिव' ईश्वर है।

गाणपत्यमत

पुरत्रयं सादयितुं विघ्नेशं सोऽप्यपूजयत्।
विनायकं प्राहुरीशं गाणपत्यमते रताः ॥११९॥

(गाणपत्यमते रताः सः अपि पुरत्रयं सादयितुं विघ्नेशम् अपूजयत्) गणेशके उपासकोंका कहना है कि त्रिपुरको नष्ट करनेके लिये शिव ने भी विघ्नेश गणेश की पूजा की थी। (ततः विनायकम् ईशं प्राहुः) इस कारण वे 'विनायक' को ईश्वर मानते हैं।

एवमन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेनान्यथाऽन्यथा।
मन्त्रार्थवादकल्पादीनाश्रित्य प्रतिपेदिरे ॥१२०॥

(एवम् अन्ये अपि स्वस्वपक्षाभिमानेन मन्त्रार्थवादकल्पादीन् आश्रित्य अन्यथा अन्यथा प्रतिपेदिरे) इस प्रकार और भी भैरव आदि देवताओंके उपासकोंने अपने अपने पक्षोंके अभिमानमें आ आकर मन्त्रों, अर्थवादों तथा कल्पों का [झूठमूठ] सहारा लेकर, कुछका कुछ प्रतिपादन करडाला है।

ईश्वरसम्बन्धमें असंख्यमत

अन्तर्यामिणमारभ्य स्थावरान्तेशवादिनः ।
सन्त्यश्वत्थार्कवंशादेः कुलदैवतदर्शनात् ॥१२१॥

(अन्तर्यामिणम् आरभ्य स्थावरान्तेशवादिनः सन्ति) संसारमें अन्तर्यामीसे लेकर स्थावर पर्यन्त असंख्य ईश्वर माननेवाले लोग हैं। (अश्वत्थार्कवंशादेः कुलदैवतदर्शनात्) क्योंकि अश्वत्थ, अर्क तथा वंशादि भी कुलदेवता पाये जाते हैं।

विचारशीलोंके निश्चयकी घोषणाकी प्रतिज्ञा

तत्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणाम् ।
एकैव प्रतिपत्तिः स्यात् साप्यत्र स्फुटमुच्यते ॥१२२॥

(तत्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणाम् एका एव प्रतिपत्तिः स्यात्) तत्वका निश्चय करनेकी इच्छाको लेकर जो भी कोई पुरुष न्याय तथा आगमोंका विचार करेंगे, उन सबकी एक ही प्रतिपत्ति [निश्चय] होगी [वे सब इस ही एक निश्चय पर पहुंचेंगे] (सा अपि अत्र स्फुटम् उच्यते) अब यहां उसी निश्चयका स्पष्ट वर्णन किया जाता है।

विचारशीलोंके निश्चयका स्वरूप

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१२३॥

सम्पूर्ण विचारकोंका एकमात्र निश्चय श्रुतिके शब्दोंमें इस प्रकार है कि (मायां प्रकृतिं विद्यात्) मायाको तो प्रकृति [अर्थात् इस जगत

का उपादान कारण] जानलेना चाहिये। (मायिनं तु महेश्वरम्) मायी अर्थात् मायारूपी उपाधि वाले उस अन्तर्यामीको महेश्वर [मायाका अधिष्ठाता अथवा इस जगत्का निमित्तकारण] मानलेना चाहिये। (अस्य अवयवभूतैः तु इदं सर्वं जगत् व्याप्तम्) यह सम्पूर्णजगत् इस मायी महेश्वरके अंशरूप चराचरात्मक पदार्थोंसे व्याप्त होरहा है।

इतिश्रुत्यनुसारेण न्याय्यो निर्णय ईश्वरे ।
तथा सत्यविरोधः स्यात् स्थावरान्तेशवादिनाम् ॥१२४॥

(ईश्वरे इति श्रुत्यनुसारेण निर्णयः न्याय्यः) ईश्वरके विषयमें इस श्रुतिके अनुसार ही निर्णय करना न्याय्य [ठीक] है। (तथा सति स्थावरान्तेशवादिनाम् अविरोधः स्यात्) ऐसी स्थितिमें जो लोग स्थावरों तकको ईश्वर मानते हैं उनका भी कोई विरोध नहीं रहता। [वे ईश्वर माने हुए स्थावर आदि ईश्वरके अवयव होनेसे ईश्वर माने जांय तो कोई विरोध नहीं होता]

मायाका स्वरूप

माया चेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात् ।
अनुभूतिं तत्र मानं प्रतिजज्ञे श्रुतिः स्वयम् ॥१२५॥

(इयं च मया तमोरूपा) यह माया तमोरूपा है। (तापनीये तदीरणात्) तापनीय उपनिषत्में इसका तमोरूप बताया गया है। (श्रुतिः स्वयं तत्र अनुभूतिं मानं प्रतिजज्ञे) श्रुतिने स्वयम् मायाको तमोरूप सिद्ध करनेकेलिये अनुभवको प्रमाण माना है।

मायाके तमोरूप तथा अनन्त होनेमें श्रुतिप्रदर्शित अनुभव

जडं मोहात्मकं तच्चेत्यनुभावयति श्रुतिः ।
आबालगोपं स्पष्टत्वादानन्त्यं तस्य साब्रवीत् ॥१२६॥

(श्रुतिः तत् जडं मोहात्मकं च इति अनुभावयति) श्रुतिने उस अनुभवको यों दिखाया है कि वह [माया] जड है और मोहरूप है।

(अबालगोपं स्पष्टत्वात्) मायाकी जडता और मोहरूपता बच्चे और ग्वालों तक सबको ज्ञात है। (सा तस्य आनन्त्यम् अब्रवीत्) श्रुतिने उस मायाको अनन्त कहा है।

जडमोहशब्दार्थ

अचिदात्मघटादीनां यत् स्वरूपं जडं हि तत् ।
यत्र कुण्ठीभवेद् बुद्धिः स मोह इति लौकिकाः ॥१२७॥

(अचिदात्मघटादीनां यत् स्वरूपं तत् जडं हि) अचित्स्वरूप जो घटादि पदार्थ हैं, उनका जो स्वरूप है, वह 'जड' कहाता है। (यत्र बुद्धिः कुण्ठीभवेत् सः मोहः इति लौकिकाः) जहां जाकर बुद्धि कुण्ठित होजाय वह 'मोह' कहाता है, ऐसा लौकिक लोग कहते हैं।

मायाकी अनिर्वाच्यतामें श्रुति प्रमाण

इत्थं लौकिकदृष्ट्यैतत् सर्वैरप्यनुभूयते ।
युक्तिदृष्ट्या त्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः ॥१२८॥

(इत्थं लौकिकदृष्ट्या एतत् सर्वैः अपि अनुभूयते) इस प्रकार लौकिक दृष्टिसे तो उस मायाको सब तमोरूप अर्थात् जड और मोहरूप अनुभव करते हैं। (युक्ति दृष्ट्या तु अनिर्वाच्यम्) परन्तु वह माया युक्ति की कसौटी पर अनिर्वाच्य सिद्ध होती है। [युक्तिकी दृष्टिमें उसे सत् या असत् कुछ भी नहीं कह सकते] (नासदासीत् इति श्रुतिः) नासदासीत् [ऋग्वेद] इस श्रुतिसे भी मायाकी सदसदनिर्वचनीयता सिद्ध है।

नासदासीत् श्रुतिका अभिप्राय तथा विद्वदनुभवसे मायाकी तुच्छता

नासदासीद् विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात् ।
विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः ॥१२९॥

[ऊपरकी श्रुतिका अभिप्राय यह है] (विभातत्वात् न असत् आसीत्) विभात [सबको प्रतीत] होनेसे वह मायातत्व असत् नहीं था। (बाधनात् सत् च न आसीत्) नेह नानास्ति किंचन [बृ० ४-४-१९]

इस श्रुतिमें आत्मासे भिन्न सब तत्वोंका बाध किया है, इस कारण वह मायातत्व सन् भी नहीं था। [सन् और असत् उभयरूप होना तो किसी की समझमें आनेवाली बात ही नहीं है। यों वह माया नामक तत्व युक्ति की दृष्टिसे अनिर्वचनीय पदार्थ है] (तस्य नित्यनिवृत्तितः विद्यादृष्टया श्रुतं तुच्छम्) ज्ञानदृष्टि आ जानेपर उस मायाकी सदाके लिये निवृत्ति होजाती है इसी कारण श्रुतिमें उस मायातत्वको तुच्छ कहा है। तुच्छमिदं रूपमस्य।

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौत-यौक्तिक-लौकिकैः ॥१३०॥

(असौ माया श्रौत-यौक्तिक-लौकिकैः त्रिभिः बोधैः तुच्छा अनिर्वचनीया वास्तवा च इति त्रिधा ज्ञेया) यह माया श्रौत बोधके अनुसार 'तुच्छ' यौक्तिक बोधके अनुसार 'अनिर्वचनीय' तथा लौकिक बोधके अनुसार 'वास्तविक' यों तीन प्रकारकी माननी चाहिये। [श्रुति मायाको तुच्छ कहती है, युक्ति उसे अनिर्वचनीय बताती है, लौकिक प्राणी उसे सच्चा मानते हैं।

अस्य सत्वमसत्वं च जगतो दर्शयत्यसौ।
प्रसारणाच्च संकोचाद् यथा चित्रपटस्तथा ॥१३१॥

(यथा प्रसारणात् संकोचात् च चित्रपटः तथा असौ अस्य जगतः सत्वम् असत्वं च दर्शयति) कोई चित्रपट लपेटने और फैलानेसे कभी चित्रोंको सत् और कभी उनको असत् दिखाता है इस प्रकार यह माया कभी इस जगत्‌को सत् दिखाती है और कभी इसको असत् प्रकटकरती है।

मायाकी स्वतन्त्रता अस्वतन्त्रताकी युक्ति

अस्वतन्त्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम्।
स्वतन्त्रापि तथैव स्यादसङ्गस्यान्यथाकृतेः ॥१३२॥

(चितिं विना अप्रतीतेः माया अस्वतन्त्रा स्यात्) चिति [अर्थात् अपने प्रकाशक चैतन्य] के विना प्रतीत नहीं होती, इस बातपर दृष्टि डालें

तो कहना पड़ता है कि वह माया अस्वतन्त्र है [स्वाधीन नहीं है] (तथैव असङ्गस्य अन्यथाकृतेः स्वतन्त्रा अपि स्यात्) परन्तु जब यह देखते हैं कि उसने असङ्ग आत्माको ससङ्ग बनाडाला है तब कहना पड़जाता है कि वह स्वतन्त्र भी है।

मायाकृत अन्यथाकरण

कूटस्थासङ्गमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा ।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे ॥१३३॥

(सा कूटस्थासङ्गम् आत्मानं जगत्वेन करोति) उस मायाने, कूटस्थ असङ्ग आत्माको [विगाड़कर, उसका] ही जगत् बना दिया है। (सा चिदाभासस्वरूपेण जीवेशौ अपि निर्ममे) उसीने चिदाभास स्वरूपसे जीव और ईश्वरका निर्माण किया है। [यही असङ्ग आत्माका अन्यथाकरण कहाता है।]

आत्माके अन्यथाकरणमें भी कूटस्थता सुरक्षित

कूटस्थ मनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम् ।
दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः ॥१३४॥

इस मायाकी चतुराई देखो कि (सा कूटस्थम् अनुपद्रुत्य जगदादिकं करोति) यह माया कूटस्थमें किसी प्रकारका उपद्रव भी नहीं करती [उसको जैसेका तैसा भी रहने देती है] और उसीको जगदादि भी बना डालती है। (दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः) एकमात्र दुर्घट कामोंको करनेवाली इस मायाके लिये यह कोई चमत्कारकी बात नहीं है [कि कूटस्थताको भी बना रहने दे और उसको जगदादिस्वरूप भी कर डाले। ऐसा न करे तो उसे माया ही कौन कहे ?]

मायाकी दुर्घटकारिताके दृष्टान्त

द्रवत्वमुदके वन्हावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि ।
मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिद्ध्यति नान्यतः ॥१३५॥

(उदके द्रवत्वम्) पानीमें द्रवत्व, (वन्हौ औष्ण्यम्) वह्निमें उष्णता, (अश्मनि काठिन्यम्) पत्थरमें कठोरता (मायाया: च दुर्घटत्वम्) और मायामें दुर्घटपना (स्वत: सिद्ध्यति) स्वभावसे सिद्ध है । (अन्यत: न) इन पदार्थोंमें ये स्वभाव कहीं अन्यत्रसे नहीं आये ।

मायाकी आश्चर्यकारिताका समाप्तिकाल

न वेत्ति लोको यावत् तां साक्षात् तावच्चमत्कृतिम् ।
धत्ते मनसि, पश्चात्तु मायैषेत्युपशाम्यति ॥१३६॥

(लोक: यावत् तां साक्षात् न वेत्ति तावत् मनसि चमत्कृतिं धत्ते) यह लोक जब तक उस मायाका [मायाके प्रयोक्तृत्वका] साक्षात्कार नहीं करता, तभी तक मनमें आश्चर्य किया करता है । (पश्चात् तु एषा माया इति उपशाम्यति) साक्षात् कर लेनेके पीछे तो 'यह माया है' ऐसा समझकर शान्त होजाता है ।

मायावादी पर आक्षेपोंकी निरर्थकता

प्रसरन्ति हि चोद्यानि जगद्वस्तुत्ववादिषु ।
न चोदनीयं मायायां तस्याश्चोद्यैकरूपतः ॥१३७॥

(एवं विधानि चोद्यानि जगद्वस्तुत्ववादिषु प्रसरन्ति) इस प्रकारके ये समस्त आक्षेप जगत्को सत्य माननेवाले नैयायिक आदियोंपर ही होसकते हैं । (मायायां न चोदनीयम्) माया पर आक्षेप नहीं करने चाहियें । (तस्या: चोद्यैकरूपत:) क्योंकि यह माया स्वयं आक्षेपस्वरूप है [दुर्घटपना ही इस मायाका रूप है । यदि यह किसी प्रकार घटमान होजाय, यदि यह समझमें आजाय तो फिर यह माया ही क्या रही ? जो बात बुद्धिको समझ न पड़े, जिसपर सब आक्षेप संभव हों वही मायाहै ।]

मायावादी पर दूषण लगानेका दोष

चोद्येऽपि यदि चोद्यं स्यात्त्वच्चोद्ये चोद्यते मया ।
परिहार्यं ततश्चोद्यं न पुनः प्रतिचोद्यताम् ॥१३८॥

(यदि चोद्ये अपि चोद्यं स्यात्) यदि आक्षेपयोग्य बात पर भी [जिसका कोई उत्तर कभी दिया ही नहीं जासकता] आक्षेप करते जाओगे (मया त्वच्चोद्ये चोद्यते) तो मुझे फिर विवश होकर तुम्हारे उन सिद्धान्तों पर आक्षेप करना पड़ेगा । [जिनका तुमपर कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं है, जिनको तुम अनादि आदि बताकर अपना पीछा छुड़ाया करते हो । इस प्रकारके आक्षेपप्रत्याक्षेपोंका परिणाम क्या होगा ?] (ततः चोद्यं परिहार्यम्) इस कारण किसी प्रकार इस चोद्यमायाका परिहार करना चाहिये । (न पुनः प्रतिचोद्यताम्) इस मायापर आक्षेप करते जाना ठीक नहीं [भला जब तुम्हारे वस्त्र पर धब्बा पड़ गया हो तब क्या ? क्यों ? कैसे ? और कब ? करना भला या उसे छुड़ानेके उपाय सोचना भला ?

जिस त्रुटिको मैं स्वयं मान रहा हूं, जो त्रुटि मुझ मायावादीका भूषण है, उसापर अड़ कर बैठ जानेसे मुझे तुम्हारे सिद्धान्तके मर्मस्थल दिखाकर अपना पीछा छुड़ाना पड़ेगा । इस कारण कहता हूं कि किसी प्रकार इस मायासे अपना पिण्ड छुड़ालो । इसपर बार बार आक्षेप करतेजाना ठीक नहीं । इसी झगड़े में फंसे रहकर आत्महितमें प्रतिबन्ध डालदेना उचित नहीं है । विचारकर देखलो कि मायाके द्वारा जगद्रचना के जिस प्रश्न पर तुम विचार कर रहे हो वह प्रश्न यदि यों बातचीतमें ही सुलझ जाय तो सब सहसा मुक्त हो जाँय । यह प्रश्न भोग और मोक्ष की मध्यसीमा है । जो इस प्रश्नका उचित उत्तर ढूंढ लेते हैं वे मुक्त होजाते हैं, जिन्हें इसका सदुत्तर नहीं मिल पाता वे यहीं भोगोंमें फसे रहजाते हैं । फिर ऐसे असाधारण विषयको वादविवादसे निर्णय करलेने की दुराकांक्षा क्यों करते हो ? इस प्रश्नको विचारके द्वारा सुलझानेका प्रयत्न करो । ऐसा यत्न करो कि किसी प्रकार इस मायाका परिहार हो जाय । जैसे अपने जागे बिना अपना स्वप्न नहीं टूटता इसीप्रकार आत्म-दर्शन हुए बिना केवल युक्तिवादसे इस महाप्रश्नका सुलझना किंवा इस महास्वप्नका भंग होजाना असम्भव है ।

मायापरिहार ही बुद्धिमानका एकमात्र कर्तव्य

विस्मयैकशरीराया मायायाश्चोद्यरूपतः ।
अन्वेष्यः परिहारोऽस्या बुद्धिमद्भिः प्रयत्नतः ॥१३९॥

(विस्मयैकशरीरायाः मायायाः चोद्यैकरूपतः बुद्धिमद्भिः प्रयत्नतः अस्याः परिहारः अन्वेष्यः) विस्मयैकरूपिणी इस मायाके आक्षेपरूप होने के कारण बुद्धिमानोंको इसके परिहारका कोई उपाय ढूंढ निकालना चाहिये ।

बुद्धिमान् लोग यह अन्वेषण करें कि उनपर किस रीतिसे इस मायाका मोहक प्रभाव पड़ना बन्दहोगा ? जैसे पलाण्डुको छीलनेसे पत्ते ही पत्ते हाथलगते हैं सार कुछ नहीं मिलता इसीप्रकार मायाके स्वरूपका विचार करनेसे इसका कोई निर्णीत रूप हाथ नहीं आयेगा ।

मायात्वमेव निश्चेयमिति चेत्तर्हि निश्चिनु ।
लोकप्रसिद्धमायाया लक्षणं यत्तदीक्ष्यताम् ॥१४०॥

पूर्वपक्षी पूछता है कि (मया मायात्वम् एव निश्चेयम् इति चेत् तर्हि निश्चिनु) तो फिर क्या मैं इसे माया ही मान लूं ? [और इसके परिहारका उपाय सोचना प्रारम्भ कर दूं ?] सिद्धान्ती कहता है कि हां, अवश्य इसको माया मान लो । (लोकप्रसिद्धमायायाः यत् लक्षणं तत् ईक्ष्यताम्) देख लो कि लोकप्रसिद्ध मायाके लक्षण इसमें भी पाये जाते हैं । [इसीसे कहते हैं कि इसको भी माया मान लो]

मायाका लक्षण

न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या ।
सा मायेतीन्द्रजालादौ लोकाः संप्रतिपेदिरे ॥१४१॥

(या निरूपयितुं न शक्या विस्पष्टं भासते च सा माया) जिसका निरूपण न होसकता हो, फिर भी जो स्पष्ट भासती हो, वह 'माया' है,

(इति इन्द्रजालादौ लोकाः सम्प्रतिपेदिरे) ऐसा इन्द्रजालादिमें लोग माया को समझते हैं। [यह लोकमायाका लक्षण है]

जगतमें मायाका लक्षण होनेसे जगत् की मायामयता

स्पष्टं भाति जगच्चेद मशक्यं तन्निरूपणम् ।
मायामयं जगत् तस्मादीक्षस्वापक्षपाततः ॥१४२॥

(इदं च जगत् स्पष्टं भाति) यह जगत् भी स्पष्ट दीखरहा है। (तन्निरूपणम् अशक्यम्) परन्तु इसका निरूपण करसकना अशक्य है। (तस्मात् अपक्षपाततः जगत् मायामयम् ईक्षस्व) इस कारण कहते हैं कि पक्षपातको छोड़कर इस जगत्को मायामय समझलो।

जगन्निरूपणकी अशक्यता

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पण्डितैः ।
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित् ॥१४३॥

(निखिलैः अपि पण्डितैः निरूपयितुम् आरब्धे) संसारके सम्पूर्ण पण्डित, जब इस जगत्का निरूपण प्रारम्भ करते हैं (कासुचित् कक्षासु तेषां पुरतः अज्ञानं भाति) तो कुछ कक्षा चलनेपर, उनके सामने अज्ञान दीखने लगता है। [वादकथाकी दो तीन श्रेणी चलचुकनेपर अन्तमें उन्हें अज्ञानकी शरण लेनी पड़जाती है। उन्हें कहना पड़जाता है 'यह हम नहीं जानते कि ऐसा क्यों होता है' इत्यादि ।]

जगन्निरूपणकी अशक्यताका उदाहरण

देहेन्द्रियादयो भावा वीर्येणोत्पादिताः कथम् ।
कथं वा तत्र चैतन्य मित्युक्ते ते किमुत्तरम् ॥१४४॥

देखो इस संसारका निरूपण यों नहीं होसकता (वीर्येण देहेन्द्रियादयः भावाः कथम् उत्पादिताः) कि वीर्य [जैसी द्रव तथा एक वस्तु] से देहइन्द्रियआदि नाना पदार्थ क्योंकर उत्पन्न होजाते हैं ? (कथं वा तत्र

चैतन्यम्) तथा इन देहइन्द्रिय आदिमें चेतनता, क्योंकर आजाती हैं ? (इत्युक्ते ते किम् उत्तरम्) इन प्रश्नोंका तुम्हारे पास क्या समाधान है ?

वीर्यस्यैष स्वभावश्चेत् कथं तद् विदितं त्वया ।
अन्वयव्यतिरेकौ यौ भग्नौ तौ वन्ध्यवीर्यतः ॥१४५॥

(वीर्यस्य एष स्वभाव: चेत्) यदि वीर्यका यह सब स्वभाव मानो तो (तत् त्वया कथं विदितम्) बताओ कि उसे तुमने कैसे पहचाना ? (अन्वयव्यतिरेकौ यौ तौ वन्ध्यवीर्यत: भग्नौ) यदि कहो कि अन्वय-व्यतिरेकसे यह सब पहचानता हूं तो तुम्हारे वे अन्वयव्यतिरेक तो वन्ध्य-वीर्यसे भग्न होचुके हैं [वन्ध्या स्त्रीमें जो वीर्य पड़ता है या जो वीर्य स्वयं वन्ध्य होता है, वह व्यर्थ होजाता है। जहां जहां वीर्य हो वहां वहां देहादि हों ऐसा नहीं होता ।)

न जानामि किमप्येतदित्यन्ते शरणं तव ।
अत एव महान्तोऽस्य प्रवदन्तीन्द्रजालताम् ॥१४६॥

(अन्ते एतत् किमपि न जानामि इति तव शरणम्) यों बार बार पूछते जानेपर अन्तमें तुम्हें यही कहना पड़ जायगा कि यह मुझे कुछ ज्ञात नहीं। (अत: एव महान्त: अस्य इन्द्रजालतां प्रवदन्ति) यही कारण है कि महापुरुष इसको [पहली ही बार] इन्द्रजाल कहदेते हैं।

जगतकी अनिर्वचनीयतामें वृद्धसंमति

एतस्मात् किमिवेन्द्रजालमपरं यद् गर्भवासस्थितं
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानाङ्कुरम् ।
पर्यायेण शिशुत्व-यौवन-जरावेषैरनेकैर्वृतं
पश्यत्यत्तिशृणोतिजिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति ॥१४७॥

प्राचीन आचार्य कह गये हैं (एतस्मात् अपरम् इन्द्रजालं किम् इव) बताओ इससे बड़ा इन्द्रजाल और क्या होगा ? (यत् गर्भवासस्थितं रेत:

हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानाङ्कुरं चेतति) कि गर्भपात्रमें पड़ाहुआ वीर्य, हाथ, मस्तक, पैर आदि नाना अंकुरों वाला बनकर चेतन होजाता है। (पर्यायेण अनेकैः शिशुत्व-यौवन-जरावेशैः वृतं पश्यति अत्ति शृणोति जिघ्रति गच्छति अथ आगच्छति) वह फिर क्रमसे बालपन, यौवन तथा वार्धक्य नामके अनेक वेषोंको ओढ़लेता और देखता, खाता, सुनता सूंघता तथा आने जाने लगता है।

देहादिके समान वटवृक्षादि की दुर्निरूपता

देहवद् वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम् ।
क्व धाना कुत्र वा वृक्षस्तस्मान्मायेति निश्चिनु ॥१४८॥

(देहवत् वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम्) देहके समान ही बढ़ आदि वृक्षोंके क्षुद्र बीजोंपर भी भलेप्रकार विचारकर देखलो [वे भी देहके समान ही दुर्निरूपणीय हैं] कि (कधानाः कुत्र वा वृक्षः) कहां तो वह बिचारा क्षुद्रसा वटबीज और कहां वह विशाल वृक्ष ? (तस्मात् माया इति निश्चिनु) यह सब देखकर निश्चय करलो कि यह सब माया है।

निरुक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः ।
हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खण्डनादौ सुशिक्षिताः ॥१४९॥

तुम्हें ही नहीं और भी (ये तार्किकादयः निरुक्तौ अभिमानं दधते) जो बड़े बड़े तार्किक इस संसारकी निरुक्तिका अभिमान करते हैं, (ते तु खण्डनादौ हर्षमिश्रादिभिः सुशिक्षिताः) खण्डन आदि ग्रन्थोंमें हर्षमिश्र आदिने उनको भले प्रकार छकाया है [उनके उस अभिमानको प्रबल युक्तियोंसे चूर्ण चूर्ण करदिया है।]

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
अचिन्त्यरचनारूपं मनसापि जगत् खलु ॥१५०॥

आचार्योंने कहा है कि (ये भावाः अचिन्त्याः तान् तर्केण न योजयेत्) अचिन्त्य भावोंको तर्ककी कसौटीपर कभी न कसना चाहिये।

क्योंकि इस जगत्की रचना ही ऐसी है कि मनसे भी उसका चिन्तन नहीं होसकता ।

अचिन्त्यरचनाशक्ति बीजं मायेति निश्चिनु ।
मायाबीजं तदेवैकं सुषुप्तावनुभूयते ॥१५१॥

(यत् बीजम् अचिन्त्यरचनाशक्ति सा माया इति निश्चिनु) जिस बीज अर्थात् कारणमें अचिन्त्यरचनाशक्ति भरी हुई है अर्थात् जिस कारणकी रचनाशक्तिका विचार भी न किया जासके उसे 'माया' समझ लेना चाहिये । (सुषुप्तौ तत् एव एकं मायाबीजम् अनुभूयते) सुषुप्तिके समय प्रत्येकको उसी एक मायारूपी कारणका अनुभव हुआ करता है ।

मायाके जगत्का बीज होनेका उपपादन

जाग्रत्स्वप्नजगत् तत्र लीनं बीज इव द्रुमः ।
तस्मादशेषजगतो वासना स्तत्र संस्थिताः ॥१५२॥

(बीजे द्रुमः इव तत्र जाग्रत्स्वप्नजगत् लीनम्) जैसे छोटेसे बीज में बड़े बड़े पेड़ छिपे रहते हैं, इसी प्रकार उस सुषुप्तिकालीन मायाबीज में जाग्रत् तथा स्वप्न नामका जगत् छिपा रहता है । (तस्मात् अशेषजगतः वासनाः तत्र संस्थिताः) जगत्का कारण क्योंकि माया है इससे इस सम्पूर्ण जगत्की वासनायें मायामें छिपी रहती हैं ।

या बुद्धिवासनास्तासु चैतन्यं प्रतिबिम्बति ।
मेघाकाशवदस्पष्टचिदाभासोऽनुमीयताम् ॥१५३॥

(तत्र याः बुद्धिवासनाः तासु चैतन्यं प्रतिबिम्बति) उस मायामें जो बुद्धिकी वासनायें पड़ती हैं, उनमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है । (मेघाकाशवत् अस्पष्टचिदाभासः अनुमीयताम्) मेघाकाशके समान उन [बुद्धियों] में जो अस्पष्ट चिदाभास पड़ रहा है, उसका अनुमान करलो [क्योंकि वह किसीके अनुभवमें नहीं आता । इस कारण उसे अनुमान से ही जानलो ।]

साभासमेव तद् बीजं धीरूपेण प्ररोहति।
अतो बुद्धौ चिदाभासो विस्पष्टं प्रतिभासते ॥१५४॥

साभासम् एव तत् बीजं धीरूपेण प्ररोहति) चिदाभाससे युक्त वह बीज [अज्ञान] बुद्धिरूपसे परिणत होजाता है (अतः बुद्धौ चिदाभासः विस्पष्टं प्रतिभासते) इस कारण तब वह चिदाभास बुद्धिमें स्पष्ट प्रतीत होनेलगता है। [तात्पर्य यह कि जब वह चिदाभासयुक्त अज्ञान, बुद्धिरूप को धारण कर लेता है तब उसमें स्पष्ट चिदाभास दीखने लगता है, परन्तु बुद्धिकी वासनाओंमें चिदाभास प्रतीत नहीं होता।]

जीवेश्वरोंकी श्रुत्युक्त मायिकताका उपसंहार

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम्।
मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवस्थितौ ॥१५५॥

(माया आभासेन जीवेशौ करोति इति श्रुतौ श्रुतम्) यह माया अभासके द्वारा जीव और ईश्वरको बना देती है यह श्रुतिमें कहा गया है। (तौ मेघाकाशजलाकाशौ इव सुव्यवस्थितौ) वे दोनों जीव और ईश्वर, मेघाकाश तथा जलाकाशके समान पृथक् पृथक् सुव्यवस्थित हैं [ऐसी अवस्थामें यद्यपि जीव और ईश्वर दोनों मायिक हैं, परन्तु अस्पष्ट और स्पष्ट उपाधिवाले होनेसे क्रमसे मेघाकाश और जलाकाशके समान, इन दोनोंका अवान्तर भेद सिद्ध होरहा है।]

ईशके मेघाकाशतुल्य होनेका स्पष्टीकरण

मेघवद् वर्तते माया मेघस्थिततुषारवत्।
धीवासनाश्चिदाभासस्तुषारस्थखवत् स्थितः ॥१५६॥

(माया मेघवत् वर्तते) माया तो मेघके समान है। (धीवासनाः मेघस्थिततुषारवत् वर्तन्ते) बुद्धिवासनायें मेघके तुषारोंके समान होती हैं। (चिदाभासः तुषारस्थखवत्स्थितः) चिदाभास उन तुषारोंमें रहनेवाले आकाशके समान है।

मायाप्रतिबिम्बके ईश्वर होनेमें प्रमाण

मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतो मायी महेश्वरः ।
अन्तर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि ॥१५७॥

(चिदाभासः मायाधीनः) चिदाभास मायाके अधीन होता है । (महेश्वरः मायी श्रुतः) महेश्वरको श्रुतियोंने मायी अर्थात् मायाका अधीश्वर कहा है । (सः एव हि अन्तर्यामी सर्वज्ञः जगद्योनिः च) वह महेश्वर ही अन्तर्यामी है, वही सर्वज्ञ है, तथा वही इस जगत्का मूल कारण है ।

बुद्धिवासनाप्रतिबिम्बके ईश्वर होनेमें प्रमाण

सौषुप्तमानन्दमयं प्रक्रम्यैवं श्रुतिर्जगौ ।
एष सर्वेश्वर इति सोयं वेदोक्त ईश्वरः ॥१५८॥

(सौषुप्तम् आनन्दमयं प्रक्रम्य एषः सर्वेश्वरः इति एवं श्रुतिः जगौ) सुषुप्तिके समयके [अर्थात् तब अपने शुद्धरूपमें प्रकट होनेवाले] आनन्दमयके विषयमें सुषुप्तस्थाने एकीभूतः प्रज्ञानघनः [मा० ५] इत्यादि श्रुतिने कहा है कि यही 'सर्वेश्वर' है । (सः अयं वेदोक्तः ईश्वरः) यों यह कहा जासकता है कि [बुद्धिवासनाओंमें प्रतिबिम्बरूप] यही आनन्दमय वेदोक्त ईश्वर है ।

आनन्दमयकी सर्वज्ञता

सर्वज्ञत्वादिके तस्य नैव विप्रतिपद्यताम् ।
श्रौतार्थस्याऽवितर्क्यत्वान्मायायां सर्वसंभवात् ॥१५९

(तस्य सर्वज्ञत्वादिके नैव विप्रतिपद्यताम्) इस आनन्दमयकी सर्वज्ञता आदि [यद्यपि आनन्दमयकी सर्वज्ञता चाहे सर्वसाधारणके अनुभवमें नहीं आती तो भी उस] में शंका न करनी चाहिये । (श्रौतार्थस्य अवितर्क्यत्वात्) क्योंकि श्रुतिका बतायाहुआ पदार्थ अवितर्क्य होता है ।

(मायायां सर्वसंभवात्) इसके अतिरिक्त मायामें इतना सामर्थ्य है कि उसमें सब कुछ संभव है।

आनन्दमयकी सर्वेश्वरता

अयं यत् सृजते विश्वं तदन्यथयितुं पुमान् ।
न कोपि शक्तस्तेनायं 'सर्वेश्वर' इतीरितः ॥१६०॥

(अयं यत् विश्वं सृजते) देखो यह 'आनन्दमय' जिस [मानस सृष्टि किंवा जिस जाग्रदादि] जगत् को उत्पन्न करलेता है, (तत् अन्यथयितुं कः अपि पुमान् न शक्तः) उसको अन्यथा करनेमें कोई भी पुरुष शक्त नहीं होता। (तेन अयं सर्वेश्वरः इति ईरितः) यही कारण है कि उसको 'सर्वेश्वर' कहागया है। [उस आनन्दमयकी सर्वेश्वरताका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि उसकी कल्पित सृष्टिमें कोई किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता।]

अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः ।
ताभिः क्रोडीकृतं सर्वं तेन सर्वज्ञ ईरितः ॥१६१॥

(तत्र अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनाः संस्थिताः) सुषुप्तिकालके उस अज्ञानमें [जो सब बुद्धियोंका कारण है] सम्पूर्ण प्राणियोंकी बुद्धियोंकी वासनायें रहती हैं। (ताभिः सर्वं क्रोडीकृतम्) उन सूक्ष्म वासनाओंने इस सब जगत्को अपना विषय बना रक्खा है, (तेन सर्वज्ञः ईरितः) इस कारण उसको सर्वज्ञ कहा जाता है। [तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण बुद्धियोंकी वासनावाला अज्ञान उस आनन्दमयकी उपाधि है इसीसे उसको सर्वज्ञ कहते हैं। ऐसा सर्वज्ञ यदि उसको समझें तो फिर उसकी सर्वज्ञतापर आक्षेप करनेकी कोई बात नहीं रहती।]

वासनानां परोक्षत्वात् सर्वज्ञत्वं न हीक्ष्यते ।
सर्वबुद्धिषु तद् दृष्ट्वा वासनास्वनुमीयताम् ॥१६२॥

(वासनानां परोक्षत्वात्) उसकी उपाधिरूपी जो वासनायें हैं,

वे सदा परोक्ष रहती हैं। (सर्वज्ञत्वं न हि ईक्ष्यते) इसी कारण उनकी सर्वज्ञताका अनुभव किसीको नहीं होता। (सर्वबुद्धिषु तत् दृष्ट्वा) परन्तु सम्पूर्ण बुद्धियों [को मिलाकर फिर उन] में सर्वज्ञताको देखकर, (वासनासु अनुमीयताम्) वासनाओंमें भी सर्वज्ञताका अनुमान कर लेना चाहिये।

आनन्दमयकी अन्तर्यामिता

विज्ञानमयमुख्येषु कोशेष्वन्यत्र चैव हि।
अन्तस्तिष्ठन् यमयति तेनान्तर्यामितां व्रजेत् ॥१६३॥

(विज्ञानमयमुख्येषु कोशेषु अन्यत्र चैव हि अन्तः तिष्ठन् यमयति) विज्ञानमय आदि कोशोंके तथा पृथिव्यादि भूतोंके अन्दर बैठकर, इन सबको नियममें रखता है, (तेन अन्तर्यामितां व्रजेत्) इसीसे उसको 'अन्तर्यामी' [अन्दर रहकर नियमन करनेवाला] कहाजाता है।

यही अन्तर्यामी प्राणियोंके पूर्वकर्मोंके अनुसार चोरको चोरी करनेको उकसाता है, स्वामीको सावधान रहनेकी प्रेरणा किया करता, वीरसे तोपके मुंहमें सिर देदेनेको कहता है, भीरुको भागजानेकी सम्मति देता है। यों सब जीवोंकी वासनाओंके अनुसार उनकी कर्मकी डोरी को अन्दर बैठा बैठा हिलाता रहता है। वहींसे सबपर शासन कियाकरता है।

आनन्दमयकी अन्तर्यामितामें समस्त अन्तर्यामिब्राह्मण प्रमाण

बुद्धौ तिष्ठन्नान्तरोऽस्या धियानीक्ष्यश्च धीवपुः।
धियमन्तर्यमयतीत्येवं वेदेन घोषितम् ॥१६४॥

(बुद्धौ तिष्ठन् अस्याः आन्तरः) वह अन्तर्यामी बुद्धिके अन्दर घुसा रहता है। (धिया अनीक्ष्यः धीवपुः च) बुद्धि उसको देख नहीं सकती परन्तु बुद्धि ही उसका शरीर है। (धियम् अन्तः यमयति) वह अन्दर रहकर इस बुद्धिको नियममें रख रहा है। (एवं वेदेन घोषितम्)

अन्तर्यामीका ऐसा वर्णन यो विज्ञाने तिष्ठन् [बृ० ३-७-२२] इत्यादि श्रुतियोंने किया है।

तन्तुः पटे स्थितो यद्वदुपादानतया तथा ।

सर्वोपादानरूपत्वात् सर्वत्रायमवस्थितः ॥१६५॥

(यद्वत् तन्तुः उपादानतया पटे सर्वत्र स्थितः) जिस प्रकार तन्तु उपादानरूपसे पटमें सर्वत्र स्थित रहता है, (तथा अयं सर्वोपादानरूपत्वात् सर्वत्र स्थितः) इसीप्रकार यह [अन्तर्यामी] सबका उपादान होनेसे सर्वत्र स्थित होरहा है। [यह बात यः सर्वेषु तिष्ठन् [बृ० ३-७-१५] इत्यादि श्रुतिमें कही है।]

अन्तर्यामीकी सर्वान्तरता ही उसके अदर्शनका कारण है

पटादप्यान्तरस्तन्तु स्तन्तोरप्यंशुरान्तरः ।

आन्तरत्वस्य विश्रान्ति र्यत्रासावानुमीयताम् ॥१६६॥

[यद्यपि वह उपादान रूपसे सर्वत्र विराज रहा है, परन्तु उसका सर्वान्तर होना ही उसे उपलब्ध नहीं होने देता। यही बात इस श्लोकमें कहीगयी है] देखो, (तन्तुः पटात् अपि आन्तरः) तन्तु पटसे भी भीतर होता है। (अंशुः तन्तोः अपि आन्तरः) परन्तु अंशु तन्तुसे भी आन्तर होता है। (यत्र आन्तरत्वस्य विश्रान्तिः तत्र असौ अनुमीयताम्) जहाँ इस आन्तरपनेकी समाप्ति होजाय, वहीं जाकर इस [अन्तर्यामी] को अनुमानसे जानना चाहिये।

द्वित्रान्तरत्वकक्षाणां दर्शनेऽप्ययमान्तरः ।

न वीक्ष्यते, ततो युक्तिश्रुतिभ्यामेव निर्णयः ॥१६७॥

(द्वित्रान्तरत्वकक्षाणां दर्शने अपि अयम् आन्तरः न वीक्ष्यते) आन्तरभावकी दो तीन कक्षायें लौकिक [बाह्य] पटादि पदार्थोंमें दीख जानेपर भी यह अन्तर्यामी सबका सब आन्तर [अन्दरका] होनेसे नहीं दीखता। (ततः युक्तिश्रुतिभ्याम् एव निर्णयः) इस कारण इसकी सत्ताका

निर्णय युक्ति और श्रुतिके सहारेसे करना पड़ता है। [कोई भी अचेतन पदार्थ किसी चेतन अधिष्ठाताके बिना प्रवृत्त नहीं हुआकरता, यह युक्ति अन्तर्यामीको सिद्ध कर देती है। जहां जडपदार्थ किसी काममें प्रवृत्त होते दीखें वहां अन्तर्यामी गुप्त रूपसे काम कररहा है। वहां उसे समझना चाहिये]

पटरूपेण संस्थानात् पट स्तन्तो र्वपुर्यथा ।
सर्वरूपेण संस्थानात् सर्वमस्य वपुस्तथा ॥१६८॥

(यथा पटरूपेण संस्थानात् पटः तन्तोः वपुः) जैसे [तन्तुके] पट रूपमें आजाने पर वह पट ही उस तन्तुका शरीर माना जाता है। (तथा सर्वरूपेण संस्थानात् सर्वम् अस्य वपुः) इसीप्रकार [उस अन्तर्यामीके] सर्वरूपसे स्थित होजाने के कारण, यह सब जगत्, उस अन्तर्यामीका देह मानागया है [यही बात 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम् [बृ० ३-७-१५] इस श्रुतिमें कही है।]

नये पदार्थके प्रकट होनेसे पूर्व उन पदार्थोंके उपादानभूत
अन्तर्यामीमें वासनात्मक विकार पैदा होने अनिवार्य हैं

तन्तोः संकोचविस्तारचलनादौ पटस्तथा ।
अवश्यमेव भवति, न स्वातन्त्र्यं पटे मनाक् ॥१६९॥
तथान्तर्याम्ययं यत्र यया वासनया यथा ।
विक्रियेत तथावश्यं भवत्येव न संशयः ॥१७०॥

(पटः तन्तोः संकोचविस्तारचलनादौ तथा अवश्यम् एव भवति) तन्तुको जब सकोड़ा जाय, फैलायाजाय, या हिलाया जाय, तो पटमें भी अवश्य ही संकोच, विस्तार या चलन आजाता है। (पटे मनाक् स्वातंत्र्यं न) पटमें लेशमात्रभी स्वतन्त्रता नहीं है। (तथा अयम् अन्तर्यामी यत्र यया वासनया यथा विक्रियेत तथा अवश्यं भवति) ठीक इसीप्रकार [उपादान रूपसे पृथ्वी आदियोंमें रहनेवाला] यह अन्तर्यामी, जिस जिस वासनासे,

जसे जैसे [घटादि रूपमें] विकृत होजाता है, वह वह कार्य अवश्य होकर रहते हैं। (न संशयः) इसमें कोई संशय नहीं है। [यही बात यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति बृ० ३-७-१५ इत्यादिमें कही गई है।]

अन्तर्यामीके होनेमें स्मृतिप्रमाण

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१७१॥

(अर्जुन ! ईश्वरः यन्त्रारूढानि सर्वभूतानि मायया भ्रामयन् सर्वभूतानां हृदेशे तिष्ठति) [गीतामें भी अन्तर्यामीके विषयमें कहा है] हे अर्जुन ! ईश्वरतत्व यन्त्रारूढ सब भूतोंको अपनी मायाके प्रतापसे घुमाता हुआ सब भूतोंके हृदयधाममें वैठा है।

गीताके सर्वभूतानां पदका अर्थ

सर्वभूतानि विज्ञानमयास्ते हृदये स्थिताः ।
तदुपादानभूतेश स्तत्र विक्रियते खलु ॥१७२॥

(सर्वभूतानि विज्ञानमयाः) गीताके इस ऊपरवाले श्लोकमें जो 'सर्वभूतानि' शब्द आया है उसका अभिप्राय 'विज्ञानमय' से है। (ते हृदये स्थिताः) वे सब विज्ञानमय हृदयकमलमें रहते हैं। (तदुपादान भूतेशः तत्र खलु विक्रियते) क्योंकि उनका उपादान करण ईश्वर वहां हृदयमें ही विकारको प्राप्त हुआ करता है [वह अन्तर्यामी हृदयमें ही विज्ञानमयका रूप धारण करलेता है। अन्तर्यामीके भिन्न भिन्न विज्ञानमय रूप धारण करनेपर संसारमें परिवर्तन प्रारम्भ होजाता है।]

गीताके यन्त्रारूढानि पदका अर्थ

देहादिपञ्जरं यन्त्रं तदारोहोभिमानिता ।
विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्ति र्भ्रमणं भवेत् ॥१७३॥

[गीताके 'यन्त्र आरोह तथा भ्रमण' तीन शब्दोंके अभिप्राय ये हैं कि] (देहापिपंजरं यन्त्रम्) देहादि नामका यह पींजरा 'यन्त्र' कहाता

है। (अभिमानिता तदारोहः उच्यते) इस देहरूपी पींजरेमें अभिमान कर बैठना [इसीको 'मैं' मानलेना] ही इसपर 'आरोहण' करना [चढ़ बैठना] कहा जाता है। (विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्तिः भ्रमणं भवेत) उसके पश्चात् देहाहङ्कारी का विहित और प्रतिषिद्ध कामोंमें प्रवृत्त होजाना 'भ्रमण' किंवा घूमना कहाता है।

गीता श्लोकके भ्रामण तथा मायापदका अर्थ

विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः।
स्वशक्त्येशो विक्रियते मायया भ्रामणं हि तत् ॥१७४॥

(ईशः स्वशक्त्या विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः विक्रियते) वह ईश्वरतत्व अपनी ही मायाशक्तिसे प्रभावित होकर विज्ञानमयरूप होकर उस विज्ञानमयकी प्रवृत्तिरूप बनकर विकृत हुआ करता है (तत् हि मायया भ्रामणम् उच्यते) ईश्वरका अपनी शक्तिसे अपने आप विकार भावापन्न होते रहना उसका मायासे भ्रामण कहाताहै। [गीताके उपर्युक्त श्लोकमें] इसीको 'मायासे जीवोंका भ्रामण' अर्थात् घुमाना कहा है।]

श्रुतियोंके यमयति पदका भी पूर्वोक्त अर्थ

अन्तर्यमयतीत्युक्त्याऽयमेवार्थः श्रुतौ श्रुतः।
पृथिव्यादिषु सर्वत्र न्यायोऽयं योज्यतां धिया ॥१७५॥

(अयम् एव अर्थः) यही बात (श्रुतौ) यः पृथिव्यां तिष्ठन् यः पृथिवीमन्तरो यमयति [बृ० ३-७-३] इस श्रुतिमें (अन्तर्यमयति इति उक्त्या श्रुतः) भीतर रहता हुआ चलाता रहता है इन शब्दोंमें कही गयी है। (अयं न्यायः धिया सर्वत्र योज्यताम्) अन्य सब पदार्थोंमें भी यही न्याय अपनी बुद्धिसे लगालेना चाहिये।

समस्त प्रवृत्तियोंके सर्वेश्वराधीन होनेमें एक अन्य सम्मति

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति—
र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।

केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि ॥१७६॥

(धर्मं जानामि) मैं धर्मको पहचानता हूं, (मे प्रवृत्तिः न च) परन्तु धर्ममें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। (अधर्मं जानामि) मैं अधर्मको भी जानता हूं, (मे निवृत्तिः न च) परन्तु मैं उससे बच नहीं सकरहा हूँ। वास्तव बात यह है कि (हृदि स्थितेन केन अपि देवेन यथा नियुक्तः अस्मि तथा करोमि) कोई देवता मेरे हृदयमें मेरा हृदयेश्वर बना बैठा है। वह जैसे जैसे मुझे आज्ञा देता रहता है मैं वैसा वैसा करता रहता हूं [इससे यह सिद्ध होता है कि बुरी या भली सम्पूर्णप्रवृत्तियें सर्वेश्वरके आधीन हैं।]

प्रवृत्तिके ईश्वराधीन होनेपर भी पुरुषप्रयत्न व्यर्थ नहीं होता

नार्थः पुरुषकारेणेत्येवं मा शंक्यतां यतः ।
ईशः पुरुषकारस्य रूपेणापि विवर्तते ॥१७७॥

(एवं पुरुषकारेण अर्थः न इति मा शंक्यताम्) [जब समस्त प्रवृत्तियां ईश्वरके आधीन हैं तब फिर] पुरुषके प्रयत्नकी आवश्यकता क्या रहजाती है, ऐसी शंका न करनी चाहिये। (यतः ईशः पुरुषकारस्य अपि रूपेण विवर्तते) क्योंकि वह ईश्वर ही पुरुषकारका रूप धारण करलेता है [पुरुषका प्रयत्न भी ईश्वररूप ही है, यों पुरुषार्थ करना भी सफल होता है।]

अन्तर्यामीकी प्रेरणाका पता चलजाने से असंगताज्ञानकी उत्पत्ति

ईदृग्बोधेनेश्वरस्य प्रवृत्तिर्नैव वार्यताम् ।
तथापीशस्य बोधेन स्वात्मासङ्गत्वधीजनिः ॥१७८॥

(ईदृग्बोधेन ईश्वरस्य प्रवृत्तिः नैव वार्यताम्) जब किसीको ऐसा बोध होजाय [कि ईश्वर ही पुरुषकारादि रूपमें विवर्त होजाता है] तब भी ईश्वरकी अन्तर्यामी रूपसे प्रेरणाको वृथा नहीं मानना चाहिये (तथापि तेन रूपेण अपि ईशस्य बोधेन स्वात्मासङ्गत्वधीजनिः) क्योंकि जब कोई

उस रूपसे भी ईश्वर तत्वको जानलेगा तब उसे अपने आत्माकी असङ्गता का स्पष्ट ज्ञान होजायगा।

असङ्गताज्ञानका फल

तावता मुक्तिरित्याहुः श्रुतयः स्मृतयस्तथा।
श्रुस्मृती ममैवाज्ञे इत्यपीश्वरभाषितम् ॥१७६॥

(तावता मुक्तिः इति श्रुतयः तथा स्मृतयः आहुः) "आत्माकी असङ्गताका ज्ञान होजाने मात्रसे मुक्ति होजाती है" यह बात श्रुतियों और स्मृतियोंने कही है। (श्रुतिस्मृति मम एव आज्ञे इति अपि ईश्वर भाषितम्) ईश्वरने यह भी कहा है कि ये श्रुतियां और स्मृतियां मेरी ही आज्ञायें हैं। [ऐसी अवस्थामें इनके कहनेको टालना नहीं चाहिये। श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लंघ्य वर्तते। आज्ञोच्छेदी मम द्वेषी न मद्भक्तो न मत्प्रियः। अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम् हमारा शासक हमारे अन्दर बैठा हुआ है। जब हम कोई बुरा काम करने लगते हैं तब अन्दरसे घृणा भय और संकोच आदिकी ध्वनि आती हैं। जब हम कोई शुभ कार्य करते हैं तब अन्दरसे प्रेम निर्भयता और उत्साह आदि की स्फूर्ति होती है। ये ही सब ईश्वरकी आज्ञायें हैं। जो लोग मनुष्यसमाजमें अधिक संस्कृत होते हैं उन्हें ये आज्ञायें स्पष्ट सुनाई पड़ा करती हैं। जो निरन्तर पापाचारी होते हैं उन्हें ये ध्वनियें सुनाई पड़नी बन्द होजाती हैं। जिन्हें ये आज्ञायें स्पष्ट सुनाई पड़ती हैं उन्होंने ही उन आज्ञाओंको साधारण लोगोंके उपकारके लिये, उनके अन्दरकी हीन-क्षीण ध्वनिको जगानेके लिये और उसके अनुकूल उनका आचरण करानेके लिये, पुस्तकोंमें लिख दिया है। ऐसे ये लेख ही 'श्रुति' और 'स्मृति' हैं। यों 'श्रुति' और 'स्मृति' ईश्वरकी आज्ञायें हैं। वेदोंके अपौरुषेय होनेका कारण भी यही है कि ये ध्वनियें बनायी नहीं जाती किन्तु ऐसीकी ऐसी ही साधक लोगोंको—सत्यान्वेषी लोगोंको—सुनाई पड़ा करती हैं। सुनाई पड़नेके कारण ही उनको 'श्रुति' कहा है।

ईश्वरके भयकारण होनेमें श्रुति प्रमाण

आज्ञया भीतिहेतुत्वं भीषास्मादिति हि श्रुतम् ।

सर्वेश्वरता तथा अन्तर्यामिताका भेद

सर्वेश्वरत्वमेतत् स्यादन्तर्यामित्वतः पृथक् ॥१८०॥

(भीषास्मात् इति हि आज्ञया भीतिहेतुत्वं श्रुतम्) भीषास्माद्वातः पवते [तै० २-८] इत्यादि श्रुतियोंमें आज्ञा देनेके द्वारा ईश्वरको भयका कारण बताया गया है। (एतत् सर्वेश्वरत्वम् अन्तर्यामित्वतः पृथक्) [आज्ञा देनेके कारण] उस ईश्वरमें जो 'सर्वेश्वरता' है वह 'अन्तर्यामिपने' से पृथक् एक धर्म है।

'अन्तर्यामी' वह है जो हम सबको अन्दरसे अपने बसमें किये बैठा है। 'सर्वेश्वर' वह है जिसने इस बाह्य जगत्पर आधिपत्य जमा रक्खा है। जो वायुको बहनेका, अग्निको जलनेका, सूर्य आदि ग्रह उपग्रहों को चक्कर काटते रहनेका, मृत्युको मारनेका आदेश दिया करता है वह 'सर्वेश्वर' है। वही तत्व शरीरोंके अन्दर रहकर उनका नियमन करके 'अन्तर्यामी' कहा जाता है। वही तत्व शरीरोंसे बाहर सब भूत भौतिक पदार्थोंका नियमन करके 'सर्वेश्वर' कहाने लग जाता है।

बाहर भीतर ईश्वर ही नियामक है इसमें श्रुतियोंके दो प्रमाण

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन इति श्रुतिः ।

अन्तः प्रविष्टः शास्तायं जनानामिति च श्रुतिः ॥ ८१॥

(एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृते तिष्ठतः इति श्रुतिः) [बृ० ३-८-६] यह श्रुति ईश्वरको बाह्य नियामक किंवा 'सर्वेश्वर' कहती है। (अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम् इति च श्रुतिः) यह श्रुति ईश्वरको अन्दरका नियामक किंवा 'अन्तर्यामी' बताती है।

ईश्वरके जगद्योनित्व तथा उत्पत्तिप्रलयोंका अर्थ

जगद्योनिर्भवेदेष प्रभवाप्ययकृत्त्वतः ।

आविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिप्रलयौ मतौ ॥१८२॥

(एषः प्रभवाप्ययकृत्वतः जगद्योनिः भवेत्) यही उत्पत्ति और विनाश दोनोंको करनेवाला होनेसे, जगत्का योनि भी कहाता है। (आविर्भावतिरोभावौ उत्पत्तिप्रलयौ मतौ) यहां उत्पत्ति और प्रलयका अभिप्राय आविर्भाव और तिरोभाव है [उत्पत्ति और प्रलयोंका कर्त्ता होनेसे ईश्वर जगत्का योनि भी है।]

ईश्वरमें जगदाविर्भाव करनेका दृष्टान्त

आविर्भावयति स्वस्मिन् विलीनं सकलं जगत् ।
प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत् प्रसारितः ॥१८३॥

(एषः स्वस्मिन् विलीनं सर्वं जगत् यद्वत् प्रसारितः पटः तद्वत् प्राणिकर्मवशात् आविर्भावयति) यह ईश्वर अपनेमें विलीन हुए समस्त जगत्को फैलाये हुए चित्रपटके समान प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार, आविर्भूत करदिया करता है।

ईश्वरकी प्रलयकारिताका दृष्टान्त

पुनस्तिरोभावयति स्वात्मन्येवाखिलं जगत् ।
प्राणिकर्मक्षयवशात् संकोचितपटो यथा ॥१८४॥

(एषः पुनः प्राणिकर्मक्षयवशात् यथा संकोचितपटः तथा अखिलं जगत् स्वात्मनि एव तिरोभावयति) यही ईश्वर फिर प्राणियोंके भोगदायी कर्मोंके क्षीण होजानेपर अपने चित्रोंको अपने भीतर छिपा लेनेवाले संकोचित वस्त्रके समान इस सम्पूर्ण जगत् को अपने आपेमें छिपा लेता है [नष्ट नहीं करता।]

उत्पत्तिप्रलयोंमें अन्य दृष्टान्त

रात्रिघस्रौ सुप्तिबोधावुन्मीलननिमीलने ।
तूष्णींभावमनोराज्ये इव सृष्टिलयाविमौ ॥१८५॥

(इमौ सृष्टिप्रलयौ·····इव) ये सृष्टि तथा प्रलय ठीक ऐसे हैं जैसे

दिन और रात, स्वप्न तथा जागरण, उन्मेष और निमेष, चुपचाप रहना और मनोराज्य करना होता है। [स्वप्न जागरण उन्मेष निमेष जीवके काम हैं तथा सृष्टि प्रलय आदि ईश्वरके काम हैं।]

विवर्तवाद

आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्त्वेन हेतुना ।
आरम्भपरिणामादिचोद्यानां नात्र संभवः ॥१८६॥

(आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्त्वेन हेतुना अत्र आरम्भपरिणामादिचोद्यानां संभवः न) आविर्भाव और तिरोभाव दोनों शक्तियोंवाला होनेके कारण, इस ईश्वरके विषयमें आरम्भवाद और परिणामवाद आदि आक्षेपोंकी कोई संभावना नहीं है। [बात यह है कि अद्वितीय पदार्थ आरम्भक नहीं हो सकता तथा निरवयव पदार्थ का परिणाम होना सम्भव नहीं है। केवल विवर्तवाद एक निष्कण्टक मार्ग है।

एक ईश्वरके चेतन अचेतन दोनोंके उपादान होनेका प्रकार

अचेतनानां हेतुः स्याज्जाड्यांशेनेश्वरस्तथा ।
चिदाभासांशतस्त्वेष जीवानां कारणं भवेत् ॥१८७॥

(ईश्वरः जाड्यांशेन अचेतनानां हेतुः स्यात् तथा एषः चिदाभासांशतः तु जीवानां कारणं भवेत्) ईश्वर अपने जाड्यांश अर्थात् अपनी उपाधिप्रधानतासे तो अचेतनोंका उपादान है, तथा यही ईश्वर अपने चिदाभासांश अर्थात् अपनी चित्प्रधानतासे जीवोंका कारण होजाता है।

वार्तिककारने मायावी ईश्वरको जगत्कारण न मानकर परमात्माको जगत्कारण क्यों माना

तमःप्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम् ।
परः कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः ॥१८८॥
इति वार्तिककारेण जडचेतनहेतुता ।
परमात्मन एवोक्ता नेश्वरस्येति चेच्छृणु ॥१८९॥

(परः तमःप्रधानः भावनाज्ञानकर्मभिः क्षेत्राणां, तथा चित्प्रधानः चिदात्मनां कारणताम् एति) वह परमात्मा जब जब तमःप्रधान होता है तब तब भावना [संस्कार] ज्ञान तथा [पुण्यापुण्यरूपी] कर्मोंके निमित्तसे क्षेत्र अर्थात् शरीरोंका कारण होजाता है तथा जब जब चित्प्रधान होता है तब तब चिदात्माओंका कारण बन जाता है। (इति वार्तिककारेण जडचेतनहेतुता परमात्मनः एव उक्ता ईश्वरस्य न इति चेत् शृणु) इस प्रकार वार्तिककार सुरेश्वराचार्यने परमात्माको जड और चेतन दोनोंका हेतु कहा है, ईश्वरको नहीं, ऐसा यदि कहो तो इसका उत्तर सुनो।

सुरेश्वराचार्यने त्वंपदार्थके समान तत्पदार्थमें भी अन्योन्याध्यासकी विवक्षा करके ऐसा कहा है।

अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव ।
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः ॥१६०॥

(सुरेश्वरः अत्र अपि जीवकूटस्थयोः इव ईश्वरब्रह्मणोः अन्योन्याध्यासं सिद्धं कृत्वा ब्रूते) सुरेश्वराचार्यने यहां भी [त्वंपदके अर्थ] जीव और कूटस्थके अन्योन्याध्यासके समान [तत्पदके अर्थ] ईश्वर और ब्रह्ममें भी अन्योन्याध्यासको सिद्धवत् मानकर अर्थात् विवक्षा करके परमात्माको जड और चेतनका हेतु कह दिया है [नहीं तो उनको जड और चेतनका कारण ईश्वरको ही कहना चाहिये था परमात्माको नहीं।]

सुरेश्वराचार्यका यह तात्पर्य श्रुत्यर्थपर्यालोचनासे निश्चित किया गया

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म तस्मात् समुत्थिताः ।
खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहा इति श्रुतिः ॥१६१॥

(सत्यं ज्ञानम् अनन्तं यत् ब्रह्म तस्मात् खंवाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः समुत्थिताः इति श्रुतिः) सुरेश्वरने ही नहीं श्रुतिने भी ईश्वर और ब्रह्मके अन्योन्याध्यासको सिद्धवत् मानकर कहा है कि सत्य ज्ञान तथा अनन्त जो ब्रह्महै उससे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी,

औषधि, अन्न तथा देह उत्पन्न हुए हैं [सुरेश्वराचार्यने ईश्वर और ब्रह्मके अन्योन्याध्यासको सिद्धवत् मानकर यह बात कही है यह बात इस श्रुतिके अर्थका विचार करनेपर समझमें आती है ।]

निर्गुण ब्रह्मका जगत्कारण होना तथा चिदाभासका सत्य होना भी अन्योन्याध्याससे

आपातदृष्टितस्तत्र ब्रह्मणो भाति हेतुता ।
हेतोश्च सत्यता तस्मादन्योन्याध्यास इष्यते ॥१६२॥

(तत्र आपातदृष्टितः ब्रह्मणः हेतुता भाति) इस श्रुतिमें आपातदृष्टिसे [गंभीर विचार न करें तो] सत्य आदि लक्षणोंवाला, निर्गुण ब्रह्म, जगत्का कारण प्रतीत होता है (हेतोः च सत्यता भाति) तथा इस श्रुति में आपातदृष्टिसे ही जगत्को बनानेवाले मायाधीन ईश्वरनामक चिदाभास की सत्यता प्रतीत होती है । [ये दोनों बातें [प्रतीतियें] अन्योन्याध्यासके बिना कैसे बनें ?] (तस्मात् अन्योन्याध्यासः ईष्यते) इसीसे इस श्रुतिको देखकर अन्योन्याध्यासका होना समझमें आता है ।

ईश्वर तथा ब्रह्मकी एकताका दृढीकरण

अन्योन्याध्यासरूपोसावन्नलिप्तपटो यथा ।
घट्टितेनैकतामेति तद्वद् भ्रान्त्यैकतां गतः ॥१६३॥

(यथा अन्नलिप्तः पटः घट्टितेन एकताम् एति तद्वत् असौ अन्योन्याध्यासरूपः भ्रान्त्या एकतां गतः) जैसे मांडी लगाया हुआ वस्त्र कूटने पीटने घोटने मांजनेसे एकीभूत [निश्छिद्र, गफ] होजाता है, इसीप्रकार अन्योन्याध्यासरूप यह ईश्वर केवल भ्रान्तिके कारण ब्रह्मके साथ एकीभावको प्राप्त होगया है [वैसे तो मायाके अधीन ईश्वरनामक चिदाभास तथा ब्रह्म पृथक् पृथक् हैं]।

आपातदर्शियोंको ब्रह्म तथा ईश्वरमें भेद न भासनेका दृष्टान्त

मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः ।
तद्वद् ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्त्यापातदर्शिनः ॥१६४॥

(यद्वत् पामरैः मेघाकाशमहाकाशौ न विविच्यते) जैसे पामर [थोड़ी बुद्धिवाले] लोग मेघाकाश और महाकाशमें विवेक नहीं किया करते, (तद्वत् आपातदर्शिनः ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्ति) इसीप्रकार आपातदर्शी [स्थूल विचारक] लोग ब्रह्म और ईश्वरको एक समझ बैठते हैं। [वे इन दोनोंके भेदको नहीं जानते ।]

ब्रह्म तथा ईश्वरके भेदज्ञानका उपाय

उपक्रमादिभिर्लिङ्गैस्तात्पर्यस्य विचारणात् ।
असङ्गं ब्रह्म, मायावी सृजत्येष महेश्वरः ॥१९५॥

(उपक्रमादिभिः लिङ्गैः तात्पर्यस्य विचारणात्) जब उपक्रमोपसंहारा वभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये । इन उपक्रम आदि छः लिंगोंसे श्रुतिके तात्पर्यका विचार किया जाता है, तब यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म असंग है [यह कुछ भी करता धरता नहीं है] (एषः मायावी महेश्वरः सृजति) जगत्का सर्जन यह मायावी महेश्वर करता है ।

ब्रह्मकी असङ्गता

सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्युपक्रम्योपसंहृतम् ।
यतो वाचो निवर्तन्त इत्यसङ्गत्वनिर्णयः ॥१९६॥

(सत्यं ज्ञानम् अनन्तं च इति उपक्रम्य यतः वाचः निवर्तन्ते इति उपसंहृतम्) 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' [तै० २-१] इस वाक्यसे प्रारम्भ करके 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह' [तै० २-४] इस रूपमें उपसंहार किया है (इति असंगत्वनिर्णयः) इस सन्दर्भसे ब्रह्मकी असंगताका निर्णय होरहा है । [ऐसे असंग ब्रह्मसे जगत्की सृष्टि कैसे होसकेगी ?]

मायावी ईश्वरके स्रष्टृत्वमें श्रुतिका प्रमाण

मायी सृजति विश्वं संनिरुद्धस्तत्र मायया ।
अन्य इत्यपरा ब्रूते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत् ॥१९७॥

(मायी विश्वं सृजति तत्र अन्यः मायया संनिरुद्धः इति अपरा श्रुतिः ब्रूते) अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः (श्वे० ४-६) इस दूसरी श्रुतिने स्पष्ट कहा है कि मायी इस जगत्को बनाता है, परन्तु दूसरा जीव, मायाके वस इसमें बन्दी बनगया है। (तेन ईश्वरः सृजेत्) इससे सिद्धहोता है कि ईश्वर ही इस जगत्का स्रष्टा है ब्रह्म नहीं है [तथा जीव इस जगत्में बंध गया है।]

आनन्दमयसे जगदुत्पत्तिप्रकार

आनन्दमय ईशोयं बहु स्यामित्यवैक्षत ।
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत् सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत् ॥१९८॥

[आनन्दमय ईश्वर ही जगत्का कारण है यह सिद्ध होचुका। अब उससे जगत्की उत्पत्ति की रीति बतायी जाती है] (यथा सुप्तिः स्वप्नः भवेत् तथा यदा अयम् आनन्दमयः ईशः बहु स्याम् इति अवैक्षत तदा हिरण्यगर्भरूपः अभूत्) जैसे [पिछली रातमें] गाढनिद्राका ही स्वप्न हो जाता है, इसीप्रकार जब इस आनन्दमय ईश्वरने पड़े पड़े यह विचार किया कि 'अब मैं बहुरूप होजाऊं'। इस विचारके करते ही वह हिरण्यगर्भरूप होगया*। [मानो सुषुप्तिका सुपना बनगया]

जगद्रचनाके दो प्रकार

क्रमेण युगपद्वैषा सृष्टिर्ज्ञेया यथाश्रुति ।
द्विविधश्रुतिसद्भावाद् द्विविधस्वप्नदर्शनात् ॥१९९॥

(एषा सृष्टिः द्विविधश्रुतिसद्भावात् क्रमेण युगपत् वा ज्ञेया) यह सृष्टि दोनों प्रकारकी श्रुतियोंके होनेसे उनके अनुसार क्रमसे या एकसाथ उत्पन्न हुई जाननी चाहिये। [तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः

---

* श्रुतिने 'ईश्वरने अपने बहुभवनका संकल्प किया' इन शब्दोंसे उसके अनेकत्वमें आनेके समयकी परिस्थितिको शब्दोंमें प्रकट करनेका प्रयत्न किया है।

(तै० २-१) इत्यादि श्रुतिमें क्रमोत्पन्न सृष्टिका वर्णन है। इदं सर्वमसृजत [बृह० १-२-५] इत्यादियोंमें युगपत् सृष्टिका वर्णन आता है। श्रुत्यनुकूल होनेसे दोनों बातें माननीय हैं]। (द्विविधस्वप्नदर्शनात्) लोकमें भी दो प्रकारके स्वप्न देखे जाते हैं—किसी स्वप्नमें क्रमसे पदार्थ उत्पन्न होते हैं, तथा किसीमें सबके सब पदार्थ एकसाथ उत्पन्न हो पड़ते हैं।

हिरण्यगर्भका स्वरूप

सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्यः सर्वजीवघनात्मकः ।
सर्वाहंमानधारित्वात् क्रियाज्ञानादिशक्तिमान् ॥२००॥

[जैसे पटमें सूत्र अनुस्यूत होरहा है उसकी भांति, जगत्में अनुस्यूत रहनेवाले उस] (सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्यः) सूत्रात्मा [हिरण्यगर्भ] को सूक्ष्मदेह भी कहते हैं। (सः सर्वाहंमानधारित्वात् सर्वजीवघनात्मकः) वह सूत्रात्मा सम्पूर्ण [व्यष्टिलिङ्ग शरीरों] में अहंभाव का धारण करनेके कारण [लिङ्गशरीररूपी उपाधिवाले] सम्पूर्ण जीवोंकी समष्टि रूप है। (क्रियाज्ञानादिशक्तिमान्) उस सूत्रात्मामें 'इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया' ये तीन शक्ति रहती हैं। [समष्टिका स्वभाव हम व्यष्टियोंमें भी आया है। हमें पहले किसी पदार्थका ज्ञान होता है, फिर उसकी इच्छा होती है फिर हम उसके लिये क्रिया या उद्योग करते हैं। यों यह सारा संसार ज्ञान, इच्छा और क्रियाके अनन्त भँवरमें चक्कर काट रहा है। ज्ञान इच्छा और क्रियाका यह अनन्त चक्कर तत्त्वज्ञान होजानेपर बन्द हो जाता है।]

हिरण्यगर्भावस्थामें जगत्प्रतीतिका दृष्टान्त

प्रत्यूषे वा प्रदोषे वा मग्नो मन्दे तमस्ययम् ।
लोको भाति यथा तद्वदस्पष्टं जगदीक्ष्यते ॥२०१॥

(यथा प्रत्यूषे प्रदोषे वा मन्दे तमसि मग्नः अयं लोकः भाति) जैसे यह जगत् प्रातःकाल या सायङ्कालके समय मन्द अन्धकारमें डूबा हुआ

धुंधला धुंधला दीखा करता है, (तद्वत् इदं जगत् हिरण्यगर्भावस्थायाम् ईक्ष्यते) इसीप्रकार यह जगत् इस हिरण्यगर्भावस्थामें अस्पष्ट रूपसे दीखा करता है। [हिरण्यगर्भकी अवस्था हमारे मनोराज्य की सी है।]

मायी ईश्वरका शरीर लिङ्गशरीरोंसे लाञ्छित

सर्वतो लाञ्छितो मष्या यथा स्याद् घट्टितः पटः ।
सूक्ष्माकारै स्तथेशस्य वपुः सर्वत्र लाञ्छितम् ॥२०२॥

(यथा घट्टितः पटः मष्या सर्वतः लाञ्छितः स्यात्) जिस प्रकार मांडी दिये हुए वस्त्र पर, [रंग भरनेके लिये] स्याहीसे आकार बना दिये जाते हैं, (तथा मायिनः ईशस्य वपुः सूक्ष्माकारैः सर्वत्र लाञ्छितम्) इसीप्रकार इस [मायी हिरण्यगर्भ नामके] महेश्वरका शरीर भी [अपंचीकृत भूतोंसे बने हुए] लिङ्गशरीरोंसे सर्वत्र लाञ्छित रहता है।

सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतोऽङ्कुरितं यथा ।
कोमलं तद्वदेवैष पेलवो जगदङ्कुरः ॥२०३॥

[अथवा दूसरे दृष्टान्तसे इसी बातको यों समझो कि] (यथा सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतः अंकुरितं कोमलं भवति) जैसे अन्न या शाकके पौदे चारों ओरसे अधिकतर अंकुर फूटते समय कोमल होजाते हैं, (तद्वत् एव एषः जगदङ्कुरः पेलवः भवति) इसीप्रकार यह [हिरण्यगर्भ नामका] जगदङ्कुर [सृष्टिनिर्माण केलिये] कोमल होजाता है।

विराट्का स्वरूप

आतपाभातलोको वा पटो वा वर्णपूरितः ।
सस्यं वा फलितं यद्वत् तथा स्पष्टवपुर्विराट् ॥२०४॥

(यद्वत् आतपाभातलोकः वा वर्णपूरितः पटः वा फलितं वा सस्यं भवति तथा स्पष्टवपुः विराट्) [पंचीकृत भूतों या उनके कार्योंकी उपाधि वाले] विराट्का शरीर इतना विषद होता है, मानो सूरज निकलने पर

धूपसे प्रकाशित होने वाला जगत् हो, अथवा रंगभरा हुआ कोई कपड़ा हो, अथवा फलोंसे लदा हुआ कोई सस्य हो।

विराटस्वरूपमें प्रमाण

विश्वरूपाध्याय एष उक्तः सूक्तेऽपि पौरुषे।
धात्रादिस्तम्बपर्यन्तानेतस्यावयवान् विदुः ॥२०५॥

(एषः विश्वरूपाध्याये तथा पौरुषे सूक्ते अपि उक्तः) विश्वरूपाध्यायमें तथा पुरुषसूक्तमें भी इस 'विराट्' का वर्णन है। (ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तान् एतस्य अवयवान् विदुः) ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त जगत्को इसी विराट्का अवयव बताया जाता है। [यह समस्त जगत् उस विराट्का रूप है]

समस्त संसार ईश्वरभावसे पूजनीय

ईशसूत्रविराड्वेधोविष्णुरुद्रेन्द्रवन्हयः।
विघ्नभैरवमैरालमरिकायक्षराक्षसाः ॥२०६॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा गवाश्वमृगपक्षिणः।
अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः ॥२०७॥
जलपाषाणमृत्काष्ठवास्यकुद्दालकादयः।
ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः ॥२०८॥

(ईशसूत्रविराड्वेधोविष्णु······कुद्दालकादयः सर्वे एव एते ईश्वराः) ईश [अन्तर्यामी] हिरण्यगर्भ, विराट्, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, अग्नि, गणेश, मैराल, मरिका, यक्ष, राक्षस, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गौ, घोड़ा, मृग, पक्षी, पीपल, वट, आम आदि वृक्ष, जौ, धान, तिनके आदि औषधियां, जल, पाषाण, मिट्टी, काठ, यहां तक कि बिसोला और कुदाल आदि ये सबके सब ईश्वर हैं। [मनुष्यको इन सबको ईश्वरभावसे पूजना चाहिये। मनुष्य इन सबको ईश्वर अर्थात दाता जानकर ही पूज

रहा है।] (पूजिताः फलदायिनः) जब कोई इनकी पूजा करता है तब ये [अपनी अपनी शक्तिके अनुसार] उसको [छोटा बड़ा] फलदेते हैं।]

पूज्य तथा पूजाकी ऊंचनीचतासे फलोंकी ऊंचनींचता

यथायथोपासते तं फलमीयुस्तथा तथा ।
फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ॥२०८॥

(तं यथा यथा उपासते तथा तथा फलम् ईयुः) उस ईश्वरकी जैसी जैसी उपासना करते हैं, वैसे वैसे फल मिल जाते हैं। [जब कि ये सब ईश्वर हैं तब समान फल मिलना चाहिये था। परन्तु] (फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः) फलकी न्यूनाधिकता तो पूज्यों और पूजाओंके अनुसार होती है [घट बढ जाती है। पूज्यों और पूजाओंके सात्विक राजस आदि होनेसे भिन्न भिन्न फल मिलते हैं।]

ज्ञानके विना मुक्तिका कोई मार्ग नहीं है

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा ।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ॥२१०॥

[सांसारिक फलोंकी प्राप्ति इन छोटे मोटे ईश्वरोंसे हुआ करो, परन्तु] (मुक्तिः तु ब्रह्मतत्वस्य ज्ञानादेव भवति अन्यथा न च) मुक्ति तो ब्रह्मतत्वके ज्ञानसे ही होती है। इसके अतिरिक्त मुक्तिका कोई अन्य मार्ग नहीं है। देखते नहीं हो कि (यथा स्वप्रबोधं विना स्वस्वप्नः नैव हीयते) अपने जागे विना [अपनी निद्राने जिस स्वप्नको बना रखा है उस] अपने सुपनेका भंग नहीं होता। [इस दृष्टान्तसे यह बात समझ लेनी चाहिये कि ब्रह्मतत्वको जाने विना, ब्रह्मतत्वको न जाननेसे ही बना हुआ, यह अपना संसाररूपी सुपना कदापि निवृत्त न होसकेगा]।

यह जगत् अद्वितीय ब्रह्मतत्वमें सुपना है

अद्वितीयब्रह्मतत्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत् ।
ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥२११॥

(ईशजीवादिरूपेण वर्तमानं चेतनाचेतनात्मकं यत् अखिलं जगत् अस्ति अयम् अद्वितीयब्रह्मतत्वे स्वप्नः) ईश्वर और जीव आदिके रूपसे वर्तमान जो यह जडात्मक और चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् है यह सब उस अद्वितीय ब्रह्मतत्वमें एक [बड़ा] सुपना है [क्योंकि यह सब अद्वितीय ब्रह्मतत्वको अन्यथा समझ लियागया है]।

सुपना 'सुपना' है, यथार्थ ज्ञान नहीं है यह बात जागनेसे प्रथम नहीं जानी जासकती, यह बात जागनेपर ही ज्ञात होती है। इसी प्रकार 'यह जगत् एक सुपना है, ऐसा ज्ञान ब्रह्मविद्या नामके जागरणके होजाने पर ही होसकता है, पहले नहीं।

जीवेश्वर भी जगदन्तःपाती हैं

आनन्दमयविज्ञानमया वीश्वरजीवकौ ।
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥२१२॥

(एतौ आनन्दमयविज्ञानमयौ ईश्वरजीवकौ मायया कल्पितौ) ये जो आनन्दमय और विज्ञानमय हैं जिनको ईश्वर और जीव भी कहते हैं, ये दोनों मायाके कल्पित हैं। [इस कारण ये जगत्के अन्दरकी वस्तुएं हैं, जगत्के बाहरकी नहीं]। (ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्) इन ईश्वर और जीव दोनोंने मिलकर यह सब जगत् कल्पित कर डाला है।

विज्ञानके बाद आनन्द आता है। विज्ञान भिन्न भिन्न होते हैं। आनन्द सबको एक जैसा आता है। शूकरको शूकरीसे जितना आनन्द आता है, राजाको रानीसे भी उतना—उस जैसा ही—आनन्द आता है। यों आनन्द नामका जो ईश्वरतत्व है वह एक जैसा है एक है। परन्तु आन्दको प्रकट करनेवाले—उसका दर्शन करनेवाले, जो विज्ञानमय हैं, वे भिन्न भिन्न हैं। यही ईश्वर और जीवका वेदान्तसम्मत भेद है। ये दोनों माया के कल्पित हैं।

किसने कितनी सृष्टि रची

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥२१३॥

(ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिः ईशेन कल्पिता) [ईश्वर और जीव इन दोनोंमेंसे किसने कितना जगत् बनाया है सो भी सुनो] 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा' [ऐ० १-१] इस ईक्षणसे लेकर 'एतया द्वारा प्रापद्यत' [ऐतरे० ३-१२] इस प्रवेश तक कहीगयी सृष्टि ईशकल्पित है। (जाग्रदादि विमोक्षान्तः संसारः जीवकल्पितः) तस्य त्रय आवसथा [ऐत० ३ १२] से लेकर 'स एतमेव ब्रह्म ततमपश्यत्' [ऐतरे० ३-१३] तक वर्णन किया हुआ जाग्रत्से लेकर मोक्षपर्यन्त संसार जीवका बनाया हुआ है। [इसका विशेष विस्तार तृप्तिदीपके चतुर्थ श्लोकमें है।]

श्रुतिसिद्धतत्वज्ञानशून्योंको जीवेश्वरका तत्व समझमें नहीं आया

अद्वितीयं ब्रह्मतत्व मसङ्गं तन्न जानते ।
जीवेशयो र्मायिकयो र्वृथैव कलहं ययुः ॥२१४॥

(तत् अद्वितीयम् असङ्गं ब्रह्मतत्वं न जानते) संसारके लोग इस संसारमें जो एक अद्वितीय तथा असंगब्रह्मतत्व है उसको नहीं पहचानते और (मायिकयोः जीवेशयोः विषये वृथा एव कलहं ययुः) वृथा ही मायाकल्पित जीव तथा मायाकल्पित ईश्वरके विषयमें परस्पर लड़ मरे जाते हैं। [इन किसीको भी श्रुतिसिद्ध परमार्थ तत्वका परिज्ञान नहीं है]।

ज्ञानके अनिच्छुकको ज्ञान सिखाना वृथाश्रम

ज्ञात्वा सदा तत्वनिष्ठा ननु मोदामहे वयम् ।
अनुशोचाम एवान्यान्न भ्रान्ते र्विवदामहे ॥२१५॥

(वयं अद्वितीयब्रह्मतत्वं ज्ञात्वा सदा तत्वनिष्ठाः मोदामहे ननु) जबसे हम उस अद्वितीय ब्रह्मतत्वको पहचानगये हैं, तबसे सदा तत्वनिष्ठ रहकर बड़े प्रसन्न रहनेलगे हैं। (अन्यान् अनुशोचामः एव) जिन मन्द-भागियोंको इस तत्वका ज्ञान नहीं हुआ उनपर हमें केवल शोक होता है। (भ्रान्तेः विवदामहे न) हम भ्रान्तिमें फंसकर उनके साथ विवाद करना

नहीं चाहते। ऐसे लोगोंसे विवाद करना वृथा परिश्रम है। वे अपने अज्ञानसे जीवेश्वरविषयक कलहोंमें फंसे हुए हैं।

ईश्वरजीवविषयमें भ्रान्त वादी

तृणार्चकादियोगान्ता ईश्वरे भ्रान्तिमाश्रिताः।
लोकायतादिसांख्यान्ता जीवे विभ्रान्तिमाश्रिताः ॥२१६॥

(तृणार्चकादियोगान्ताः ईश्वरे भ्रान्तिम् आश्रिताः) तृणपूजकोंसे लेकर योगपर्यन्तवादियोंको 'ईश्वरतत्व'के विषयमें भ्रान्ति है। (लोकायतादिसांख्यान्ताः जीवे विभ्रान्तिम् आश्रिताः) लोकायतसे लेकर सांख्यपर्यन्त वादी 'जीव'के विषयमें भ्रममें हैं।

भ्रान्त कहनेका कारण

अद्वितीयब्रह्मतत्वं न जानन्ति यदा तदा।
भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम् ॥२१७॥

(यदा एते अद्वितीयब्रह्मतत्वं न जानन्ति तदा अखिलाः एव भ्रान्ताः) जबकि ये अद्वितीयब्रह्मतत्वको नहीं जानते तब ये सब भ्रान्त हैं। (तेषां क मुक्तिः क वा इह सुखम्) उन्हें न तो मुक्ति मिलनी है और न वे इस लोकमें सुख पासकते हैं। [तत्वज्ञान न होनेसे इन्हें मुक्ति नहीं मिलेगी तथा वैराग्यबन्धनके कारण ये लोग इस लोकके सुखोंसे स्वयं ही बचे रहेंगे। यों ये दोनों सुखोंसे वंचित होजांयगे।

ब्रह्मविद्याके न होनेपर उत्तमाधमभाव मूल्यहीन

उत्तमाधमभावश्चेत् तेषां स्यादस्तु तेन किम्।
स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां न बुद्धः स्पृश्यते खलु ॥२१८॥

(तेषाम् उत्तमाधमभावः चेत् स्यात् अस्तु) [ब्रह्मविद्याके अतिरिक्त और विद्याओंके कारण] यदि उन वादियोंमें ऊंचनीचभाव होता हो तो हुआ करो। (तेन किम्) ऐसे उत्तमाधमभावसे मुमुक्षु लोगोंको क्या लाभ? (बुद्धः स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां न स्पृश्यते खलु) देखते नहीं हो

कि सुपनेमें राज्य करनेसे और सुपनेमें भीख मांगनेसे, जागे हुएका कुछ घटता बढ़ता नहीं।

मुमुक्षुका कर्तव्य

तस्मान्मुमुक्षुभि नैंव मतिर्जीवेशवादयोः।
कार्या, किन्तु ब्रह्मतत्वं विचार्यं बुध्यतां च तत् ॥२१६॥

(तस्मात् मुमुक्षुभिः जीवेशवादयोः मतिः न एव कार्या) इस कारण [हमारा यही कहना है कि] जो लोग मुक्ति चाहते हों वे 'जीववाद' और 'ईश्वरवाद'के झगड़ेमें अपनी बुद्धि न फंसायें। (किन्तु तत् ब्रह्मतत्वं विचार्यं बुध्यतां च) उन्हें चाहिये कि वे सदा उसी ब्रह्मतत्वका विचार करें और विचारकर उस ब्रह्मतत्वको पहचानें।

जीवेश्वरवादमें बुद्धिको समाप्त न होने दो

पूर्वपक्षतया तौ चेत् तत्वनिश्चयहेतुताम्।
प्राप्नुतोऽस्तु निमज्जस्व तयो नैतावताऽवशः ॥२२०॥

(तौ चेत् पूर्वपक्षतया तत्वनिश्चयहेतुतां प्राप्नुतः तर्हि अस्तु) यदि वे जीववाद और ईश्वरवाद पूर्वपक्ष रूपसे तत्वका निश्चय करनेमें सहायक होते हों तो हमें कुछ कहना नहीं है। हम केवल यह कहते हैं कि (एतावता तयोः एव अवशः न निमज्जस्व) इतनेमात्रसे तुम इन जीवेश्वर दोनोंके ही विचारमें डूबे न रहजाओ [अपने विवेकज्ञानको इन दोनोंमें ही समाप्त मत कर बैठो]।

जीवेश्वरविषयमें हमारा सिद्धान्त

असङ्गचिद्विभुर्जीवः सांख्योक्तस्तादृगीश्वरः।
योगोक्तस्तत्त्वमोरर्थौ शुद्धौ ताविति चेच्छृणु ॥२२१॥
न तत्त्वमोरुभावर्था वस्मत्सिद्धान्ततां गतौ।
अद्वैतबोधनायैव सा कक्षा काचिदिष्यते ॥२२२

(सांख्योक्तः जीवः असङ्गचिद्विभुः) सांख्योंका जीव असङ्गचेतन और व्यापक है । (योगोक्तः ईश्वरः तादृक्) योगका बतायाहुआ ईश्वर भी वैसा [असंगचेतन और व्यापक] है । (तौ तत्त्वमोः शुद्धौ अर्थौ) ये ही 'तत्' और 'त्वं' के शुद्ध अर्थ हैं [इसको आप भी मानते हो, फिर उन्हें पूर्वपक्ष क्यों बताते हो] (इति चेत् शृणु) इसका उत्तर सुनो ॥२२१॥ (तत्त्वमोः तौ उभौ अर्थौ अस्मत्सिद्धान्ततां न गतौ) तत् और त्वंके ये दोनों अर्थ हमारा सिद्धान्त नहीं है [वे इन दोनोंमें वास्तव भेद मानते हैं । हमें वह भेद [तात्विक रूपसे] स्वीकार नहीं है ।] (सा काचित् कक्षा अद्वैतबोधनाय एव इष्यते) हमने जो कहीं कहीं भिन्न भिन्न 'तत्' 'त्वं' पदार्थों का निरूपण किया है, वह अद्वैतका ज्ञान करानेकेलिये एक रीति सोची है । [हमने सोचा है कि लोकप्रसिद्ध भेदको हटाकर, उन दोनों को एक बतानेके लिये पहले उन दोनोंको अलग अलग समझाया जाय, और पीछेसे उन दोनोंको एक कह दिया जाय । हमें उन दोनोंके भेदका प्रतिपादन करना अभीष्ट नहीं है] ।

पदार्थशोधनका उद्देश्य

अनादिमायया भ्रान्ता जीवेशौ सुविलक्षणौ ।
मन्यन्ते, तद्व्युदासाय केवलं शोधनं तयोः ॥२२३॥

(अनादिमायया भ्रान्ताः जीवेशौ सुविलक्षणौ मन्यन्ते) अपने ही आश्रयको व्यामोहमें डालदेनेवाली अनादि अविद्याके प्रतापसे भ्रान्ति में फंसे हुए लोग ही जीव और ईश्वरको अत्यन्त भिन्न मानते हैं, [वे समझते हैं कि कर्तृत्वआदि धर्मवाला जीव है, तथा सर्वज्ञता आदि गुणोंवाला ईश्वर है । वे इन दोनोंके धर्मोंको पारमार्थिक मानते हैं । इस कारण इन दोनोंको भी पृथक् पृथक् मानते हैं ।] (तद्व्युदासाय केवलं तयोः शोधनं कृतम्) हमने तो इनके इस भ्रान्त विचारको हटानेकेलिये उन दोनों ['तत्' 'त्वं'] का शोध किया है ।

अत एवात्र दृष्टान्तो योग्यः प्राक् सम्यगीरितः ।
घटाकाश-महाकाश-जलाकाशाभ्रखात्मकः ॥२२४॥

(अतः एव घटाकाशमहाकाश, जलाकाशाभ्रखात्मकः योग्यः दृष्टान्तः प्राक् सम्यक् ईरितः) क्योंकि हमें ततत्वं पदार्थोंका शोध करना है अर्थात् इन दोनोंमें अनुगत इनका शुद्ध रूप दिखाना है इसीसे हमने घटाकाश, महाकाश, जलाकाश तथा अभ्राकाशका योग्य दृष्टान्त पहले दिया था। [इस दृष्टान्तमें मूलतत्व एक है। उपाधिभेदसे उसीके अनेक नाम होगये हैं।]

पदार्थशोधनका प्रकार

जलाभ्रोपाध्यधीने ते जलाकाशाभ्रखे, तयोः ।
आधारौ तु घटाकाशमहाकाशौ सुनिर्मलौ ॥२२५॥

(जलाकाशाभ्रखे जलाभ्रोपाध्यधीने) जोकि जलाकाश तथा मेघाकाश हैं वे दोनों जल तथा मेघरूपी उपाधियोंके अधीन होते हैं [इसीसे वे दोनों अपारमार्थिक हैं।] (तयोः आधारौ घटाकाशमहाकाशौ तु सुनिर्मलौ) किन्तु उन दोनोंके आधार बने हुए जो घटाकाश और महाकाश हैं वे सुनिर्मल हैं। [क्योंकि यदि जलादि उपाधियोंकी उपेक्षा करदी जाय तो वे केवल आकाश ही आकाश हैं]।

एवमानन्दविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ ।
तदाधिष्ठानकूटस्थब्रह्मणी तु सुनिर्मले ॥२२६॥

(एवं आनन्दविज्ञानमयौ मायाधियोः वशौ) ऊपरके दृष्टान्तके अनुसार 'आनन्दमय' तो मायाके वशवर्ती और 'विज्ञानमय' 'बुद्धि'के वशवर्ती (तदधिष्ठानकूटस्थब्रह्मणी तु सुनिर्मले) उनके अधिष्ठान कूटस्थ तथा ब्रह्म सुनिर्मल रहते हैं।

एतत्कक्षोपयोगेन सांख्ययोगौ मतौ यदि ।
देहोऽन्नमयकक्षत्वा दात्मत्वेनाभ्युपेयताम् ॥२२७॥

(यदि एतत्कक्षोपयोगेन सांख्ययोगौ मतौ) यदि इस कक्षामें कुछ उपयोगी होजानेसे सांख्य और योगके मतको मानोगे तो फिर (अन्नमय कक्षत्वात देहः आत्मत्वेन अभ्युपेयताम्) अन्नमय कक्षामें उपयोगी होने से देहको भी आत्मा मानना पड़ जायगा।

तत्त्वं पदार्थोंके शोधनमें उपयोगी होनेमात्रसे यदि सांख्य योगशास्त्र मान लिये जांयगे तो इस काममें थोड़ा बहुत सब ही शास्त्रोंके मन्तव्योंका उपयोग होता है। उनके मन्तव्योंका उपयोग दूसरी बात है तथा उनके मतको मानना दूसरी बात है। पुत्रादि आत्मा नहीं है इसका निर्णय करानेकेलिये देहको आत्मा मानना भी उपयोगी होसकता है तो क्या देहको आत्मा मानलें ? आत्माके असङ्ग स्वरूपका निश्चय करनेके लिये सांख्य योगकी सब बातें कैसे मानलें ?

जीवभेद जगत्सत्यता तथा ईश्वरकी तटस्थतामें सांख्ययोगका वेदान्तसे विरोध

आत्मभेदो जगत्सत्य मीशोऽन्य इति चेत् त्रयम्।
त्यज्यते तैस्तदा सांख्योगवेदान्तसंमतिः ।।२२८।।

(तैः आत्मभेदः जगत्सत्यम् ईशः अन्यः इति त्रयं त्यज्यते चेत् तदा सांख्ययोगवेदान्तसंमतिः) यदि वे (१) आत्माओंकी अनेकता, (२) जगत् की सत्यता, (३) और ईश्वरकी आत्मासे भिन्नता, ये विरोधवाली तीनों बातें छोड़दें, तो सांख्य, योग तथा वेदान्तकी सम्मति होसकती है। [वे लोग जीवोंका भेद मानते हैं, जगत्को सत्य बताते हैं, ईश्वरको तटस्थ कहते हैं, फिर उनका हमारा विरोध कैसे टले ?

अद्वैतज्ञानके विना असंगता आदिका बोध असंभव

जीवोसङ्गत्वमात्रेण कृतार्थ इति चेत्तदा ।
स्रक्चन्दनादिनित्यत्वमात्रेणापि कृतार्थता ।।२२९।।

(जीवः असङ्गत्वमात्रेण कृतार्थः इति चेत् तदा) यदि यह समझा जाय कि हम जीवकी असङ्गताको जानलेनेसे ही कृतकृत्य (मुक्त) होजायेंगे, इस अद्वैतज्ञानका क्या करें ? उसका समाधान यह है कि

फिर तो (स्रक्चन्दनादिनित्यत्वमात्रेण अपि कृतार्थता) स्रक् चन्दनादि भोगोंको नित्य समझ लेनेसे भी कृतार्थता हो सकती है। [बहुतसे लोग स्रगादि भोगोंको नित्य मान बैठें तो क्या वे इससे कृतार्थ होसकते हैं ? अगले श्लोकको पढ़नेसे इसका भाव स्पष्ट होजायगा।]

यथा स्रगादिनित्यत्वं दुःसंपाद्यं तथात्मनः ।
असंगत्वं न संभाव्यं जीवतो जगदीशयोः ॥२३०॥

(यथा स्रगादिनित्यत्वं दुःसंपाद्यं तथा जगदीशयोः जीवतोः आत्मनः असंगत्वं न संभाव्यम्) जिस प्रकार माला आदि पदार्थोंकी नित्यता [का सिद्ध होना] असंभव है, इसीप्रकार जबतक जीव और जगदीश जीवित हैं [जबतक ये दोनों किसीको भास रहे हैं] तब तक आत्माकी असंगताका ज्ञान होना असम्भव समझलो [अद्वैतज्ञानके बिना असंगता का बोध नहीं होसकता यह भाव यहां गुप्त है। असङ्गता अद्वैतकी ही विशेषता है। द्वैतमें सङ्ग छुटनेका कोई कारण समझमें नहीं आता।]

अद्वैतज्ञानके बिना असंगताज्ञानकी असंभवता

अवश्यं प्रकृतिः सङ्गं पुरेवापादयेत् तथा ।
नियच्छत्येतमीशोऽपि कोऽस्य मोक्षस्तथा सति ॥२३१॥

[द्वैतवादमें असंगताकी असंभवताको स्पष्ट किया जा रहा है-जो अपने आपको असंग समझकर कृतकृत्य हो बैठा है] (प्रकृतिः पुरा इव अवश्यं सङ्गम् आपादयेत) यह प्रकृति पहलेकी भांति [जैसे कि उसने पहले असंगमें संग कर रक्खा था] फिर भी उसमें संग पैदा कर ही देगी। (ईशः अपि एनं पुरा इव नियच्छति) ईश्वर भी उसपर अपना शासन पूर्ववत् रक्खेंगे। (तथा सति अस्य मोक्षः कः) फिर बताओ कि ऐसी विवशताकी स्थितिमें उसका यह मोक्ष क्या होगा ?

अविवेककृतः सङ्गो नियमश्चेति चेत् तदा ।
बलादापतितो मायावादः सांख्यस्य दुर्मतेः ॥२३२॥

(सङ्गः नियमः च अविवेककृतः इति चेत्) सङ्ग और नियमन दोनों अविवेकसे उत्पन्न किये हुए हैं [फिर जब एक बार विवेकज्ञानसे अविवेक मरजायगा तब प्रकृति या ईश्वरके सङ्गसे अविवेक की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी ?] (तदा तुमतेः सांख्यस्य मायावादः बलात् आपतितः) ऐसा यदि सांख्य कहाताहो तब तो वह अविचारशील न चाहनेपर भी मायावादी होगया । [प्रश्न यह है कि अविवेकको अभावरूप या अन्य-रूप या भावरूप किस रूपका मानोगे ? यदि उस अविवेकको अभावमात्र मानें तब तो उससे भावरूप कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी । यदि और किसी पदार्थको संगका कारण मानें ? तो अविवेकको छोड़कर और कोई पदार्थ सङ्गको उत्पन्न करनेका कारण देखा नहीं गया । फिर जब उस अविवेकको भावरूप अज्ञान मानो, तब इसीको मायावाद कहाजायगा ।]

एकात्माके मायासे बन्धमोक्ष

बन्धमोक्षव्यवस्थार्थ मात्मनानात्वमिष्यताम् ।
इति चेन्न यतो माया व्यवस्थापयितुं क्षमा ॥२३३॥

(बन्धमोक्षव्यवस्थार्थम् आत्मनानात्वम् इष्यताम् इति चेत् न) [अद्वैतको मानें तो यह प्रत्यक्ष दीखनेवाली बन्धमोक्षव्यवस्था नहीं बनती इस] बन्धमोक्षव्यवस्थाको बनानेकेलिये आत्माओंको नाना मानलेना चाहिये, यह कथन ठीक नहीं । (यतः माया व्यवस्थापयितुं क्षमा) क्योंकि आत्माके एक होनेपर भी इस बन्धमोक्षव्यवस्थाको माया व्यवस्थित कर सकती है [इतनेसे कामके लिये आत्मभेद मानना ठीक नहीं है ।]

दुर्घटकारिता मायाका स्वभाव

'दुर्घटं घटयामीति' विरुद्धं किं न पश्यसि ।
वास्तवौ बन्धमोक्षौ तु श्रुतिर्न सहतेतराम् ॥२३४॥

(दुर्घटं घटयामि इति विरुद्धं किं न पश्यसि) क्या तुमने मायाकी विरुद्ध भाषा (बोली) नहीं सुनी है ? वह कहती है कि जो बात दुर्घट

है [हो नहीं सकती] उसे मैं करसकती हूं। सच्चे बन्ध या सच्चे मोक्षको श्रुति नहीं सहती [अनादेरन्तवत्वं च संसारस्य न सेत्स्यति। अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति। यदि इस संसारको अनादि मानलें तो फिर इस अनादि संसारका अन्त कभी नहीं होगा। यदि मोक्षको प्रारम्भ होनेवाला मानलें तो फिर यह आदिमान मोक्ष अनन्त नहीं हो सकेगा। (श्रुतिः वास्तवौ बन्धमोक्षौ न सहतेतराम्) यही कारण है कि श्रुति सच्चे बन्धमोक्ष नहीं मानती। वह कहती है कि—

मोक्षादिके वास्तव न होनेका प्रमाण

न निरोधो न चोत्पत्ति र्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्ष र्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥२३५॥

न कभी आत्माका नाश होता है। न यह आत्मा कभी उत्पन्न होता [देहके सम्बन्धमें आता] है। न इसे कभी बन्धन होता अर्थात् सुख दुःख होते हैं। न यह कभी साधक बनता अर्थात् श्रवणादि साधनों का अभ्यास करता है। न इसमें कभी मुमुक्षुभाव रहता है और न कभी यह मुक्त [अविद्यारहित] होता है। यह परमार्थ है कि इनमेंसे कोईसी भी बात वस्तुतः नहीं है। [निरोध, उत्पत्ति, बद्धता, साधकभाव, मुमुक्षुत्व तथा मुक्ति यह सब वास्तविक नहीं है। ये सब आत्मसागरमें आनेवाली क्षुद्र लहरें हैं। ये सब आत्मसमुद्रमें उठ खड़े हुए तुच्छ बुलबुले हैं। यह आत्मसागर समुद्रके गम्भीर अन्तस्तलके नाईं सदा शान्त और एकरस बना रहता है। उपर्युक्त घटनाओंमेंसे एक भी घटना पारमार्थिक नहीं है। बस यही सम्पूर्ण शास्त्रोंका निचोड़ किंवा परमार्थ बात है]।

जीवेश्वरादिभेदकी मायामयताका उपसंहार

मायाख्यायाः कामधेनो र्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि ॥२३६॥

इस सब कथनका सारांश यही है कि (जीवेश्वरौ उभौ मायाख्यायाः कामधेनोः वत्सौ) माया नामकी एक कामधेनु है, उसके दो बच्चे हैं, एकका नाम है 'जीव' दूसरेका नाम है 'ईश्वर'। (तौ यथेच्छं द्वैतं पिबताम्) वे दोनों बच्चे द्वैतरूपी दूध भले ही पेट भर भर पीते रहें [वे इसमें किलोलें किया करें] (तत्वं तु अद्वैतम् एव हि) परन्तु तत्व तो अद्वैत ही है।

कूटस्थब्रह्मणोर्भेदो नाममात्रादृते न हि।
घटाकाशमहाकाशौ वियुज्येते न हि क्वचित् ॥२३७

(कूटस्थब्रह्मणोः भेदः नाममात्रादृते न हि) कूटस्थ और ब्रह्म [दोनों पारमार्थिक हैं। इनका भेद पारमार्थिक नहीं है क्योंकि इन] का भेद नाममात्रके अतिरिक्त कुछ नहीं है [इनका भेद कहने ही कहने को है] (घटाकाशमहाकाशौ क्वचित् न वियुज्येते) जैसे घटाकाश और महाकाश [कहने ही कहनेको पृथक् पृथक् होते हैं वस्तुतः इन दोनों] का पार्थक्य कभी नहीं होता।

भेदाभिनिवेशका कारण

यदद्वैतं श्रुतं सृष्टेः प्राक्, तदेवाद्य, चोपरि।
मुक्तावपि, वृथा माया भ्रामयत्यखिलान् जनान् ॥२३८॥

(यत् अद्वैतं सृष्टेः प्राक् श्रुतं तत् एव अद्य तत् एव च उपरि मुक्तौ अपि) सदेव सोम्येदमग्र आसीत् [छा० ६-२-१] इस श्रुतिमें सृष्टिकी उत्पत्तिसे पहले जिस अद्वैत ब्रह्मतत्वका प्रतिपादन किया गया है, वही अद्वैततत्व तीनों कालोंमें रहता है—वही पहले था, वही आज भी विद्यमान है और भविष्यत्में मुक्ति होजानेपर भी वही अद्वैत बना रहेगा [इतना होनेपर सबको जो भेदका पक्षपात होरहा है उसका कारण यह है कि] (माया अखिलान् जनान् वृथा भ्रामयति) इस मायाने सब लोगोंको

वृथा ही भरमा रक्खा है [तत्वज्ञानसे हीन होनेके कारण लोगोंको भेदका अभिनिवेश होगया है ।]

व्यवहारमें अभिनिवेश न रहना विद्याका फल

ये वदन्तीत्थमेतेपि भ्राम्यन्ते विद्ययात्र किम् ?
न यथापूर्वमेतेषामत्र भ्रान्ते रदर्शनात् ॥२३९॥

(ये इत्थं वदन्ति एते अपि भ्राम्यन्ते अत्र विद्यया किम्) जो लोग प्रपंचको मायामय और तत्वको अद्वितीय बताते हैं, वे भी [अविद्याके वशमें आकर] भरमाये फिर रहे हैं [वे भी संसारमें फंसे देखे जाते हैं] फिर हम ऐसी कोरी विद्या किंवा ऐसे कोरे तत्व-ज्ञानका क्या करें ? (न अत्र एतेषां यथापूर्वं भ्रान्तेः अदर्शनात) ऐसी शंका करने वालेसे कहो कि इन लोगोंको इस संसारके विषयमें पहले जैसी भ्रान्ति नहीं रहगयी है [वे लोग प्रारब्धकर्म के वशसे व्यवहारमें फंसे भी रहें परन्तु इनको पहले जैसा अभिनिवेश [आग्रह आसक्ति] नहीं होता क्योंकि बन्धन मनकी वस्तु है, वह ज्ञानीका टूट जाता है। अद्वैततत्व भावप्रधान है। क्रियाओंको देखकर तत्वज्ञानका निश्चय नहीं होसकता। क्रिया तो ज्ञानी और अज्ञानी दोनों एकजैसी करते हैं। भेद इतना है कि ज्ञानी नाटकके पात्रोंकी भांति अपने भागमें आया काम करता है और अज्ञानी अपने भागमें आया काम आसक्ति या द्वेषसे करता है।]

अज्ञानीका निश्चय

ऐहिकामुष्मिकः सर्वः संसारो वास्तवस्ततः ।
न भाति नास्ति चाद्वैतमित्यज्ञानिविनिश्चयः २४०॥

(ऐहिकामुष्मिकः सर्वः संसारः वास्तवः) [स्त्री पुत्रादिका पोषण आदि] ऐहिक तथा [स्वर्ग सुखादिका अनुभव आदि] आमुष्मिक यह सब संसार वास्तव है। (ततः न भाति न अस्ति च अद्वैतम्) और अद्वैत

नामकी कोई वस्तु न तो प्रतीत होती है और न वह है। (इति अज्ञानि-विनिश्चयः) यहीं अज्ञानी लोगोंकी धारणा है।

ज्ञानीका निश्चय तथा अपने अपने निश्चयसे बन्ध मोक्ष

ज्ञानिनो विपरीतोऽस्मान्निश्चयः सम्यगीच्यते ।
स्वस्वनिश्चयतो बद्धो मुक्तोहं चेति मन्यते ॥२४१॥

(ज्ञानिनः निश्चयः अस्मात् विपरीतः सम्यक् इदयते) ज्ञानी लोगोंका निश्चय इससे विपरीत देखा जाता है, जो ज्ञानियोंमें स्पष्ट दीखता है। [वे समझते हैं कि अद्वैत ही एक पारमार्थिक वस्तु है तथा उन्हें अद्वैत की प्रीतीति भी होती है। वे संसारको निश्चित रूपसे अपारमार्थिक किंवा मिथ्या समझे हैं। (स्वस्वनिश्चयतः अहं बद्धः मुक्तः च इति मन्यते) अपने अपने निश्चयके अनुसार कोई अपनेको बद्ध और कोई अपनेको मुक्त माना करते हैं।

अद्वैतकी अनुभवगोचरता

नाद्वैतमपरोक्षं चेन्न चिद्रूपेण भासनात् ।
अशेषेण न भातं चेद् द्वैतं किं भासतेऽखिलम् ॥२४२॥

(अद्वैतम् अपरोक्षं न इति चेत् न) अद्वैत किसीको प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा कहना ठीक नहीं। (चिद्रूपेण भासनात्) क्योंकि 'घटकी स्फूर्ति होती है, पटकी स्फूर्ति होती है' इत्यादि चिद्रूपसे उस अद्वैतचेतन-तत्वकी प्रतीति सबको [सबपदार्थोंमें] होरही है। (अशेषण अद्वैतं न भातं चेत् द्वैतं किम् अखिलं भासते) इसपर भी यदि यह कहो कि संपूर्ण अद्वैतका भान किसीको नहीं होता, तो हम यह कहेंगे कि ऐसे तो संपूर्ण द्वैतका भान भी किसीको नहीं होता है [यों यह दोष दोनोंमें समान है।]

दिङ्मात्रेण विभानं तु द्वयोरपि समं खलु ।
द्वैतसिद्धिवदद्वैतसिद्धिस्ते तावता न किम् ॥२४३॥

(दिङ्मात्रेण विभानं तु द्वयोः अपि समं खलु) एकदेशका भान होजाना तो द्वैत और अद्वैत दोनों पक्षोंमें समान है। (द्वैतसिद्धिवत्ते तावता अद्वैतसिद्धिः किं न) जैसे तुम द्वैतके किसी एकदेशको देख कर सम्पूर्ण द्वैतको सिद्ध करलेते हो [उसपर विश्वास करलेते हो] इसी प्रकार तुम्हें अद्वैतके एकदेशको जानकर अद्वैतका निश्चय क्यों नहीं होता सो बताओ ?

द्वैतेन हीन मद्वैतं, द्वैतज्ञाने कथं त्विदम्।
चिद्भानं त्वविरोध्यस्य द्वैतस्यातोऽसमे उभे ॥२४४॥

पूर्वपक्षी कहाता है कि, (द्वैतेन हीनम् अद्वैतम्) द्वैतसे जो हीन हो वही 'अद्वैत' है। (द्वैतज्ञाने तु इदं कथं भवेत्) सो भाई, जब तक द्वैतका ज्ञान बना हुआ है तब तक अद्वैत कैसे ठहरेगा ? यह हमें बताओ [२४२ श्लोकमें तुम जो यह कह चुके हो कि चिद्रूपसे अद्वैततत्वका भास होरहा है सो तुम्हारा वह] (चिद्भानं तु अस्य द्वैतस्य अविरोधि) चिद्भान इस द्वैतका विरोध नहीं करता। (अतः उभे असमे) इस कारण तुम हमारी भांति यह नहीं कह सकते कि अद्वैतका विरोधी होनेसे अद्वैतके प्रतीत रहते-रहते द्वैतकी सिद्धि कैसे होजायगी ?

प्रतीयमान द्वैतके वास्तव न होनेसे वह वास्तव अद्वैतका विघाती नहीं होता

एवं तर्हि शृणु द्वैतमसन् मायामयत्वतः ।
तेन वास्तवमद्वैतं परिशेषाद् विभासते ॥ २४५ ॥

सिद्धान्ती इसका उत्तर यों देता है—हम जो द्वैतको असत् बताते हैं उसका कारण हमसे सुनो—हमारा कहना है कि (मायामयत्वतः द्वैतम् असत्) मायामय होनेके कारण यह द्वैत असत् है। (तेन परिशेषात् वास्तवम् अद्वैतं विभासते) जब इस प्रकार द्वैतका निषेध करडाला जाता है तब ज्ञानीको परिशेषसे वास्तव अद्वैत भासने लगता है। (प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसंगाच्छिष्यमाणे संप्रत्ययः परिशेषः) [प्राप्त हुए

सब पदार्थोंका निषेध करते करते जहां निषेध लागू न होता हो उसका सत्यत्व निश्चय करलेना 'परिशेष' कहाता है।]

परिशेषका प्रकार

अचिन्त्यरचनारूपं मायैव सकलं जगत् ।
इति निश्चित्य वस्तुत्वमद्वैते परिशेष्यताम् ॥२४६॥

(अचिन्त्यरचनारूपं सकलं जगत् माया एव) इस जगत्की न तो रचना समझमें आती है और न इसका कुछ रूप ध्यानपर चढ़ता है यों यह सम्पूर्ण जगत् 'अचिन्त्यरचना' और 'अचिन्त्यरूप' वाला होनेसे 'माया' किंवा 'मिथ्या' ही है। (इति निश्चित्य वस्तुत्वम् अद्वैते परिशेष्यताम्) इसप्रकार [अनिर्वचनीय होनेके कारण द्वैतके मिथ्यात्वका] निश्चय करके, परिशेषसे अद्वैतको वास्तव समझ लेना चाहिये।

द्वैतसत्यताकी निवृत्तिके लिये पुनः पुनः मिथ्यात्वविचार

पुनर्द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत् त्वं तथा पुनः ।
परिशीलय कोवात्र प्रयासस्तेन ते वद ॥२४७॥

(पुनः द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत्) यदि तुम्हें [पूर्ववासनाओंकी प्रबलतासे] फिर फिर द्वैतकी सत्यताका भान होता हो तो, (त्वं तथा पुनः परिशीलय) तुम्हें चाहिये कि तुम फिर उसीप्रकार विचार किया करो। (वद अत्र तेन ते को वा प्रयासः) बताओ कि इस विचार करनेमें तुम्हें कौनसा परिश्रम पड़ेगा ? [यही बात व्यासने 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इस सूत्रमें वेदान्तदर्शनके चतुर्थ अध्यायमें कही है कि आत्माके श्रवणादिकी आवृत्ति करतेरहना चाहिये। क्योंकि अनादिकालकी द्वैतवासनायें साधकपर लौट लौट कर आक्रमण करेंगी। वे अपना पूर्वाधिकार पानेकेलिये जीतोड़ प्रयत्न करेंगी। इसलिये साधकको भुलावेसे बचनेके लिये विवेकको दुहराते रहना चाहिये]।

अपरोक्षविद्याप्राप्ति विचारसमाप्तिका काल

कियन्तं कालमिति चेत् खेदोऽयं द्वैत इष्यताम् ।
अद्वैते तु न युक्तोऽयं सर्वानर्थनिवारणात् ॥२४८॥

(कियन्तं कालम् इत्थं विचारणीयम् इति चेत्) इसप्रकार 'विचार कब तक करें' (अयं खेदः द्वैते इष्यताम्) यह खेद द्वैतमें ही हो सकता है, (सर्वानर्थनिवारणात् अद्वैते तु अयं खेदः न युक्तः) सम्पूर्ण अनर्थों का निवारण होजाने से अद्वैतमें यह खेद युक्त नहीं है ।

यदि पूछो कि फिर कितने समय तक इसप्रकार विचार करते चलें तो उसका उत्तर यह है कि प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त होजाने पर यह विचार स्वयमेव समाप्त होजाता है । यह बात इसी प्रकरणके तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोयं समाप्यते पन्द्रहवें श्लोकमें कही जा चुकी है। विचार करते जानेका अनन्त खेद द्वैतवादमें ही हो सकता है । आत्मदर्शन होजाने पर सम्पूर्ण अनर्थोंके भागजानेसे, अद्वैतमें यह खेदकरना, किंवा अपने सामने एक अनन्त काम पड़ा हुआ देखना, युक्त नहीं है । जब अद्वैत का पूर्ण साक्षात्कार होता है तब विचार अपने आप छूट जाता है । रक्तपानसे तृप्त होकर गिर पड़ी हुई जोख [जलौका] की भांति विचारका अपने आप छूट जाना, ही अद्वैतप्राप्तिकी सूचना है ।

भूखप्यासकी प्रतीति आहंकारिक

क्षुत्पिपासादयो दृष्टा यथापूर्वं मयीति चेत् ।
मच्छब्दवाच्येऽहंकारे दृश्यतां नेति को वदेत् ॥२४९॥

(मयि क्षुत्पिपासादयः यथापूर्वं दृष्टाः इति चेत्) अद्वैतको समझ लेनेपर अब भी पहले की भांति मैं अपनेमें उन्हीं पहलेकी भूख प्यासोंको देखरहा हूँ । [फिर आत्मज्ञानको सम्पूर्ण अनर्थोंको भगा देनेवाला कैसे मान लूं ?] (मच्छब्दवाच्ये अहंकारे दृश्यताम्) ऐसा यदि कहाजाय तो उसका उत्तर यह है कि [मैं के दो अर्थ होते हैं एक 'अहंकार' दूसरा

'चिदात्मा'। चिदात्माको तो असंग और अविषय होनेके कारण भूख प्यास नहीं लगती।] ये भूख प्यास आदि मैं के अहंकाररूपी दूसरे अर्थ में पायी जाती हैं। (न इति कः वदेत्) भूख प्यास लगनेको तो कोई मना नहीं करता। [हमारा कहना केवल इतना है कि चिदात्मतत्वको भूख प्यास नहीं लगती, अहंकारको लगती हैं।]

अध्यासको हटानेके लिये विवेककी अनन्त आवृत्ति

चिद्रूपेऽपि प्रसज्येरंस्तादात्म्याध्यासतो यदि ।
माध्यासं कुरु किन्तु त्वं विवेकं कुरु सर्वदा ॥२५०॥

(यदि तादात्म्याध्यासतः चिद्रूपे अपि प्रसज्येरन्) यदि [कहा जाय कि चिदात्मामें भूख प्यास वस्तुतः न होती हों तो न हों किन्तु] तादात्म्याध्यास किंवा भ्रमसे चिदात्मामें भी भूख प्यास लगने लगें तो हम क्या करें ? इसका उत्तर यह है कि [इस बातको पहचाननेके पश्चात् तुम यह करो कि] (अध्यासं मा कुरु किन्तु त्वं सर्वदा विवेकं कुरु) अनर्थके मूल इस अध्यासको करना छोड़ दो और [अध्यासको निवृत्त करनेकेलिये] सदा विवेक करते रहा करो।

विवेक ही अध्यासनिवृत्तिका एकमात्र उपाय

झटित्यध्यास आयाति दृढवासनयेति चेत् ।
आवर्तयेद् विवेकं च दृढं वासयितुं सदा ॥२५१॥

(दृढवासनया झटिति अध्यासः आयाति इति चेत्) यदि अनादि दृढ वासनाओंकी प्रबलतासे यह गया हुआ अध्यास बार बार लौटकर आता हो तो, (विवेकं दृढं वासयितुं सदा आवर्तयेत्) उसको निवृत्त करनेकेलिये विवेककी आवृत्ति करनी चाहिये। जिससे कि विवेककी वासनायें दृढ होजांय [इसके अतिरिक्त अध्यासको हटानेका अन्य कोई उपाय नहीं है। जैसे अध्यासने हमारे हृदयमें जड़ पकड़ली हैं इसीप्रकार विवेकको बद्धमूल करनेकेलिये—अध्यासका स्थान विवेकको देदेने केलिये-विवेककी अनन्त आवृतियें करनी पड़ेंगी।]

द्वैतकी अचिन्त्यरचनामें अपना साक्षित्व

विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्यैवेति न भण्यताम् ।
अचिन्त्यरचनात्वस्यानुभूतिर्हि स्वसाक्षिकी ॥२५२॥

(विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्या एव इति न भण्यताम्) विचार करनेपर द्वैतका मिथ्यापन केवल युक्तिसे सिद्ध होता है । [अनुभवसे द्वैतका मिथ्यापन सिद्ध नहीं होता] ऐसा कभी न कहना चाहिये । (हि अचिन्त्यरचनात्वस्य अनुभूतिः स्वसाक्षिकी) क्योंकि इस द्वैतके अचिन्त्य रचनापनेका किंवा मिथ्यापनेका जो अनुभव होता है उसका साक्षी अपना आत्मा है [इस द्वैतकी रचनाका चिन्तन भी नहीं होसकता यह प्रत्येक का अनुभव कह रहा है ।]

चिदप्यचिन्त्यरचना यदि तर्ह्यस्तु नो वयम् ।
चितिं सुचिन्त्यरचनां ब्रूमो नित्यत्वकारणात् ॥२५३॥

(यदि तर्हि चित् अपि अचिन्त्यरचना) यदि यह कहा जाय कि ऐसे तो चिदात्माकी रचना भी अचिन्त्य है [फिर वह मिथ्या क्यों नहीं] तो हम कहेंगे कि (अस्तु) आत्मा अचिन्त्यरचनावाला है तो हुआ करो । (वयं चितिं नित्यत्वकारणात् सुचिन्त्यरचनां नो ब्रूमः) हम उस चिति को भी नित्य होनेके कारण सुचिन्त्यरचनावाली कभी नहीं कहते । [नित्य-पदार्थोंकी रचना ही नहीं होती इसी कारण उनको भी अचिन्त्यरचनावाला ही माना जाता है ।]

चितिकी नित्यता

प्रागभावो नानुभूतश्चितेर्नित्या ततश्चितिः ।
द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येनानुभूयते ॥२५४॥

(चितेः प्रागभावः न अनुभूतः ततः चितिः नित्या) चिति इसलिये नित्य है कि इसका प्रागभाव किसीके अनुभवमें नहीं आता । (द्वैतस्य

प्रागभावः तु चैतन्येन अनुभूयते) द्वैतके प्रागभावको तो यह चैतन्य अनुभव किया करता है। [देखते हैं कि यह साक्षीचैतन्य जाग्रदादि द्वैतके अभावको सुषुप्तिके समय अनुभव करता है।]

द्वैतमिथ्यात्व

प्रागभावयुतं द्वैतं रच्यते हि घटादिवत् ।
तथापि रचनाऽचिन्त्या मिथ्या तेनेन्द्रजालवत् ॥२५५॥

(प्रागभावयुतं द्वैतं घटादिवत् रच्यते हि) यह द्वैत प्रागभावसे युक्त होनेके कारण घटादिके समान रचा तो जाता है, (तथापि तस्य द्वैतस्य रचना अचिन्त्या) तो भी इसकी रचना अचिन्त्य है [इसकी रचना किसीकी समझमें आनेवाली नहीं है। कोई भी यथार्थ रूपसे इसकी रचनाको जान नहीं सका है] (तेन इन्द्रजालवत् मिथ्या) इससे यही कहना पड़ता है कि यह इन्द्रजालके समान मिथ्या है [जो वस्तु रची जाय पर उसकी रचना अचिन्त्य हो, उसे मिथ्या' कहा जाता है। यह मिथ्याका लक्षण द्वैतमें मिलता है, इससे द्वैतका मिथ्यापन सिद्ध होचुका।]

चित्प्रत्यक्षा ततोऽन्यस्य मिथ्यात्वं चानुभूयते ।
नाद्वैतमपरोक्षं चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥२५६॥

[स्वप्रकाश होनेके कारण] चिति तो नित्य ही प्रत्यक्ष प्रतीत हो रही है। उस चितिसे भिन्न जो भी कुछ है, उस सबके मिथ्याभावको भी वही चिति अनुभव कर रही है [यह बात यहां तक सिद्ध की जा चुको] इतने पर भी जब कोई यह कह बैठे कि (अद्वैतम् अपरोक्षं न च) हमें अद्वैतका अपरोक्ष [प्रत्यक्ष] नहीं होता तो (इति एतत् व्याहतं कथं न) उसके इस कथनमें व्याघात दोष क्यों नहीं है ? [इसी प्रकरण के चिद्रूपेण भासनात् २४२ श्लोकमें अद्वैतके प्रत्यक्ष होनेकी बात

भले प्रकार समझा दी है। इस कारण अद्वैतका प्रत्यक्ष न होना विरुद्ध बात है। जो अद्वैत होगा वह अवश्य प्रत्यक्ष होगा।]

इत्थं ज्ञात्वाप्यसन्तुष्टाः केचित् कुत इतीर्यताम् ।
चार्वाकादेः प्रबुद्धस्याप्यात्मा देहः कुतो वद ॥२५७॥

(एवं ज्ञात्वा अपि केचित् कुतः संतुष्टाः इति ईर्यताम्) वेदान्तकी बतायी इस महावार्ताको जानकर भी बहुतसे लोग इससे सन्तुष्ट क्यों नहीं हैं ? [उन्हें इसपर विश्वास क्यों नहीं होता ?] जब हमसे यह पूछा जायगा तब हम कहेंगे कि (वद प्रबुद्धस्य अपि चार्वाकादेः देहः आत्मा कुतः) तुम यह बताओ कि ऊहापोह करनेमें परम प्रवीण (बड़े समझदार] चार्वाक आदि लोग भला देहको आत्मा क्यों मानते हैं ? [भाव यह है कि जिन लोगोंको मताध्यास होजाता है वे दूसरेकी उचित बात को भी अपने हृदयमें घुसने नहीं देते।]

सम्यग्विचारो नास्त्यस्य धीदोषादिति चेत् तथा।
असन्तुष्टास्तु शास्त्रार्थं न त्वैक्षन्त विशेषतः ॥२५८॥

(धीदोषात् अस्य सम्यग्विचारः न अस्ति इति चेत्) यदि कहा कि 'इस चार्वाकने तो धीदोषके कारण भले प्रकार विचार ही नहीं किया है (तथा असन्तुष्टाः धीदोषात् शास्त्रार्थं विशेषतः न तु ऐक्षन्त) तो हम कहेंगे कि जो लोग बुद्धिदोषके कारण असन्तुष्ट हैं उन्होंने भी वेदान्तकी गुह्य बातका गम्भीर विचार नहीं किया। [वे ऊपर ऊपर इसे सुनकर हंसीमें टाल जाते हैं। नहीं तो बताओ कि सारे संसारका प्रत्यक्ष तो हमें हो, परन्तु हमें समस्त संसारको प्रत्यक्ष करनेवाले सर्वव्यापी अपने आपेका प्रत्यक्ष न हो--अपना आपा हमें परोक्ष बना रहे--संसारमें इससे बड़ी मूर्खता और इससे बड़ा अपराध और कोई होसकता है ?]

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
इति श्रौतं फलं दृष्टं नेति चेद् दृष्टमेव तत् ॥२५९॥

(यदा अस्य हृदि श्रिताः सर्वे कामाः प्रमुच्यन्ते) जब इस मुमुक्षु के हृदयमें घुसे हुए काम अथवा इच्छादि सबके सब [मुमुक्षुके हृदयमेंसे] निकलकर भाग जाते हैं [तत्वज्ञानके प्रभावसे अध्यास निवृत्त होते ही जब वे सब निवृत्त होजाते हैं] तब देहके साथ अज्ञानावस्थाके तादात्म्याध्याससे बार बार मरमिटनेवाला यह मर्त्य तुरन्त अमर पदको पाजाता है [क्योंकि वह इस हाड मांसके देहमें ही सत्यादिस्वरूप ब्रह्मको ठीक ठीक प्राप्त होजाता है। तत्वज्ञानका ऐसा श्रौत महाफल है] फिर भी यदि यह कहाजाय कि (इति श्रौतं फलं न दृष्टम् इति चेत् तत् दृष्टम् एव) यह कामनिवृत्ति आदि महाफल श्रुतिने कह ही दिया है, परन्तु ऐसा कहीं देखा नहीं जाता है तो हम फिर प्रबल शब्दोंमें कहेंगे कि ऐसा फल देखा ही गया है। [अगले श्लोकमें जो श्रुति उद्धृत की जारही है उसके तात्पर्यपर दृष्टि डालनेसे सिद्ध है कि कामनिवृत्तिरूपी फल दृष्टफल है और उसे ग्रन्थिभेद नामसे कहागया है। ऐसे योगी महात्मा कोई न कोई सदा रहते हैं कि जिनका ग्रन्थिभेद हो चुकता है, जो अमर हो चुकते हैं और यहीं अमर पद पाचुके होते हैं]।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयग्रन्थयस्त्विति ।
कामा ग्रन्थिस्वरूपेण व्याख्याता वाक्यशेषतः ॥२६०॥

कामनानिवृत्ति दृष्टफल इसलिये है कि (यदा सर्वे हृदयग्रन्थयः तु प्रभिद्यन्ते इति वाक्यशेषतः कामाः एव ग्रन्थिस्वरूपेण व्याख्याताः) यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते [कठ० ६-१५] इस वाक्यशेषमें कामनाओंको ग्रन्थिरूप व्याख्यान किया है। इस वाक्यमें कामनाओंसे छुटकारा पाजानेको ग्रन्थिभेद बताया है [जब अहंकार और चिदात्माका तादात्म्याध्यास निवृत्त होजाता है तब उसीको 'ग्रन्थिभेद' कहते हैं। वह ग्रन्थिभेद तो होजाय और किसीको उसका प्रत्यक्ष न हो यह कैसे सम्भव होसकता है ? यह ग्रन्थिभेद धर्माधर्मकी भांति अप्रत्यक्ष रहनेवाला तत्व नहीं है।

इसीसे कहा था कि कामनिवृत्तिरूपी फल देखा ही गया है। यह केवल पुस्तकोंमें लिखने ही लिखनेकी बात नहीं है। यह अनुभवसिद्ध तत्व है।]

अध्यासमूलक इच्छायें हीं काम कहाती हैं

अहंकारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः ।
इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः ॥२६१॥

(अहंकारचिदात्मानौ अविवेकतः एकीकृत्य इदं मे ... कामशब्दिताः) अहंकार और चिदात्माको, अपने अज्ञान [या अध्यास] से, एक बनाकर, ऐसी इच्छा करे कि 'यह भी मुझे मिले' और 'वह भी मुझे मिले' इसप्रकारकी अध्यासमूलक इच्छायें 'काम' कहाती हैं [इच्छामात्र काम नहीं कहातीं]।

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहंकृतिम् ।
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः ॥२६२॥

(चिदात्मानम् अहंकारे अप्रवेश्य) चिदात्माको अहंकारमें प्रविष्ट न किया जाय अर्थात् उसे तादात्म्याध्याससे अहंकारके अन्तर्भूत न कर लिया जाय (अहंकृतिं पृथक् पश्यन्) और अहंकारको उससे पृथक् देखते रहा जाय। (कोटिवस्तूनि इच्छन् अपि ग्रन्थिभेदतः न बाधः) फिर चाहे कोई करोड़ों वस्तुओंकी इच्छा करता रहो, ग्रन्थिभेद होजानेके कारण फिर उसकी कुछ भी हानि नहीं होनी। [तात्पर्य यह कि अध्यासमूलक कामना त्याज्य है। साधारणतया सब इच्छाओंको त्याज्य कहनेमें शास्त्रका तात्पर्य नहीं है। जिन कामनाओंके मूलमें अध्यास नहीं होता उनसे किसी हानिकी सम्भावना नहीं होती। प्रत्युत उन अध्यासहीन कामनाओंसे शरीरकी जीवनयात्रा और लोकसंग्रह किंवा लोकशिक्षण भी होता है। कई प्रातःस्मरणीय साधक साधना करते करते ऐसे चतुर हो जाते हैं कि वे चिदात्मा और अहंकारको कभी नहीं मिलने देते। ऐसे लोग जीवनयात्राकेलिये करोड़ों पदार्थोंकी इच्छा भी करें तो भी उनके पथभ्रष्ट होजानेकी शंका नहीं होती।]

ग्रन्थिभेदेऽपि संभाव्या इच्छाः प्रारब्धदोषतः ।
बुद्ध्वापि पापबाहुल्या दसन्तोषो यथा तव ॥२६३॥

(इच्छाः प्रारब्धदोषतः ग्रन्थिभेदे अपि संभाव्याः) ग्रन्थिभेद होजाने पर भी, प्रारब्धदोषके कारण, इच्छाओंका होना संभव है। (यथा बुद्ध्वा अपि पापबाहुल्यात् तव असन्तोषः) जैसे कि तुझे आत्मतत्व को समझकर भी, पापोंकी अधिकतासे अभी तक सन्तोष नहीं होरहा है। [प्रश्न यह है कि अध्यास न रहनेपर कामनायें उत्पन्न नहीं होनी चाहियें ? इसका समाधान यह है कि प्रारब्ध कर्मकी प्रबलतासे, निर्वीर्य कामनायें, अध्यासहीन ज्ञानीको भी उत्पन्न होती रह सकती हैं]।

अहंकारगतेच्छाद्यै र्देहव्याध्यादिभिस्तथा ।
वृक्षादिजन्मनाशैर्वा चिद्रूपात्मनि किं भवेत् ॥२६४॥

(यथा देहव्याध्यादिभिः तथा वृक्षादिजन्मनाशैः वा अहंकार साक्षिणः बाधः न अस्ति तथा ग्रन्थिभेदे जाते चिद्रूपात्मनि अहंकारगतेच्छादिभिः किं भवेत्) जिस प्रकार देहकी व्याधियोंसे या जैसे वृक्षादिके उत्पन्न होने या विनष्ट होजानेसे अहंकारके साक्षी आत्मतत्वका कुछ नहीं बिगड़ता इसीप्रकार ग्रन्थिभेद होजाने [अध्यासनिवृत्त होजाने] पर अहंकारको होनेवाली इच्छाओंसे चिद्रूप आत्माकी बाधा नहीं होती।

ग्रन्थिभेदात् पुराप्येवमिति चेत् तन्न विस्मर ।
अयमेव ग्रन्थिभेदस्तव तेन कृती भवान् ॥२६५॥

(ग्रन्थिभेदात् पुरा अपि एवं आत्मनः बाधः न अभूत् इति चेत्) यदि कोई यह कहे कि जबतक ग्रन्थिभेद नहीं हुआ था, तबतक भी तो कामादिसे इस आत्माकी बाधा नहीं होती थी [यह आत्मतत्व पहले भी ऐसा ही था] तो हम उससे कहेंगे कि (तत् न विस्मर) बस इस महावार्ता को कभी न भूलना। (अयम् एव तव ग्रन्थिभेदः) तुममें ऐसी समझका

आजाना ही तुम्हारा 'ग्रन्थिभेद' है। तेरा ग्रन्थिभेद होचुका। (तेन भवान् कृती) तुम इस ग्रन्थिभेदके कारण कृतकृत्य होचुके।

ग्रन्थिका लक्षण और ज्ञानी अज्ञानका भेद

नैवं जानन्ति मूढाश्चेत् सोऽयं ग्रन्थिर्न चापरः।
ग्रन्थितद्भेदमात्रेण वैषम्यं मूढबुद्धयोः ॥२६६॥

यदि कहो कि (मूढाः एवं न जानन्ति) साधारण लोग ऐसा नहीं समझते, तो हम कहेंगे कि (सः अयं ग्रन्थिः) यही 'ग्रन्थि' है [ऐसाज्ञान न होना ही 'ग्रन्थि' कहाती है] (न च अपरः) इसके अतिरिक्त और कोई ग्रन्थि नामका पदार्थ नहीं है। (मूढबुद्धयोः ग्रन्थितद्भेदमात्रेण वैषम्यम्) मूढ और ज्ञानीमें यही अन्तर होता है कि मूढोंकी ग्रन्थि लगी रहती है तथा ज्ञानीकी ग्रन्थि खुलजाती है।

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा देहेन्द्रियमनोधियाम्।
न किञ्चिदपि वैषम्य मस्त्यज्ञानिविबुद्धयोः ॥२६७॥

(देहेन्द्रियमनोधियां प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा अज्ञानिविबुद्धयोः किंचित् अपि वैषम्यं न अस्ति) जब देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि किसी काममें प्रवृत्त और किसी कामसे निवृत्त होती हैं, तब अज्ञानी और ज्ञानीमें स्वल्प भी अन्तर नहीं पायाजाता। [इसीसे कहते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानीमें केवल 'ग्रन्थि' और 'ग्रन्थिभेद' का अन्तर होता है।]

व्रात्यश्रोत्रिययो र्वेदपाठापाठकृता भिदा।
नाहारादावस्ति भेदः सोयं न्यायोऽत्र योज्यताम् ॥२६८॥

देखते नहीं हो कि 'व्रात्य' तथा 'श्रोत्रिय' में केवल वेदपाठ कर सकने और न करसकनेका अन्तर होता है। (आहारादौ भेदः न अस्ति) उनके खानपानमें कोई भेद नहीं होता। (सः अयं न्यायः अत्र योज्यताम्) इसी न्यायको यहां भी लगालेना चाहिये।

ग्रन्थिभेद

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।
उदासीनवदासीन इति ग्रन्थिभिदोच्यते ॥२६६॥

ज्ञानीकी ग्रन्थि नहीं रहती यह बात गीताने भी कही है कि (संप्रवृत्तानि दुःखानि न द्वेष्टि) ज्ञानी ऊपर आपड़े दुःखोंमें द्वेष नहीं करता। (निवृत्तानि सुखानि न कांक्षति) जाते हुए सुखोंसे ठहरनेको नहीं कहता। (उदासीनवत् आसीनः) केवल उदासीनकी भांति रहने लगता है। (इति ग्रन्थिभिदा उच्यते) बस इसीको 'ग्रन्थि-भेद' कहते हैं। [अहंकार तथा चिदात्माकी ग्रन्थि न लगनेदेना अर्थात् इन्हें परस्पर न मिलनेदेना संसार की असाधारण महत्वयुक्त घटना है। संसारमें इससे बड़ी कोई घटना नहीं होती। यही घटना संसाररचनाका मुख्य उद्देश्य है। संसार इसी घटनाको घटानेकेलिये बना है। इस घटनाके स्मरणसे भी पुण्य होता है। इस घटनाके होनेपर 'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था विश्वंभरा पुण्यवती च तेन' ऐसे लोगों को उत्पन्न करनेवाले कुल पवित्र मातायें धन्य तथा भूमियें पुण्यशालिनी होजाती हैं।]

औदासीन्यं विधेयं चेद् वच्छब्दव्यर्थता तदा ।
न शक्ता अस्य देहाद्या इति चेद् रोग एव सः ॥२७०॥

ग्रन्थिभेदका वर्णन करनेवाले इस गीतावाक्यमें (औदासीन्यं विधेयं चेत्) यदि उदासीनताका विधान मानाजायगा [कि उसे उदासीन की भांति रहनेलगना चाहिये। संसारके काम छोड़कर भागजाना चाहिये] (तदा वच्छब्दव्यर्थता) तो उदासीनवदासीनः [गीता १४-२३] इस वाक्य में वत् शब्दका प्रयोग निष्प्रयोजन होगा। ['वत्' शब्दका अभिप्राय यह है कि जैसे उदासीन [बेगारी] काम करते हैं, जैसे उन्हें उसके फलसे कुछ प्रयोजन नहीं होता इसप्रकार रहने लगता है, फलासक्तिको छोड़ देता है। अन्दरसे त्याग रखता है और बाहरसे संग करता है, यही इसका भाव

है] (अस्य देहाद्याः न शक्ताः इति चेत् सः रोगः एव) यदि कहो कि ज्ञान होनेपर ऐसी अवस्था होजाती होगी कि ज्ञानीके देहादि कुछ काम कर ही नहीं सकते होंगे, तो हमें यह बात सुनकर हंसी आती है कि ज्ञानीके शरीरको अशक्त करदेनेवाला वह ज्ञान क्या हुआ ? वह तो एक रोग हुआ [वह ज्ञान एक प्रकारका पक्षाघात हुआ ।]

तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यन्ते ये महाधियः ।
तेषां प्रज्ञातिविशदा किं तेषां दुःशकं वद ॥२७१॥

(ये महाधियः तत्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यन्ते) जो महाबुद्धि लोग तत्वबोधको एकप्रकारका क्षयरोग मानते हैं [कि तत्वज्ञानीके हाथ पैर नहीं उठते] उनकी बुद्धिके विषयमें हम क्या कहें ? (तेषां प्रज्ञा अति-विशदा) उनकी बुद्धि बड़ी विशद है । (वद तेषां किं दुःशकम्) बताओ ऐसे पुरुषोंको क्या असाध्य है ? [वे जो चाहें कह सकते हैं]

भरतादे रप्रवृत्तिः पुराणोक्तेति चेत्तदा ।
जक्षन् क्रीडन् रतिं विन्दन्नित्यश्रौषीर्न किं श्रुतिम् ॥२७२॥

(भरतादेः अप्रवृत्तिः पुरोणाकता इति चेत्) यदि कहा जाय कि 'जडभरत आदि महात्मालोग कुछ नहीं करते थे' यह बात पुराणमें कही गयी है । [पुराणोंका कहना है कि ज्ञानी लोग किसी काममें प्रवृत्त नहीं होते] (तदा जक्षन्······इति श्रुतिं न अश्रौषीः किम्) तो हम उससे कहेंगे कि जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम् [छा० ८-१२-३] {खाता स्वेच्छा विहारकरता स्त्रियोंसे यानोंसे रमणकरता मनुष्योंके समीप बैठता इस शरीरको भूला हुआ} यह श्रुतिका वाक्य क्या तुमने नहीं सुना ? जिसमें ज्ञानीकी प्रवृत्तिका विधान किया है [उपर्युक्त आक्षेप श्रुतिके मर्मको न जाननेके कारण है ।]

न ह्याहारादि सन्त्यज्य भरताद्याः स्थिताः क्वचित् ।
काष्ठापाषाणवत् किन्तु संगभीता उदासते ॥२७३॥

(भरताद्याः काष्ठपाषाणवत् आहारादि सन्त्यज्य क्वचित् न हि स्थिताः) भरतादि काष्ठ या पाषाणकी भांति खान पान आदिका परित्याग कर कहीं नहीं पड़ गये थे। (ते सङ्गभीताः उदासते) किन्तु वे लोग सङ्गदोष लगजानेके डरसे, उदासीन रहते थे। [पुराणोंका तात्पर्य उनकी उदासीनता दिखानेमें है प्रवृत्यभाव दिखानेमें नहीं]

सङ्गत्यागका कारण

सङ्गी हि बध्यते लोके निःसङ्गः सुखमश्नुते ।
तेन सङ्गः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ॥२७४॥

लोकमें देखते हैं कि सङ्ग करनेवाले लोग बंधे फिरते हैं। निःसङ्ग लोगोंको मौज मारते हुए पायाजाता है। इससे जो लोग नित्यसुखकी इच्छा रखते हों, उन्हें सदाकेलिये सङ्गका परित्याग करदेना चाहिये।

अज्ञात्वा शास्त्रहृदयं मूढो वक्त्यन्यथान्यथा ।
मूर्खाणां निर्णय स्त्वास्तामस्मत्सिद्धान्त उच्यते ॥२७५॥

(मूढः शास्त्रहृदयम् अज्ञात्वा अन्यथा अन्यथा वक्ति) मूर्ख लोग शास्त्रके मर्मको न पहचानकर कुछ का कुछ कहने लगते हैं। (मूर्खाणां निर्णयः तु आस्ताम् अस्मत्सिद्धान्तः उच्यते) इस कारण अब हम उनकी बातपर विचार छोड़कर अपनी प्रकृत बात, ज्ञानियोंकी प्रवृत्ति अप्रवृत्तिके विषयमें शास्त्रके रहस्यका वर्णन करते हैं।

शास्त्रका सिद्धान्त

वैराग्यबोधोपरमाः सहायास्ते परस्परम् ।
प्रायेण सह वर्तन्ते वियुज्यन्ते क्वचित् क्वचित् ॥२७६॥

(ये वैराग्यबोधोपरमाः ते परस्परं सहायाः) शास्त्रका सिद्धान्त यह है कि ये जो 'वैराग्य' 'बोध' तथा 'उपरम' हैं ये तीनों परस्परके सहायक हैं। (प्रायेण सह वर्तन्ते) ये तीनों प्रायः करके साथ साथ रहते हैं। (एते क्वचित् क्वचित् वियुज्यन्ते) कहीं कहीं अलग अलग भी होजाते हैं।

हेतुस्वरूपकार्याणि भिन्नान्येषामसङ्करः ।
यथावदवगन्तव्यः शास्त्रार्थं प्रविविच्यता ॥२७७॥

(एषां हेतुस्वरूपकार्याणि भिन्नानि सन्ति) इन [वैराग्य बोध तथा उपरम] तीनों के (१) कारण, (२) स्वरूप, तथा (३) कार्य तीनों भिन्न भिन्न हैं। [इससे ये तीनों एक नहीं हैं]। (शास्त्रार्थं प्रविविच्यता एषाम् असङ्करः यथावत् अवगन्तव्यः) शास्त्रार्थका विवेक करने वाले लोगों को इन तीनोंका तथा इनके कारण स्वरूप तथा कार्योंका भेद ठीक ठीक रीतिसे समझ लेना चाहिये ।

वैराग्यके हेतु स्वरूप तथा कार्य

दोषदृष्टि र्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता ।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी ॥२७८॥

(दोषदृ······दीनता त्रयः अपि अमी वैराग्यस्य असाधारण-हेत्वाद्याः) दोषदृष्टि आदि तीनों वैराग्यके असा धारण कारण, स्वरूप, तथा फल हैं। विषयोंमें दोषदृष्टि, वैराग्यका मुख्य 'कारण' है। विषयोंको छोड़नेकी अभिलाषा, वैराग्यका मुख्य 'स्वरूप' है। भोगोंके प्रति दीनता का न रहना, वैराग्यका 'फल' है।

बोधके हेतु स्वरूप तथा कार्य

श्रवणादित्रयं तद्वत् तत्वमिथ्याविवेचनम् ।
पुनर्ग्रन्थेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः ॥२७९॥

(······एते त्रयः बोधस्य असाधारणहेत्वाद्याः मताः) ये तीनों बोधके असाधारण कारण, स्वरूप तथा फल माने गये हैं। श्रवण मनन तथा निदिध्यासन, ये तीनों बोधके मुख्य 'कारण' हैं। सत्य और मिथ्या अर्थात् कूटस्थ तथा अहंकार आदिका विवेक अर्थात् भेदज्ञान बोधका मुख्य 'स्वरूप' है। ग्रन्थि अर्थात् अन्योन्याध्यासका फिर कभी उदय न होना, बोधका मुख्य 'कार्य' माना जाता है।

उपरतिके हेतु स्वरूप तथा कार्य

यमादिर्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः ।
स्युर्हेत्वाद्या उपरते रित्यसंकर ईरितः ॥२८०॥

उपरतिके मुख्य 'कारण' यमनियमादि हैं । बुद्धि अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध होजाना उपरतिका 'स्वरूप' है । व्यवहारका समाप्त होजाना, उपरतिका 'फल' है । (इति असङ्करः ईरितः) यों इन तीनोंके भेदका वर्णन किया गया ।

तत्वबोधकी प्रधानता

तत्त्वबोधः प्रधानं स्यात् साक्षान्मोक्षप्रदत्वतः ।
बोधोपकारिणावेतौ वैराग्योपरमावुभौ ॥२८१॥

[तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (श्वे० ३-८) इस श्रुतिके आधारसे कहते हैं कि] (एषां त्रयाणां मध्ये साक्षात् मोक्षप्रदत्वतः तत्वबोधः प्रधानं स्यात्) इन तीनोंमें साक्षात् मोक्षदायक होनेसे तत्वबोध प्रधान है । क्योंकि यही साक्षात् मोक्षका देने वाला है (एतौ वैराग्योपरमौ उभौ बोधोपकारिणौ) ये दोनों वैराग्य तथा उपरति इसी तत्वबोध [ज्ञान] के सहायक हैं । [इनका पद बोध जितना महत्वपूर्ण नहीं है] ।

त्रयोऽप्यत्यन्तपक्काश्चेन्महत स्तपसः फलम् ।
दुरितेन क्वचित् किंचित् कदाचित् प्रतिबध्यते ॥२८२

यदि ये तीनों [ज्ञान वैराग्य तथा उपरति] अत्यन्त पक्के होजायं तो यह साधारण पुण्योंका फल नहीं है । [क्योंकि जब करोड़ों जन्मोंमें कमाये हुए पुण्योंका परिपाक होता है तब कहीं ये तीनों इकट्ठे होपाते हैं । नहीं तो] प्रतिबन्ध करनेवाले पापोंके प्रभावसे किसी पुरुषमें किसी कालमें इन तीनोंमें से एक या दो का प्रतिबन्ध होजाता है ।

तत्वज्ञानका प्रतिबन्ध होनेपर मोक्षाभाव

वैराग्योपरती पूर्णे बोधस्तु प्रतिबध्यते ।
यस्य तस्य न मोक्षोस्ति पुण्यलोकस्तपोबलात् ॥२८३॥

वैराग्य और उपरति तो पूर्ण होचुके हों और आत्मबोध न हुआ हो तो उसको मोक्ष नहीं मिलेगा। उसको उसके तपोबलसे किसी पुण्यलोककी प्राप्ति होजायगी [भाव यही हुआ कि तत्वज्ञानके न होनेपर मोक्ष का मिलना असम्भव है। वैराग्य और उपरतिका उसे इतना फल मिलेगा कि वह पुण्यलोकसे लौटकर ऐसे घरोंमें जन्म लेगा जहां उसे ज्ञानका वातावरण मिलेगा]

पूर्णे बोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा ।
मोक्षो विनिश्चितः किन्तु दृष्टदुःखं न नश्यति ॥२८४॥

यदि किसीका ज्ञान पूर्ण होचुका हो और वैराग्य तथा उपरति उसे न होगये हों, तो मोक्ष उसे अवश्य मिलेगा, परन्तु उसके दृष्टदुःखोंका नाश नहीं होसकेगा। [अथवा यों कहो कि उसके हाथ जीवन्मुक्तिका आनन्द नहीं आयेगा]

नित्यानित्यवस्तुविवेक, शमादि साधन, वैराग्य और मुमुक्षुभावके रहने पर ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है। यहां ग्रन्थकार 'ज्ञान होजाय और वैराग्य तथा उपरति न हों' यह एक असाधारण अवस्थाका वर्णन कर रहे हैं। हम लोग ऐसी अवस्थाकी कल्पना ही कर सकते हैं। साधारणतया यह बात ठीक नहीं प्रतीत होती। परन्तु ग्रन्थकारके अनुभवी होनेके कारण इसको हम अपनी बुद्धिकी पहुँचके परेकी बात मानकर चुप होजाते हैं। इस सम्बन्धमें द्वैतविवेक प्रकरणके ५१ से ५७ तक श्लोक देखनेसे इस सिद्धान्तकी पुष्टि नहीं होती। इस कारण ज्ञान होजाने और वैराग्य तथा उपरति न होनेकी बातको हमारी बुद्धि बड़ी कठिनतासे स्वीकार करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई ऐसी अवस्था होती होगी कि ज्ञानीका ज्ञान

किसी विषयभक्तिके कारण दवा पड़ा रहता होगा और मृत्युके समय उसकी वासनायें हट जाती होंगी और उसे मुक्ति मिल जाती होगी। साधारण सिद्धान्त तो यही है कि 'विमुक्तश्च विमुच्यते' अर्थात् मुक्तोंको ही मुक्ति मिलती है अर्थात् जीवन्मुक्तों को ही विदेहमुक्ति मिल सकती है।

वैराग्य तथा बोधकी अवधि

ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मतः ।
देहात्मवत् परात्मत्वदार्ढ्ये बोधः समाप्यते ॥२८५॥

ब्रह्मलोक मिलने लगे और उसे तृणतुल्य तुच्छ समझकर छोड़ दियाजाय यह वैराग्यकी अन्तिम सीमा है। जैसे अज्ञानी लोग देहको आत्मा समझे बैठे हैं, वैसी दृढ़ताके साथ, परतत्वको आत्मा समझ लियाजाय तो बस, यहां पहुँचकर बोध समाप्त होजाता है। [यही बोधकी अन्तिम सीमा मानीगयी है]

उपरतिकी सीमा

सुप्तिवद् विस्मृतिः सीमा भवेदुपरमस्य हि ।
दिशानया विनिश्चेयं तारतम्यमवान्तरम् ॥२८६॥

जैसे सोते हुए हम जगत्को भूल जाते हैं, जब कोई जागते हुए भी इसीप्रकार जगत्को भूलजाय [मानो जगत् नामकी कोई वस्तु ही न रही हो] इसीको उपरतिकी सीमा समझलेना। (अनया दिशा अवान्तरं तारतम्यं विनिश्चेयम्) इनका अवान्तर न्यूनाधिकभाव इसी रीतिसे अपनी अपनी बुद्धिसे निश्चय करलेना चाहिये।

आरब्धकर्मनानात्वाद् बुद्धानामन्यथान्यथा ।
वर्तनं, तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः ॥२८७॥

प्रारब्ध कर्मोंके नाना प्रकारका होनेसे, ज्ञानी लोग भी भिन्न भिन्न प्रकारके आचरणोंवाले होते हैं। पण्डितोंको उनके भिन्न भिन्न वर्तावोंको देखकर शास्त्रार्थके विषयमें भ्रममें नहीं पड़जाना चाहिये। [तत्वज्ञानी

लोग भी रागादिवाले होनेसे भिन्न प्रकारके आचरणोंवाले पायेजाते हैं। फिर हम ज्ञानको भी मुक्ति दिलानेवाला कैसे मानलें ? इस शंकाका समाधान यही है कि जैसे ज्ञानीके शरीरके रोग या भूख आदि उसके प्रारब्धके फल होते हैं, इसीप्रकार उसके राग द्वेष आदि भी उसके प्रारब्ध कर्मोंके फल हैं। इस कारण वे रागादि, रोग आदिकी भांति ही उसकी मुक्तिका प्रतिबन्ध नहीं करसकते।]

स्वस्वकर्मानुसारेण वर्तन्तां ते यथा तथा ।
अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः ॥२८८॥

सब लोगोंको यह निश्चय कर रखना चाहिये कि (ते स्वस्वकर्मानुसारेण यथा तथा वर्तन्ताम्) वे ज्ञानी लोग अपने प्रारब्धकर्मोंके अनुसार जैसा वर्ताव करते हैं करें। (सर्वबोधः अविशिष्टः) उन सबको जो मैं ब्रह्म हूं इसप्रकार अपने ब्रह्मत्वका ज्ञान हुआ है वह सबका एक समान होता है (मुक्तिः च समा) और उन सबकी निरवद्यब्रह्मरूपसे स्थिति रूपी मुक्ति भी एकसमान होती है। [सब शुद्ध ब्रह्मरूपसे स्थित होजाते हैं] (इति स्थितिः) यही शास्त्रकी मर्यादा है।

प्रकरणतात्पर्यका संक्षेप

जगच्चित्रं स्वचैतन्ये पटे चित्रमिवार्पितम् ।
मायया, तदुपेक्ष्यैव चैतन्यं परिशेष्यताम् ॥२८९॥

(पटे चित्रम् इव मायया स्वचैतन्ये जगच्चित्रम् अर्पितम्) हे साधक लोगो ! वस्त्रपर खिंचे हुए चित्रकी भांति, मायाने अपने आत्मचैतन्यके ऊपर जो जगत्रूपी चित्र, खींच डाला है, (तत् उपेक्ष्य एव) उस [जगत्रूपी चित्र] की उपेक्षा करके [उसकी ओरसे अपनी बुद्धिकी आंख मींचकर] (चैतन्यं परिशेष्यताम्) अपने आत्मचैतन्यको शुद्धरूपमें देखने लगो।

ग्रन्थाभ्यास फल

चित्रदीपमिमं नित्यं येऽनुसन्दधते बुधाः ।
पश्यन्तोऽपि जगच्चित्रं ते मुह्यन्ति न पूर्ववत् ॥२९०॥

जो बुद्धिमान् लोग इस चित्रदीप नामके प्रकरणका विचार नित्य किया करेंगे, वे इस जगच्चित्रको देखकर भी, पहले की भांति कभी मोहको प्राप्त नहीं हुआ करेंगे ।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितं चित्रदीपप्रकरणं समाप्तम्

तृप्तिदीपप्रकरणम् ७

आत्मानं चेत् इस श्रुतिका व्याख्यानरूप प्रकरण

चिकीर्षित विचार तथा उसका फल

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीर मनुसंज्वरेत् ॥१॥
अस्याः श्रुतेरभिप्रायः सम्यगत्र विचार्यते ।
जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा तेन विशदायते ॥२॥

(पूरुषः अयम् अस्मि इति आत्मानं विजानीयात् चेत्) यदि मनुष्य "मेरा स्वरूप यह है" इस स्पष्टरूपमें आत्माको पहचान जाय (तर्हि किम् इच्छन् कस्य कामाय शरीरम् अनुसंज्वरेत्) तो वह किस पदार्थकी इच्छासे और किसकेलिये शरीरके पीछे पीछे दुःखी होता फिरे ? (अत्र अस्याः श्रुतेः अभिप्रायः सम्यक् विचार्यते) इस तृप्तिदीप नामके प्रकरणमें आत्मानं चेद्विजानीयात् बृ० ४-४-१२ इस श्रुतिका अभिप्राय भले प्रकार विचारा जारहा है । (तेन जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा विशदायते) उस

अभिप्रायविचारसे जीवन्मुक्त महाशयोंको जो अलौकिक तृप्ति रहा करती है वह स्पष्ट विदित होजायगी ।

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः ।
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥३॥

(माया आभासेन जीवेशौ करोति इति श्रुतत्वत:) माया [चिदानन्दमय ब्रह्मके प्रतिबिम्बवाली सत्वरजतमगुणवाली जगत्की उपादान प्रकृति] आभासके द्वारा जीव और ईश्वरका निर्माण किया करती है, ऐसा श्रुतियोंमें होनेसे [इस निर्माणका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन तत्वविवेक नामक प्रकरणके १५-१६-१७ श्लोकोंमें है] (जीवेशौ कल्पितौ एव) ये जीव और ईश्वर दोनों मायाके कल्पित हैं । (सर्वं ताभ्यां प्रकल्पितम्) शेष सब संसारकी कल्पना इन दोनोंने कर डाली है । [इस श्लोकमें पूरुष पदका अर्थ बतानेकेलिये उसके उपोद्घातरूपमें सृष्टिका संक्षिप्त वर्णन किया जारहा है ।]

जीवेश्वररचित सृष्टिविभाग

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टि रीशेन कल्पिता ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥४॥

(ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टि: ईशेन कल्पिता) ईक्षणसे लेकर [कि उसने बहुभावका ईक्षण किंवा संकल्प किया] प्रवेश तक [कि इस जीवरूपसे इसी सृष्टिमें प्रवेश कर जाऊं] की सब सृष्टि ईश्वरकी बनायी हुई है तथा जाग्रतसे लेकर मोक्षपर्यन्त सब संसार जीवका बनाया हुआ है । [क्योंकि जीव ही अपने आपको जागता सुपने देखता सोता या मुक्त होता हुआ मानाकरता है । वही इन अवस्थाओंमें अभिमान रखता है । यदि यह जीव साधना करके इन सब अवस्थाओंमें से अपना अभिमान हटाले तो जाग्रदादि संसारका एकपदे ध्वंस होजाय । जाग्रदादि संसारका वर्णन यों है कि यह प्राणी मायासे मोहित होकर इस मांसके झोंपड़ेमें

अहंभावसे निवास करके भलेबुरे सब काम करनेलगता है। यह जाग्रत् कालमें अन्न पान आदि नाना भोगोंसे अपनी तृप्ति होना मानता है। स्वप्नमें यह अपनी मायासे सम्पूर्ण लोकको बनाता है और अपने बनाये हुए संसार से ही सुख दुःख भोगा करता है। सुषुप्तिकालमें जब सब कुछ विलीन होजाता है, जब यह अज्ञानसे अभिभूत होजाता है, तब सुखरूप हुआ रहता है। यह तो एकशरीरकी जाग्रत् आदि अवस्थायें हुईं। जब एक शरीरमें निवासके कर्म समाप्त होजाते हैं और जन्मान्तर देनेवाले कर्मों की बारी आती है तब वही जीव फिर जन्म लेता है और फिर यों ही जागता, सुपने देखता और सोया करता है। जागना सुपने देखना और सोना ये ही तीन काम मानव प्राणी अपने जीवनमें करता है। यों यह जीव इन जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं और स्थूल, सूक्ष्म आदि तीनों शरीरोंमें क्रीडासी करता फिररहा है। यह सब विचित्र जगत् जीवके ही कर्मोंके प्रतापसे उत्पन्न हुआ है। यदि किसीको यह ज्ञान होजाय कि जो तत्व जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति आदिके इस प्रपंचको प्रकाशित कररहा है, वह ब्रह्मनामका तत्व मैं ही तो हूं, तो उसका बन्धनोंसे छुटकारा होजाय, उसका कल्पित संसार विलीन होजाय।]

पूरुषशब्दार्थ

भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा कूटस्थासंगचिद्वपुः ।
अन्योऽन्याध्यासतोऽसङ्गधीस्थजीवोऽत्र पूरुषः ॥५॥

(यः कूटस्थासङ्गचिद्वपुः भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा सः असङ्गः एव अन्योन्याध्यासतः असङ्गधीस्थजीवः अत्र पूरुषः इति उच्यते) जो तत्व कूटस्थ [अविकारी] असङ्ग और चित्स्वरूप है तथा देहेन्द्रिय आदिके अध्यासरूपी भ्रमका अधिष्ठान बना हुआ परमात्मा है वह असङ्ग आत्मतत्व ही जब अन्योन्याध्यास की पकड़में आकर वास्तवमें [उससे] सदा असम्बद्ध रहनेवाली बुद्धिमें ठहरकर 'जीव' बनजाता है, तब उस जीवको इस श्रुतिमें 'पूरुष' अर्थात् 'पुरुष' कहागया है।

कूटस्थचैतन्यसहित जीवको मोक्षादिका अधिकार

साधिष्ठानो विमोक्षादौ जीवोऽधिक्रियते, न तु ।
केवलो, निरधिष्ठानविभ्रान्तेः काप्यसिद्धितः ॥६॥

[हम जीव शब्दके अर्थमेंसे अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्यको नहीं छोड़ सकते । जब बुद्धि आदिकी कल्पनाका अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य ही बुद्धिमें प्रतिबिम्बित हो जाता है, तब उसे हम 'जीव' कहते हैं । हम केवल चिदाभासको जीव नहीं कहते । क्योंकि] (साधिष्ठानः जीवः विमोक्षादौ अधिक्रियते) अधिष्ठान अर्थात् कूटस्थ चैतन्यके सहित ही यह जीव मोक्ष या स्वर्गादिके साधनोंका अनुष्ठान करनेका अधिकारी होता है । (न केवलः) केवल चिदाभासको मोक्षादिका अधिकार नहीं है । (निरधिष्ठानविभ्रान्तेः कापि असिद्धितः) क्योंकि बिना अधिष्ठानकी भ्रान्ति [आरोप्य पदार्थ] लोकमें कहीं भी देखी नहीं जाती [इस कारण हमें जीव शब्दके अर्थमें कूटस्थ चैतन्यको रखना पड़ता है । यदि हम कूटस्थ तत्त्वको न रक्खें तो मोक्ष आदिमें अन्वयी कौन होगा ? अर्थात् इन मोक्षादिको भोगनेवाला कौन होगा ? क्योंकि आभास तो यहीं नष्ट होजाता है ।]

अपनेको संसारी माननेकी अवस्था

अधिष्ठानांशसंयुक्तं भ्रमांशमवलम्बते ।
यदा तदाहं संसारीत्येवं जीवोऽभिमन्यते ॥७॥

(जीवः यदा अधिष्ठानांशसंयुक्तं भ्रमांशम् अवलम्बते) जब वह जीव अधिष्ठानांशसंयुक्त [अर्थात् कूटस्थसहित] भ्रम भाग [किंवा चिदाभासयुक्त दोनों शरीरों] का अवलम्ब लेलेता है, अथवा यों कहो कि उन दोनों शरीरोंको अपना स्वरूप मान लेता है (तदा अहं संसारी इति अभिमन्यते) तब वह मानने लगता है कि मैं संसारी [क्षुद्र प्राणी] हूं ।

अपनेको चेतन और असङ्ग जाननेका समय

भ्रमांशस्य तिरस्कारा दधिष्ठानप्रधानता ।
यदा तदा चिदात्माहमसङ्गोऽस्मीति बुध्यते ॥८॥

(यदा जीवेन भ्रमांशस्य तिरस्कारात् अधिष्ठानप्रधानता स्वीक्रियते) जब वही जीव भ्रमांश [दोनों देहों सहित चिदाभास] का तिरस्कार करदेता है, उनको मिथ्या समझ लेता है और उनकी अपेक्षा नहीं करता तथा ऐसा करनेसे जब अधिष्ठानकी प्रधानताको स्वीकार करलेता है [जब वह जीव अधिष्ठानभूत कूटस्थस्वरूप होजाता है, जब वह शुद्ध आत्मस्थितिमें आजाता है] (तदा अहं चिदात्मा अहम् असङ्गः अस्मि इति बुध्यते) तब वह जाना करता है कि ओ हो ! 'मैं चिदात्मा हूं' 'मैं असङ्ग हूँ ।'

नासङ्गेऽहंकृतिर्युक्ता कथमस्मीति चेच्छृणु ।
एको मुख्यो द्वावमुख्या वित्यर्थस्त्रिविधोऽहमः ॥९॥

(यतः असङ्गे अहंकृतिः न युक्ता अतः स अस्मि इति कथं जानीयात् इति चेत् शृणु) क्योंकि असङ्ग [चिदात्मा] में [जो कि अविषय है] अहंकार अथवा मैं भावका होना ठीक नहीं है, इसलिये वह यह क्योंकर जान सकता है कि 'मैं हूं' ? (अहमः त्रिविधः अर्थः एकः मुख्यः द्वौ अमुख्यौ) इसका समाधान सुनो कि अहंके तीन अर्थ हैं— एक मुख्य अर्थ है, तथा दो उसके अमुख्य अर्थ होते हैं । [भाव यह है कि आत्मा मुख्यरूपसे तो अहं प्रतीतिका विषय हो ही नहीं सकता. परन्तु लक्षणासे उसको 'अहं' कहा जासकता है ।]

अन्योन्याध्यासरूपेण कूटस्थाभासयोर्वपुः ।
एकीभूय भवेन्मुख्यस्तत्र मूढैः प्रयुज्यते ॥१०॥

(कूटस्थाभासयोः वपुः अन्योन्याध्यासरूपेण एकीभूय अहंशब्दस्य मुख्यः अर्थः) कूटस्थ और आभास इन दोनोंका स्वरूप जब अन्योन्याध्यासरूपसे एकताको प्राप्त करलेता है तब यही अहं शब्दका 'मुख्य अर्थ' कहाता है । [इसको इस अहंका मुख्य अर्थ इसीलिये कहते हैं

कि जिनको कूटस्थ और चिदाभासके इसी हिले मिले स्वरूपका विवेक नहीं है वे सब] (मूढैः तत्र प्रयुज्यते) मूढ लोग इसी अर्थमें अहं शब्द का प्रयोग किया करते हैं। [अधिक संख्या इसी अर्थमें अहं शब्दका प्रयोग करनेवालोंकी है। इसीलिये इसे ही मुख्य मानलिया है]।

पृथगाभासकूटस्था वमुख्यौ तत्र तत्ववित् ।
पर्यायेण प्रयुङ्क्तेऽहंशब्दं लोके च वैदिके ॥११॥

(यदा आभासकूटस्थौ पृथक् पृथक् विवक्षितौ तदा अमुख्यौ) जब यह कहना चाहाजाता है कि आभास अलग वस्तु है और कूटस्थ तत्व उससे अलग है, तब [अलगाये हुए] वे दोनों अलग अलग अहंके दो अमुख्य अर्थ होते हैं। (यतः तत्ववित् लोके वैदिके च पर्यायेण तत्र अहंशब्दं प्रयुङ्क्ते) क्योंकि तत्वज्ञानी लोग लौकिक और वैदिक व्यवहारों में पर्यायसे कूटस्थ और चिदाभास दोनों अर्थोंमें अहंका प्रयोग करते हैं। अर्थात् वे कभी तो कूटस्थको अहं कहते हैं और कभी अकेले चिदाभास को अहं कहते हैं। [भाव यह है कि क्योंकि कूटस्थ और चिदाभासका जो अविविक्तरूप है वही सार्वजनीन व्यवहारका विषय होरहा है इससे उसे तो अहंका मुख्य अर्थ मानलिया है तथा क्योंकि इन दोनोंके विविक्त रूपोंका व्यवहार बहुत थोड़ेसे मनुष्य [सो भी कभी] करते हैं, इससे उनको अमुख्य अर्थ कहाजाता है।]

लौकिकव्यवहारेऽहंगच्छामीत्यादिके बुधः ।
विविच्यैव चिदाभासं कूटस्थाद्विवक्षति ॥१२॥

(बुधः अहं गच्छामि इत्यादिके लौकिकव्यवहारे कूटस्थात् चिदाभासं विविच्य तम् एव अहंशब्देन विवक्षति) ज्ञानी पुरुष 'मैं जाता हूं' इसप्रकारके लौकिक व्यवहारोंमें चिदाभासको कूटस्थतत्वसे पृथक् करके उस चिदाभासको ही 'अहं' नामसे कहना चाहता है। [ज्ञानी पुरुष जब 'मैं जाता हूं' ऐसा कहता है तब वह यह कभी नहीं भूलता कि कूटस्थ

आत्मतत्व आने जानेवाला पदार्थ नहीं है। उसे यह सदा स्मरण रहता है कि यह चिदाभास ही जाता आता है]

असङ्गोहं चिदात्माहमिति शास्त्रीयदृष्टितः ।
अहंशब्दं प्रयुङ्क्तेऽयं कूटस्थे केवले बुधः ॥१३॥

(अयम् एव बुधः शास्त्रीयदृष्टितः केवले कूटस्थे अहम् असङ्गः अहं चिदात्मा इति लक्षणया अहंशब्दं प्रयुङ्क्ते) वही ज्ञानी पुरुष शास्त्रीय दृष्टिको लेकर कभी कभी चिदाभाससे विविक्त केवल कूटस्थ तत्वमें भी लक्षणासे 'अहं' शब्दका प्रयोग किया करता है कि 'मैं असङ्ग हूं' 'मैं चिदात्मा हूं'। [यों मुख्यतया न सही परन्तु लक्षणासे तो चिदात्मा भी अहं शब्दका अर्थ होजाता है। इसी कारण 'मैं असङ्ग हूं' यह ज्ञान भी ठीक होजाता है।]

ज्ञानिताज्ञानिते त्वात्माभासस्यैव न चात्मनः ।
तथा च कथमाभासः कूटस्थोऽस्मीति बुध्यताम् ॥१४॥

(ज्ञानिताज्ञानिते तु आत्माभासस्य एव आत्मनः न च) ज्ञानित्व और अज्ञानित्व दोनों आत्माभासको होते हैं। असंग चिद्रूप आत्मामें न तो ज्ञानिता होसकती है और न अज्ञानिता रह सकती है [क्योंकि उसे तो अज्ञानकी निवृत्तिकी कुछ आवश्यकता नहीं होती इसलिये कूटस्थ यह नहीं जानता कि मैं कूटस्थ हूं] (तथा च आभासः कूटस्थः अस्मि इति कथं बुध्यताम्) ऐसी स्थितिमें सिद्धान्तीको यह बताना चाहिये कि आभासको यह ज्ञान कैसे हो सकता है कि 'मैं कूटस्थ हूं'?

नायं दोषश्चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान् ।
आभासत्वस्य मिथ्यात्वात् कूटस्थत्वावशेषणात् ॥१५॥

(अयं दोषः न) यह दोष ठीक नहीं (चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान्) चिदाभासका वास्तव स्वरूप कूटस्थ ही है। [वह चिदाभास

कूटस्थसे भिन्न तत्व सिद्ध नहीं होसकता] (आभासत्वस्य मिथ्यात्वात्) क्योंकि आभासत्व मिथ्या है (कूटस्थत्वावशेषणात्) [ज्ञानके द्वारा] उसकी कूटस्थताको शेष रखलिया जाता है [जैसे कि दर्पणमें प्रतीत होनेवाले मुखाभासका वास्तव स्वरूप ग्रीवापर लगा हुआ मुख है। इसी प्रकार इसे भी जानलो]

कूटस्थोऽस्मीति बोधोऽपि मिथ्या चेन्नेति को वदेत् ।
न हि सत्यतयाऽभीष्टं रज्जुसर्पविसर्पणम् ॥१६॥

(कूटस्थः अस्मि इति चिदाभासाश्रितः बोधः अपि मिथ्या चेत् न इति कः वदेत्) यदि चिदाभास मिथ्या है तो उसके आश्रित रहने वाला 'मैं कूटस्थ हूं' यह ज्ञान भी मिथ्या होना चाहिये ? ऐसा यदि पूछा जाय तो हम कहेंगे कि इस बातका निषेध हम कब करते हैं ? [कूटस्थके स्वरूपके अतिरिक्त और जो कुछ है वह सब मिथ्या है। फिर इस ज्ञानको मिथ्या मानना भी हमें इष्ट है] (रज्जुसर्पविसर्पणम् सत्यतया न हि अभीष्टम्) देखो, रज्जुमें जो सर्प कल्पित करलिया गया है, वह जब गति करता हुआ प्रतीत होता है तब उस [विसर्पण] को कोई वास्तविक विसर्पण नहीं मानता।

तादृशेनापि बोधेन संसारो हि निवर्तते ।
यक्षानुरूपो हि बलिरित्याहु लौकिका जनाः ॥१७॥

यद्यपि वह बोध मिथ्या है तौ भी उससे मिथ्या संसार निवृत्त होजाता है [सुपनेके झूठे व्याघ्रको देखनेसे निद्रा टूट जाती है] लोकमें कहा भी जाता है कि जैसा यक्ष वैसी बलि, [जैसी शीतला देवी वैसा ही उसका वाहन गधा। यह इस कारण कहते हैं कि जब यह संसार मिथ्या है तो यह मिथ्याबोधसे भी मरजायगा]।

अस्मिके प्रयोगका अभिप्राय

तस्मादाभासपुरुषः सकूटस्थो विविच्य तम् ।
कूटस्थोऽस्मीति विज्ञातुमर्हती त्यभ्यधाच्छ्रुतिः ॥१८॥

[क्योंकि कूटस्थ ही चिदाभासका निज स्वरूप है] (तस्मात् यः आभासजन्यः पुरुषः सः सकूटस्थः एव) इसकारण आभासजन्य जो पुरुष है अर्थात् जो चिदाभास है वह कूटस्थसहित ही है। (सः तं [मिथ्याभूतात् स्वस्मात्] विविच्य [लक्षणया] कूटस्थः अस्मि इति विज्ञातुम् अर्हति) वह उस कूटस्थको [अपने मिथ्या स्वरूपसे] पृथक् करके [मुख्यवृत्तिसे न सही किन्तु लक्षणावृत्तिसे] यह जान सकता है कि 'मैं कूटस्थ हूं' [मेरा वास्तव रूप कूटस्थ है।] (इति श्रुतिः अभ्यधात्) इसी अभिप्रायको लेकर श्रुतिने 'अस्मि' यह पद कहा है।

श्रुतिमें अयम्के प्रयोगका अभिप्राय

असन्दिग्धाविपर्यस्तबोधो देहात्मनीच्यते ।
तद्वदत्रेति निर्णेतु मयमित्यभिधीयते ।१९॥

[यहां तक मूल श्रुतिके 'पुरुष' तथा 'अस्मि' इन दो पदोंका व्याख्यान होचुका। अब 'अयम्' का व्याख्यान किया जाता है] (यद्वत् लौकिकानां देहात्मनि असन्दिग्धाविपर्यस्तबोधः ईक्ष्यते) जैसे लौकिक लोगोंको इस प्रसिद्ध देहरूपी आत्मामें संशय और विपर्ययसे रहित बोध देखा जाता है [जैसे वे विना सन्देह और विना विपर्ययके इस देहको मैंहूं कहते हैं। वे जब बड़े मेलोंमें घुसते हैं तब अपने शरीरपर कोई चिन्ह करके नहीं घुसते। उन्हें अपने शरीरके अपने होनेमें कभी सन्देह नहीं होता] (तद्वत् मनुष्येण अत्र प्रत्यगात्मनि विषये ज्ञानं संपादनीयम्) ठीक इसी प्रकार मनुष्यको मुक्तिके लिये इस प्रत्यगात्माके विषयमें ऐसा ही दृढ ज्ञान करलेना चाहिये। (इति निर्णेतुं श्रुत्या अहम् इति अभिधीयते) इसी बातका निर्णय करनेके लिये श्रुतिमें 'अयम्' यह पद कहा है।

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥२०॥

(यस्य देहात्मज्ञानवत् आत्मनि एव देहात्मज्ञानबाधकं दृढं ज्ञानं भवेत् सः न इच्छन् अपि मुच्यते) जिसको 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसे देहात्मविषयक दृढ निश्चयके समान प्रत्यगात्माके विषयमें, देहात्मज्ञानकी बाधा करनेवाला दृढ ज्ञान होजाय [कि यही आत्मतत्व मैं हूं। यही ब्रह्मतत्व मैं हूं] वह विद्वान् मुक्त होना न चाहनेपर भी अर्थात मोक्षेच्छा न होनेपर भी मुक्त होजाता है [क्योंकि उसका संसारका कारण अज्ञान ज्ञानसे वाधित होचुका है]।

अयमित्यपरोक्षत्वमुच्यते चेत्तदुच्यताम् ।
स्वयंप्रकाशचैतन्यमपरोक्षं सदा यतः ॥२१॥

'अयम्' का अर्थ लोकमें 'अपरोक्षत्व' होता है। सो इस (आत्मानं चेत् विजानीयात्) इस श्रुतिमें भी 'अयं' इस शब्दसे अपरोक्षत्व ही लिया जाना चाहिये, ऐसा यदि कोई कहे तो उसकी बात भी मानलो कि हां यह अर्थ भी लिया जासकता है। (यतः स्वयंप्रकाश-चैतन्यं सदा अपरोक्षम्) क्योंकि स्वयंप्रकाश [अर्थात् किसी साधनान्तर की सहायताके विना प्रतीत होनेवाला] चैतन्य सदा प्रत्यक्ष रहता है [यह हम मानते ही हैं]।

परोक्षमपरोक्षं च ज्ञानमज्ञानमित्यदः ।
नित्यापरोक्षरूपेऽपि द्वयं स्याद् दशमे यथा ॥२२॥

(परोक्षम् अपरोक्षं च, ज्ञानम् अज्ञानं च इति अदः द्वयं यथा दशमे तथा नित्यापरोक्षरूपे आत्मनि अपि स्यात्) 'परोक्ष' और 'अपरोक्ष' का विरोधी जोड़ा, इसीप्रकार 'ज्ञान' और 'अज्ञान' का विरोधी जोड़ा, यह दोनों दशवेंके समान नित्य अपरोक्ष आत्मामें भी हो सकते हैं। [जैसे कि दशवेंमें ये दोनों [विरोधी बातें] पायी जाती हैं वैसे स्वयंप्रकाशचिद्रूप आत्मा परोक्ष भी होता है और अपरोक्ष भी रहता है तथा स्वयंप्रकाश आत्माका ज्ञान भी रहता है और अज्ञान भी बना रहता है।]

नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमात्तदा ।
न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपि तान्नव ॥२३॥

[दस मनुष्य किसी नदीको पार उतरे। वे उतर कर अपने साथियोंको गिनने लगे। गिननेवाला अपनेको छोड़कर शेष नौको गिन लेता था। परिणाममें वह दसवां नदीके किनारे बैठकर दसवेंको रोरहा था कि हाय ! दसवां डूबगया] (नवसंख्याहृतज्ञानः दशमः तदा तान् नव वीक्षमाणः अपि विभ्रमात् दशमः अहम् अस्मि इति न वेत्ति) नौ की गिनती से अपहृत विवेकज्ञानवाला वह दसवां पुरुष उन [गणनीय] नौको प्रत्यक्ष देखता हुआ भी भ्रान्तिमें फंसकर, [गिननेवाले अपने आपको] नहींजानता था कि 'मैं ही दसवां हूँ' [शेष नवोंको तो देखता था, परन्तु उसका ध्यान अपनी ओर नहीं जाता था। उसका सारा ध्यान नौने खेंच लिया था।]

न भाति नास्ति दशम इति स्वं दशमं तदा ।
मत्वा वक्ति तदज्ञानकृतमावरणं विदुः ॥२४॥

(तदा दशमः स्वं दशमं सन्तं दशमः न भाति न अस्ति इति मत्वा यत् वक्ति तत् अज्ञानकृतम् आवरणं विदुः) तब वह दसवां पुरुष स्वयं दसवां होनेपर भी उसीके विषयमें यह जो कह बैठता है कि दसवां न तो मुझे प्रतीत होता है और न दसवां है। इसप्रकारके व्यावहारिक कारण को ही बुद्धिमान् लोग अज्ञानका किया हुआ आवरण [आच्छादन] बताते हैं। [आवरण दो प्रकारका होता है एक असत्वापादक दूसरा अभानापादक]।

नद्यां ममार दशम इति शोचन् प्ररोदिति ।
अज्ञानकृतविक्षेपं रोदनादिं विदुर्बुधाः ॥२५॥

अब वह दसवां मनुष्य शोक करता और रोता है कि हाय ! दसवां नदीमें डूब मरा। (बुधाः रोदनादिम् अज्ञानकृतविक्षेपं विदुः)

बुद्धिमान् लोग इस रोदन आदि व्यवहारको अज्ञानका किया हुआ 'विक्षेप' समझते हैं। [विक्षेप अज्ञानका ही कार्यविशेष है]

न मृतो दशमोऽस्तीति श्रुत्वाप्तवचनं तदा ।
परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति स्वर्गादिलोकवत् ॥२६॥

[जब कोई आप्त पुरुष आकर कहता है कि] दसवां मरा नहीं, वह [यहीं] है, तब इस आप्तवचनको सुनकर शास्त्रके कहनेसे माने हुए स्वर्गादिलोकके समान दसवेंको परोक्षरूपसे जानजाता है। [कहने का तात्पर्य यह है कि परोक्षज्ञानके प्रभावसे न होने की कल्पना टूट जाती है]

त्वमेव दशमोऽसीति गणयित्वा प्रदर्शितः ।
अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यत्येव न रोदिति ॥२७॥

उस आप्तपुरुषने, नौको गिनने के पश्चात् उससे कह दिया [बता दिया] कि 'दसवां तू ही है' (अहं दशमः अस्मि इति अपरोक्षतया ज्ञात्वा) अब वह दसवां मैं ही हूं इसरूपमें अपरोक्षरूपसे अपने आपको जांन कर (हृष्यति एव) परम हर्ष मनाता है, (रोदिति न) अब वह पहले की भांति रोता नहीं। [तात्पर्य यह है कि अपरोक्षज्ञान होजानेपर प्रतीत न होनेकी कल्पना हट जाती है]

अज्ञानावृतिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः ।
शोकापगम इत्येते योजनीयाश्चिदात्मनि ॥२८॥

(१) अज्ञान (२) आवरण (३) विक्षेप (४) परोक्षज्ञान (५) अपरोक्षज्ञान (६) तृप्ति तथा (७) शोकनाश (इति एता अवस्थाः चिदात्मनि योजनीयाः) ये सातों अवस्थायें [जो दृष्टान्तभूत दसवेंमें दिखाई गयी हैं, दार्ष्टान्तिक] चिदात्मामें भी लगा लेनी चाहियें।

संसारासक्तचित्तः संश्चिदाभासः कदाचन ।
स्वयंप्रकाशकूटस्थं स्वतत्त्वं नैव वेत्त्ययम् ॥२९॥

(अयं चिदाभासः संसारासक्तचित्तः सन् स्वयंप्रकाशकूटस्थं स्वतत्वं कदाचन नैव वेत्ति) यह चिदाभास, संसार [अर्थात् विषयोपार्जनके ध्यान] में मस्त होकर, स्वयंप्रकाश कूटस्थ आत्मस्वरूपको कभी नहीं पहचानता [वह दिनरात शरीर आदि की चाकरीमें लगारहता है, उसे आत्मतत्वको पहचाननेका अवकाश नहीं है। वह अपने आत्मतत्वकी बातको एक अप्रासंगिक [अनवसर] बात समझता है। वह बातचीत चलनेपर आत्म-तत्वको भलेप्रकार खण्डन करता है, बस यही उसकी अज्ञान नामकी पहली अवस्था है।]

न भाति नास्ति कूटस्थ इति वक्ति प्रसङ्गतः ।
कर्ता भोक्ताहमस्मीति विक्षेपं प्रतिपद्यते ॥३०॥

(प्रसङ्गतः कूटस्थः न अस्ति न भाति इति वक्ति) चिदात्माके विषय की बातचीत चलने पर कहता है कि कूटस्थका न तो मुझे भान होता है और न वह है [यह अज्ञानकी कीहुई आवरण नामकी दूसरी अवस्था है] (अहं कर्ता भोक्ता अस्मि इति विक्षेपं प्रतिपद्यते) इसके पश्चात् आत्माको यह कहने लगता है कि 'मैं कर्ता हूं' 'मैं भोक्ता हूं'। यह विक्षेप नामकी तीसरी अवस्था कहाती है [इस आरोपका कारण दोनों देहोंसे युक्त चिदाभास है। उसे ही •विक्षेप कहते हैं। यह बात अगले ३७ श्लोकमें कही है।]

अस्ति कूटस्थ इत्यादौ परोक्षं वेत्ति वार्तया ।
पश्चात् कूटस्थ एवास्मीत्येवं वेत्ति विचारतः ॥३१॥

जब कोई बातचीतमें समझादेता है तब उसे 'कूटस्थ है' इस रूप में परोक्षज्ञान नामकी चौथी अवस्था प्राप्त होजाती है [जब श्रवणादिका परिपाक होजाता है तब] पीछेसे वह मैं ही कूटस्थ हूं यह प्रत्यक्षरूपसे जानजाता है। यही उसकी अपरोक्षज्ञान नामकी पांचवीं अवस्था है।

कर्ता भोक्तेत्येवमादिशोकजातं प्रमुञ्चति ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तुष्यति ॥३२॥

[कूटस्थ असङ्ग आत्माका ज्ञान होजानेपर] कर्ता भोक्ता आदि समस्त शोकोंको छोड़देता है। [यह उसकी शोकापगम नामकी छठी अवस्था है]। फिर वह जो कुछ करना था सो करलिया, जो कुछ पाना था सो पालिया, ऐसा समझकर संतुष्ट होजाता है। [यही उसकी तृप्ति नामकी सातवीं अवस्था होती है]।

अज्ञान मावृति स्तद्वद् विक्षेपश्च परोक्षधीः ।
अपरोक्षमतिः शोकमोक्ष स्तृप्ति र्निरंकुशा ॥३३॥

(१) अज्ञान, (२) आवरण, (३) विक्षेप, (४) परोक्षज्ञान, (५) अपरोक्षज्ञान, (६) शोकराहित्य और (७) निरङ्कुश तृप्ति [यों ये सातों अवस्थाएं इस दार्ष्टान्तिकमें भी होती हैं]

सप्तावस्था इमाः सन्ति चिदाभासस्य तास्विमौ ।
बन्धमोक्षौ स्थितौ, तत्र तिस्रो बन्धकृतः स्मृताः ॥३४॥

ये सातों अवस्थाएं चिदाभासकी हैं। [कूटस्थकी नहीं] ये बन्ध और मोक्ष इन सातों अवस्थाओंमें समाजाते हैं। इन सातोंमें पहली [अज्ञान आवरण तथा विक्षेप] ये तीन अवस्थाएं बन्ध करनेवाली हैं। [पिछली चार मोक्षकी अवस्थाएं हैं]।

न जानामीत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम् ।
विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम् ॥३५॥

(यत् विचारप्रागभावेन युक्तम् न जानामि इति उदासीनव्यवहारस्य कारणं तत् अज्ञानम् ईरितम्) जिसके साथ आत्माके विचारका प्रागभाव लगारहता है तथा जो 'हम नहीं जानते आत्मा क्या वस्तु है' ऐसा उदासीन व्यवहार कराता है, उसको 'अज्ञान' कहते हैं।

आवरणका स्वरूप तथा उसका कार्य

अमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ ।
विपरीतव्यवहृति रावृतेः कार्यमिष्यते ॥३६॥

इसके पश्चात् जब [शास्त्रोक्त पद्धतिको छोड़कर] अमार्ग (केवल तर्क) से विचार करके, ऐसा विपरीत व्यवहार कियाजाने लगे कि 'कूटस्थ न तो है और न प्रतीत होता है' तव इसको 'आवरणका कार्य' कहते हैं।

विक्षेपस्वरूप तथा उसका कार्य

देहद्वयचिदाभासरूपो विक्षेप ईरितः ।
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्योऽस्य बन्धकः ॥३७॥

स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहोंके सहित चिदाभास ही 'विक्षेप' कहाता है। (बन्धकः संसाराख्यः कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः अस्य कार्यम् अस्ति) बन्धक अर्थात् बन्धन करानेवाला संसार नामका जो कि कर्तृत्व-प्रमातृत्वरूपी सम्पूर्ण शोक है वह सब इसी चिदाभासका कार्य अर्थात् उत्पन्न किया हुआ है।

अज्ञानमावृतिश्चैते विक्षेपात् प्राक् प्रसिद्ध्यतः ।
यद्यप्यथाप्यवस्थे ते विक्षेपस्यैव नात्मनः ॥३८॥

यद्यपि 'अज्ञान' और 'आवरण' ये दोनों अवस्थाएं विक्षेपसे पहली हैं, तौ भी ये दोनों अवस्थाएं आत्माकी नहीं हैं [क्योंकि असङ्ग होनेके कारण आत्माकी कोई अवस्था नहीं होती] अन्य कोई गति न होनेसे इनको चिदाभासकी अवस्था मानना पड़ता है।

विक्षेपोत्पत्तितः पूर्वमपि विक्षेपसंस्कृतिः ।
अस्त्येव तदवस्थात्वमविरुद्धं ततस्तयोः ।३९॥

विक्षेप उत्पन्न होनेसे पहले भी विक्षेपके [उत्पादक] संस्कार थे, (ततः तयोः तदवस्थात्वम् अविरुद्धम्) इस कारणसे उन दोनों 'अज्ञान' और 'आवरण'के विक्षेपकी अवस्था होनेमें कोई विरोध नहीं रहजाता।

ब्रह्मण्यारोपितत्वेन ब्रह्मावस्थे इमे इति ।
न शङ्कनीयं, सर्वासां ब्रह्मण्येवाधिरोपणात् ॥४०॥

[अज्ञात संस्कारोंके सहारेसे, इन दोनोंको विक्षेपकी अवस्था कहनेसे यही अच्छा है कि] ब्रह्ममें आरोपित होनेसे इन दोनोंको ब्रह्मकी अवस्था मानलिया जाय, ऐसी शंका न करनी चाहिये। क्योंकि यों तो सारी ही अवस्थाएं ब्रह्ममें आरोपित हैं [फिर तो सबको ब्रह्मकी अवस्था कहदेना होगा]।

संसार्यहं विबुद्धोहं निःशोकस्तुष्ट इत्यपि ।
जीवगा उत्तरावस्था भान्ति, न ब्रह्मगा, यदि ॥४१॥
तर्ह्यज्ञोहं ब्रह्मसत्वभाने मद्दृष्टितो न हि ।
इति पूर्वे अवस्थे च भासेते जीवगे खलु ॥४२॥

(यदि संसार्यहं...... इत्यपि उत्तरावस्थाः जीवगाः भान्ति न ब्रह्मगाः तर्हि...) यदि हमारे पूर्वपक्षीको मैं संसारी [कर्तृत्व आदि धर्म वाला] हूं, मैं विबुद्ध हूं [अर्थात् मुझे तत्वका साक्षात्कार होचुका] मुझे शोक नहीं रहा, मैं पूर्ण तुष्ट होचुका, ये पिछली सब अवस्थाएं जीवके आश्रित प्रतीत होती हैं, ब्रह्माश्रित प्रतीत नहीं होतीं, तो हम कहेंगे कि मैं अज्ञ हूं मेरे अनुभवमें न तो ब्रह्मकी सत्ता आती है और न मुझे ब्रह्मका भान होता है ये [अज्ञान तथा आवरण नामकी] विक्षेपकी उत्पत्तिसे पूर्ववर्ती दोनों अवस्थायें भी निश्चयरूपसे जीवाश्रित प्रतीत होरही हैं। [तात्पर्य यह है कि हमारे पूर्वपक्षीको अनुभवके आधारसे विक्षेपसे पहली भी अज्ञान और आवरण नामक अवस्थाओंको विक्षेपकी ही अवस्था मानना चाहिये। उन्हें विक्षेपसे पहला कहकर ब्रह्माश्रित ठहराना ठीक नहीं है। संसारमें अनुभवसे बड़ा कोई प्रमाण नहीं होता।]

अज्ञानस्याश्रयो ब्रह्मेत्यधिष्ठानतया जगुः ।
जीवावस्थात्वमज्ञानाभिमानित्वादवादिषम् ॥४३॥

(पूर्वाचार्याः यत् अज्ञानस्य आश्रयः ब्रह्म इति जगुः तत् अधिष्ठानतया) पूर्वाचार्योंने जो कि ब्रह्मको अज्ञानका आश्रय कहा है, वह उसे

अज्ञानका अधिष्ठान मानकर कहा है। (अहं तु अज्ञानाभिमानित्वात् अज्ञानस्य जीवावस्थात्वम् अवादिषम्) हमने तो अज्ञानका अभिमानी होनेसे उस [अज्ञान] को जीवकी अवस्था कहा है।

ज्ञानद्वयेन नष्टेऽस्मिन्नज्ञाने तत्कृतावृतिः।
न भाति नास्ति चेत्येषा द्विविधापि विनश्यति ॥४४॥

(ज्ञानद्वयेन अस्मिन् आवरणकारणे अज्ञाने नष्टे न भाति न अस्ति च इति एषा तत्कृता द्विविधा अपि आवृतिः नश्यति) दोनों ज्ञानोंसे अर्थात् परोक्षज्ञान और अपरोक्षज्ञानसे आवरण करनेवाले इस अज्ञानके नष्ट होजानेपर इस [अज्ञान] का उत्पन्न किया हुआ दोनों प्रकारका आवरण* 'कि वह नहीं है और प्रतीत भी नहीं होता है' विनष्ट होजाता है [क्योंकि उसका कारण नहीं रहता। यों परोक्षज्ञान और अपरोक्षज्ञान नामकी दोनों अवस्थाएं, अज्ञान और आवरण दोनोंको हटा देती हैं तथा मुक्तिका कारण होजाती हैं]।

परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्वावृतिहेतुता।
अपरोक्षज्ञाननाश्या ह्यभानावृतिहेतुता ॥४५॥

(अज्ञानस्य असत्वावृतिहेतुता परोक्षज्ञानतः नश्येत्) अज्ञानकी असत्वावरण शक्ति ['कूटस्थ है' ऐसे] परोक्षज्ञानसे नष्ट होजाती है [फिर वह साधक 'ब्रह्म नहीं है' ऐसा कभी नहीं कहता] (अज्ञानस्य अभानावृतिहेतुता अपरोक्षज्ञाननाश्या) परन्तु अज्ञानकी अभानावरणकी कारणता [कि मुझे कूटस्थकी प्रतीति नहीं होती] मैं ही कूटस्थ हूँ ऐसे प्रत्यक्ष अनुभवसे नष्ट होती है। [असत्वावरण अनुभवी गुरुके समझानेसे हटजाताहै, अभानावरण अपने समाधिप्रयत्नसे साक्षात् होनेपर हटता है]।

---

* आवरण दो प्रकारका होता है एक असत्वापादक [नहीं है कहलाने वाला] कि वह नहीं है, दूसरा अभानापादक [प्रतीत नहीं होता कहलानेवाला] कि वह मुझे प्रतीत नहीं होता।

अभानावरणे नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात् ।
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्यो निवर्तते ॥४६॥

[अगली दोनों अवस्थायें ज्ञानका फल हैं। अब उनमेंसे पहली शोकनिवृत्ति नामकी अवस्था कही जाती है] अभानावरणके निवृत्त हो जानेपर भ्रान्तिसे प्रतीत होनेवाले जीवत्वरूपी आरोपके न रहनेपर [जीव भावके कारण बना हुआ] कर्ता भोक्तारूपी संसार नामका समस्त शोक भाग जाता है।

निरङ्कुश तृप्तिका समय

निवृत्ते सर्वसंसारे नित्यमुक्तत्वभासनात् ।
निरंकुशा भवेत् तृप्तिः पुनः शोकासमुद्भवात् ॥४७॥

[कर्तृत्व आदि रूपवाले] समस्त संसारके निवृत्त होजानेपर [मेघोंके हट जानेपर दीखनेवाले सूर्यके भासके समान] आत्माके नित्यमुक्तपनेका भास होने लगनेके कारण मनुष्यको निर्मर्याद तृप्ति प्राप्त होजाती है। क्योंकि फिर उसे कभी शोक उत्पन्न नहीं होसकता।

अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये उभे इमे ।
अवस्थे जीवगे ब्रूते आत्मानं चेदिति श्रुतिः ॥४८॥

(आत्मानं चेत् इति श्रुतिः अपरोक्ष······जीवगे ब्रूते) आत्मानं चेत् यह श्रुति [ऊपर बतायी चिदाभासकी सात अवस्थओंमेंसे] 'प्रत्यक्ष ज्ञान' और 'शोकनिवृत्ति' नामकी इन दोनों अवस्थाओंको जीवोंकी अवस्था कहती है [यों हमने अज्ञान आदि सात अवस्थाओंका वर्णन करके प्रकरणसे बाहर वर्णन नहीं किया है।]

अयमित्यपरोक्षत्वमुक्तं तद् द्विविधं भवेत् ।
विषयस्वप्रकाशत्वाद् धियाप्येवं तदीक्षणात् ॥४९॥

(अयम् इति अनेन शब्देन यत् अपरोक्षत्वम् उक्तं तत् द्विविधं भवेत्) 'अयम्' यह शब्द जिस अपरोक्षताका वर्णन करता है वह

अपरोक्षता दो प्रकारकी होती है। (विषयस्वप्रकाशत्वात्) एक तो यह कि वह विषय ही स्वयंप्रकाश है [वह अपने व्यवहारके लिये दूसरे साधनका मुंह ही नहीं जोहता] (धिया अपि एवं तदीक्षणात्) दूसरे यह कि बुद्धिसे भी उस आत्माको स्वयंप्रकाश ही देख या जानलिया। [यह आत्मवार्ता तोतोंके राम रामकी भांति केवल कहने ही कहनेकी न रहजाय, किन्तु अपने हृदयको भी इस महान तत्वकी दीक्षा देदी जाय अर्थात् आत्मवार्ताको हृदयपटलमें अनुभवके अक्षरोंमें लिखकर टांग दियाजाय।]

परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्वप्रकाशता ।
समा, ब्रह्म स्वप्रकाशमस्तीत्येवं विबोधनात् ॥५०॥

(अपरोक्षज्ञानकाले इव परोक्षज्ञानकाले अपि विषयस्वप्रकाशता समा) अपरोक्षज्ञानकालके समान परोक्षज्ञानकालमें भी ब्रह्मनामक विषय स्वप्रकाश ही रहता है। [ब्रह्म जैसे प्रत्यक्षज्ञानके समय स्वयंप्रकाश है, इसी प्रकार परोक्षज्ञानके समय भी स्वयंप्रकाश रहता है] (परोक्षज्ञानकाले ब्रह्म स्वप्रकाशम् अस्ति इति एवं विबोधनात्) क्योंकि परोक्षज्ञानके समय भी उसे यही ज्ञान होता है कि इस संसारमें ब्रह्म नामकी स्वयंप्रकाश वस्तु है।

अहं ब्रह्मेत्यनुल्लिख्य ब्रह्मास्तीत्येवमुल्लिखत् ।
परोक्षज्ञानमेतन्न भ्रान्तं बाधानिरूपणात् ॥५१॥

(अहं ब्रह्म इति अनुल्लिख्य ब्रह्म अस्ति इति एवम् उल्लिखत् एतत् परोक्षज्ञानं बाधानिरूपणात् भ्रान्तं न) मैं ब्रह्म हूं यह स्पष्ट स्वीकार न करके ब्रह्म है यह परोक्षरूपमें स्वीकार करनेवाला भी ब्रह्मका यह परोक्षज्ञान बाधाका निरूपण न होनेसे भ्रान्तज्ञान नहीं है। [इस परोक्षज्ञानको अधूरा ज्ञान तो कह सकते हैं, परन्तु भ्रान्त नहीं कह सकते। क्योंकि ब्रह्म है इस ज्ञानकी बाधा कभी नहीं होती। इस परोक्षज्ञानमें ब्रह्मके प्रत्यग्भागका ग्रहण नहीं होपाता यही इसमें अधूरापन है।

ब्रह्म नास्तीति मानं चेत् स्याद् बाध्येत तदा ध्रुवम् ।
न चैवं प्रबलं मानं पश्यामोऽतो न बाध्यते ॥५२॥

[परोक्षज्ञानकी बाधा नहीं होती, इसीको स्पष्ट करके दिखाया जाता है कि] (ब्रह्म न अस्ति इति मानं चेत् स्यात्) यदि कोई ऐसा प्रमाण मिलजाता जो यह सिद्ध करदेता कि 'ब्रह्म नहीं है' (तदा ध्रुवं बाध्येत) तब निश्चय ही इस परोक्षज्ञानकी भी बाधा होजाती । (न च एवं प्रबलं मानं पश्यामः) परन्तु ऐसा प्रबल प्रमाण हमें नहीं मिलता । (अतः न बाध्यते) इससे [हम यही कहते हैं कि] इस परोक्षज्ञानकी बाधा नहीं होती

व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण भ्रमत्वे स्वर्गधीरपि ।
भ्रान्तिः स्याद् व्यक्त्यनुल्लेखात् सामान्योल्लेखदर्शनात् ५३

(व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण परोक्षज्ञानस्य भ्रमत्वे स्वर्गधीः अपि भ्रान्तिः स्यात्) परोक्षज्ञानसे ब्रह्मव्यक्ति का उल्लेख नहीं होता, यदि केवल इतनेसे कारणसे परोक्षज्ञानको भ्रान्तज्ञान माना जायगा तो हम कहेंगे कि तब तो स्वर्गका ज्ञान भी भ्रमज्ञान होगा । (स्वर्गधियां व्यक्त्यनुल्लेखात् सामान्योल्लेखदर्शनात्) क्योंकि स्वर्गविषयक ज्ञानमें 'यह स्वर्ग है' ऐसो ज्ञान किसीको नहीं होता । किन्तु सब सामान्यतया इतना ही जानते हैं कि 'स्वर्ग नामका कोई लोकविशेष है ।'

अपरोक्षत्वयोग्यस्य न परोक्षमति र्भ्रमः ।
परोक्षमित्यनुल्लेखादर्थात् पारोक्ष्यसंभवात् ॥५४॥

(अपरोक्षत्वयोग्यस्य या परोक्षमतिः सा भ्रमः न) जो वस्तु प्रत्यक्ष होनेकी योग्यता रखती हो, उसको यदि पहले केवल परोक्षरूपसे जानलिया जाय तो वह भ्रम नहीं होता । (परोक्षम् इति अनुल्लेखात्) क्योंकि 'ब्रह्म परोक्ष है' ऐसा ज्ञान किसीको नहीं करायाजाता । (अर्थात् पारोक्ष्यसंभवात्) वह ब्रह्म [लोगोंके अज्ञानसे] अर्थात् ही परोक्ष होगया है । ['यह ब्रह्म है' ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान न होसकनेसे वह अर्थात् यह मानबैठता

है कि ब्रह्म तत्व परोक्ष है । हां यदि किसीको 'ब्रह्म परोक्ष रहनेवाला तत्व है' ऐसा ज्ञान होजाता होता तो वह अवश्य भ्रान्त ज्ञान कहाता]

अंशागृहीते र्भ्रान्तिश्चेद् घटज्ञानं भ्रमो भवेत् ।
निरंशस्यापि सांशत्वं व्यावर्त्यांशविभेदतः ॥५५॥

[परोक्षज्ञानमें ब्रह्मभागको तो ग्रहण करलिया जाता है किन्तु उसका जो प्रत्यग्भाग है—उसमें जो मैं पन है अर्थात् उसमें जो हमारा भाग है—उसे ग्रहण नहीं किया जाता यों] अंशका अग्रहण होनेसे ही यदि उस परोक्षज्ञानको भ्रम माना जाय, तब तो घटादिका ज्ञान भी भ्रम होजायगा [क्योंकि घटके सब अवयवोंका भी तो ग्रहण किसीको नहीं होता, वहां भी तो अंशका अग्रहण रहता है] (निरंशस्य अपि व्यावर्त्यांश-विभेदतः सांशत्वम्) यदि पूछो निरंश ब्रह्मको अंशवाला कैसे कहते हो ? हम कहेंगे कि व्यावर्त्य अंशरूपी उपाधिके भिन्न होनेसे निरंश [निरवयव] भी सांश [सावयव] मानलियाजाता है ।

असत्वांशो निवर्तेत परोक्षज्ञानतस्तथा ।
अभानांशनिवृत्तिः स्यादपरोक्षधिया कृता ॥५६॥

[उन व्यावर्त्य दो अंशोंमें से एक] 'असत्वांश' की निवृत्ति तो परोक्षज्ञानसे होजाती है तथा [दूसरे] 'अभानांश' की निवृत्ति अपरोक्ष-ज्ञानकी की हुई होती है ।

दशमोस्तीत्यविभ्रान्तं परोक्षज्ञान मीक्ष्यते ।
ब्रह्मास्तीत्यपि तद्वत्स्यादज्ञानावरणं समम् ॥५७॥

(यद्वत् दशमः अस्ति इति अविभ्रान्तं परोक्षज्ञानम् ईक्ष्यते) जैसे [आप्तका वाक्य सुननेपर] 'दसवां है' ऐसा अभ्रान्त परोक्षज्ञान लोकमें देखते हैं । (तद्वत् ब्रह्म अस्ति इति अपि परोक्षज्ञानं स्यात्) इसीप्रकार [शास्त्र या गुरुके कहनेसे] 'ब्रह्म है' ऐसा परोक्षज्ञान भी अभ्रान्तज्ञान है । (अज्ञानावरणं समम्) क्योंकि अज्ञानके कारण असत्वावरण तो

दोनोंमें समान है [ब्रह्म और दसवां दोनों नास्ति [नहीं हैं] समझलिये गये थे । ऐसी अवस्थामें जिस विषयको प्रत्यक्षग्रहण किया जासकता हो, उस विषयको यदि परोक्षरूपसे जानलिया जाय तो वह ज्ञान भ्रमज्ञान नहीं होता । यही बात इस श्लोकमें दर्शायी गयी है ।]

आत्मा ब्रह्मेति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते ।
व्यक्तिरुल्लिख्यते, यद्वद् दशमस्त्वमसीत्यतः ।।५८।।

(यद्वत् दशमः त्वम् असि इति अतः वाक्यात् स्वात्मनि दशमत्वं साक्षात्क्रियते) जैसे 'दसवां तू ही है' इस वाक्यसे अपनेमें दशमत्वका साक्षात्कार होजाता है इसीप्रकार 'अयमात्मा ब्रह्म' [बृ० २-५-१६] इस महावाक्यके अर्थके भले प्रकार विचार करलियेजाने पर परोक्षरूपसे जाने हुए ब्रह्मस्वरूपका पीछेसे उल्लेख वा साक्षात्कार होजाता है । [भाव यह कि केवल वाक्यश्रवणसे तो परोक्षज्ञान ही होता है । परन्तु जब उस परोक्ष-ज्ञानके साथ विचार मिलजाता है और जब विचार तथा अनुभव दोनों एक बात कहनेलगते हैं, तब साक्षात्कार किंवा अपरोक्षज्ञान होता है ।]

दशमः क इति प्रश्ने त्वमेवेति निराकृते ।
गणयित्वा स्वेन सह स्वमेव दशमं स्मरेत् ।।५८।।

(दशमः कः इति प्रश्ने कृते त्वम् एव दशमः इति निराकृते स्वेन सह इतरान् नव गणयित्वा) [जिस दसवेंके होनेको तुम कह रहे हो कि 'दसवां है'] वह दसवां कौनसा है ? इस प्रश्नके किये जाने और उसका तू ही दसवां है यह उत्तर दिये जानेपर अपने साथ शेष नौको गिनकर (स्वम् एव दशमं स्मरेत्) पीछेसे अपनेको ही दसवां मानलेता है कि ओहो ! दसवां तो मैं ही हूँ [यों यह देखलो कि विचारसहित वाक्यसे अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होजाता है ।]

दशमोस्मीति वाक्योत्था न धीरस्य विहन्यते ।
आदिमध्यावसानेषु न नवत्वस्य संशयः ।।६०।।

(अस्य दशमस्य त्वम् एव दशमः असि इतिवाक्योत्था अहम् एव दशमः अस्मि इतिधीः न विहन्यते) इस दसवें पुरुषकी 'तू ही दसवां है' इस वाक्यसे उत्पन्न होनेवाली अपने दशवेंपनकी बुद्धि कि 'मैं ही दसवां हूं' कभी खण्डित नहीं होती [फिर किसी भी ज्ञानसे उस बुद्धिकी बाधा नहीं होती । फिर उसे उन नौके आदि, मध्य या अवसानमें कहीं भी गणना करनेपर दसवेंके विषयमें कभी [जीवनपर्यन्त] संशय नहीं होता कि 'मैं दसवां हूं या नहीं ? [इस कारण वही दृढ अपरोक्षज्ञान कहाता है । उसको नौके विषयमें संशय नहीं था केवल दसवेंका संशय था वह भी अब जातारहा ।]

सदेवेत्यादिवाक्येन ब्रह्मसत्त्वं परोक्षतः ।
गृहीत्वा तत्वमस्यादिवाक्याद् व्यक्तिं समुल्लिखेत् ॥६१॥

ब्रह्मजिज्ञासु पहले सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् [छा० ६-२-१] इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्मके होनेका निश्चय करके 'तत्वमसि' आदि महावाक्यसे अपने अद्वितीय ब्रह्मरूप आत्माको 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस रूपमें साक्षात् करलेता है । [सदेवेत्यादि इस आदि शब्दसे ब्रह्मके ही जीवरूपसे प्रवेशसे, ब्रह्मके ही प्रत्यग्रूप होनेकी संभावना आदि विषय लियेगये हैं] ।

आदिमध्यावसानेषु स्वस्य ब्रह्मत्वधीरियम् ।
नैव व्यभिचरेत् तस्मादापरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम् ॥६२॥

(इयं स्वस्य ब्रह्मत्वधीः) यह अपनी ब्रह्मत्व बुद्धि (आदिमध्यावसानेषु नैव व्यभिचरेत् [पांचों कोशोंके] आदि या मध्य या अन्त कहीं भी आत्माका व्यवहार करनेपर, अन्यथा नहीं होती । (तस्मात् आपरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम्) इस कारण इस बुद्धिका अपरोक्षज्ञानपना निश्चित है ।

केवलवाक्यसे परोक्षज्ञान तथा विचारसहितवाक्यसे अपरोक्षज्ञान

जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन भृगुः पुरा ।
पारोक्ष्येण गृहीत्वाथ विचाराद् व्यक्तिमैक्षत ॥६३॥

(भृगुः पुरा जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन जगत्कारणं ब्रह्म पारोक्ष्येण गृहीत्वा) भृगु ने 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' [तै० ३-१] इस वाक्यमें कहे लक्षणोंसे, [कि वह जगत्के जन्म, स्थित और प्रलयका कारण है] ब्रह्मको पहले परोक्षरूपसे जानकर (अथ विचारात् व्यक्तिम् ऐक्षत) फिर अन्नमयादि पांचों कोशोंके विचारसे व्यक्ति अर्थात् प्रत्यगात्मारूपी ब्रह्मको देख पाया था । [यों तैत्तिरीय श्रुतिके पर्यालोचनसे यह बात सिद्ध होती है कि पहले वाक्यसे परोक्षज्ञान उत्पन्न हुआ करता है । फिर जब उस वाक्यके साथ विचार मिलाया जाता है, तब विचारसहित वाक्यसे अपरोक्षज्ञानकी उत्पत्ति होती है] ।

यद्यपि त्वमसीत्यत्र वाक्यं नोचे भृगोः पिता ।
तथाप्यन्नं प्राणमिति विचार्यस्थलमुक्तवान् ॥६४॥

(यद्यपि अत्र भृगोः पिता त्वम् असि इति वाक्यं न ऊचे) यद्यपि इस प्रकरणमें भृगुके पिताने 'तू ही ब्रह्म है' ऐसा कोई उपदेशवाक्य नहीं कहा (तथापि विचार्यस्थलम् अन्नं प्राणम् इति उक्तवान्) तो भी उसने अन्न, प्राण आदिके रूपमें आत्मसाक्षात्कारका उत्पादक विचारके योग्य स्थल दिखला दिया है ।

अन्नप्राणादिकोशेषु सुविचार्य पुनः पुनः ।
आनन्दव्यक्तिमीक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्माप्ययूयुजत् ॥६५॥

(अन्नप्राणादिकोशेषु पुनः पुनः सुविचार्य आनन्दव्यक्तिम् ईक्षित्वा तस्याम् एव ब्रह्म लक्ष्म अपि अयूयुजत्) अन्न प्राण आदि पांचों कोशोंमें बार बार सुविचार करके वहां आनन्दनामक आत्माको साक्षात् देखकर, उसी प्रत्यगात्मामें पीछेसे 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । [तै० ३-६] ब्रह्मके इस लक्षणको भी लगा दिया था । [इस कारण यह न कहना

चाहिए कि अन्नमयादि कोशोंका विचार करनेपर तो प्रत्यगात्माका साक्षात्कार होसकता है, उससे ब्रह्मका साक्षात्कार कैसे होगा ? क्योंकि प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है। क्योंकि ब्रह्मके सब लक्षण उसमें मिलते हैं। यों प्रत्यगात्मासे भिन्न ब्रह्मनामका कोई पदार्थ नहीं है]।

सत्यं ज्ञान मनन्तं चेत्येवं ब्रह्मस्वलक्षणम् ।
उक्त्वा, गुहाहितत्वेन कोशेष्वेतत् प्रदर्शितम् ॥६६॥

'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' [तै० २-२] इसप्रकार ब्रह्मका स्वरूप लक्षण बताकर, (एतत् कोशेषु गुहाहितत्वेन रूपेण प्रदर्शितम्) 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' [मुण्ड० २-१-१०] इस वाक्यमें उसीको पांचों कोशोंरूपी गुहाओंमें छिपा बैठा हुआ बताया है। [इसका तात्पर्य यह हुआ कि सत्यादिस्वरूपवाले ब्रह्मने ही प्रत्यग्रूप धारण करलिया है। ऐसा तैत्तिरीय श्रुतियोंका अभिप्राय है। वे श्रुतियें प्रत्यगात्मा और ब्रह्ममें भेद नहीं समझतीं।]

पारोक्ष्येण विबुध्येन्द्रो य आत्मेत्यादिलक्षणात् ।
अपरोक्षीकर्तुमिच्छंश्चतुर्वारं गुरुं ययौ ॥६७॥

(इन्द्रः य आत्मा इत्यादिलक्षणात् पारोक्ष्येण विबुध्य अपरोक्षीकर्तुम् इच्छन् चतुर्वारं गुरुं ययौ) इन्द्र 'य आत्मा ऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः' [छा० ८-७-१] इस वाक्यमें बताये लक्षणसे आत्माको पहले परोक्षरूपसे जानकर फिर [विचारसे तीनों शरीरोंका निराकरण करके] आत्माका साक्षात् करनेकेलिये, चार बार गुरुके पास गया था। [यह बात छान्दोग्यके आठवें अध्यायमें कही गयी है। इससे भी परोक्षज्ञानके पश्चात् विचार करनेपर ही साक्षात्कार होना सिद्ध होता है।]

आत्मा वा इदमित्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितम् ।
अध्यारोपापवादाभ्यां प्रज्ञानं ब्रह्म दर्शितम् ॥६८॥

'आत्मा वा इदं' इत्यादि ऐतरेयमें पहले परोक्षरीतिसे ब्रह्मका कथन

किया गया। फिर अध्यारोप और अपवादके द्वारा प्रज्ञानरूप ब्रह्मको साक्षात् दिखाया गया।

[ऐतरेय श्रुति में भी 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चन मिषत्' [ऐत० १-१] इस वाक्यसे पहले ब्रह्मका लक्षण कहकर, फिर 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा' [ऐत० १-१] इत्यादि रीतिसे प्रारम्भ करके 'तस्य त्रय आवसथा स्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथः' [ऐत० ३-१२] तक जगत्के अध्यारोपकी रीति बताकर 'स जातो भूतान्यभिव्यैक्षत किमिहान्यं वावदिषत्' [ऐत० ३-१३] इसमें आरोपित किये हुएका अपवाद [खण्डन] करके 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यदिदमदर्शमिति' [ऐत० ३-१३] इस वाक्यमें प्रत्यगात्माके रूपमें ही ब्रह्मस्वरूपको प्रत्यक्ष दिखाया गया। उसके अनन्तर 'पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो जायते' [ऐत० ४-१] इत्यादि वाक्योंमें ज्ञानके साधन वैराग्यको उत्पन्न करनेके लिये गर्भवासादि के दुःखोंका प्रदर्शन कराकर 'कोयमात्मेति वयमुपास्महे' [ऐत० ५-१] इत्यादि विचारके द्वारा 'तत्' 'त्वं' पदार्थका परिशोधन करनेके पश्चात् 'प्रज्ञानं ब्रह्म' [ऐत० ५-१] इस महवाक्यके द्वारा प्रज्ञानरूप आत्माको ही ब्रह्म कहा गया है।

अवान्तरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीर्भवेत् ।
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः ॥६९॥

[इन ही उपनिषदोंमें नहीं और भी] सब उपनिषदोंमें अवान्तर वाक्योंसे तो परोक्ष ब्रह्मज्ञान करायाजाता है तथा महावाक्योंके द्वारा अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ब्रह्मज्ञान करायाजाता है।

वाक्यसे ब्रह्मका अपरोक्षज्ञान

ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थं महावाक्यमितीरितम् ।
वाक्यवृत्तावतो ब्रह्मापरोक्ष्ये विमतिर्न हि ॥७०॥

(वाक्यवृत्तौ ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थं महावाक्यम् इति ईरितम्)

भगवान् शङ्कराचार्यने वाक्यवृत्तिमें ब्रह्मका अपरोक्ष [प्रत्यक्ष] करने के लिये ही महावाक्य हैं ऐसा कहा है। (अतः ब्रह्मापरोक्ष्ये विमतिः न हि) इस कारण वाक्यसे ब्रह्मका प्रत्यक्षज्ञान होजानेमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं रहती।

त्वंपदार्थ

आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः
अन्तःकरणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः ॥७१॥

वाक्यवृत्तिका उपपादानप्रकार यह है कि (यः अन्तःकरणसंभिन्नः बोधः अस्मत्प्रत्ययशब्दयोः आलम्बनतया भाति सः त्वंपदाभिधः) जो अन्तःकरण उपाधिवाला बोध [चिदात्मा]'मैं' इस प्रतीति तथा 'मैं' इस शब्दके विषयरूपसे प्रतीत होता है, वही [बोध] त्वं पदका वाच्यार्थ है।

तत्पदार्थ

मायोपाधि र्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः ।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मक स्तत्पदाभिधः ॥७२॥

माया जिसकी उपाधि है, जगत्का जो [निमित्त और उपादान] कारण है, सर्वज्ञता आदि जिसके तटस्थ लक्षण हैं, परोक्षता नामक धर्म जिसमें पायाजाता है, सत्य ज्ञानादि जिसका स्वरूप बतायाजाता है वह 'तत्' पदका वाच्यार्थ है।

प्रत्यक्परोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता ।
विरुद्ध्येते यतस्तस्माल्लक्षणा संप्रवर्तते ॥७३॥

(यतः एकस्य प्रत्यक्परोक्षता तथा सद्वितीयत्वपूर्णता विरुद्ध्येते) क्योंकि वही वस्तु 'प्रत्यक्' भी हो और परोक्ष' भी हो, तथा वही वस्तु 'सद्वितीय' भी हो और 'पूर्ण' भी हो, ये दोनों बातें विरुद्ध हैं [हो नहीं सकतीं] (तस्मात् लक्षणा संप्रवर्तते) इस कारण [वाक्यका अभिप्राय समझनेके लिये] लक्षणावृत्तिका आश्रय लेना पड़जाता है।

भागत्यागलक्षणा

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा ।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ॥७४॥

(तत्वमस्यादिवाक्येषु सोमित्यादिवाक्यस्थपद्योः इव भागलक्षणा लक्षणा अपरा न) तत्वमसि आदि वाक्योंमें 'सोयं देवदत्तः' इस वाक्यके 'सोऽयं' इन दोनों पदोंके समान भागलक्षणा [जहद-जहल्लक्षणा] मानी गई है। दूसरी कोई जहत् या अजहत् लक्षणा नहीं मानी गई ।

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः ।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥७५॥

[लोकमें 'गामानय' गौको लाओ इत्यादि वाक्योंमें लक्षणा न करने पर भी वाक्यार्थबोध होजाता है, वैसे ही इन तत्वमसि आदि वाक्योंमें भी वाक्यार्थबोध होजायगा। इस शङ्काका समाधान यह है कि जैसे लोकमें 'गामानय, इत्यादि पदोंसे जो आकांक्षा आदिवाले गौ आदि पदार्थ उपस्थित होजाते हैं, और उनका परस्पर 'संसर्ग' [अन्वय] होजाना वाक्यार्थ मान लियाजाता है, या जैसे 'नीलं महत्सुगन्ध्युत्पलम्' इत्यादि में नीलता आदि धर्मविशिष्ट उत्पल [फूल] को वाक्यार्थ स्वीकार किया जाता है' इस प्रकार] (अत्र तत्वमस्यादिमहावाक्येषु संसर्गः वा विशिष्टः वा वाक्यार्थः न सम्मतः) इन महावाक्योंमें 'संसर्ग' या 'विशिष्ट' किसीको भी वाक्यार्थ नहीं मानाजाता । (किन्तु अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थः विदुषां मतः) किन्तु विद्वान् लोग अखण्ड एकरस [स्वगतादि भेदहीन] पदार्थको वाक्यार्थ मानते हैं [इस कारण लक्षणाका आश्रय लेना पड़ता है ।]

अखण्डैकरस वाक्यार्थ

प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः ।
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ॥७६॥

[अखण्ड एकरस वाक्यार्थ यों होता है] (यः प्रत्यग्बोधः अभाति सः अद्वयानन्दलक्षणः परात्मा) जोकि [लोगोंको] प्रत्यग्बोध [या सर्वान्तर चिदात्मा] प्रतीत हो रहा है [जो लोगोंको अपनी अपनी बुद्धि आदियोंका साक्षी होकर भास रहा है] वह इतनामात्र नहीं है। वह तो अद्वितीय आनन्दरूप परमात्मा है, (तथा शास्त्रेषु यः अद्वयानन्दरूपः वर्ण्यते सः प्रत्यग्बोधैकलक्षणः) तथा [शास्त्रोंमें] वह जो अद्वितीय आनन्दरूप परमात्मा बतायाजाता है वह कोई मनुष्यसे तटस्थ तत्व नहीं है किन्तु वह यह चिदेकरस प्रत्यक् आत्मा ही है।

अखण्डार्थबोधका प्रभाव

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि ॥७७॥
तदर्थस्य च पारोक्ष्यम्, यद्येवं किं ततः शृणु ।
पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते ॥७८॥

(इत्थं यदा अन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिः भवेत् तदा एव त्वमर्थस्य अब्रह्मत्वं तदर्थस्य पारोक्ष्यं च व्यावर्तेत) जब किसीको इस प्रकार [व्यतिहारसे–लौटफेरसे] तादात्म्यका ज्ञान होजाता है, तब एक तो यह होता है कि त्वमर्थमें जो अब्रह्मता आगई थी [भ्रान्तिसे उसे जो अब्रह्म समझ लिया गया था] वह तुरन्त भागजाती है। दूसरे यह होता है कि तदर्थमें जो परोक्षता आगई थी [वह जो परोक्षज्ञानका विषय होगया था] वह भी उसी क्षण नष्ट होजाती है। (यदि एवं ततः किम्) ऐसा होनेपर फिर क्या होता है ? इस प्रश्नका उत्तर भी सुनो, कि (प्रत्यग्बोधः पूर्णानन्दैकरूपेण अवतिष्ठते) यह जो अभी तक [स्वल्पाकार] प्रत्यग्बोध था यही अब [बृहदाकार] पूर्णानन्द बन बैठता है।

एवं सति महावाक्यात् परोक्षज्ञानमीर्यते ।
यैस्तेषां शास्त्रसिद्धान्तविज्ञानं शोभतेतराम् ॥७९॥

इतना सब सुन चुकनेपर भी जो लोग यह कहते ही जाते हैं कि महावाक्यसे परोक्षज्ञान ही होता है उनका शास्त्रसिद्धान्तोंका परिज्ञान हंसीके योग्य है। [वे सिद्धान्तके रहस्यको नहीं जानते। सिद्धान्त-ज्ञान रहित उनकी बात सुनकर हमें हंसी आती है]।

आस्तां शास्त्रस्य सिद्धान्तो युक्त्या वाक्यात् परोक्षधीः ।
स्वर्गादिवाक्यवन्नैवं दशमे व्यभिचारतः ॥ ८० ॥

(शास्त्रस्यसिद्धान्तः आस्ताम्) शास्त्रके सिद्धान्तकी बात छोड़ दो [उससे हमें कुछ प्रयोजन नहीं] (युक्त्या वाक्यात् स्वर्गादिवाक्यवत् परोक्षधीः एव भवति) युक्तिसे तो वाक्यसे, स्वर्गादिके प्रतिपादक वाक्योंकी भांति, परोक्षज्ञान ही हुआ करता है। (एवं न) सो यह कहना ठीक नहीं है। (दशमे व्यभिचारतः) क्योंकि इस बातका व्यभिचार दशवेंमें देखा जाता है [देखते हैं कि 'तू ही दसवां है' यह वाक्य प्रत्यक्षज्ञानको उत्पन्न किया करता है]।

स्वतोऽपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वमभिवाञ्छतः ।
नश्येत् सिद्धापरोक्षत्वमिति युक्तिर्महत्यहो॥८१॥

सिद्धान्ती हंसीमें कहता है कि तुम्हारी यह युक्ति बड़ी भारी युक्ति रही कि जो जीव अभी तक स्वतः अपरोक्ष था, उसे जब ब्रह्मभावकी इच्छा हुई तो उसकी [पहलेसे] सिद्ध अपरोक्षता भी जाती रही। [इस कारण महावाक्योंको परोक्षज्ञानका जनक मानना ठीक नहीं है]।

वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टमितीदृशम् ।
लौकिकं वचनं सार्थं संपन्नं त्वत्प्रसादतः ॥८२॥

[यदि इस दोषको इष्टापत्ति मानो तो हम कहेंगे कि] (त्वत्प्रसादतः वृद्धि... तीदृशम् लौकिकं वचनं सार्थं सम्पन्नम्) तुम्हारे जैसे अविचार-शीलकी कृपासे यह लौकिक वचन सार्थक होगया कि 'सूद चाहनेवालेका मूलधन भी नष्ट होगया'।

अन्तःकरणसंभिन्नबोधो जीवोऽपरोक्षताम् ।
अर्हत्युपाधिसद्भावान्न तु ब्रह्मानुपाधितः ॥८३॥

ब्रह्मकी निरुपाधिकताकी असिद्धि

नैवं ब्रह्मत्वबोधस्य सोपाधिविषयत्वतः ।
यावद्विदेहकैवल्य मुपाधेरनिवारणात् ॥८४॥

पूर्वपक्षी कहता है कि अन्तःकरणसे मिश्रित बोध, जिसे 'जीव' कहते हैं, उपाधिके होनेसे उसका प्रत्यक्ष होजाय यह तो हम मानलेते हैं, परन्तु उपाधिसे रहित जो ब्रह्मतत्व है उसका प्रत्यक्षहोना ठीक नहीं प्रतीत होता ॥३८॥ इसपर सिद्धान्तीका कहना है कि [जीवको जो] ब्रह्मरूपता का परिज्ञान होता है, वह सोपाधिक वस्तुको विषय करता है [इस कारण उस ज्ञानका विषय जो ब्रह्म है वह भी सोपाधिक ही है। तात्पर्य यह है कि जब तक ज्ञेय सोपाधिक नहीं होगा, तब तक ज्ञान उस पदार्थको अपना विषय कैसे करेगा। उपाधिके बिना ज्ञेयका ज्ञान नहीं होता] जब तक किसीको विदेहकैवल्यकी प्राप्ति नहीं होजाती, तब तक उपाधिका निवारण नहीं होता। [ऐसी अवस्थामें विदेहकैवल्य पाने तक वह उपाधि बनी रहती है और यों तब तक ब्रह्मका प्रत्यक्ष भी होता ही रहता है।]

जीव और ब्रह्मकी उपाधि

अन्तःकरणसाहित्यराहित्याभ्यां विशिष्यते ।
उपाधिर्जीवभावस्य ब्रह्मतायाश्च नान्यथा ॥८५॥

जीवत्व और ब्रह्मत्वकी उपाधियोंमें अन्तःकरणसाहित्य और अन्तः-करणराहित्यके भेद हैं और कोई भेद नहीं है। [इन उपाधियोंकी बात भी सुनलीजिये] (जीवभावस्य ब्रह्मतायाः च उपाधिः अन्तःकरणसाहित्य राहित्याभ्यां विशिष्यते अन्यथा न) ['अन्तःकरणका साहित्य' तो जीव-भावकी उपाधि है तथा 'अन्तःकरणका राहित्य' ब्रह्मभावकी उपाधि है।

अन्तःकरणसहित तत्वको 'जीव' कहते हैं और अन्तःकरणरहित होचुके हुए तत्वको 'ब्रह्म' कहते हैं। जो तत्व अभीतक अन्तःकरणसहित सा हो रहा था, वही तत्व अब अन्तःकरणसे रहित होकर अलग बैठ गया है। जिस तत्वको अभीतक अन्तःकरणसे सहित पहचानते थे, उसी तत्वको अब अन्तःकरणसे रहित रूपमें जानने लगे हैं यही जीवत्व तथा ब्रह्मत्वका सूक्ष्म भेद है]।

साहित्य तथा राहित्य दोनों उपाधि होसकते हैं

यथा, विधिरुपाधिः स्यात् प्रतिषेधस्तथा न किम् ।
सुवर्णलोहभेदेन शृङ्खलात्वं न भिद्यते ॥८६॥

(विधिः यथा उपाधिः स्यात् प्रतिषेधः तथा उपाधिः किं न स्यात्) विधि [अर्थात् भावरूप, अन्तःकरणका सम्बन्ध] जिसप्रकार उपाधि होसकती है इसी प्रकार प्रतिषेध [अर्थात् अभावरूप, अन्तःकरणका वियोग] उपाधि क्यों नहीं होसकता ? तात्पर्य यह है कि होसकता है। [फिर भी जो भाव या अभावरूपी अवान्तरविलक्षणता दीखती है, उसकी अपेक्षा न करनी चाहिये। क्योंकि देखते हैं कि] (सुवर्णलोहभेदेन शृंखलात्वं न भिद्यते) सोने या लोहेके अवान्तर भेदसे शृंखलापनेमें कोई भेद नहीं होता। [पुरुषकी स्वतन्त्रताको हरण करनेमें सुवर्णपने या लोहपनेका कुछ मूल्य नहीं है। इसीप्रकार उस तत्वको चाहे अन्तःकरण से सहित रूपमें पहचानो या अन्तःकरणसे रहित रूपमें पहचानो, पहचानना तो उसीको है। बात एक ही है। कुण्डलवाला गुरु है कुण्डल जिसपर नहीं वह उसका विद्यार्थी है, यहां पर कुण्डलका होना गुरुकी उपाधि है। कुण्डलका न होना छात्रकी उपाधि है। कुण्डल होनेसे गुरु पहचाना जाता है और कुण्डल न होनेसे छात्र पहचाना जाता है। यों उपाधिके अवान्तरभेदको समझें तो अन्तःकरणरहित रूपमें ब्रह्मतत्व जाना जा सकता है।]

विधिनिषेध दोनों ब्रह्मबोधके उपाय

अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद् विधिमुखेन च ।
वेदान्तानां प्रवृत्तिः स्याद् द्विधेत्याचार्यभाषितम् ॥८७॥

आचार्यका कहना है कि वेदान्तोंकी [ब्रह्म प्रतिपादनकी] प्रवृत्ति दो प्रकारकी है—एक अतद्व्यावृत्तिरूपसे, दूसरे साक्षात् विधिमुखसे। [एक तो यह कि अतद् अर्थात् तद् [ब्रह्म] से भिन्न जो अज्ञानादि हैं उनको नेतिनेति' करके हटा दिया जाय, किंवा अतत् जो यह प्रपंच है, उसकी व्यावृत्तिरूपी उपाय भी ब्रह्मका दर्शन करादेता है। दूसरे उस ब्रह्मके साक्षात् वाचक शब्दोंका कथन करदिया जाय—जैसे कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादि। इसको विधिमुखसे किया हुआ प्रतिपादन माना जाता है।]

अहमर्थपरित्यागादहं ब्रह्मेति धीः कुतः ।
नैवमंशस्य हि त्यागो भागलक्षणयोदितः ॥८८॥

[जब वेदान्तोंको अतद्व्यावृत्तिरूपसे ब्रह्मका बोधक मानोगे तब] (अहमर्थपरित्यागात् अहं ब्रह्म इति धीः कुतः ?) 'अहं' शब्दका अर्थ जो कूटस्थ भी है, जब उसका भी त्याग होजायगा तब 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा ज्ञान कैसे उत्पन्न होसकेगा ? इसका उत्तर यह है कि (एवं त्यागः न मन्यते भागलक्षणया अंशस्य त्यागः उदितः हि) हम ऐसा सर्वत्याग नहीं मानते। हम तो 'भागलक्षणा' किंवा 'जहदजहल्लक्षणा' से अहंशब्दके अर्थ जडभागरूपी एकदेशका ही त्याग करते हैं [हमने अहंके दूसरे अर्थ कूटस्थ अंशका त्याग नहीं माना। ऐसी अवस्थामें 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान होसकता है।]

अन्तःकरणसंत्यागादवशिष्टे चिदात्मनि ।
अहं ब्रह्मेतिवाक्येन ब्रह्मत्वं साक्षिणोच्यते ॥८९॥

अन्तःकरणका पूर्ण त्याग करदेनेपर [अपने आत्मराज्यमेंसे

अन्तःकरणको धक्का देदेनेपर] जो चिदात्मा शेष रहजाता है, 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्यसे उस शेष रहे हुए चेतन साक्षीमें ब्रह्मत्वका दर्शन होता है ।

स्वप्रकाशोऽपि साक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्यतेऽन्यवत् ।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥९०॥

[स्वप्रकाश होनेके कारण फिर उस केवल रहगये हुए प्रत्यगात्मा को बुद्धिवृत्तियां कैसे विषय करेंगी ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि] (स्वप्रकाशः अपि साक्षी अन्यवत् धीवृत्त्या व्याप्यते एव) स्वयंप्रकाश भी वह साक्षी अन्य घटादियोंके समान धीवृत्तियोंसे व्याप्त होता ही है [तभी तो 'मैं स्वयंप्रकाश हूं' ऐसी बुद्धिवृत्तिका होना सम्भव होता है] शास्त्रकारोंने आत्माकी फलव्याप्यताका ही निषेध किया है [उनका कहना है कि आत्माको फल अर्थात् वृत्तिमें प्रतिबिम्बित चिदाभास व्याप्त नहीं करता क्योंकि आत्मा स्वयं स्फुरणरूप है । आत्माकी वृत्तिकी व्याप्तिको तो पूर्वाचार्य भी मानते हैं । वे केवल फलकी व्याप्तिका निषेध करते हैं ।]

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥९१॥

[जब हमें घट दीखता है तब] बुद्धि और उसमें पड़ा हुआ चिदाभास दोनों घटको व्याप्त किया करते हैं [दोनोंके व्याप्त करनेके फल भी दो पृथक् पृथक् देखे जाते हैं] (तत्र धिया अज्ञानं नश्येत्) उन दोनोंमेंसे बुद्धिवृत्तिसे तो अज्ञान नष्ट होजाता है [क्योंकि ज्ञान और अज्ञानका परस्पर विरोध है] (आभासेन घटः स्फुरेत्) तथा दूसरा जो चिदाभास है उससे घटकी स्फूर्ति हुआ करती है [क्योंकि जड होनेके कारण घटमें स्वयं स्फुरणकी योग्यता नहीं होती ।]

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।
स्वयंस्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते ॥९२॥

[प्रत्यगात्मा और ब्रह्मकी जो एकता है वह अब तक अज्ञात बनी हुई थी। उस एकताको अज्ञानने आवृत कर रक्खा था] ब्रह्ममें के उस अज्ञानका नाश करनेके लिये वृत्तिकी व्याप्ति तो अपेक्षित होती है [महावाक्योंको सुनकर 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसी जो एक बुद्धिवृत्ति हुआ करती है, वह वृत्ति ब्रह्मको व्याप्त करले, केवल इतनी बात आवश्यक है] (परन्तु आत्मनः स्वयं स्फुरणरूपत्वात् तत्स्फुरणाय आभासः न उपयुज्यते) परन्तु आत्माके स्वयं स्फुरणरूप होनेके कारण, उसकी स्फूर्ति करानेके लिये फिर चिदाभासका कुछ उपयोग नहीं रहजाता [ऐसी अवस्थामें वह चिदाभास भले ही ब्रह्मसे युक्त हो भी जाता हो तो भी उसमें उसका कुछ उपयोग नहीं होता। वह सूरजके सामने लाये हुए दीपककी भांति ब्रह्मतत्व के सामने अकार्यकारी अर्थात् निकम्मा होजाता है, या वह उस हीमें लीन होकर एक होजाता है। यों वह उसे देख नहीं पाता।]

चक्षुर्दीपावपेक्ष्येते घटादेर्दर्शने यथा ।
न दीपदर्शने किन्तु चक्षुरेकमपेक्ष्यते ॥९३॥

जैसे [अन्धेरेसे ढके हुए] घटादिको देखनेमें चक्षु और दीपक दोनों अपेक्षित होते हैं। परन्तु दीपकको देखनेमें वैसा नहीं होता। किन्तु दीपदर्शनमें एक चक्षु ही चक्षु अपेक्षित होती है [इसी प्रकार ब्रह्ममें अज्ञानका नाश करनेके लिए वृत्तिकी व्याप्ति तो आवश्यक है किन्तु उसके स्फुरणके लिये आभासका कोई उपयोग नहीं होता]।

स्थितोऽप्यसौ चिदाभासो ब्रह्मण्येकीभवेत् परम् ।
न तु ब्रह्मण्यतिशयं फलं कुर्याद् घटादिवत् ॥९४॥

(ब्रह्मगोचरवृत्तौ स्थितः अपि असौ चिदाभासः ब्रह्मणि परम् एकी भवेत्) ब्रह्मको विषय करनेवाली वृत्तियोंमें स्थित भी यह चिदाभास [ब्रह्मसे पृथक् होकर नहीं भासता। किन्तु प्रचण्ड धूपमें जलते हुए दीप-प्रकाशके समान] ब्रह्मके साथ परम एकीभावको प्राप्त होजाता है। (सः

घटादिवत् ब्रह्मणि अतिशयं फलं न कुर्यात्) फिर वह चिदाभास घटादिकी भांति ब्रह्ममें [स्फुर्तिरूपी] अतिशयको उत्पन्न नहीं करता।

अप्रमेय मनादिं चेत्यत्र श्रुत्येदमीरितम्।
मनसैवेदमाप्तव्यमिति धीव्याप्यता श्रुता ॥९५॥

[ब्रह्ममें वृत्तिकी व्याप्ति तो है परन्तु फलकी व्याप्ति [ब्रह्ममें] नहीं होती, यह बात हम अप्रामाणिक नहीं कहते देखो कि] निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितं। अप्रमेयमनादिं च यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः॥ अमृत-बिन्दु उपनिषत्की इस श्रुतिके अप्रमेयशब्दका तात्पर्य यही है कि उसमें फलकी व्याप्ति नहीं होती, और यों वह अप्रमेय ही रहजाता है। तथा मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन (कठ० २-४-११) इस श्रुतिमें ब्रह्म की वृत्तिव्याप्यताकी बात सुनी गयी है।

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति वाक्यतः।
ब्रह्मात्मव्यक्ति मुल्लिख्य यो बोधः सोऽभिधीयते ॥९६॥

जब कोई अधिकारी [सत्यज्ञानादि स्वरूपवाले] ब्रह्मसे अभिन्न आत्माको विषय कर लेता है, उस समय उसे जो बोध किंवा अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, उस बोधका वर्णन श्रुतिके आत्मानं चेद्विजानीयाद-यमस्मि [बृ० ४-४-१२] 'आत्माको यदि पहचानले, कि मैं यह महान् तत्व हूं' इस वाक्यखण्डने किया है।

अस्तु बोधोऽपरोक्षोत्र महावाक्यात् तथाप्यसौ।
न दृढः श्रवणादीनामाचार्यैः पुनरीरणात् ॥९७॥

(अत्र महावाक्यात् अपरोक्षः बोधः अस्तु) इस ब्रह्मात्मताके विषयमें महावाक्योंसे [उनको एक बार सुनकर विचार करनेपर] अपरोक्ष ज्ञान होजाता है यह तो हम मानलेते हैं, तथापि (असौ न दृढः आचार्यैः पुनः श्रवणादीनां ईरणात्) तौ भी वह बोध दृढ नहीं होता क्योंकि श्रीमच्छङ्कराचार्यने वाक्यार्थज्ञानके उत्पन्न होजानेके पश्चात्

भी श्रवण आदि [की आवृत्ति करने] को कहा है। [वह उन्होंने ज्ञानकी दृढताके ही लिये कहा होगा। इससे समझते हैं कि महावाक्यसे हुआ अपरोक्षज्ञान टिकाऊ नहीं होता]

अहं ब्रह्मेतिवाक्यार्थबोधो यावद् दृढीभवेत् ।
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥९८॥

आचार्यने कहा है कि जब तक किसीको मैं ब्रह्म हूं इस वाक्यार्थ का ज्ञान दृढ न हो, तब तक वह शमदमादिसे युक्त होकर, श्रवणादिका अभ्यास किया करे।

वाक्यार्थ बोधकी अदृढताके कारण

बाढं सन्ति ह्यदाढ्र्यस्य हेतवः श्रुत्यनेकता ।
असंभाव्यत्वमर्थस्य विपरीता च भावना ॥९९॥

(हि श्रुत्यनेकता अर्थस्य असंभाव्यत्वं विपरीता भावना च इति एवं विधाः अदाढ्र्यस्य हेतवः बाढं सन्ति) क्योंकि एक तो श्रुतियोंकी अनेकता शब्दप्रमाणसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानकी अदृढताका कारण है [कोई श्रुति कुछ कहती है, दूसरी श्रुति कुछ और बतादेती है उन्हें देखकर शब्दजन्य ज्ञान दृढ नहीं होपाता।] दूसरे [अलौकिक होनेके कारण अखण्डैकरस अद्वितीय ब्रह्मरूपी] अर्थका असंभव प्रतीत होना कि [मैं भला ब्रह्म कैसे होसकता हूं] भी ज्ञानकी अदृढताका कारण है [बात यह है कि मैं ब्रह्म हूं यह बात साधारण प्राणीके गले नहीं उतरती।] तीसरे विपरीत भावनायें भी ब्रह्मत्वकी अदृढताके कारण बनी हुई हैं [विपरीत भावनाओंने प्राणियोंके हृदयपर पूर्णाधिकार जमा रक्खा है। प्राणियोंको कर्तृत्व भोक्तृत्वके वृथा अभिमानसे इतना अवकाश नहीं मिलता कि वे कभी अपने ब्रह्मत्वका किंवा अपने असङ्गरूपका विचार कर सकें]।

श्रुतिनानात्वप्रयुक्त अदाढ्र्य की निवृत्तिकेलिये श्रवणकी आवृत्ति

शाखाभेदात् कामभेदाच्छ्रुतं कर्मान्यथाऽन्यथा ।
एवमत्रापि मा शङ्कीत्यतः श्रवणमाचरेत् ॥१००॥

[यदि श्रुतियोंके नाना होनेसे ब्रह्मज्ञान दृढ न होता हो, तो उसका उपाय इस श्लोकमें बताया जारहा है] (शाखाभेदात् कामभेदात् च कर्म अन्यथा अन्यथा श्रुतम्) शाखाके भिन्न भिन्न होनेसे कर्म भिन्न भिन्न होजाता है। इसी प्रकार कामनाके भिन्न भिन्न होनेसे भी कर्मोंमें भेद आता सुना जाता है। (एवम् अत्र उपनिषत्सु अपि प्रतिपाद्यतत्वस्य भेदं मा शङ्कि इत्यतः श्रवणम् आचरेत्) ऐसा ही कोई प्रतिपाद्यतत्वका भेद उपनिषदोंमें भी होता होगा, इस शङ्का [भेदशङ्का] को हटानेकेलिये वार वार श्रवण करे।

श्रवणका लक्षण

वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः ।
ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमिति धीः श्रवणं भवेत् ॥१०१॥

आदि मध्य और अन्तमें कहींसे भी विचार करनेपर सब वेदान्तों [उपनिषदों] का परमनिष्कर्ष ब्रह्मको प्रत्यगात्मारूप बतानेमें है, ऐसा निश्चय 'श्रवण' कहाता है।

मननका लक्षण

समन्वयाध्याय एतत् सूक्तं, धीस्वास्थ्यकारिभिः ।
तर्कैः संभावनार्थस्य द्वितीयाध्याय ईरिता ॥१०२॥

(एतत् श्रवणं व्यासेन समन्वयाध्याये सूक्तम्) व्यासमुनिने इसी 'श्रवण' को [वेदान्तदर्शनके] समन्वय नामके प्रथमाध्यायमें भलीभांति वर्णन किया है। (द्वितीयाध्याये धीस्वास्थ्यकारिभिः तर्कैः अर्थस्य संभावना ईरिता) व्यासजीने दूसरे अध्यायमें [प्रमेयको समझनेमें जो जो अड़चनें होती हैं उन सबको हटाकर] बुद्धिका सन्तोष करदेनेवाले तर्कों किंवा युक्तियोंसे, अर्थकी संभावना की है [कि श्रवणकियाहुआ अर्थ यों यों संभव है] उसीको 'मनन' भी कहते हैं।

विपरीतभावना तथा उसकी निवृत्तिका उपाय

बहुजन्मदृढाभ्यासाद् देहादिष्वात्मधीः क्षणात् ।
पुनः पुनरुदेत्येवं जगत्सत्यत्वधीरपि ॥१०३॥
विपीता भावनेयमैकाग्र्यात् सा निवर्तते ।
तत्वोपदेशात् प्रागेव भवत्येतदुपासनात् ॥१०४॥

(बहुजन्मदृढाभ्यासात् देहादिषु आत्मधी: एवं जगत्सत्यत्वधी: अपि क्षणात् पुन: पुन: उदेति) अनन्त जन्मोंके दृढ अभ्याससे देहादिको आत्मा समझनेके और जगत्को सत्य समझनेके विचार क्षण क्षणमें फिर फिर उत्पन्न हुआ करते हैं, (इयं विपरीता भावना) बस यही 'विपरीत भावना' कहाती है। (सा ऐकाग्र्यात् निवर्तते) यह विपरीतभावना एकाग्रतासे नष्ट होती है। (एतत् ऐकाग्र्य तत्वोपदेशात प्राग् एव सगुण-ब्रह्मोपासनात् भवति) यह एकाग्रता ब्रह्मोपदेशसे पहले ही पहले सगुण ब्रह्मकी उपासनासे प्राप्त होती है।

उपास्तयोऽतएवात्र ब्रह्मशास्त्रेऽपि चिन्तिताः ।
प्रागनभ्यासिनः पश्चाद् ब्रह्माभ्यासेन तद् भवेत् ॥१०५॥

यही कारण है कि इस ब्रह्मशास्त्र [वेदान्तशास्त्र] में भी उपासनाओंकी चिन्ता कीगयी है। परन्तु जिसने ब्रह्मज्ञान होनेसे पहले एकाग्रता का अभ्यास नहीं किया होता, उसको वह एकाग्रता ब्रह्माभ्यास करते रहने से होजाती है।

ब्रह्माभ्यास

तच्चिन्तनं तत्कथन मन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥१०६॥

ब्रह्मका ही चिन्तन करना, उसीकी बातें करना, एक दूसरेको उसी को समझाना तथा सदा केवल तन्निष्ठ होकर रहना, इसीको ज्ञानीलोग

ब्रह्माभ्यास कहते हैं। [ऐसा ब्रह्माभ्यास करते करते ज्ञानीका चित्त एकाग्र होजाता है]

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥१०७॥

(धीरः ब्राह्मणः तम् एव विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत) धीर [अर्थात् ब्रह्मचर्यादिसाधनसे युक्त] ब्राह्मण [अर्थात् ब्रह्मोमात्र चाहनेवाले मुमुक्षु] को उचित है कि उसी प्रत्यग्रूप परमात्माको पूर्णरूपसे जानकर [जिससे उस प्रत्यग्रूपके ही परमात्मा होनेमें किसी प्रकारके संशयादि न रहजांय] प्रज्ञा एकाग्रता करे [अर्थात् ब्रह्मात्मैकताके ज्ञानकी एक निरन्तरधारा बहादे] (बहून् शब्दान् न अनुध्यायात्) अनात्माको विषय करनेवाले बहुतसे शब्दोंका ध्यान [और कथन दोनों] छोड़ दे। (हि तत् वाचः विग्लापनम्) क्योंकि वह [ध्यान और वह कथन] वाणी और मनकी थकावटका कारण होता है। [शब्दोंका ध्यान करनेसे मन व्यर्थ थकता है तथा शब्दोंको बोलनेसे वाणीको व्यर्थ श्रम होता है। यों श्रुतिने अपने मुखसे इसी ब्रह्मनिष्ठताका वर्णन किया है।]

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥१०८॥

(ये जनाः अनन्याः सन्तः तथा एव मां चिन्तयन्तः पर्युपासते) जो लोग मुझसे अनन्य होकर मेरा चिन्तन करते करते सदा मेरी उपासना किया करते हैं [सदा मद्रूप हुए रहते हैं] (नित्याभियुक्तानां तेषां योगक्षेमं वहामि) नित्य मुझमें लगे हुए [मेरे गम्भीर अन्तस्तल तक पहुँचे हुए] उन उपासकोंके भोजनाच्छादिका प्रबन्ध और उनके जीवनसाधनों की रक्षाका भार मेरे कन्धोंपर रहता है।

क्योंकि उन्होंने मुझको अपना आत्मा समझ लिया है। वे फिर अपने भोजनादिके प्रबन्धकी चिन्ता नहीं करते। जिसप्रकार कोई ग्वाला

किसी पशुको चराना छोड़ देता है तो उस पशुका स्वामी उसे नहीं छोड़ बैठता। फिर वह स्वयं उसके खान पानकी देखभाल करता है। इसीप्रकार यदि कोई साधक ज्ञानावेशमें आकर या भक्तिके उद्रेकमें फंसकर शरीर के निर्वाहकी चिन्ता छोड़ देता है तो समष्टिका अभिमानी उसके निर्वाह को अपने सिर ले लेता है। ईश्वरके संकल्पका ही दूसरा नाम प्रारब्ध है। सो उस प्रारब्धके प्रतापसे किन्हीं भी लोगोंके मनोंमें ऐसी प्रेरणायें होजाती हैं कि अमुकको भोजनादिकी आवश्यकता है चलो दे आवें। देखते हैं कि जब कोई अन्धा, जो अब अपनी सहायता स्वयं नहीं कर सकता, हमारे सामने आकर कुछ मांगता है तब मनमें उसे भोजनाच्छादनादि देनेकी अन्तः प्रेरणायें, जब तक उसे कुछ दे नहीं देते, तब तक बार बार होती रहती हैं। यों इस मार्गसे असमर्थकी अपङ्गकी, और भक्तिमें गहरे डूबे हुए भक्तोंकी, चिन्ता ईश्वर [देने लेने वाले दोनोंके अन्तर्यामी] स्वयं करते हैं। जो बहुमुख रहते हैं, अपना भार अपने ऊपर उठायेरहते हैं, भगवान भी उनकी ओरसे निश्चिन्त रहते हैं।

इति श्रुतिस्मृती नित्यमात्मन्येकाग्रतां धियः।
विधत्तो विपरीताया भावनायाः क्षयाय हि ॥१०९॥

(इति श्रुतिस्मृती विपरीतायाः भावनायाः क्षयाय हि आत्मनि नित्यं धियः एकाग्रतां विधत्तः) ऊपर कही हुई ये श्रुति और स्मृतियें विपरीत भावनाकी निवृत्ति करनेकेलिये आत्मामें सदा चित्तको एकाग्र करे रखने का विधान करती हैं। [ऐसे लोग पेट कहांसे पालें? बाल बच्चोंको कहां से खिलायें? इसीका उत्तर पहले गीताश्लोकमें उत्तरदायित्वका प्रतिज्ञापत्र (दस्तावेज़) लिखकर दिया है। ऐसा उत्तरदायित्व भगवानके ऊपर आ जानेपर भक्त लोग योगक्षेमकी ओरसे निश्चिन्त होकर एकाग्रतामें लगेरहें।

विपरीतभावना

यद्यथा वर्तते तस्य तत्वं हित्वाऽन्यथात्वधीः।
विपरीता भावना स्यात् पित्रादावरिधीर्यथा॥ ११०॥

जो [शुक्ति आदि] पदार्थ जिस रूपका है, उसके उस रूपको तो छोड़ दिया जाय और उसको अन्यथा [रजत आदि रूपका] समझलिया जाय, यह 'विपरीत भावना, कहाती है [इसीको 'अतत्' को 'तत् समझ लेना भी कहा जाता है] जैसे किसी कच्ची बुद्धिके बालक या युवकको पिता आदि हितैषियोंसे शत्रुबुद्धि होजाती है इसको भी विपरीत भावना कहते हैं। [इस लक्षणके अनुसार देहादि को आत्मा समझना तथा जगत्को सत्य मानबैठना विपरीतभावना है।]

आत्मा देहादिभिन्नोयं मिथ्या चेदं जगत् तयोः।
देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधी विंपर्ययभावना ॥१११॥

(अयम् आत्मा देहादिभिन्नः इदं च जगत् मिथ्या) सच्ची बात यह है कि यह आत्मा देहादियोंसे भिन्न है और यह जगत् मिथ्या है। (तयोः देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीः विपर्ययभावना) ऐसा होनेपर भी आत्माको तो देहादिरूप मानलेना, तथा जगत्को सत्य समझ लेना, यही [इस प्रकरण की] 'विपरीतभावना' है।

तत्त्वभावनया नश्येत् सातो देहातिरिक्तताम्।
आत्मनो भावयेत् तद्वन्मिथ्यात्वं जगतोऽनिशम् ॥११२॥

(यतः सा तत्वभावनया नश्येत् अतः अनिशम् आत्मनः देहातिरिक्ततां तद्वत् जगतः मिथ्यात्वं भावयेद्) [देहादिकी आत्मा और जगत्की सत्यता बुद्धिवाली] वह विपरीतभावना क्योंकि तत्वभावनासे [अर्थात् आत्मा देहादिसे भिन्न है तथा यह जगत मिथ्या है ऐसा निरन्तर ध्यान करते रहनेसे] नष्ट होजाती है, इस कारण साधक दिनरात निरन्तर आत्माकी देहादिसे भिन्नताकी तथा देहादि जगत्के मिथ्यापन की भावना किया करे। [पहले १०४ श्लोकमें विपरीत भावनाके एकाग्रतासे नष्ट होने की बात सामान्यतया कही थी। अब इस श्लोकमें एकाग्रताका स्पष्टीकरण करते हुए उसका विशेष आकार बतायागया है।]

किं मन्त्रजपवन्मूर्तिध्यानवद् वात्मभेदधीः ।
जगन्मिथ्यात्वधीश्चात्र व्यावर्त्या स्यादुतान्यथा ॥११३॥

(किम् आत्मभेदधीः जगन्मिथ्यात्वधीः च मन्त्रजपवत् मूर्तिध्यानवत् वा व्यावर्त्या स्यात् उत अन्यथा) क्या आत्माके देहादिसे भिन्न होनेके ज्ञानकी, तथा जगत्के मिथ्या होनेके विचारकी, मन्त्रके जपकी भांति या देवताके ध्यानादिकी भांति नियमसे आवृत्ति करें ? या लौकिक कामोंकी भांति नियमके विना भी करसकते हैं ? [यह एक साधनमार्गका प्रश्न है]

अन्यथेति विजानीहि दृष्टार्थत्वेन भुक्तिवत् ।
बुभुक्षुर्जपवद् भुङ्क्ते न कश्चिन्नियतः क्वचित् ॥११४॥

(भुक्तिवत् दृष्टार्थत्वेन अन्यथा इति विजानीहि) उत्तर यह है कि यह नियमके विना ही करना चाहिये । क्योंकि यह विषय भोजन आदि की भांति दृष्टार्थ है । (क्वचित् अपि कश्चित् अपि बुभुक्षुः जपवत् नियतः न भुङ्क्ते) कहीं भी [भूखको हटानेके लिये] भोजनार्थी कोई भी पुरुष जप करनेवालेकी भांति नियमसे नहीं खाता [किन्तु जिस प्रकार भी उस की भूखकी बाधा शान्त होजाय उसी प्रकार भोजन करता है ।]

अश्नाति वा नवाश्नाति भुङ्क्ते वा स्वेच्छयाऽन्यथा ।
येन केन प्रकारेण क्षुधामपनिनीषति ॥११५॥

(अश्नाति वा नवाश्नाति) भूखकी शान्ति चाहनेवाला पुरुष अन्न हो तो कभी भी खाता है, नहीं हो तो नहीं खाता, [विना खाये भूख भुलानेवाले कामोंमें दिन काट देता है] (अन्यथा वा स्वेच्छया भूङ्क्ते) आसनपर बैठकर चलते चलते मूढ़े या खाटपर बैठकर अथवा लेटे लेटे ही स्वेच्छासे खाता है (येन केन प्रकारेण क्षुधाम् अपनिनीषति) वह जिस किसी प्रकार भूखकी बाधाको हटादेना चाहता है । [भाव यह है कि भोजन तो भूखकी शांतिरूपी दृष्टफलके लियेही है । उस भोजनमें जो विशेष विशेष नियम लगाये जाते हैं वे नियम परलोकके लिये होते हैं ।]

नियमेन जपं कुर्यादकृतौ प्रत्यवायतः ।
अन्यथाकरणेऽनर्थः स्वरवर्णविपर्ययात् ॥११६॥

(जपं तु नियमेन कुर्यात्) परन्तु जपको तो नियमसे ही करना चाहिये । (अकृतौ प्रत्यवायतः) जपको न करें, तो पाप चढ़ता है । (अन्यथाकरणे स्वरवर्णविपर्ययात् अनर्थः) उसे [जपको] यदि अविधि-पूर्वक करें तो स्वर और वर्णके उलट पुलट होजानेसे अनर्थ होता है ।

क्षुधेव दृष्टबाधाकृद् विपरीता च भावना ।
जेया केनाप्युपायेन नास्त्यत्रानुष्ठितेः क्रमः ॥११७॥

(विपरीता च भावना क्षुधा इव दृष्टबाधाकृत्) विपरीतभावना भी भूखकी भांति केवल दृष्टबाधा करनेवाली है । [यह बात सबके अनुभव से सिद्ध है] (सा केन अपि उपायेन जेया) उस विपरीतभावनाको किसी भी उपायसे जीत लेना है । (अत्र अनुष्ठितेः क्रमः न अस्ति) उसके जीतनेमें अनुष्ठानका कोई भी निश्चित क्रम नहीं होसकता ।

उपायः पूर्वमेवोक्त स्तच्चिन्ताकथनादिकः ।
एतदेकपरत्वेऽपि निर्बन्धो ध्यानवन्न हि ॥११८॥

(तच्चिन्ताकथनादिकः उपायः पूर्वम् एव उक्तः) इसी प्रकरणके एक सौ छःवें श्लोकमें उसीकी चिन्ता, उसीका कथन आदि उपायका वर्णन पहले करदिया है । (एतदेकपरत्वे अपि ध्यानवत् निर्बन्धः न हि) उसमें तदेकपरताके होनेपर भी उसमें ध्यानकी भांति कठिन बन्धन नहीं है । [यह विषय अगले श्लोकोंमें स्पष्ट किया जारहा है] ।

ध्यानका स्वरूप

मूर्तिप्रत्ययसान्तत्य मन्यानन्तरितं धियः ।
ध्यानं, तत्रातिनिर्बन्धो मनसश्चञ्चलात्मनः ॥११९॥

(धियः अन्यानन्तरितं मूर्तिप्रत्ययसान्तत्यं ध्यानम् उच्यते) बुद्धि का जो मूर्ति प्रतीतिका प्रवाह बहरहा है, वह निरन्तर धाराप्रवाहरूपसे

वहता रहे, उसके मध्यमें कोई भी विजातीय प्रत्यय न आये, इसको 'ध्यान' कहते हैं। [जैसे सदा घूमते रहनेवाले हाथी घोड़े आदिको ठूंठ आदिमें बांध दिया जाता है इसीप्रकार] (चंचलात्मनः मनसः तत्र अतिनिर्बन्धः) यह चंचलात्मा मन इस ध्यानमें ही पूरा पूरा बंधता है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥१२०॥

गीतामें भी कहा है कि (कृष्ण मनः चंचलं प्रमाथि बलवत् दृढं च) हे कृष्ण! यह मन चंचल प्रमथनशील [पुरुषको व्याकुल कर डालने वाला है] तथा बड़ा बलवाला है [इसका वशमें करना कोई सुकर काम नहीं है] यह दृढ है [यह सच्चे या झूठे किसी भी विषयमें दृढतासे जुड़ा रहता है। उसमेंसे इसे अलग करलेना अशक्य काम समझाजाता है] (अहं तस्य निग्रहं वायोः निग्रहम् इव सुदुष्करं मन्ये) इस कारण मैं उस मनके निग्रहको वायुको रोक रखनेके समान सुदुष्कर मानता हूं।

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि ।
अपि वन्ह्यशनात् साधो विषमश्चित्तनिग्रहः ॥१२१॥

योगवासिष्ठमें भी कहा है कि (साधो चित्तनिग्रहः महतः अब्धि-पानात् अपि, सुमेरून्मूलनात् अपि वन्ह्यशनात् अपि च विषमः) हे साधो! चित्तका निग्रह करलेना किसी बड़े समुद्रको पीडालनेसे भी सुमेरु पर्वतको उखाड़ डालनेसे भी या फिर दहकते अंगारोंको सटकलेनेसे भी कहीं कठिन है।

कथनादौ न निर्बन्धः शृङ्खलाबद्धदेहवत् ।
किन्त्वनन्तेतिहासाद्यैः विनोदो नाट्यवद्धियः ॥१२२॥

(शृंखलाबद्धदेहवत् कथनादौ निर्बन्धः न) जैसा शृंखलासे बांधे हुए देहका निर्बन्ध होता है, कथन तथा चिन्ता आदिका ऐसा निर्बन्ध नहीं होता [निर्बन्ध न हो इतना ही नहीं] (किन्तु अनन्तेतिहासाद्यैः

नाट्यवत् धियः विनोदः भवति) प्रत्युत अनन्त इतिहास, युक्ति, दृष्टान्त आदिके द्वारा इससे बुद्धिका नाट्य देखनेके समान विनोद होता है। [ध्यानादिसे ब्रह्माभ्यासकी यही विशेषता है]

चिदेवात्मा जगन्मिथ्येत्यत्र पर्यवसानतः ।
निदिध्यासनविक्षेपो नेतिहासादिभिर्भवेत् ॥ १२३॥

(आत्मा चित् एव जगत् च मिथ्या इति अत्र इतिहासादीनाम् पर्यवसानतः) उन इतिहासादिका पर्यवसान केवल अर्थमें होनेसे है कि आत्मा चिन्मात्रस्वरूप है [वह देहादिरूप नहीं है] तथा यह जगत् मिथ्या है। (इतिहासादिभिः निदिध्यासनविक्षेपः न भवेत्) उन इतिहासादियोंसे उसके तदेकपरतारूपी निदिध्यासनमें विक्षेप नहीं पड़ता।

कृषिवाणिज्यसेवादौ काव्यतर्कादिकेषु च ।
विक्षिप्यते प्रवृत्त्या धीस्तैस्तत्वस्मृत्यसंभवात् ॥१२४॥

(कृषि…च प्रवृत्या धीः विक्षिप्यते) खेती, व्योपार, नौकरी, काव्य तथा तर्कादिका अनुशीलन करनेपर उनमें प्रवृत्तिके कारण बुद्धि विक्षिप्त होही जाती है। (तैः तत्वस्मृत्यसंभवात) क्योंकि इनके करते हुए तत्वकी स्मृति असम्भव है। [इस कारण कृषि आदिको स्वीकार न करके उन इतिहासादिको स्वीकार किया गया है।]

अनुसन्दधतैवात्र भोजनादौ प्रवर्तितुम् ।
शक्यतेऽत्यन्तविक्षेपाभावादाशु पुनः स्मृतेः ॥१२५॥

(अत्र भोजनादौ आशु पुनः स्मृतेः अत्यन्तविक्षेपाभावात् अनुसन्दधता एव प्रवर्तितुं शक्यते) इन [शरीरयात्रा केलिये अत्यावश्यक] भोजन आदिमें तो आत्माका अनुसन्धान [स्मरण] करते हुए भी प्रवृत्ति हो सकती है। क्योंकि भोजनादिसे किसीको अत्यन्त विक्षेप नहीं होता। उसका कारण यह है कि तत्वका स्मरण फिर तुरन्त होजाता है। [भोजनादिमें मनुष्यका मन अधिक व्यग्र नहीं होता। भोजनादि शरीर करता

रहता है। भोजनादिके समय भी तत्वस्मृति रखी जासकती है। हां, जब कभी मनोराज्य होता है तब वह तत्वको उलटा समझकर ही होता है।]

तत्वविस्मृतिमात्रान्नानर्थः किन्तु विपर्ययात् ।
विपर्येतुं न कालोस्ति झटिति स्मरतः क्वचित् ॥१२६॥

तत्वको भूल जानेमात्रसे अनर्थ नहीं होता। किन्तु अनर्थ विपरीतज्ञान होजानेसे होता है। (झटिति स्मरतः विपर्येतुं क्वचित् कालः न अस्ति) जब कोई पुरुष तुरन्त आत्मतत्वका स्मरण करलेता है तब उसे विपरीतज्ञान होनेका कोई अवसर नहीं मिलता।

तत्वस्मृतेरवसरो नास्त्यन्याभ्यासशालिनः ।
प्रत्युताभ्यासघातित्वाद् बलात् तत्वमुपेक्ष्यते ॥१२७॥

(अन्याभ्यासशालिनः तत्वस्मृतेः अवसरः न अस्ति) अनात्मपदार्थोंका अभ्यास करनेवालेको तत्वस्मरणका अवकाश [अवसर] नहीं मिलता। (प्रत्युत अन्याभ्यासस्य ब्रह्माभ्यासघातित्वात् तत्वं बलात् उपेक्ष्यते) इतना ही नहीं प्रत्युत ऐसे अभ्यासोंके ब्रह्माभ्यासके विघातक होनेसे उस समय तो स्मरण किया हुआ तत्व भी बलात् भूलजाता है।

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ।
इति श्रुतं तथान्यत्र वाचो विग्लापनं त्विति ॥१२८॥

तत्वस्मरणके विरोधी काव्यतर्कादिके अनुशीलनको छोड़नेकी बात 'तमेवैकं विजानीथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः' [मुण्ड २५–२] इस श्रुतिमें तथा नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत [बृह० ४–४–२१] इस श्रुतिमें कही है।

आहारादि त्यजन्नैव जीवेच्छास्त्रान्तरं त्यजन् ।
किं न जीवसि, येनैवं करोष्यत्र दुराग्रहम् ॥१२९॥

भोजनादिका त्याग करके कोई जीवित नहीं रह सकता। क्या तुम

उसी प्रकार दूसरे अनात्मशास्त्रोंका त्याग करके जीवित नहीं रह सकते हो ? जिससे इस विषयमें ऐसा दुराग्रह किये जा रहे हो।

जनकादेः कथं राज्यमिति चेद् दृढबोधतः ।
तथा तवापि चेत् तर्कं पठ, यद्वा कृषिं कुरु ॥१३०॥

यदि यह पूछो कि जनकादि तत्ववेत्ताओंने राज्यका परिचालन आदि कैसे किया था ? तो उसका उत्तर यह है कि वे दृढबोधके कारण वैसा करसके थे [उनका अपरोक्षज्ञान दृढ था। उससे उनकी प्रवृत्ति उनके आत्मचिन्तनमें बाधक नहीं होती थी] यदि तुमको भी जनकादि जैसा दृढबोध होचुका हो, तो तुम भी चाहे तर्क पढ़ो, या खेती करने लगो। [पक्षी अपने नन्हे बच्चोंको तब ही तक अपने निवासमें रखते हैं, जब तक उनके पंख पक नहीं जाते। पंखोंके पक जानेपर तो वे उन्हें चोंचोंसे मार मार कर बाहर निकाल देते हैं। इसीप्रकार ब्रह्मज्ञानीको तब तक ही सांसारिक कर्मोंसे बचनेको कहाजाता है जब तक उसका ज्ञान पक नहीं जाता। पक्षियोंके बच्चे पंखोंके पक जानेपर चाहे जहां उड़ें, इसीप्रकार ज्ञानके पकजाने पर ज्ञानीलोग चाहे जो कुछ करें, फिर उनका ज्ञानदीपक नहीं बुझता। प्रत्युत उनका व्यवहार उनके ज्ञानको पकाता रहता है।]

मिथ्यात्ववासनादार्ढ्ये प्रारब्धक्षयकाङ्क्षया ।
अक्लिश्यन्तः प्रवर्तन्ते स्वस्वकर्मानुसारतः ॥१३१॥

जिन लोगोंकी संसारमिथ्यात्वकी वासना दृढ होजाती है [संसार की असारताको जाननेवाले] वे तत्वज्ञानी भी प्रारब्धको क्षय करनेकी एकमात्र इच्छासे, बिना किसी खेदके, अपने अपने कर्मोंके अनुसार, प्रवृत्ति किया करते हैं [क्योंकि प्रारब्धका फल अवश्य मिलता है, उसका क्षय केवल भोगसे होता है, इस विचारको लेकर ज्ञानियोंकी प्रवृत्ति हुआ

करती है। उन्हें प्रारब्धके अनुसार आये सुखदुःखोंको देखकर अज्ञानियों की नाईं कोई क्लेश नहीं होता]।

अतिप्रसङ्गो मा शंक्यः, स्वकर्मवशवर्तिनाम् ।
अस्तु वा केन शक्येत कर्म वारयितुं वद ॥१३२॥

(अस्तु वा स्वकर्मवशवर्तिनाम् अतिप्रसङ्गः) ऐसे तो फिर ज्ञानी लोग अनाचार भी करेंगे, ऐसी शंका न करनी चाहिए। या फिर अपने अपने प्रारब्ध कर्मके बसमें आकर कोई ज्ञानी अनाचार कर भी बैठे तो (वद कर्म वारयितुं केन शक्येत) बताओ प्रारब्ध कर्मको वारण करदेने का किसमें सामर्थ्य है ? [प्रारब्ध ईश्वरका संकल्प है वह हमारे संकल्पों से प्रबल होता है उसका वारण कोई नहीं करसकता ।]

अज्ञानीको प्रारब्धकर्मभोगमें क्लेश, ज्ञानीको नहीं

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समे प्रारब्धकर्मणी ।
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः ॥१३३॥

(अत्र ज्ञानिनः अज्ञानिनः च प्रारब्धकर्मणी समे) इस संसारमें ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंके प्रारब्धकर्म समान होते हैं। [उनमें भेद केवल इतना है कि] (धैर्यात् ज्ञानिनः क्लेशः न) धैर्यके कारण ज्ञानीको क्लेश नहीं होता। (मूढः अधैर्यतः क्लिश्यति) परन्तु मूढ पुरुष अधीरताके कारण दुःखी हुआ करता है। [एक भाषाकविने ठीक ही कहा है—देह धरेका दण्ड है सब काहूको होय। ज्ञानी भुगते ज्ञान सों मूरख भुगते रोय।]

मार्गे गन्त्रोर्द्वयोः श्रान्तौ समायामप्यदूरताम् ।
जानन् धैर्याद् द्रुतं गच्छेदन्यस्तिष्ठति दीनधीः ॥१३४॥

(मार्गे गन्त्रोः द्वयोः समायाम् अपि श्रान्तौ) मार्गमें जानेवाले दो यात्रियोंको समान थकावट होनेपर भी (अदूरतां जानन् धैर्यात् द्रुतं गच्छेत्) उन दोनोंमेंसे, गन्तव्य स्थानकी अदूरताको जाननेवाला यात्री

धीरताके कारण शीघ्र शीघ्र चलता जाता है। (अन्य: दीनधी: तिष्ठति) दूसरा तो [जिसे अपने मार्गकी अदूरताका ज्ञान नहीं होता] दीनबुद्धि होकर मार्गमें बैठ रहता है।

साक्षात्कृतात्मधीः सम्यगविपर्ययबाधितः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीर मनुसंज्वरेत् ॥१३५॥

(सम्यक् साक्षात्कृतात्मधी: अविपर्ययबाधित:) जो आत्माको ठीक ठीक साक्षात्कार कर लेनेवाली बुद्धिवाला है, जो अब कभी भी विपरीतज्ञानसे बाधित नहीं होता [जो कभी भी देहादिको आत्मा नहीं समझता] (किम् इच्छन् कस्य कामाय शरीरम् अनुसंज्वरेत्) बताओ कि ऐसा ज्ञानी किस वस्तुकी चाहमें फंसकर तथा किसके लिये, [मांसके ढेर] इस शरीरके पीछे पीछे दु:खी होता फिरे ? [ऐसे ज्ञानीको दु:खी होनेकी कुछ विवशता नहीं रहती]

जगन्मिथ्यात्वधीभावादाक्षिप्तौ काम्यकामुकौ।
तयोरभावे सन्तापः शाम्येन्निःस्नेहदीपवत् ॥१३६॥

(अस्मिन् मन्त्रार्धे जगन्मिथ्यात्वधीभावात् काम्यकामुकौ आक्षिप्तौ) इस आधेमन्त्रमें जगन्मिथ्यात्व बुद्धिके उत्पन्न होजानेके कारण काम्य और कामुक दोनोंको हटा दियागया है। [क्योंकि इस ज्ञानीको जगत्के मिथ्या होनेकी बुद्धि उत्पन्न होगयी है, इस कारण उसकी उदार दृष्टिमें न तो कामना करनेका पदार्थ रहता है और न कामना करनेवाला शेष रहता है]। (तयो: अभावे सन्ताप: नि:स्नेहदीपवत् शाम्येत्) जबकि इस संसाररूपी गाड़ीको चलानेवाले काम्य और कामुक नामके ये दो पहिये न रहे तब बिचारा सन्ताप इस प्रकार शान्त होजाता है, मानो तेल न रहनेसे कोई दीपक बुझ गया हो।

गन्धर्वपत्तने किंचिन्नैन्द्रजालिकनिर्मितम्।
जानन् कामयते किन्तु जिहासति हसन्निदम् ॥१३७॥

(गन्धर्वपत्तने ऐन्द्रजालिकनिर्मितं जानन् किंचित् अपि न कामयते) दर्शक गन्धर्वनगरमें वस्तुओंको ऐन्द्रजालिककी बनाई हुई समझ लेनेके कारण, उनमेंसे किसी भी वस्तुकी कामना, नहीं करता। (किन्तु हसन् इदं जिहासति) प्रत्युत 'यह तो झूठी है, इस प्रकार हंसकर उसे छोड़ देना चाहता है [इस दृष्टान्तसे यह समझलो कि जब काम्य पदार्थ नहीं रहता तब कामना भी नहीं होती]।

आपातरमणीयेषु भोगेष्वेवं विचारवान् ।
नानुरज्यति, किन्त्वेतान् दोषदृष्ट्या जिहासति ॥१३८॥

ऊपरके दृष्टान्तके अनुसार माला, चन्दन, स्त्री आदि केवल देखने में रमणीक प्रतीत होनेवाले भोगोंको आपातरमणीक समझ लेनेवाला पुरुष, उनमें आसक्ति नहीं करता। किन्तु वह उन्हें दोषदृष्टिसे छोड़ देना चाहता है।

विषयोंमें दोष

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः १३६॥

सम्पत्तिके उपार्जनमें कष्ट होता है। उसकी रक्षामें भी दुःख भोगना पड़जाता है। जब सम्पत्ति अपनी आंखोंके सामने नष्ट होती है या व्यय होने लगती है तब भी दुःख होता है। प्रत्येक अवस्थामें (क्लेश-कारिणः अर्थान् धिक्) दुःख देनेवाले इन भोगोंको धिक्कार है।

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपंजरे ।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् १४०

(स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः मांसपांचलिकायाः स्त्रियाः, यन्त्रलोले अङ्गपंजरे किं शोभनम् इव) नाडियों, हड्डियों और मांसके लोथड़ोंवाली, मांसकी पुतली स्त्रीके यन्त्रकी भान्ति चंचल शरीर रूपी पींजरेमें सौन्दर्य नामकी वस्तु क्या है? [यही बात विवेकी की समझमें नहीं आती]।

एवमादिषु शास्त्रेषु दोषाः सम्यक् प्रपंचिताः ।
विमृशन्ननिशं तानि कथं दुःखेषु मज्जति ॥१४१॥

इत्यादि शास्त्रोंमें विषयोंके दोषोंको भले प्रकार समझाया गया है। उन दोषोंका विमर्श दिन रात करता हुआ साधक, दुःखोंमें कैसे फंसेगा।

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नामूढस्तज्जिघत्सति ॥१४२॥

[विषयका दोषदर्शन होनेपर भोगेच्छा न होनेका दृष्टान्त] क्षुधा से पीडित होनेपर भी [भूका रहना स्वीकार करता है परन्तु] विष खाना नहीं चाहता [यह विरक्तकी दशा है। अगले आधे श्लोकमें ज्ञानीकी दशाका वर्णन किया जारहा है] जो स्वयं अमूढ है जिसकी तृष्णा [आकांक्षा] मिष्टान्न भोजनसे नष्ट होचुकी है वह विषको विष जानलेने पर उसे खाना नहीं चाहता।

प्रारब्धकर्मप्राबल्याद्भोगेष्विच्छा भवेद्यदि ।
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुङ्क्ते विष्टिगृहीतवत् ॥१४३॥

(यदि प्रारब्धकर्मप्रावल्यात् ज्ञानिनः भोगेषु इच्छा भवेत् तदा अपि एष विष्टिगृहीतवत् क्लिश्यन् एव भुङ्क्ते) यदि प्रारब्ध कर्मोंकी प्रबलतासे ज्ञानीको भोगोंकी इच्छा हो भी जाय तो भी यह बेगारमें पकड़े हुएकी भांति क्लेश मानता हुआ ही उन विषयोंको भोगा करता है। [वह इच्छा होने पर भी उन्हें कुछ प्रेम या चावके साथ नहीं भोगता]।

भुञ्जाना वा अपि बुधाः श्रद्धावन्तः कुटुम्बिनः ।
नाद्यापि कर्म नश्छिन्नमिति क्लिश्यन्ति सन्ततम् ॥१४४॥

(श्रद्धावन्तः कुटुम्बिनः बुधाः भुञ्जानाः अपि नः कर्म अद्यापि न छिन्नम् इति सन्ततं क्लिश्यन्ति) लोकमें देखते हैं कि जो श्रद्धाशील गृहस्थी ज्ञानी होते हैं, वे भोगोंको भोगते हुए भी, सदा यही दुःख माना

करते हैं, कि ओहो ! अभी तक भी हमारे प्रारब्ध कर्म क्षीण नहीं हो पाये । [अनादिकालसे जो भोग और कर्मका चक्कर घूमता आरहा है उसका चलते रहना उन्हें नहीं रुचता । वे अपनी विवेककी आंखसे उसको बन्द हुआ देखना चाहते हैं ।]

वैराग्य तथा सांसारिक ताप

नायं क्लेशोऽत्र संसारतापः किन्तु विरक्तता ।
भ्रान्तिज्ञाननिदानो हि तापः सांसारिकः स्मृतः ॥१४५॥

(अयं क्लेशः संसारतापः न अस्ति किन्तु अत्र विरक्तता अस्ति । हि यः तापः भ्रान्तिज्ञाननिदानः सः सांसारिकः तापः स्मृतः) उनके इस अनुताप रूप क्लेशको सांसारिक दुःख नहीं समझना चाहिए । क्योंकि यह तो उनकी संसारके प्रति विरक्तता है [वे संसारकी अनासक्तिके कारण ऐसा अनुताप किया करते हैं] आचार्योंने भ्रान्तिज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले तापको ही सांसारिकताप माना है [यह ताप तो विवेकज्ञानसे उत्पन्न हुआ करता है । इस कारण यह उस संसारीतापके समान हेय नहीं है । इस तापके रहनेसे ज्ञानीका ज्ञान व्यर्थ नहीं होता ।]

विवेकेन परिक्लिश्यन्नल्पभोगेन तृप्यति ।
अन्यथानन्तभोगेऽपि नैव तृप्यति कर्हिचित् ॥१४६॥

[सांसारिक अर्थात् अविवेकमूलक ताप और विरक्तता अर्थात् विवेकमूलक तापका भेद सुनलो] (विवेकेन परिक्लिश्यन् अल्पभोगेन तृप्यति) विवेकसे परिक्लिष्ट होता हुआ [ज्ञानी] थोड़ेसे भोगसे तृप्त हो जाता है । [यह विवेकमूलक तापकी पहचान है] (अन्यथा अनन्त-भोगे लब्धे अपि कर्हिचित् नैव तृप्यति) मनुष्य विवेकके न होनेपर तो अनन्त भोगोंको भोग लेनेपर भी कभी तृप्त नहीं होपाता [यों यह क्लेश कामनाओंका निवर्तक होनेसे, विवेकमूलक है] ।

न जातु कामः कामानुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥१४७॥

[यदि ज्ञानीको अल्पभोगसे तृप्ति होनेका सिद्धान्त मानलिया जाय तो जैसे विवेकी भोगोंसे तृप्त होजाते हैं इसीप्रकार अविवेकी लोगोंको भी भोगोंसे तृप्त होजाना चाहिये । ऐसी अवस्थामें विवेक निष्प्रयोजन होजाता है । इस शङ्काके उत्तरमें भोग तृप्तिदायक नहीं होसकते इस अर्थका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका उद्धरण दिया जारहा है ।] (कामः कामानाम् उपभोगेन जातु न शाम्यति) यह कामना कामोंके भोगोंसे कभी भी शान्त नहीं होती । यह [कामना] तो घी से आगकी भांति विषयाहुतिसे उत्तरोत्तर बढ़ती है । [विवेकी लोगोंमें यह विशेषता होती है कि वे शरीरयात्राकेलिये थोड़ा बहुत भोगसग्रह करलेते हैं परन्तु व्यर्थ मनोरथोंका जाल कभी नहीं फैलाते । वे अपने थोड़े भागोंको भी बेगारीके समान ऊपरी मनसे भोगते हैं । वे जब किसी भोगको भोगते हैं उस समय भी उस भोग्यके अन्दरके आत्मतत्वको ध्यानमें रखते हुए भोगते हैं । यों वे भोगोंको भोगते हुए भी भोगोंमें नहीं उलझते । प्रत्युत उनका आत्मसाधन भोगोंको भोगते हुए भी चलता है और वे भोगोंको भोगते हुए भी मुक्तिको भोगते रहते हैं । यों उनकी भोगभूमि भी समाधिका अङ्ग बन जाती है ।]

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये ।
विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ॥१४८॥

[जो भोग विवेकमूलक होता है, उससे तृप्ति होजाती है, यह अनुभवसे भी सिद्ध होता है । देखो कि] भोगकी यथार्थताको जानकर भोगा हुआ भोग तृप्ति करदेता है । यह चोर है ऐसा जानकर सेवित चोर मित्र बन जाता है । वह उसके लिये चोर नहीं रहता ।

जब किसी भोगको यह भोग 'इतना है' 'इसकी सत्यता इतनी है'

'इतनी कठिनाइयोंसे यह हमें मिलना है' यह सब समझकर भोगाजाता है तब उससे तुरन्त तृप्ति होजाती है। उसे दूरसे नमस्कार करनेको जी चाहता है। लोकमें भी देखते हैं कि यह चोर है ऐसा जानलेनेपर, जब उस चोरके साथ रहा जाता है तब वह चोर उस पुरुषका मित्र बनजाता है और उसके लिए चोर नहीं रहता। यों यद्यपि भोगोंसे तृष्णाकी वृद्धि होती है परन्तु जब विवेक नामका साथी मिलजाता है तब उन भोगोंसे भी तुष्टि होने लगती है]।

मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः।
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद् बहु मन्यते ॥१४९॥

(निगृहीतस्य मनसः यः अल्पकः अपि लीलाभोगः प्राप्नोति) [योगाभ्याससे] निगृहीत मनको जो थोड़ासा भी लीलाभोग मिलजाता है, (तत् निगृहीतं मनः क्लिष्टत्वात् तम् एव अलब्धविस्तारं भोगं बहु मन्यते) वह निगृहीत मन, भोगोंके क्लेशयुक्त होनेके कारण, उसी संक्षिप्त [थोड़ेसे] भोगको पर्याप्त मानलेता है। अर्थात् थोड़ेको ही अधिक मान बैठता है।

बद्धमुक्तो महीपालो ग्राममात्रेण तुष्यति।
परैर्न बद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते ॥१५०॥

देखते हैं कि जिस राजाको कोई शत्रु पहले बन्दी बनाकर फिर छोड़ देता है, फिर वह एकाध गांव ही अपनी जीविकाकेलिए लेकर सन्तुष्ट होजाता है। परन्तु जिस राजापर न तो किसीने कभी आक्रमण किया हो और न जो कभी किसीसे बांधा गया हो, वह समूचे राष्ट्रको भी पर्याप्त नहीं समझता।

प्रारब्धके तीन भेद

विवेके जाग्रति सति दोषदर्शनलक्षणे।
कथमारब्धकर्मापि भोगेच्छां जनयिष्यति ॥१५१॥

नैष दोषो, यतोऽनेकविधं प्रारब्धमीदयते ।
इच्छानिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम् ॥१५२॥

(दोषदर्शनलक्षणे विवेके जाग्रति सति आरब्ध कर्म अपि भोगेच्छां कथं जनयिष्यति) शंका यह है कि दोषदर्शनरूपी विवेकके जागते पहरेमें प्रारब्ध कर्म भी भोगकी इच्छाको कैसे उत्पन्न करसकेगा ? [क्योंकि इच्छाका विघात करनेवाला विवेकज्ञान भोगेच्छाको उत्पन्न ही नहीं होने देगा] (एषः दोषः न) ऐसी शंका ठीक नहीं (यतः प्रारब्धम् अनेकविधम् ईदयते) क्योंकि [दोष दीखनेपर भी इच्छाएं पैदा होती हुई पाईजाती हैं] प्रारब्ध कर्म अनेक प्रकारके पाये जाते हैं। (इच्छा अनिच्छा परेच्छा च इति त्रिविधं प्रारब्धं स्मृतम्) (१) इच्छाको पैदा करके भोग देनेवाला इच्छा प्रारब्ध। (२) अनिच्छाके रहनेपर भी भोग देनेवाला अनिच्छा प्रारब्ध। (३) परेच्छासे भोग देनेवाला परेच्छाप्रारब्ध। यों तीन प्रकारका प्रारब्ध मानाजाता है। [विवेकके पहरेमें भी भोगेच्छा कैसे होजाती है ? इस प्रश्नको समझनेके लिए प्रारब्धके तीन भेदोंको समझ लेना आवश्यक है]।

इच्छाप्रारब्ध

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि ।
जानन्त एव स्वानर्थं मिच्छन्त्यारब्धकर्मतः ॥१५३॥

अपथ्यसेवी, रोगी, चोर तथा राजाकी स्त्रीसे रमण करनेवाले, (स्वानर्थं जानन्तः एव आरब्धकर्मतः इच्छन्ति) ये सब अपने भावी अनर्थोंको जानते हुए भी, आरब्धकर्मके शासन [प्रभाव] में आकर वैसी वैसी उलटी इच्छा करने पर विवश होते हैं।

न चात्र तद् वारयितु मीश्वरेणापि शक्यते ।
यत ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति ॥१५४॥

ईश्वर भी आये तो इन अपथ्यसेवन आदि इच्छाओंको नहीं रोक

सकता। [ये इच्छायें अपरिहार्य होती हैं। इसी कारण इन इच्छाओंको प्रारब्धका फल माना गया है] ईश्वरने स्वयं अपने मुखसे गीतामें अर्जुन के प्रति यही बात कही है [कि ये इच्छायें अपरिहार्य होती हैं।]

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृते र्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥१५५॥

गीतामें कहा है कि (ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते) पुरुष ज्ञानवान् भी हो, तौ भी वह अपनी प्रकृति अर्थात् अपने स्वभावके अनुरूप ही चेष्टा किया करता है [पहले जन्मोंमें किए हुए धर्माधर्मोंके जो संस्कार स्वभाव बनकर इस जन्ममें अभिव्यक्त होजाते हैं, उनको 'प्रकृति' कहाजाता है। यह अवस्था ज्ञानवान् लोगोंकी है। मूर्खोंकी तो बात ही मत पूछो] (भूतानि प्रकृतिं यान्ति) प्राणी अपनी अपनी प्रकृति की ओर दौड़ते हैं। [भगवान् कहते हैं कि (निग्रहः किं करिष्यति) मैं या कोई और आकर उनकी] प्रवृत्ति या निवृत्तिका निग्रह करने लगे तो वह क्या करसकेगा ? [ऐसा निग्रह करनेसे कुछ फल नहीं होगा।]

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद् यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः ॥१५६॥

यदि अवश्यम्भावी दुःखादि भावोंका कोई प्रतीकार होसकता होता तो नल, राम तथा युधिष्ठिर जैसे महपुरुष उन विपत्तियोंमें कभी न फंसते।

न चेश्वरत्वमीशस्य हीयते तावता यतः।
अवश्यंभाविताप्येषामीश्वरेणैव निर्मिता ॥१५७॥

(तावता ईशस्य ईश्वरत्वं न हीयते) प्रारब्धको न हटा सकनेसे, ईश्वरका ईश्वरभाव नष्ट नहीं होजाता। (यतः एषाम् अवश्यंभाविता अपि ईश्वरेण एव निर्मिता) क्योंकि इन दुःखोंकी आवश्यंभाविता भी ईश्वरने ही बनाई है। [यहांतक इच्छाप्रारब्धका वर्णन समाप्त हुआ।]

अनिच्छाप्रारब्ध

प्रश्नोत्तराभ्यामेवैतद् गम्यतेऽर्जुनकृष्णयोः ।
अनिच्छापूर्वकं चास्ति प्रारब्धमिति तच्छृणु ॥१५८॥

(अनिच्छापूर्वकं च प्रारब्धम् अस्ति इति एतत् अर्जुनकृष्णयोः प्रश्नोत्तराभ्याम् एव गम्येत) अनिच्छापूर्वक प्रारब्ध भी होता है, यह बात अर्जुन और श्रीकृष्णके प्रश्नोत्तरसे ज्ञात होजाती है। (तत् शृणु) अब आगे इसी "अनिच्छाप्रारब्ध" का वर्णन सुनो।

अथ केन प्रयुक्तोयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥१५९॥

(वार्ष्णेय, अयं पुरुषः केन प्रयुक्तः अनिच्छन् अपि बलात् नियोजितः इव पापं चरति) अर्जुनका प्रश्न यह है कि हे श्रीकृष्ण ! यह पुरुष न चाहनेपर भी किसकी प्रेरणासे स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुयेकी भांति पाप करबैठता है ? [मानो किसीने उसको उस पापमें बलपूर्वक लगाया हो]।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥१६०॥

श्रीकृष्णने यह उत्तर दिया कि (एषः रजोगुणसमुद्भवः कामः) यह जो कोई पदार्थ पुरुषको पापमें प्रवृत्त करनेवाला है वह रजोगुणसे उत्पन्न हुआ 'काम' है। (एषः एव कामः कदाचित् क्रोधः अपि जायते) यही 'काम' कभी 'क्रोध' का रूप भी धारण करलेता है। (एषः महाशनः) यह काम 'महाशन' है [इसकी मांग बहुत बड़ी है] (एषः महापाप्मा) यह बड़े बड़े पापोंका जनक है। (अतः इह एनं वैरिणं विद्धि) इस कारण इस संसारमें आकर कभी कभी क्रोधरूप भी धारण करलेनेवाले 'काम' को अपना वैरी जानो। [भाव यह है कि जब प्रारब्धके वशसे बढ़े हुए रजोगुणसे, काम या क्रोध उत्पन्न होजाते हैं, तब ये पुरुषको बलात् किसी

भी दुष्ट काममें धकेल देते हैं। ऐसे अवसरों पर प्रवृत्तिका मूलकारण इच्छा नहीं होती। क्योंकि स्वस्थ होनेपर जिस कामको करनेकी इच्छा तक नहीं होती प्राणी वही काम और क्रोधके वेगसे करबैठता है। इसीसे अनिच्छाप्रारब्ध सिद्ध होता है]

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥१६१॥

(कौन्तेय, स्वभावजेन स्वेन कर्मणा निबद्धः त्वं यत् मोहात् कर्तुं न इच्छसि तत् अपि अवशः करिष्यसि) हे कौन्तेय! अपने स्वभावज-कर्मसे [अथवा यों कहो कि अपने प्रारब्ध कर्मसे] जकड़ा हुआ तू मोहके कारण जो कुछ करना नहीं भी चाहता है उसे भी बेबस होकर करेगा [इससे यही सिद्ध होता है कि अनिच्छाप्रारब्ध भी मानना चाहिये।]

परेच्छाप्रारब्ध

नानिच्छन्तो न चेच्छन्तः परदाक्षिण्यसंयुताः।
सुखदुःखे भजन्त्येतत् परेच्छापूर्वकर्म हि ॥१६२॥

(अनिच्छन्तः अपि न भजन्ति इच्छन्तः अपि न भजन्ति किन्तु परदाक्षिण्यसंयुताः तत्प्रीत्यर्थं सुखदुःखे भजन्ति अतः एतत् परेच्छापूर्वकर्म हि) न तो अनिच्छा और न इच्छासे किन्तु केवल दूसरेको प्रसन्न करनेके विचारमें फंसकर सुख दुःख भोगा करते हैं। यों यह सुखादिभोग देने वाला 'परेच्छाप्रारब्ध' सिद्ध होता। [क्योंकि यही कारण है कि दोष देख लेनेपर भी ऐसे प्रारब्धका परिहार नहीं हो सकता। इसलिये उस प्रारब्ध में जो कि इच्छाको उत्पन्न करनेका सामर्थ्य है उसे कोई हटा नहीं सकता।]

कथं तर्हि किमिच्छन्नित्येवमिच्छा निषिध्यते।
नेच्छानिषेधः किन्त्विच्छाबाधो भर्जितबीजवत् ॥१६३॥

(तर्हि किम् इच्छन् इति अनेन वाक्येन इच्छा कथं निषिध्यते)

उक्त रीतिसे तत्वज्ञानीमें भी इच्छा स्वीकार करलेनेपर फिर "आत्मानं चेद्विजानीयात्" [बृ० ४-४-१२] इस श्रुतिमें किमिच्छन् [किस वस्तुकी इच्छासे] इस पदसे इच्छाका अभाव क्यों कहा है ? इसका समाधान यह है कि (न अयम् इच्छानिषेधः किन्तु भर्जितबीजवत् इच्छाबाधः) यह इच्छाका निषेध नहीं है। किन्तु यह भुने हुए बीजकी भांति इच्छाके बाध का वर्णन है [उसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानीमें इच्छा रहती तो है परन्तु वह निर्वीर्य होती है। जैसे भुने हुए बीजमें उत्पादनका सामर्थ्य नहीं रहता, इसीप्रकार ज्ञानीकी इच्छासे प्रवृत्ति नहीं पैदा होती।]

भर्जितानि तु बीजानि सन्त्यकार्यकराणि च ।
विद्वदिच्छा तथेष्टव्याऽसत्वबोधान्न कार्यकृत् ॥१६४॥

(यथा भर्जितानि बीजानि अकार्यकराणि सन्ति) जैसे भुने हुए बीज [स्वरूपसे तो बने रहते हैं, परन्तु वे] अंकुर आदि कार्योंको उत्पन्न नहीं करते। (तथा विद्वदिच्छा एष्टव्य।असत्वबोधात् कार्यकृत् न) इसीप्रकार विद्वान्की इच्छा एष्टव्य पदार्थोंको असत् समझ लेनेसे, कार्यकारिणी नहीं रहती। ऐसी अवस्थामें ज्ञानीकी इच्छा व्यसन आदि कार्योंको उत्पन्न नहीं करसकती। [उसकी वह इच्छा मरी हुई होती है।]

दग्धबीजमरोहेऽपि भक्षणायोपयुज्यते ।
विद्वदिच्छाप्यल्पभोगं कुर्यान्न व्यसनं बहु ॥ १६५॥

(यथा दग्धबीजम् अरोहे अपि भक्षणाय उपयुज्यते) जैसे भुना हुआ बीज न उगनेपर भी खानेके काम आता है। (तथा विद्वदिच्छा अपि अल्पभोगं कुर्यात् बहु व्यसनं न कुर्यात्) इसीप्रकार विद्वान्की निर्वीर्य इच्छा भी उसे थोड़ासा भोग तो देदेती है। वह बहुतसे व्यसनको उत्पन्न नहीं करसकती। [तत्वज्ञानी लोग प्रारब्धको भोगते समय मनोरथोंके दुर्ग नहीं बनाते।]

भोगेन चरितार्थत्वात् प्रारब्धं कर्म हीयते ।
भोक्तव्यसत्यताभ्रान्त्या व्यसनं तत्र जायते ॥१६६॥

(भोगेन चरितार्थत्वात् प्रारब्धं कर्म हीयते) भोगसे चरितार्थ हो चुकनेके कारण, प्रारब्ध कर्म तो भोग देते ही नष्ट होजाता है। [वह व्यसनको उत्पन्न नहीं कर पाता]। (तत्र व्यसनं तु भोक्तव्यसत्यता भ्रान्त्या जायते) परन्तु भोग्यविषय में व्यसन तो भोक्तव्य पदार्थोंके सत्य होनेकी भ्रान्तिसे होता है। [भोगते समय जो सुख दुःख मिलते हैं वे पूर्व कर्मोंके किंवा प्रारब्धके फल हैं। भोगते समय उन पदार्थोंको सत्य समझकर उनके विषयमें जो अनके संकल्प उठते हैं, उनको अपने पास बहुत दिनों तक ठहरानेकी जो इच्छा होती है, उससे आगेके लिये मनमें संस्कार रहजाते हैं। इन संस्कारोंसे प्रभावित होकर फिर फिर भोगोंको जुटानेकेलिये कर्म होते हैं और यों फिर फिर भोग आते हैं। यों हमको शुद्ध भोग भोगना नहीं आता किन्तु हम अज्ञानी भोग भोगते समय ही उन भोगोंको आगेके लिये नौता दे देकर भोग और कर्मका अनन्त चक्कर घुमा डालते हैं ?

व्यसनमें फांसनेवाला भ्रम

मा विनश्यत्वयं भोगो वर्धतामुत्तरोत्तरम् ।
मा विघ्नाः प्रतिबध्नन्तु धन्योऽस्म्यस्मादिति भ्रमः ॥१६७॥

(अयं भोगः मा विनश्यतु, एषः उत्तरोत्तरं वर्धताम्) यह [मुझे मिला हुआ] भोग, कभी भी नष्ट न हो, यह उत्तरोत्तर बढ़ता जाय, (विघ्नाः एनं मा प्रतिबध्नन्तु) भगवान् करे कि कोई भी विघ्न इस भोगमें रुकावट न डाले, (अस्मात् भोगात् धन्यः अस्मि) मैं इस भोगसे धन्य हूं। (इति भ्रमः भवति) इस प्रकारकी ईश्वरेच्छा या प्राकृतिक प्रबन्धसे अननुमोदित अभिलाषायें 'भ्रम' कहाती हैं [इस भ्रमसे व्यसनकी उत्पत्ति हुआ करती है]। लौकिक लोग अप्रारब्ध फल भी भोगते हैं। वे प्रारब्ध फलको भोगते समय जब लाख मुद्रा देनेवाला कर्म आता है तब तो प्रसन्न होते हैं

परन्तु जब प्रारब्ध समाप्त होजाता है और जब वे मुद्रायें नष्ट होती हैं तब प्रारब्ध कर्मके इतनेपनको न पहचान कर कि यह कर्म इतना ही था दहाड़ मारकर रोते हैं कि हाय मैं नष्ट होगया। यों वे अप्रारब्ध फलको भी भोगलेते हैं।

भ्रमपरिहारका उपाय

यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोयं बोधो भ्रमनिवर्तकः ॥१६८॥

(यत् अभावि तत् न भवेत् एव) जो नहीं होना है, वह कभी नहीं होगा। (भावि चेत् तत् अन्यथा न भवेत्) जो होना है वह कभी नहीं टलेगा, (इति एवंरूपः चिन्ताविषघ्नः यः अयं बोधः स अयं भ्रमनिवर्तकः) इत्यादि प्रकारका [कि यह मेरा काम कब बनेगा यह मेरी आपत्ति कब टलेगी] चिन्तारूपी विषको मारनेवाला उपर्युक्त बोध है यही पूर्वोक्त भ्रमको हटानेवाला है। [भ्रमको हटाने वाला इस बोधसे अच्छा दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। इस बोधके प्रतापसे सैकड़ों चिन्ताओंका विषैला प्रभाव नष्ट होजाता है।]

समेऽपि भोगे व्यसनं भ्रान्तो गच्छेन्न बुद्धवान् ।
अशक्यार्थस्य संकल्पाद् भ्रान्तस्य व्यसनं बहु ॥१६९॥

(भोगे समे अपि भ्रान्तः व्यसनं गच्छेत् बुद्धवान् न) [ज्ञानी अज्ञानी दोनोंको] भोग समान होनेपर भी भ्रान्त [पुरुष] व्यसनमें फंस जाता है, बुद्धवान् अर्थात् ज्ञानीको व्यसन नहीं होता। (अशक्यार्थस्य संकल्पात् भ्रान्तस्य बहु व्यसनं भवति) भ्रान्त पुरुषको अशक्य बातका संकल्प होनेसे बहुतसा व्यसन होता है [तत्वज्ञानीको अकेला भोग होता है और अज्ञानीको भोगके साथ आगेको उस भोगका व्यसन भी पड़ जाता है]।

मायामयत्वं भोगस्य बुद्ध्वास्थामुपसंहरन् ।
भुञ्जानोऽपि न संकल्पं कुरुते व्यसनं कुतः ॥१७०॥

(विवेकी भोगस्य मायामयत्वं बुद्ध्वा आस्थाम् उपसंहरन् भुंजानः अपि संकल्पं न कुरुते) विवेकी भोगोंको मायामय जानकर, उनमेंसे अपनी आस्था [श्रद्धा, भरोसा] हटाकर उन्हें भोगता हुआ भी संकल्प नहीं करता (तस्य व्यसनं कुतः) उस [ज्ञानी]को व्यसन कैसेहो ?

स्वप्नेन्द्रजालसदृश मचिन्त्यरचनात्मकम् ।
दृष्टनष्टं जगत् पश्यन् कथं तत्रानुरज्यति ॥१७१॥

जिस विवेकीने इस जगत्को सुपने या इन्द्रजालके समान समझ लिया, जिसने इसे अचिन्त्यरचनारूप जानलिया, जिसे यह दृष्टनष्ट रूपमें दीखने लगा, वह दोषदर्शी विवेकी भला बताओ इसमें अनुराग [प्रेमका नाता] कैसे करे ?

जगत्को स्वप्न या इन्द्रजालसदृश जाननेका उपाय

स्वस्वप्नमापरोक्ष्येण दृष्ट्वा पश्यन् स्वजागरम् ।
चिन्तयेदप्रमत्तः सन्नुभावनुदिनं मुहुः ॥१७२॥
चिरं तयोः सर्वसाम्य मनुसन्धाय जागरे ।
सत्यत्वबुद्धिं सन्त्यज्य नानुरज्यति पूर्ववत् ॥१७३॥

(स्वस्वप्नम् आपरोक्ष्येण दृष्ट्वा) अपने स्वप्नको अपरोक्ष देख कर, (स्वजागरं च पश्यन्) उसके पीछे अपने जागरणको भी अनुभव करके, (उभौ अपि अप्रमत्तः सन् अनुदिनं मुहुः चिन्तयेत्) फिर दोनों को सावधान होकर, प्रतिदिन और प्रतिक्षण सोचा करे [कि यह जागरण स्वप्नतुल्य तात्कालिक भोग देनेवाला है परिणामविरस है और विनाशी आदि है] ॥१७२॥ (एवं तयोः सर्वसाम्यं चिरम् अनुसन्धाय जागरे अपि सत्यत्वबुद्धिं सन्त्यज्य पूर्ववत् न अनुरज्यति) इसप्रकार इन स्वप्न और जागरण दोनोंकी पूरी समताको चिरकाल तक अपने जी में बैठाकर

[कि जैसे सुपनेके पदार्थ तात्कालिक भोग देते हैं, जैसे वे परिणाममें नीरस हैं, जैसे वे विनाशी हैं, वैसे ही ये जागरणके पदार्थ भी हैं] ज्ञानी जागरणको सत्य समझना छोड़ देनेपर, फिर पहलेकी भांति [अज्ञानमयी अवस्थाकी भांति] अनुरक्त नहीं होता।

इन्द्रजालमिदं द्वैतमचिन्त्यरचनात्वतः ।
इत्यविस्मरतो हानिः का वा प्रारब्धभोगतः ॥१७४॥

(इदं द्वैतम् अचिन्त्यरचनात्वतः इन्द्रजालम् इति अविस्मरतः प्रारब्धभोगतः का वा हानिः) यह द्वैत [समस्त भोग्य •संसार] अचिन्त्य रचनावाला होनेसे इन्द्रजाल [के समान मिथ्या] है इस बातको कभी न भूलनेवालेको प्रारब्धभोग भोगनेसे भी क्या हानि होजायगी ? फिर वह भले ही अपने प्रारब्ध कर्मोंके सुखदुःखरूपी फलोंको भोगा करे, उससे उसके जगत्के मिथ्या होनेके विचारको चोट नहीं लगेगी। [तथा उनको मिथ्या समझ लेनेसे प्रारब्ध भोगोंमें कुछ रुकावट भी नहीं पड़ेगी]।

निर्बन्धस्तत्वविद्याया इन्द्रजालत्वसंस्मृतौ ।
प्रारब्धस्याग्रहो भोगे जीवस्य सुखदुःखयोः ॥१७५॥

(तत्वविद्यायाः इन्द्रजालत्वसंस्मृतौ निर्बन्धः, न तु भोगापलापे) तत्वविद्याका निर्बन्ध अथवा उद्देश्य केवल इतना है कि इस जगत्को इन्द्रजालके समान मिथ्या समझ लिया जाय [भोगोंका अपलाप करना उसका उद्देश्य कदापि नहीं है] (प्रारब्धस्य जीवस्य सुखदुःखयोः भोगे आग्रहः) प्रारब्धका आग्रह भी केवल जीवको सुखदुःखका भोग देनेमें है। प्रारब्ध केवल इतना चाहता है कि जीवको सुख या दुःख पहुँचा दिये जांय। उसका भोगोंको सत्य सिद्ध करनेमें आग्रह कदापि नहीं है [यों प्रारब्ध और ज्ञान दोनोंके क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं]।

विद्यारब्धे विरुध्येते न भिन्नविषयत्वतः ।
ज्ञानद्भिरप्यैन्द्रजालविनोदो दृश्यते खलु ॥१७६॥

(भिन्नविषयत्वत: विद्यारब्धे न विरुध्यते) [ऊपर वर्णित रीतिसे] भिन्न विषयवाले होनेके कारण, ज्ञान और प्रारब्धमें विरोध नहीं है। लोक में भी देखते हैं कि (इन्द्रजालविनोद: जानद्भि: अपि दृश्यते खलु) जो लोग इन्द्रजालको इन्द्रजाल जान लेते हैं, वे भी इन्द्रजालके चमत्कारों को देखा करते हैं [इस दृष्टान्तसे जानपड़ता है कि ज्ञान और प्रारब्ध भोगमें कोई लड़ाई नहीं है। भोग्यका मिथ्यात्वज्ञान भोगका बाधक नहीं होता]।

जगत्सत्यत्वमापाद्य प्रारब्धं भोजयेद् यदि।
तदा विरोधि विद्याया, भोगमात्रान्न सत्यता ॥१७७॥

(यदि प्रारब्धं जगत्सत्यत्वम् आपाद्य भोजयेत् तदा विद्याया: विरोधि स्यात्) यदि प्रारब्धकर्म, इस जगत्को सत्य बनाकर जीवको सुख दुःख दिया करता होता, तो अवश्य यह विद्याका विरोधी होता । [क्योंकि तब यह विद्याके विषय मिथ्यात्वको स्वयं नष्ट करडालता । परन्तु यह प्रारब्ध ऐसा नहीं करता । यह केवल भोग देता है । इसी कारण कहते हैं कि प्रारब्ध, विद्याका विरोधी नहीं होता] । (भोगमात्रात् सत्यता न) कोई पदार्थ केवल भोग देदेनेमात्रसे सत्य नहीं होजाता । [कैसे सो अगले श्लोकमें कहेंगे] ।

मिथ्यापदार्थों से भी भोग मिलनेका दृष्टान्त

अनूनो जायते भोग: कल्पितै: स्वप्नवस्तुभि: ।
जाग्रद्वस्तुभिरप्येव मसत्यैर्भोग इष्यताम् ॥१७८॥

(यथा कल्पितै: स्वप्नवस्तुभि: अपि अनून: भोग: जायते) जैसे स्वप्नकी कल्पित वस्तुओंसे भी पूरा पूरा भोग होजाता है [वह भोग जाग्रत्के पदार्थोंसे किसी बातमें भी कम नहीं होता] (एवम् असत्यै: जाग्रद्वस्तुभि: अपि भोग: इष्यताम्) इस दृष्टान्तके अनुसार जाग्रतकाल के मिथ्यापदार्थोंसे भी भोग मिलजाता है । [जैसे सुपनेके मिथ्यापदार्थों

से भोग होता है, ऐसे ही मिथ्या होनेपर भी जाग्रत्के पदार्थोंसे भोग होसकता है। जाग्रत्के पदार्थों को, भोग देनेके कारण ही सत्य कहना ठीक नहीं है।]

यदि विद्यापह्नुवीत जगत्, प्रारब्धघातिनी ।
तदा स्यान्नतु मायात्वबोधेन तदपह्नवः ॥१७९॥

(यदि विद्या जगत् अपह्नुवीत) यदि ज्ञान [आत्मविद्या] जगत का अपह्नव करदेता (तदा प्रारब्धघातिनी स्यात्) तो वह [ज्ञान] प्रारब्ध का घातक होजाता, (मायात्वबोधेन तदपह्नवः न तु) परन्तु किसीको माया समझलेनेसे उसका अपह्नव नहीं होजाता।

यदि यह ज्ञान जगत्के भोग्य पदार्थोंका अपह्नव कर देता, दीखने वाले भोग्य पदार्थोंके स्वरूपको विलीन करदेता [जैसे कि 'नेदं रजतम्'= 'यह रजत नहीं' इस ज्ञानसे कल्पित रजतका स्वरूप विलीन होजाता है] तो यह प्रारब्धका घातक होजाता। क्योंकि यह उस अवस्थामें प्रारब्ध भोगके साधनोंको नष्ट कर डालता। परन्तु यह ऐसा नहीं करता। किन्तु उनको केवल मिथ्या बताता है। इसीसे कहते हैं कि यह ज्ञान प्रारब्धकर्मका विरोधी नहीं है। किसीको माया समझ लेनेसे ही उसका अपह्नव नहीं होजाता। इन्द्रजाल आदिमें देखते हैं कि लोग स्वरूपका विलय किये बिना भी उसको मिथ्या समझ सकते हैं।

अनपह्नुत्य लोकास्तदिन्द्रजालमिदं त्विति ।
जानन्त्येवानपह्नुत्य भोगं मायात्वधीस्तथा ॥१८०॥

(लोकाः तत [इन्द्रजालस्वरूपम्] अनपह्नुत्य इदं तु इन्द्रजालम् इति जानन्ति एव) देखते हैं कि मनुष्य उस इन्द्रजालके स्वरूपको न हटा कर भी यह जानलेते हैं, कि यह तो इन्द्रजाल है। (तथा भोगम् अनपह्नुत्य मायात्वधीः जायते) ठीक इसीप्रकार भोग्यपदार्थको विलय किए बिना भी, जगत्के मिथ्यापनका भान होसकता है।

यत्र त्वस्य जगत् स्वात्मा पश्येत् कस्तत्र केन कम् ।
किं जिघ्रेत् किं वदेद्वेति श्रुतौ तु बहु घोषितम् ॥१८१॥
तेन द्वैतमपह्नुत्य विद्योदेति न चान्यथा ।
तथा च विदुषा भोगः कथं स्यादिति चेच्छृणु ॥१८२॥

जिस विद्यावस्थाके आजानेपर, यह सकल जगत् उस विद्वानका आत्मा अथवा स्वरूप होजाता है, उस दशामें, कौन देखनेवाला ? किस साधनसे ? किस पदार्थको देखे ? किस पदार्थ आदिको सूंघे ? क्या कुछ बोले ? सुने ? स्पर्श करे ? यह बात श्रुतिमें अनेक स्थानपर कही गई है ॥१८१॥ इससे यही निश्चय होता है कि विद्या द्वैतका अपह्नव करके ही उत्पन्न होती हैं [वह विद्या जब तक द्वैतका उपमर्द नहीं करलेती तब तक उत्पन्न ही नहीं होती] ऐसी अवस्थामें विद्वान्‌को भोग कैसे होगा ? इस प्रश्नका उत्तर सुनो—

सुषुप्तिविषया मुक्तिविषया वा श्रुतिस्त्विति ।
उक्तं स्वाप्ययसंपत्योरिति सूत्रे ह्यतिस्फुटम् ॥१८३॥

(स्वाप्ययसंपत्त्योः इति सूत्रे श्रुतिः तु सुषुप्तिविषया मुक्तिविषया वा इति हि अतिस्फुटम् उक्तम्) 'स्वाप्ययसंपत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि'* इस व्याससूत्रमें यह बात अति स्पष्ट करके समझायी है कि 'यत्रत्वस्य' [बृ० ४-५-१५] यह श्रुति या तो सुषुप्ति अवस्थाका वर्णन कर रही है, या फिर मुक्ति अवस्थाको बता रही है [यह श्रुति विद्या [ज्ञान] से जगत्‌के अपह्नव होजानेकी बातको नहीं कह रही है। किन्तु यह सुषुप्तिकाल या विदेहमुक्तकालका वर्णन है ।

---

* वेदान्त ४-४-१६ क्योंकि यह बात प्रकरणसे आविष्कृत है इसलिये सुषुप्तिमें और परममुक्तिमें एक दूसरेकी अपेक्षासे यह विशेष ज्ञानका अभाव बताया है ।

अन्यथा याज्ञवल्क्यादे राचार्यत्वं न संभवेत् ।
द्वैतदृष्टावविद्वत्ता द्वैतादृष्टौ न वाग्वदेत् ॥१८४॥

यदि इस श्रुतिको उक्त वेदान्तसूत्रके अनुसार सुषुप्तिआदिविषयक न मानें, तो याज्ञवल्क्यादि ब्रह्मविद्याके आचार्य ही न होसकेंगे। (द्वैत-दृष्टौ अविद्वत्ता) क्योंकि यदि वे द्वैतको देख रहे हैं तो कहना होगा कि उनको अद्वैत का ज्ञान नहीं होरहा है। [फिर वे आचार्य या ब्रह्मवेत्ता कैसे होंगे] ? (द्वैतादृष्टौ वाक् न वदेत्) यदि वे द्वैतको नहीं देख रहे हैं तो शिष्यादिके न दीखनेसे आचार्यकी वाणी ही न निकलेगी। [यों विद्यासंप्रदायका उच्छेद होजायगा।]

निर्विकल्पसमाधौ तु द्वैतादर्शनहेतुतः ।
सैवापरोक्षविद्येति चेत् सुषुप्तिस्तथा न किम् ॥१८५॥

(निर्विकल्पसमाधौ तु द्वैतादर्शनहेतुतः सा एव अपरोक्षविद्या इति चेत्) निर्विकल्पसमाधिमें क्योंकि द्वैतका दर्शन नहीं होता, इससे उसे ही अपरोक्षविद्या कहना चाहिये यह विचार ठीक नहीं है। (सुषुप्तिः तथा किं न) क्योंकि फिर ऐसे तो सुषुप्ति 'अपरोक्षविद्या' क्यों नहीं है ? [उस सुषुप्तिमें भी तो द्वैतकी प्रतीति नहीं होती। इससे द्वैतकी अप्रतीति यह अपरोक्षविद्याका अतिप्रसक्त लक्षण है।

आत्मतत्वं न जानाति सुप्तौ यदि, तदा त्वया ।
आत्मधीरेव विद्येति वाच्यं न द्वैतविस्मृतिः ॥१८६॥

(यदि उच्येत सुप्तः आत्मतत्वं न जानाति अतः तस्याः न अप-रोक्षज्ञानत्वम्) यदि कहो कि सुषुप्त पुरुष आत्मतत्वको नहीं जानता। इससे सुषुप्तिको अपरोक्षज्ञान नहीं माना जाता (तदा त्वया आत्मधीः एव विद्या इति वाच्यम्) तब तो तुम्हें स्पष्ट शब्दोंमें आत्मज्ञानको ही विद्या कहनाचाहिए, (द्वैतविस्मृतिः न) द्वैतके विस्मरणको आत्मज्ञान कहना ठीक नहीं।

उभयं मिलितं विद्या यदि तर्हि घटादयः ।
अर्धविद्याभाजिनः स्युः सकलद्वैतविस्मृतेः ॥१८७॥

(यदि उभयं मिलितं विद्या उच्यते) यदि 'द्वैतका अदर्शन' और 'आत्मज्ञान' दोनोंको मिलाकर 'विद्या' कहाजाय (तर्हि सकलद्वैतविस्मृतेः घटादयः अर्धविद्याभाजिनः स्युः) तो सकल द्वैतको भूले होनेसे घटादियों को आधा ज्ञान मानना पड़ेगा । [यदि विद्याके एक तो द्वैतका अदर्शन दूसरा आत्मदर्शन ये दो रूप माने जाते हैं तो विद्याका एकभाग घटादिमें भी पायाजाता है, तो क्या वे भी आधे विद्यावान हैं ? तात्पर्य यह है कि द्वैत विस्मृति विद्याका अंश नहीं है ।]

मशकध्वनिमुख्यानां विक्षेपाणां बहुत्वतः ।
तव विद्या तथा न स्याद् घटादीनां यथा दृढा ॥१८८॥

(तव विद्यायां मशकध्वनिमुख्यानां विक्षेपाणां बहुत्वतः तव विद्या तथा दृढा न स्यात् यथा घटादीनां दृढा) तेरे ज्ञानमें मच्छरकी ध्वनि आदि बहुतसे विक्षेपोंके होनेसे तेरी विद्या उतनी दृढ नहीं हो सकती, जितनी घटादिकी है [जैसे घटादि द्वैतको भूलगये हैं, वैसे तो तुम भूल भी नहीं सकते । विद्याके ये दो रूप मानें तो समाधि लगानेवाले तुम जैसे लोग तो आधे विद्वान् भी नहीं माने जा सकते । क्योंकि मच्छर तुम्हारी इस आधी विद्यामें विघ्न डालकर इसे खण्डित कर डालेंगे ।

आत्मधीरेव विद्येति यदि तर्हि सुखी भव ।
दुष्टचित्तं निरुन्ध्याच्चेन्निरुन्धि त्वं यथासुखम् ॥१८९॥

(यदि आत्मधीः एव विद्या) यदि तुम विवश होकर यह कह उठो कि ऐसे तो आत्मज्ञान ही 'विद्या' है । (तर्हि सुखी भव) तो [हमारा आशीर्वाद लो और] सुखी रहो । (चेत् कश्चित् दुष्टचित्तं निरुन्ध्यात्) यदि तुम दुष्टचित्तमें विद्याका जन्म असम्भव देखकर उसे रोकना चाहो

(त्वं यथासुखं दुष्टचित्तं निरुन्धि) तो तुम सुभीतेके अनुसार दुष्टचित्तको रोका करो।

तदिष्ट मैष्टव्यमायामयत्वस्य समीक्षणात्।
इच्छन्नप्यज्ञवन्नेच्छेत् किमिच्छन्निति हि श्रुतम्॥१६०॥

(एष्टव्यमायामयत्वस्य समीक्षणात तत अस्माकम् अपि इष्टम्) क्योंकि इच्छाके विषय जगतके पदार्थोंकी मायामयताका भलेप्रकार ईक्षण दुष्ट चित्तके रुकनेपर ही किया जासकता है इसीलिए चित्तनिरोध हमें भी इष्ट है। [चित्तके दोषोंके नष्ट होजानेपर ही अद्वितीय आत्माका ज्ञान होता है] (अयं ज्ञानी इच्छन् अपि अज्ञवत् न इच्छेत्) यह ज्ञानी चाहता तो है परन्तु अब यह अज्ञानीकी भांति नहीं चाहता। [अब यह भोगोंकी चाटुकारिता नहीं करता, भोग मिलो या मत मिलो इसे इसकी अपेक्षा नहीं होती।] (अतः किम इच्छन् इति हि श्रुतम्) इसी सब अभिप्रायको लेकर हमारी व्याख्येय श्रुतिमें 'किमिच्छन्' यह शब्द आया है।

रागो लिङ्गमबोधस्य, सन्तु रागादयो बुधे।
इति शास्त्रद्वयं सार्थमेवं सत्यविरोधतः॥१६१॥

(एवं तत्वविदः दृढरागाभावे सति अविरोधतः 'रागः अबोधस्य लिङ्गम्' तथा 'बुधे रागादयः सन्तु' इति शास्त्रद्वयं सार्थम्) इसप्रकार तत्वज्ञानीके रागको दृढराग न माननेके कारण 'रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु। कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः' रागको अज्ञान का चिन्ह कहनेवाले इस शास्त्रमें तथा 'शास्त्रार्थस्य समाप्तत्वान्मुक्तिः स्यात्तावता मितेः। रागादयः सन्तु कामं न तद्भावोऽपराध्यते' तत्वज्ञानीमें रागका अस्तित्व स्वीकार करनेवाले इस दूसरे शास्त्रमें कोई तात्विक विरोध न रहनेसे ये दोनों शास्त्र सार्थक होजाते हैं [अर्थात् तब इन दोनों शास्त्रोंकी संगति लगजाती है।]

जो शास्त्र ज्ञानीमें रागका निषेध करता है उसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानीमें दृढराग नहीं होता। जो शास्त्र यह कहता है कि ज्ञानीमें

राग हुआ करो उसका कुछ बिगड़ता नहीं। उसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानीमें दिखावटी राग या रागाभास हुआ करो उसका होना अपराध नहीं है।

जगन्मिथ्यात्ववत् स्वात्मासङ्गत्वस्य समीक्षणात् ।
कस्य कामायेति वचो भोक्त्रभावविवक्षया ॥१६२॥

जैसे ज्ञानीने जगत्के मिथ्यात्वको ज्ञानकी आंखसे देखा और उसे काम्यपदार्थ दीखने बन्दहुए तो उस अवस्थाका वर्णन श्रुतिने 'किमिच्छन्' इन शब्दोंमें किया, इसीप्रकार उसने आत्माकी असंगताको भी ज्ञानचक्षुसे पहचान लिया। इसलिये (भोक्त्रभावविवक्षया कस्य कामाय इति वचः श्रुत्या अभिहितम्) श्रुतिने वास्तव भोक्ता न होनेकी घोषणा करनेकी इच्छासे 'कस्य कामाय' यह आक्षेपस्वरूप ऐसा प्रश्न किया है कि इसका उत्तर इसीमें निहित है।

पतिजायादिकं सर्वं तत्तद्भोगाय नेच्छति ।
किन्त्वात्मभोगार्थमिति श्रुतावुद्घोषितं बहु ॥१६३॥

यह प्राणी पति, पत्नी आदि जिस किसीको चाहता है, उसे उसके भोगके लिये नहीं चाहता। उसे वह केवल अपने भोगके लिए चाहता है। (इति श्रुतौ बहु उद्घोषितम्) यह बात श्रुतिमें अनेक उदाहरणोंसे कही है। [वह प्रकरण इस सकल जगतको आत्माके भोगका साधन कहरहा है। इससे आत्मामें भोक्तापनकी प्रसक्ति होती है। जब आत्मा असंग है तब उसमें भोक्तृत्व कैसे आया इसका विचार होना चाहिये।]

किं कूटस्थश्चिदाभासोऽथवा किं वोभयात्मकः ।
भोक्ता, तत्र न कूटस्थोऽसङ्गत्वाद् भोक्तृतां व्रजेत् ॥१६४॥

उपनिषतके उक्त विवेचनको देखकर यदि कोई आत्माको भोक्ता समझता हो तो वह यह बताये कि कूटस्थ भोक्ता है, चिदाभास भोक्ता है, या ये दोनों मिले हुए भोक्ता हैं ? [इन तीनोंमेंसे भोक्ता कौनसा

है ?] (तत्र असंगत्वात् कूटस्थः भोक्तृतां न व्रजेत्) इन तीनोंमेंसे असंग होनेके कारण कूटस्थ तो भोक्ता नहीं होसकता ।

सुखदुःखाभिमानाख्यो विकारो 'भोग' उच्यते ।
कूटस्थश्च विकारी चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥१६५॥

सुखदुःखमें अभिमान करना नामका विकार [अर्थात् अपने आपको सुखी या दुःखी मानने लगना] 'भोग' कहाता है। तब बताओ कि कूटस्थ भी हो और विकारी भी हो, यह बात व्याहत क्यों नहीं है ? [कूटस्थता और विकारिता दोनों एक स्थानपर नहीं रह सकतीं । इसलिये असंगता और भोक्तृताका सहनिवास असंभव है ।]

विकारिबुद्ध्यधीनत्वा दाभासे विकृतावपि ।
निरधिष्ठानविभ्रान्तिः केवला नहि तिष्ठति ॥१६६॥

(आभासस्य [चिदाभासस्य] विकारिबुद्ध्यधीनत्वात् आभासे विकृतौ संभवत्याम् अपि यतः केवला निरधिष्ठानविभ्रान्तिः न तिष्ठति अतः केवलचिदाभासस्य अपि भोक्तृत्वं न संभवति) चिदाभासके विकारशील बुद्धिरूपी उपाधिके अधीन रहनेवाला होनेसे उस आभास [के अपने स्वरूप] में विकार होना सम्भव होनेपर भी क्योंकि यह सब मानते हैं कि भ्रान्ति बिना अधिष्ठानके केवल नहीं रहती [क्योंकि आरोपित पदार्थ अपने अधिष्ठानभूत कूटस्थको छोड़कर अकेला नहीं रहा करता] इस कारण केवल विकारी चिदाभास भी भोक्ता नहीं होसकता। क्योंकि विना अधिष्ठानके उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होपाता। उसे सिद्ध करनेके लिये उसके साथ अधिष्ठान लगा होना चाहिये ।

उभयात्मक एवातो लोके भोक्ता निगद्यते ।
तादृगात्मानमारभ्य कूटस्थः शेषितः श्रुतौ ॥१६७॥

[क्योंकि अकेला कूटस्थ या अकेला चिदाभास भोक्ता नहीं हो सकता] इसकारण लोक [व्यवहारदशा] में उभयात्मक [अधिष्ठान

सहित चिदाभास] ही भोक्ता मानाजाता है। ['लोकमें' कहनेका भाव यह है कि परमार्थ दृष्टिमें तो उसकी उभयात्मकता ही सम्भव नहीं है] बृहदारण्यकआदि श्रुतियोंमें, बुद्धिरूपी उपाधिवाले ऐसे ही भोक्ता आत्मा का अनुवाद करके, इसी कूटस्थ आत्माको जो कि बुद्धि आदिकी कल्पना का अधिष्ठानभूत चिदात्मा है, शेष रखलिया है [वहां श्रुतिमें बुद्धिआदि समस्त अनात्मपदार्थोंका निरास करके उसीको शेष रख दिया है।]

आत्मा कतम इत्युक्ते याज्ञवल्क्यो विबोधयन् ।
विज्ञानमयमारभ्यासंगं तं पर्यशेषयत् ॥१९८॥

जब जनकने याज्ञवल्क्यसे आत्माके विषयमें यह पूछा कि आत्मतत्व कौनसा है ? तब याज्ञवल्क्यने उसे समझाते हुए, 'विज्ञानमय' से वर्णन करना प्रारम्भ करके, [असंगो ह्ययं पुरुषः इन शब्दोंमें] इसी असङ्ग कूटस्थ तत्वको शेष रखलिया था।

कोऽयमात्मेत्येवमादौ सर्वत्रात्मविचारतः ।
उभयात्मकमारभ्य कूटस्थः शेष्यते श्रुतौ ॥१९९॥

'कोयमात्मा' जिसकी हम उपासना करते हैं वह आत्मा कौनसा है इत्यादि [ऐतरेय ५-१] उपनिषदोंमें आत्माका विचार करनेमें सर्वत्र यह परिपाटी रक्खी है कि उभयात्मक [अन्तःकरणोपाधिक] आत्मासे [वर्णन करना] प्रारम्भ करके पीछेसे कूटस्थ [विज्ञानमात्र] को शेष रख लिया जाता है। [इन तथा इन जैसी श्रुतियोंके संपिण्डित विचारसे यह सिद्ध होता है कि जो उभयात्मक भोक्ता है वह तो मिथ्या है, तथा जो पारमार्थिक असङ्ग कूटस्थ है वह अभोक्ता है]।

मिथ्या भोक्ताको सत्य समझनेका कारण

कूटस्थसत्यतां स्वस्मिन्नध्यस्यात्माविवेकतः ।
तात्त्विकीं भोक्तृतां मत्वा न कदाचिज्जहासति ॥२००॥

(आत्मा अविवेकतः स्वस्मिन् कूटस्थसत्यताम् अध्यस्य) भोक्ता

कहानेवाला यह आत्मा अपने अविवेकके कारण, [अपने और कूटस्थके विवेकको भूलकर] कूटस्थकी सत्यताका अपनेमें अध्यास करके [उस सत्यता के द्वारा अपने] (भोक्तृतां तात्त्विकीं मत्वा) भोक्तापनको भी सत्य मान बैठकर (भोगं कदाचित् न जिहासति) कभी भी भोगोंको छोड़ना नहीं चाहता। [वह समझता है कि मुझमें भोक्तापन सदा रहता है, मुझे भोगोंकी आवश्यकता सदा रहती है, इस भ्रान्त विचारमें आकर अब वह भोगोंको छोड़ना नहीं चाहता। देखते हैं कि प्राणी अपने मिथ्या भोक्तापनको सत्य समझकर संसारारण्यमें व्यर्थ भटक रहा है। अपने भोक्तापनको सत्य समझ बैठना कष्टकारिणी स्थिति है।

भोक्ता स्वस्यैव भोगाय पतिजायादिमिच्छति।
एष लौकिकवृत्तान्तः श्रुत्या सम्यगनूदितः ॥२०१॥

लोकमें जो भोक्ता प्रसिद्ध है, वह अपने ही भोगके लिये पति या पत्नी आदि भोगसामग्री चाहाकरता है। श्रुतिने इस लौकिक वृत्तान्तका केवल अनुवाद करदिया है। [उसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि इन भोगोंको कूटस्थ आत्माका उपकरण बताऊं। उसने लोकके भोक्तापनके विचार को ज्योंका त्यों अविचारितरूपमें स्वीकार करके लोगोंकी भोगवृत्तिको स्पष्ट रूपमें दिखाया और भोगोंको उभयात्मक भोक्ताके सिर मंढा है। लोकमें जो उभयात्मक भोक्ता प्रसिद्ध है ये भोगोपकरण उसीके शेष हैं। श्रुतिने केवल इस बातका अनुवाद करदिया है। इन भोगोंको शुद्ध आत्मतत्व का शेष सिद्ध करनेमें श्रुतिका अभिप्राय कदापि नहीं है]।

भोग्यानां भोक्तृशेषत्वान्माभोग्येष्वनुरज्यताम्।
भोक्तर्येव प्रधानेऽतोऽनुरागं तं विधित्सति ॥२०२॥

(भोग्यानां भोक्तृशेषत्वात् भोग्येषु मा अनुरज्यताम्) वह श्रुति कहती है कि क्योंकि पति पत्नी आदि सब भोग्य पदार्थ भोक्ताके शेष हैं इसलिये ओ संसारके लोगो भोग्य पदार्थोंमें अनुराग मत करो

(अतः श्रुतिः तम् अनुरागं प्रधाने भोक्तरि एव विधित्सति) इस विचारके अनुसार श्रुति भोग्य पदार्थोंसे हटाये हुए उस अनुरागको प्रधानभूत भोक्तामें लगवाना चाहती है।

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥२०३॥

पुराणमें एक स्थानपर ईश्वरप्रेमकी प्रार्थना इस प्रकार है (हे माप ! अविवेकानां विषयेषु या अनपायिनी प्रीतिः सा त्वाम् अनुस्मरतः मे हृदयात् सर्पतु) हे माप अर्थात् लक्ष्मीपति अविवेकियोंको विषयोंमें जो दृढभक्ति होती है, विषयोंके प्रति वह भक्ति, तेरा सदा चिन्तन करते हुए मेरे मनमेंसे निकलकर भागजाय [मेरा मन विषयोंकी आसक्ति को छोड़कर सदा तुम्हींमें रहने लगे]।

अथवा (अविवेकानां विषयेषु यथाविधा अनपायिनी भक्तिः सा [तथाविधा] त्वाम् अनुस्मरतः मे हृदयात् मा अपसर्पतु) अविवेकी आत्मज्ञानरहित लोगोंको विषयोंमें जैसी दृढ प्रीति होती है तुम्हारे विषयमें उन जैसी दृढ प्रीति तुम्हारा स्मरण करनेवाले मेरे हृदयको छोड़कर कभी भी न जाय [तुम्हारे लिये वैसा दृढ अनुराग मेरे हृदयमें सदा बना रहे।

इतिन्यायेन सर्वस्माद् भोग्यजाताद् विरक्तधीः।
उपसंहृत्य तां प्रीतिं भोक्तर्येनं बुभुत्सते ॥२०४॥

ऊपर कहे प्रकारसे, पति पत्नी आदि सब भोग्य पदार्थोंसे विरक्त बुद्धिवाला मनुष्य सब भोग्य पदार्थोंमें बिखरे हुए प्रेमको भोक्तामें समेट कर इस (एनम् भोक्तारं आत्मानं बुभुत्सते) भोक्ता तत्वको ही जानना चाहता है [कि यह आत्मतत्व कैसा है ?]

आत्मामें सकल प्रेम समेट लेनेका फल अनवधानाभाव

स्रक्चन्दनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु पामरः।
अप्रमत्तो यथा, तद्वन्न प्रमाद्यति भोक्तरि ।२०५॥

(यथा स्र········पु अप्रमत:) जैसे पामर प्राणी माला, चन्दन, पत्नी, वस्त्र तथा सुवर्ण आदि पदार्थों [के उपार्जन और उनकी रक्षा करने] में सावधान रहता है, [दिन रात जुटा रहता है—इनके कमाने आदिमें दिनरात एक करदेता है] (तद्वत् मुमुक्षुः भोक्तरि न प्रमाद्यति) इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष भी आत्मतत्वके विषयमें कभी प्रमाद नहीं करता। वह सदा उसीका चिन्तन करता रहता है। [उसपर इसीप्रकार सदा आत्मतत्वका स्पष्ट दर्शन कर लेनेकी धुन सवार रहती है]।

काव्यनाटकतर्कादिमभ्यस्यति निरन्तरम्।
विजिगीषुर्यथा, तद्वन्मुमुक्षुः स्वं विचारयेत् ॥२०६॥

(यथा विजिगीषुः काव्यनाटकतर्कादिम् निरन्तरम् अभ्यस्यति) जैसे विजिगीषु पुरुष सदा काव्य, नाटक तथा तर्क आदिका अभ्यास किया करता है, मुमुक्षु भी ऐसी ही लगनसे सदा अपने आत्माका विचार किया करे।

जपयागोपासनादि कुरुते श्रद्धया यथा।
स्वर्गादिवाञ्छया, तद्वच्छ्रद्दध्यात् स्वे मुमुक्षया ॥२०७॥

(यथा च वैदिकः स्वर्गादिवाञ्छया श्रद्धया जपयागोपासनादि कुरुते) जिस प्रकार वैदिक लोग, स्वर्ग आदिकी इच्छासे श्रद्धापूर्वक उसके साधन जप याग या उपासना करते हैं, (तद्वत् मुमुक्षुः मुमुक्षया स्वे श्रद्दध्यात्) इसी प्रकार मुमुक्षु भी, केवल मोक्षकी अभिलाषा लेकर, अपने श्रौत आत्मापर विश्वास करें [विषयोंपर श्रद्धा करना छोड़दें]।

चित्तैकाग्र्यं यथा योगी महायासेन साधयेत्।
अणिमादिप्रेप्सयैवं विविच्यात् स्वं मुमुक्षया ॥२०८॥

जैसे योगी अणिमा आदि ऐश्वर्य पानेके लिये, बड़े प्रयत्नसे चित्तको एकाग्रह करते हैं, इसी प्रकार मोक्षार्थी मोक्षकी इच्छाको लेकर, सदाअपने आत्माका विवेक किया करे [इस अपने आत्माको देहादियों से पृथक् पहचाने। इसे देहादियोंमें रिला मिला न रहनेदे]।

मुमुक्षुके सदातन अभ्यासका फल

कौशलानि विवर्धन्ते तेषामभ्यासपाटवात् ।
यथा, तद्वद्विवेकोऽस्याप्यभ्यासाद् विशदायते ॥२०९॥

जैसे अभ्यासकी पटुतासे, काव्यादिका अभ्यास करनेवाले लोगों की चतुरता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, इसी प्रकार अभ्यास करते करते इस मुमुक्षुका विवेक [देहादियोंसे आत्माका भेदज्ञान] भी निखरने लगता है ।

विवेकके निखरनेका फल

विविञ्चता भोक्तृतत्वं जाग्रदादिष्वसंगता ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साक्षिण्यध्यवसीयते ॥२१०॥

(अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भोक्तृतत्वं विविञ्चता जाग्रदादिषु साक्षिणि असङ्गता अध्यवसीयते) अन्वयव्यतिरेक नामकी युक्तिसे, भोक्ताके पारमार्थिक स्वरूपको, भोग्य पदार्थोंसे पृथक् पहचान लेनेपर पुरुषको जाग्रदादि सब अवस्थाओंमें साक्षी तत्वके असङ्गपनेका निश्चय होजाता है । यों जाग्रदादिमें साक्षीके असङ्गपनेका निश्चय होजाना विवेकके विशद होनेका फल है ।

भोक्ता को अपना पारमार्थिक रूप दिखानेवाले अन्वयव्यतिरेक

यत्र यद् दृश्यते द्रष्ट्रा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
तत्रैव तन्नेतरत्रेत्यनुभूतिर्हि संमता ॥२११॥

(जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु यत्र यत् द्रष्ट्रा दृश्यते तत्र एव तत् इतरत्र न) जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनोंमें जहां जो [स्थूल सूक्ष्म या आनन्द नामक] दृश्य, द्रष्टासाक्षीको दीखता है वह दृश्य उस ही एक अवस्थामें रहता है । [वे दृश्य पदार्थ दूसरी अवस्थाओंके आजानेपर नहीं रहते । परन्तु इन तीनों अवस्थाओंमें अनुगत रहनेवाला जो इनका द्रष्टा है, वह इन सबसे पृथक् है] (इति अनुभूतिः हि सर्वसम्मता वर्तते) यह अनुभव सबको सम्मत है ।

यत्तत्रेक्षते किंचित्तेनानन्वागतो भवेत् ।
दृष्ट्वैव पुण्यं पापं चेत्येवं श्रुतिषु डिण्डिमः २१२॥

'स यत्तत्र किंचित् पश्यति अनन्वागतस्तेन भवति, असंगो ह्ययं पुरुषः। स वा एष एतस्मिन् संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति' [बृ० ४-३-१५] इस श्रुतिमें डंकेकी चोट कहागया है कि (सः तत्र यत्किंचित् ईक्षते) वह आत्मा उस अवस्था में, जिस किसी भी भोग्यको देखता है, (तेन अनन्वागतः भवेत्) उसके साथ अनुगत नहीं होता अर्थात् उससे सम्बद्ध नहीं होजाता [किन्तु वह वहांके दृश्योंको वहीं छोड़कर, अकेला ही दूसरी अवस्थामें जापहुँचताहै] (पुण्यं पापं च दृष्ट्वा एव [अनादाय एव] याति) वह वहांके पुण्यपापों या सुखदुःखोंको देखकर ही चलाजाता है। [उन्हें अपने साथ नहीं लेजाता।]

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपंचं यत् प्रकाशते ।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥२१३॥

(यत् [ब्रह्मतत्वम्] जाग्र ... दिप्रपंचं प्रकाशते तत् ब्रह्म अहम् अस्मि इति ज्ञात्वा...) जो सत्यज्ञानआनन्दरूप महान् तत्व, जाग्रदादि प्रपंचको प्रकाशित कियाकरता है, वही ब्रह्मनामक तत्व मैं हूं। [मैं बुद्धि या चिदाभास आदि नहीं हूं] जब कोई श्रुति और अनुभवसे इस बातका निश्चय कर लेता है तब वह [प्रमाता कर्ता भोक्ता आदि] समस्त बन्धनों से पूर्णरूपसे छुटजाता है।

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥२१४॥

जाग्रत् स्वप्न या सुषुप्ति तीनोंमें एक ही आत्मतत्वको मननसे जान लेना चाहिये। जब कोई आत्माको तीनों अवस्थाओंसे विविक्त पहचान

जाता है, फिर उसका पुनर्जन्म कभी नहीं होपाता। [इस शरीरके गिर जानेपर उसे दूसरा शरीर नहीं मिलता ।]

त्रिषु धामसु यद् भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद् भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोहं सदाशिवः ॥२१५॥

(त्रिषु धामसु यद्भोग्यं) [जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति नामके] तीनों धामोंमें, जो तीन प्रकारके [स्थूल सूक्ष्म तथा आनन्दरूपी] भोग्य होते हैं, जो कि तीन प्रकारके [विश्व तैजस तथा प्राज्ञ नामके] भोक्ता होते हैं, तथा इनमें जो नानाविध भोग [अनुभव] होता है, इन सब [अवस्थाओं भोक्ताओं और भोगों] से विलक्षण जो एक चिन्मात्ररूप सदा कल्याण-स्वरूप साक्षी परमात्मा है, वही मैं हूँ।

एवं विवेचिते तत्वे विज्ञानमयशब्दितः ।
चिदाभासो विकारी यो भोक्तृत्वं तस्य शिष्यते ॥२१६॥

इसप्रकार आत्मतत्वकी विवेचना करचुकनेके पश्चात् [जब कि उसे असंग जानलिया जाता है तब] विकारी होनेके कारण विज्ञानमय कहानेवाला चिदाभास ही भोक्ता रहजाता है।

मायिकोयं चिदाभासः श्रुतेरनुभवादपि ।
इन्द्रजालं जगत् प्रोक्तं तदन्तःपात्ययं यतः ॥२१७॥

जीवेशावाभासेन करोति इस श्रुति और इसी प्रकरणके २११वें श्लोकमें कहे अनुभवसे यह चिदाभास मायिक [किंवा मिथ्या] है। विद्वान् लोग इस समस्त जगत्को इन्द्रजाल [की भांति मिथ्या] मानते हैं। वे कहते हैं कि क्योंकि यह चिदाभास भी उस जगतके अन्तर्भूत है, इस कारण यह भी मिथ्या है।

विलयोप्यस्य सुप्त्यादौ साक्षिणा ह्यनुभूयते ।
एतादृशं स्वस्वभावं विविनक्ति पुनः पुनः ॥२१८॥

जब सुषुप्ति [या मूर्छा] आती है, तब यह साक्षी [आत्मा] इस चिदाभासके विलय किंवा नाशको अनुभव किया करता है। [यों कूटस्थ से अलगाये हुए चिदाभासको मायिक समझ लेनेपर यह होता है कि] यह चिदाभास अपने ऐसे मिथ्यात्मक स्वभावका स्वयं बार बार विवेक करने लगता है। [यह अपनी कमी अर्थात् अपने नश्वरपनेको पहचान कर अपने मनमें इस बातको अनन्त बार दोहराता रहता है।]

विविच्य नाशं निश्चित्य पुनर्भोगं न वाञ्छति ।
मुमूर्षुः शायितो भूमौ विवाहं कोऽभिवाञ्छति ॥२१९॥

जब विवेक करते करते, अपने नाशका निश्चय करलेता है, फिर भोगोंकी इच्छा करना छोड़देता है। क्या भला जिस मुमूर्षुको खाटसे भूमिपर उतार लिया गया हो वह कभी अपना विवाह कराना चाहेगा? [यह स्वनाशनिश्चय होनेपर भोगेच्छा न रहनेका दृष्टान्त दिया है]।

जिह्रेति व्यवहर्तुं च भोक्ताहमिति पूर्ववत् ।
छिन्ननास इव ह्रीतः क्लिश्यन्नारब्धमश्नुते ॥२२०॥

[उसकी कुछ ऐसी विचित्र अवस्था होजाती है कि] यह अब पहलेकी भांति, अपनेको भोक्ता कहता हुआ भी लज्जा मानता है। वह 'अभीतक मेरे प्रारब्धकर्म समाप्त नहीं हुए' इस दुःखको लिये हुए, नाक कटेके समान लज्जितसा रहकर अपने प्रारब्ध भोगाकरता है।

यदा स्वस्यापि भोक्तृत्वं मन्तुं जिह्रेत्ययं तदा ।
साक्षिण्यारोपयेदेतदिति कैव कथा वृथा ॥२२१॥

जब यह चिदाभास अपने आपको भोक्ता माननेपर भी लजाने लगता है तब यह अपने भोक्तापनेके दोषको साक्षीपर लादेगा, ऐसी वृथा शङ्का नहीं करनी चाहिए।

इत्यभिप्रेत्य भोक्तार माक्षिपत्यविशङ्कया ।
कस्य कामायेति, ततः शरीरानुज्वरो न हि ॥२२२॥

[कूटस्थ या चिदाभास कोई भी पारमार्थिक भोक्ता नहीं है] इसी अभिप्रायको लेकर 'कस्य कामाय' इस श्रुतिने निःशंक भावसे भोक्ताका आक्षेप अर्थात् उसका निषेध किया है। श्रुति कूटस्थ या चिदाभास किसीको भी वास्तविक भोक्ता माननेको उद्यत नहीं है। आत्मज्ञान हो जानेपर फिर शरीरधारीको इस शरीरके साथ कभी सन्तप्त नहीं होना पड़ता। [ऐसा ज्ञानी जब किसी रोगसे पीडित होता है तब उसका विश्लेषण यों करना चाहिए कि उसके शरीरको रोग होता है, वह तटस्थ होकर उस रुग्ण शरीरको देखा करता है। वह उस दुःखी शरीरके साथ कभी दुःखी नहीं होता। वह कैसा भी कष्ट आपड़नेपर अपनी तटस्थताको टूटने नहीं देता। यह तटस्थता ही ज्ञानियोंका गुप्त धन मानाजाता है]।

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च शरीरं त्रिविधं स्मृतम् ।
अवश्यं त्रिविधोऽस्त्येव तत्रतत्रोचितो ज्वरः ॥२२३॥

(तत्र तत्र उचितः त्रिविधः ज्वरः अवश्यम् अस्ति एव) स्थूल सूक्ष्म और कारण तीन प्रकारका शरीर होता है। उन उन शरीरोंमें उचित तीनों प्रकारका संताप अवश्य हुआ करता है। [किसीका बस नहीं है कि शरीरोंमेंसे संतापको हटा सके।]

स्थूलशरीरके ज्वर

वातपित्तश्लेश्मजन्यव्याधयः कोटिशस्तनौ ।
दुर्गन्धित्वकुरूपत्वदाहभङ्गादयस्तथा ॥२२४॥

स्थूल शरीरमें वात, पित्त, कफसे उत्पन्न होनेवाले अनन्त रोग, दुर्गन्धि होना, कुरूप होना, जलजाना, या चोट लगजाना, आदि अनेक ज्वर [उपद्रव] रहते हैं।

सूक्ष्मदेहके ज्वर

कामक्रोधादयः शान्तिदान्त्याद्या लिङ्गदेहगाः ।
ज्वरा, द्वयेऽपि बाधन्ते प्राप्त्याप्राप्त्या नरं क्रमात् ॥२२५॥

काम क्रोधादि तथा शान्ति दान्ति आदि लिङ्गशरीरके ज्वर हैं [जब काम क्रोधादि आते हैं तब वे आकर सूक्ष्मशरीरको दुःखी करते हैं तथा जब शान्ति आदि नहीं आते तब उनके न आनेसे लिङ्गदेह दुःखी होता है]। यों ये दोनों, क्रमसे पाने और न पानेसे मनुष्यको दुःखी करते हैं।

कारणशरीरके ज्वर

स्वं परं च न वेत्त्यात्मा विनष्ट इव कारणे ।
आगामिदुःखबीजं चेत्येतदिन्द्रेण दर्शितम् ॥२२६॥

(आत्मा कारणे [देहे] स्वं परं च न वेत्ति विनष्टः इव भवति) 'न हि खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति, नो एवेमानि भूतानि, विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि' (छा० ८-११-२) इस श्रुतिमें इन्द्रने अपने प्रजापति गुरुसे यह कहा है कि यह उस सुषुप्तिके समय कारणदेहमें पहुँचनेपर एक तो अपने परायेको नहीं जानता। यह उस समय [अज्ञानसे] विनष्ट सा हो जाता है, तथा यह अवस्था अगले दिन मिलनेवाले दुःखोंका कारण भी होती है। यों छान्दोग्यमें कारण-शरीरके ज्वर वर्णित हैं।

तीनों देहोंमेंसे ज्वरोंकी अपरिहार्यता

एते ज्वराः शरीरेषु त्रिषु स्वाभाविका मताः ।
वियोगे तु ज्वरैस्तानि शरीराण्येव नासते ॥२२७॥

ये ज्वर तीनों शरीरोंमें स्वभावसे रहते हैं [इन्हें कोई उनमेंसे हटा नहीं सकता। स्थूलशरीर रोगी न हों, मनमें काम क्रोधादि उत्पन्न हों, अज्ञान में मूढता ज्ञानशून्यता नष्टप्रायतारूपी जाग्रतदुखोंका बीज छिपा न बैठा

हो, यह कभी नहीं होना] (ज्वरैः शरीराणां वियोगे तानि शरीराणि नासते) क्योंकि इन ज्वरोंसे उन शरीरोंका वियोग होनेपर ये शरीर ही नहीं रहते। [इन शरीरोंका ज्वरोंसे वियोग होनेकी केवल यह अवस्था है कि तब ये शरीर जाते रहें। इसीसे कहते हैं कि ये ज्वर तीनों शरीरोंकी स्वाभाविक स्थिति हैं।]

तन्तोर्वियुज्येत पटो बालेभ्यः कम्बलो यथा।
मृदो घटस्तथा देहो ज्वरेभ्योऽपीति दृश्यताम् ॥२२८॥

यदि तन्तुसे वस्त्र वियुक्त हो सकता हो, यदि बालोंसे कम्बल पृथक् किया जासकता हो, यदि मिट्टीसे घटको अलग करना सम्भव हो तो यह भी हो सकता है कि ज्वरोंसे देह वियुक्त होजाय [ये शरीर जिन्हें मानव मोह ममतासे अपनाये बैठा है दुःख और विपत्ति के उपजाऊ वृक्ष हैं]।

चिदाभासमें ज्वर नहीं होते

चिदाभासे स्वतः कोऽपि ज्वरो नास्ति, यतश्चितः।
प्रकाशैकस्वभावत्वमेव दृष्टं न चेतरत् ॥२२९॥

चिदाभासको स्वयं [तीनों देशोंके ज्वरोंसे संबन्ध हुये विना] कोई ज्वर नहीं होता [उसको शरीरके सम्बन्धके कारण ही ज्वर होते हैं]। (यतः चितः प्रकाशैकस्वभावत्वमेव दृष्टम् इतरत् न च) विद्वान् साधक जब विचार समाधिमें बैठकर देखते हैं, तब वे चित्को केवल प्रकाशस्वभाव-वाला पाते हैं। [क्योंकि वह चिदाभास उस चित्का ही प्रतिबिम्ब है इस कारण उसमें भी कोई ज्वर नहीं होता]।

कूटस्थमें ज्वर नहीं होते

चिदाभासेऽप्यसंभाव्या ज्वराः, साक्षिणि का कथा।
एवमप्येकतां मेने चिदाभासो ह्यविद्यया ॥२३०॥

यों जबकि चिदाभासमें भी ज्वरोंका होना संभव नहीं है तब फिर साक्षीमें ज्वर नहीं होते, इसका तो कहना ही क्या?

वस्तुस्थितिके ऐसा होनेपर भी इस चिदाभासने अपनी अविद्या [अज्ञान] के कारण [उन शरीरोंसे] अपनी एकता मानली [और यह अब उन शरीरोंके ज्वरोंसे अपने आपको सन्तापशील मान बैठा है ।]

साक्षिसत्यत्वमध्यस्य स्वेनोपेते वपुस्त्रये ।
तत्सर्वं वास्तवं स्वस्य स्वरूपमिति मन्यते ॥२३१॥

[चिदाभासकी शरीरोंमें एकता माननेकी रीति यह है कि] वह चिदाभास अपनेसे युक्त इन तीनों शरीरोंमें, साक्षीकी सत्यताका अध्यास करके [ज्वरोंसे जलते भुनते] उन [तीनों शरीरों] को अपना सच्चारूप समझता है । [मानो कोई दहकती हुई भट्टीमें घुसकर उस भट्टीको ही आपना आपा मानबैठा हो और भट्टीके भीतर बैठा बैठा जलरहा हो ।]

भ्रान्तिज्ञानका फल

एतस्मिन् भ्रान्तिकालेऽयं शरीरेषु ज्वरत्स्वथ ।
स्वयमेव ज्वरामीति मन्यते हि कुटुम्बिवत् ॥२३२॥

यह चिदाभास इस भ्रान्तिके समय किसी शरीरको ज्वर होनेपर कुटुम्बी पुरुषकी भांति अपने आपको ज्वरशील मानबैठता है । [यह चिदाभास शरीरके ज्वरोंको अपने आत्मामें आरोपित करलेता है ।]

पुत्रदारेषु तप्यत्सु तपामीति वृथा यथा ।
मन्यते पुरुषस्तद्वदाभासोऽप्यभिमन्यते ॥२३३॥

जैसे कुटुम्बी मनुष्य पुत्र या पत्नी आदिके सन्तप्त होनेपर वृथा ही अपने आपको दुःखी मानाकरता है, इसी प्रकार यह चिदाभास शरीरोंके दुःखी होनेपर अपनेआपको वृथा ही दुखी माननेलगता है । [शरीरमें कोई चोट लगजाय तो यह उस चोटको आत्माको लगी समझता है इत्यादि] ।

विवेकदशामें ज्वर नहीं रहता

विविच्य भ्रान्तिमुज्झित्वा स्वमप्यगणयन् सदा ।
चिन्तयन् साक्षिणं कस्माच्छरीरमनुसंज्वरेत् ॥२३४॥

वह चिदाभास [कूटस्थका, अपने आपका, तथा शरीरों का] विवेक करके भ्रान्तिको छोड़देनेके पश्चात् , अपनेको भी कभी कुछ न गिनते हुए [अपना आदर न करते हुए कि मैं भी कुछ हूं या मैं भी कोई व्यक्तिगत अस्तित्व रखता हूं] सदा साक्षीका चिन्तन करता हुआ इन [ज्वरवाले] शरीरोंके पीछे-पीछे लगकर स्वयं क्यों सन्तप्त होता फिरे ? [विवेकदशामें चिदाभासको ज्वर नहीं होता]।

अयथावस्तुसर्पादिज्ञानं हेतुः पलायने ।
रज्जुज्ञानेऽहिधीध्वस्तौ कृतमप्यनुशोचति ॥२३५॥

रज्जुमें कल्पित सर्पादि [स्थाणुमें कल्पित चोर आदि] का ज्ञान पलायनका कारण होता है । परन्तु रज्जुका ज्ञान होजानेसे सर्पबुद्धिके नष्ट होजानेपर अपने प्रथम किये पलायनपर भी पछताता है [कि मैं मूर्ख वृथा ही दौड़पड़ा था ।]

साक्षिचिन्ताका स्पष्टीकरण

मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तप्रसिद्धये ।
क्षमापयन्निवात्मानं साक्षिणं शरणं गतः ॥२३६॥

(यथा लोके मिथ्याभियोगकर्ता तद्दोषस्य प्रायश्चित्तसिद्ध्यर्थं मिथ्याभियुक्तं पुनः पुनः क्षमापयति एवम् अयं चिदाभासः अपि साक्षिणं असङ्गात्मानं शरणं गतः) [जैसे लोकमें किसीपर झूठा दोष लगानेवाला वह उस अपराधका प्रायश्चित्त करनेके लिये अभियुक्तसे बार बार क्षमा मांगता है । इसीप्रकार] यह चिदाभास भी साक्षी असङ्ग आत्मापर लगाय हुये भोक्तापन आदि धर्मोंके मिथ्या आरोपरूपी पापका प्रायश्चित्त करनेके लिये [अनादिकालके] अपने अपराधको क्षमा करवानेके लिये साक्षी आत्माकी शरणमें जापड़ा [अर्थात कहने लगा कि मैं तो सच्चिदानन्दरूप हूँ । मैं अब तक इस आत्मतत्वको वृथा ही कर्ता भोक्ता आदि मानरहा था । हे आत्मदेव ! मेरे इस अपराधको क्षमा कीजिये, अब मैं ऐसा आत्मद्रोह कभी न करूंगा इत्यादि ।]

आवृत्तपापनुत्त्यर्थं स्नानाद्यावर्त्यते यथा ।
आवर्तयन्निव ध्यानं सदा साक्षिपरायणः ॥२३७॥

जैसे [पापकारी पुरुष] अपने अभ्यस्त पापको हटानेकेलिये, स्नान आदि [प्रायश्चित्त] की आवृत्ति किया करता है, इसीप्रकार यह चिदाभास साक्षीमें चिरकालतक संसारित्व आदि धर्मोंके आरोपरूपी पापको हटानेकेलिये ध्यानकी आवृत्ति करनेवाला सा बनकर सदा साक्षि-परायण रहनेलगता है ।

उपस्थकुष्ठिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते ।
जानतोऽग्रे तथाऽऽभासः स्वप्रख्यातौ विलज्जते ॥२३८॥

जैसे उपस्थकुष्ठ वाली वेश्या विलासमें लज्जा मानती है, उसी भांति यह चिदाभास ज्ञानीके सामने अपने गुणोंको कहता हुआ लज्जा मानने लगता है । [उसे अपने आपको 'मैं' कहते हुए भी लज्जा आती है]

गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन् पुनः ।
म्लेच्छैः संकीर्यते नैव, तथाभासः शरीरकैः ॥२३९॥

म्लेच्छोंसे पकड़ाहुआ ब्राह्मण प्रायश्चित्त करके फिर म्लेच्छोंमें रिला मिला नहीं रहता [उनसे अलग होजाता है ।] इसीप्रकार यह चिदा-भास उक्त प्रायश्चित करके फिर शरीरोंके साथ तादात्म्यभ्रम या संकरताको प्राप्त नहीं होता ।

यौवराज्ये स्थितो राजपुत्रः साम्राज्यवाञ्छया ।
राजानुकारी भवति तथा साक्ष्यनुकार्ययम् ॥२४०॥

जैसे युवराज बनाहुआ राजपुत्र साम्राज्य पानेकी इच्छासे राजाका अनुकरण किया करता है [वह उसीकी भांति प्रजारञ्जन आदि करने लगता है] इसीप्रकार यह चिदाभास [आत्मसाम्राज्यरूपी महाप्रयोजनको पानेकी इच्छासे] सदा साक्षीका अनुसरण करनेलगता है ।

यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवत्येव इति श्रुतिम् ।
श्रुत्वा, तदेकचित्तः सन् , ब्रह्म वेत्ति, न चेतरत् ॥२४१॥

"यो ब्रह्मवेद" इस श्रुतिको सुनकर पूर्णरूपसे तन्निष्ठ होनेपर ब्रह्म को जानजाता है । इससे अन्यको ब्रह्मज्ञान नहीं होता । [साक्षीका अनुसरण वृथा नहीं जाता साक्षीके अनुसरणका फल ब्रह्मज्ञान है] ।

देवत्वकामा ह्यग्न्यादौ प्रविशन्ति यथा तथा ।
साक्षित्वेनावशेषाय स्वविनाशं स वाञ्छति ॥२४२॥

[ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्मभाव प्राप्त होनेपर चिदाभासपना नष्ट होजाता है । इसपर प्रश्न यह होता है कि वह चिदाभास अपने नाशकेलिये प्रयत्न क्यों करता है ? इसीका उत्तर इस श्लोकमें दिया है] जैसे देव बनना चाहनेवाले अग्नि आदिमें [या गंगा आदिमें] प्रवेश कर जाते हैं [और अपना शरीरपात करदेते हैं] इसीप्रकार वह चिदाभास साक्षिरूपसे शेष रहजानेकेलिये अपना विनाश भी चाहलेता है । [जैसे देवभावरूपी ऊंची श्रेणीको पानेकी इच्छासे, उससे अधम मनुष्यशरीर त्यागदिया जाता है, इसीप्रकार यह चिदाभास साक्षिरूपको पाजानेके उत्तम फलको देखकर, अपने अधम चिदाभासपनको त्यागकर ब्रह्मज्ञानमें प्रवृत्त होजाता है । भले ही उससे उसका चिदाभासपना जातारहता हो ।]

यावत् स्वदेहदाहं स नरत्वं नैव मुञ्चति ।
यावदारब्धदेहं स्यान्नाभासत्वविमोचनम् ॥२४३॥

जब तक अग्निमें घुसे हुए उस पुरुषका देह भस्म नहीं होचुकता, तब तक वह अपने मनुष्यत्वसे मुक्त नहीं होता [तब तक उसको मनुष्य ही कहाजाता है] इसीप्रकार जब तक यह प्रारब्धदेह बना हुआ है, तब तक चिदाभासतासे छुटकारा नहीं होगा । [प्रारब्धकर्मोंके नष्ट न होने तक उसे चिदाभास ही कहना पड़ेगा । तब तक ब्रह्मदर्शी लोग भी जीव ही कहाते रहेंगे ।]

रज्जुज्ञानेऽपि कम्पादिः शनैरेवोपशाम्यति ।
पुनर्मन्दान्धकारे सा रज्जुः क्षिप्तोरगो भवेत् ॥२४४॥

जैसे रज्जुका ज्ञान होजानेपर भी भय या कम्प आदि धीरे धीरे ही शान्त होते हैं, सहसा नहीं। जब उस रज्जुको फिर मन्द अंधेरे में फेंक दिया जाता है तब वह फिर सांपनसी होजाती है।

एवमारब्धभोगोऽपि शनैः शाम्यति नो हठात् ।
भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासते ॥२४५॥

इसीप्रकार [अज्ञानके निवृत्त होचुकनेपर भी] प्रारब्धभोग धीरे धीरे ही शान्त हुआ करता है। वह हठ करनेसे सहसा शान्त नहीं होता। भोगकालमें उसे कभी कभी तो यह भी विपरीतभास होजाया करता है कि 'मैं मर्त्य हूँ।' [उसका यह भास ज्ञान होते ही नष्ट नहीं होता, यह धीरे धीरे मिटता है।]

नैतावतापराधेन तत्वज्ञानं विनश्यति ।
जीवन्मुक्तिव्रतं नेदं किन्तु वस्तुस्थितिः खलु ॥२४६॥

['मैं मर्त्य हूं' ऐसा भान होजाना यद्यपि ज्ञानीका अपराध समझा जाना चाहिये परन्तु] कभी कभी अपनेको मर्त्य समझ लेनेके इस छोटेसे अपराधसे आगमप्रमाणजनित तत्वज्ञानका नाश नहीं हो जाता। क्योंकि यह अपनी मर्त्यत्वबुद्धिको हटादेनारूपी जीवन्मुक्ति नाम का कोई व्रत [अर्थात् नियमसे करने योग्य अनुष्ठान नहीं है, जो साधकोंको परवश करना पड़ता हो] किन्तु यह तो वस्तुस्थिति है [कि तत्वज्ञानसे भ्रान्तिज्ञान भागजाता है]। तत्वज्ञानका अभ्यास करते करते साधकने जिन विपरीत भावनाओंको मार भगाया है, वे विपरीतभावनायें कभी कभी इस देहादि समुदायपर, फिर अधिकार पानेका उद्योग अवश्य करती हैं। वे यदि कभी कभी लौटकर आजाती हैं तो आया करें। उनको

फिर फिर मार भगाना चाहिये। इन भावनाओंको भगानेमें कुछ देर अवश्य लगती है और प्राणियोंके स्वभावानुसार इसका भिन्न-भिन्न क्रम भी होता है।

दशमोऽपि शिरस्ताडं रुदन्, बुद्ध्वा न रोदिति ।
शिरोव्रणस्तु मासेन शनैः शाम्यति नो तदा ॥२४७॥

दसवां भी जो अब तक सिर पीट पीट कर रोरहा था, वह मैं ही दसवां हूँ, यह ज्ञान होते ही रोना तो तुरन्त रोकदेता है, परन्तु सिर पीटने से उसके सिरमें हुआ घाव तो कहीं महीनोंमें जाकर अच्छा होता है तुरन्त नहीं।

दशमामृतिलाभेन जातो हर्षो व्रणव्यथाम् ।
तिरोधत्ते, मुक्तिलाभस्तथा प्रारब्धदुःखिताम् ॥२४८॥

जैसे दसवेंके न मरनेके लाभको सुनकर हुआ हर्ष घावकी पीड़ाको छिपा या भुलादेता है, ठीक इसीप्रकार जीवन्मुक्तिका लाभ भी प्रारब्ध दुःखोंको ढकलेता है [जीवन्मुक्ति मिलनेपर जो हर्ष होता है, उसके सामने, प्रारब्धदुःखोंकी कुछ गिनती नहीं रहती। ऐसी अवस्थामें ज्ञान होजानेपर चाहे संसारदुःखोंकी अनुवृत्ति होती भी रहो तो भी जीवन्मुक्ति को पुरुषार्थ मानना ही पड़ेगा]।

व्रताभावाद् यदाध्यासस्तदा भूयो विविच्यताम् ।
रससेवी दिने भुङ्क्ते भूयो भूयो यथा तथा ॥२४९॥

व्रत न होनेसे [पहले २४६ श्लोकमें कहचुके हैं कि जीवन्मुक्ति कोई व्रत नहीं है, इस कारण] जब जब अध्यास होता हो, तब तब बार बार विवेक करना चाहिये। जिस प्रकार रससेवी पुरुष एक ही दिनमें, जब जब उसे भूख लगती है तब तब, बार बार खाता है [इसी प्रकार अध्यासकी निवृतिकेलिए बारम्बार विवेक करना चाहिये।]

शमयत्यौषधेनायं दशमः स्वं व्रणं यथा ।
भोगेन शमयित्वैतत् प्रारब्धं मुच्यते तथा ॥२५०॥

जिसप्रकार वह दसवां पुरुष अपने व्रणको औषधसे अच्छा कर लेता है, इसीप्रकार भोगके द्वारा इस प्रारब्ध [कर्म]को शान्त करनेपर ही मुक्त होता है [ज्ञानसे प्रारब्धकर्मोंका फल नहीं हटता। उसे तो भोग ही नष्ट करसकते हैं।]

किमिच्छन्नितिवाक्योक्तः शोकमोक्ष उदीरितः ।
आभासस्य ह्यवस्थैषा षष्ठी, तृप्तिस्तु सप्तमी ॥२५१॥

यहां तक 'किमिच्छन् कस्य कामाय' [बृ० ४-४-१२] इस वाक्य में कही शोकमोक्षरूपी अवस्था कही जाचुकी। यह चिदाभासकी छठी अवस्था है। अब 'तृप्ति' नामकी सातवीं अवस्थाका व्याख्यान किया जायगा।

अपरोक्षज्ञानजन्य तृप्तिकी निरङ्कुशता

साङ्कुशा विषयैस्तृप्तिरियं तृप्तिर्निरङ्कुशा ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्त मित्येव तृप्यति ॥२५२॥

विषयोंसे मिलनेवाली तृप्ति सांकुश (समर्याद) तृप्ति होती है [एक विषयके मिलनेसे जो तृप्ति होती है, दूसरे विषयकी कामना, उस तृप्तिका स्वाद पूर्णरूप से नहीं चखने देती। दूसरी कामना उत्पन्न होते ही पहली तृप्तिके टूक टूक कर डालती है। इसीसे विषयोंसे होनेवाली तृप्तिको सांकुश या परिमित तृप्ति कहते हैं] परन्तु यह [अपरोक्षज्ञान-जन्य] तृप्ति [जिसका वर्णन अब हम करने लगे हैं, वैसी साधारण वैषयिक सीमित तृप्ति नहीं है। यह तो] निरंकुश [अमर्याद=अपरिमित] तृप्ति है [क्योंकि यह तृप्ति किसी कामनासे कुण्ठित या खण्डित नहीं होती। यह तृप्ति नित्य नयी नकोर बनी रहती है] इस तृप्तिको पालेने

वालेका हृदयभवन सदा इन भावोंसे गूंजता है कि 'जो कुछ मुझे करना था सो मैं करचुका तथा जो कुछ मुझे पाना था वह मुझे मिलगया ।'

ज्ञानीकी कृतकृत्यता

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ।
बहुकृत्यं पुरास्याभूत् तत् सर्वमधुना कृतम् ॥२५३॥

इस ज्ञानीको तत्वज्ञान न होनेतक इस लोक और परलोकके कामोंकेलिये तथा मुक्तिकी सिद्धिकेलिये बहुत कुछ करना शेष था [इष्ट को पाने और अनिष्टको हटानेकेलिये खेती आदि करनी थी । स्वर्गादिके लिये योग उपासना आदि करने थे । ज्ञानकी सिद्धिकेलिये श्रवणादि करने शेष थे ।] परन्तु अब [जब कि इसे किसी सांसारिक फलकी इच्छा नहीं रही और ब्रह्मानन्दका साक्षात्कार होचुका] वह सब कुछ कृतसा हो गया [उन सब कामोंको पूरा करके जो कुछ होता, वह उन्हें बिना किये होचुका । अब ज्ञानीको कुछ कर्तव्य शेष नहीं दीखता ।]

तदेतत् कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।
अनुसन्दधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥२५४॥

(अयं तत् एतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् अनुसन्दधत् एव नित्यशः एवं तृप्यति) यह ज्ञानी अपनी इस ब्रह्मभावरूपी कृतकृत्यताको कृतकृत्यताविरोधी बातोंके साथ साथ स्मरण करकरके आगे कहे प्रकारसे सदा तृप्त रहने लगता है ।

दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥२५५॥

दुःखी अज्ञानी लोग, पुत्र, पत्नी आदिकी मांगोंमें फंसे हुए भले ही संसारमें जकड़े रहें [मैं भी कभी ऐसा ही था] किन्तु अब परमानन्द से परिपूर्ण मैं भला किस इच्छाको लेकर इस संसारमें उलझा पड़ा रहूं ?

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥२५६॥

परलोक जानेकी इच्छावाले भले ही यज्ञादि शुभ कर्म करें, [मुझ पर भी कभी यही भ्रान्त धारणा सवार थी] किन्तु सर्वलोकस्वरूप बना हुआ मैं भला अब उन सकाम कर्मोंको क्यों करूं? और कैसे करूं? यह तुम्हीं बताओ ?

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो, मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥२५७॥

जो इन बातोंके अधिकारी हैं, उनका यदि जी करता हो तो वे शास्त्रोंका व्याख्यान करें, या वेदोंको पढ़ायें [मुझपर भी कभी यही धुन सवार रहती थी किन्तु अब] अक्रियतत्व होजानेके कारण मेरा इन किन्हीं कामों में अधिकार नहीं रहा।

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ।
द्रष्टारश्चेत् कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥२५८॥

आत्मरूपका ज्ञाता मैं निद्रा और भिक्षा स्नान और शौचकी न तो इच्छा करता हूं और न मैं यह सब कुछ करता हूं। फिर भी यदि संसारी लोग इन सब कामोंको मेरे काम मानते हैं तो माना करें। उनके माननेसे मुझमें क्या होना है ? [मेरी उदार दृष्टिमें अब यह कुछ नहीं है]।

बात यह है कि उनको मेरा शरीर दीखता है, ये इसकी क्रियाओं को मेरी क्रिया मानते हैं। इनका ध्यान मेरे गुहानिवासी रूपकी ओर नहीं है। चुम्बकके पास आते ही लोहेमें गति होजाती है, पानी बरसते ही धरती उसे पीजाती है, गीली मिट्टी और अनुकूल ऋतुके आते ही बीजमें अंकुर निकल आते हैं, सूरजके निकलते ही कमल खिल जाते हैं, चन्द्रमाको देखते ही चन्द्रकान्तमें द्रव हो जाता है, गरमी अधिक पड़ते

ही वर्षा होने लगती है, स्पष्ट चेतन समझे जानेवाले पदार्थोंकी यह अवस्था है, उसी प्रकार भूलसे चेतन समझ लिया गया यह शरीर भी, भोजनको देखकर उसे खानेमें, और भूख प्यास कष्ट दे तो भोजन जुटाने में संलग्न होजाता है। भूलसे चेतन समझ लिया हुआ यह शरीर गरमी लगे, मलकी बाधा हो, तो स्नान शौच आदिमें प्रवृत्त होजाता है। मनुष्यके सावधान रहनेका यही प्रसंग है कि मनुष्य इन शरीरादियोंकी इन प्रवृत्तियोंको अपना न माने और अनाड़ी मल्लके दावकी भांति वृथा ही कर्तृत्वका सारा पापरूपी बोझ अपने ऊपर न लेले।

गुंजापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवन्हिना।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥२५९॥

(यथा गुञ्जापुंजादि अन्यारोपितवन्हिना न दह्येत) जैसे दूसरोंसे अग्नि समझा हुआ गुञ्जापुञ्ज दाह नहीं करता (एवम् अहम् अन्यारोपितसंसारधर्मान् न भजे) इसी प्रकार मैं दूसरोंको आरोपित संसारधर्मों को नहीं अपनाता हूं।

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम्।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥२६०॥

ब्रह्म और आत्माकी एकतारूपी तत्वज्ञानसे हीन लोग श्रवण करें [उनके लिये श्रवण करना ठीक है] परन्तु उस तत्वको जान लेनेवाला मैं भला अब श्रवण क्यों करूं? तत्वके ऐसे वैसे पनमें संशयग्रस्त लोग मनन करें। परन्तु संशय रहित मैं मनन छोड़ चुका हूं।

विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्ययात्।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद् भजाम्यहम् ॥२६१॥

जिसको विपर्यय हो रहा है, वह निदिध्यासन करे। जब किसी को विपर्यय न हो तब ध्यान कैसा? मैं अब कभी भी देहात्मतारूपी विपर्यासको स्वीकार नहीं करता [फिर मैं ध्यान क्यों करूं?]

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥२६२॥

मैं मनुष्य हूं इत्यादि व्यवहारतो इस विपर्यासके विना [इसके नष्ट होजाने पर] भी चिराभ्यस्त [अनादिकालाभ्यस्त] वासनासे चलता रहता है। [अनादिकालकी वासनायें ज्ञानीसे भी 'मैं मनुष्य हूं' ऐसा कहलाती रहती है।]

प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद् ध्यानसहस्रतः ॥२६३॥

व्यवहार प्रारब्धकर्मके क्षीण होजानेपर ही निवृत्त होता है, कर्म क्षीण न होनेपर यह व्यवहार सहस्र ध्यानोंसे भी निवृत्त नहीं होता।

ऐसी अवस्थामें व्यवहारको हठपूर्वक बन्द करनेका विचार अशुद्ध विचार है। हठपूर्वक कर्मसंन्यासका मार्ग कल्याणकारी नहीं है। जैसे एक स्थानपर औषधप्रयोगसे दबाया हुआ फोड़ा दूसरे स्थानपर फूट निकलता है, इसी प्रकार व्यवहारको हठपूर्वक बन्द करनेसे या तो बाहरका संसार भीतर मनमें जाघुसता है, या यह होता है कि एक स्थानका व्यवहार बन्द करते ही, व्यवहारका जो अनादि अभ्यास है, उससे दूसरे स्थानपर दूसरे प्रकारका व्यवहार होनेलगता है। व्यवहारको हठपूर्वक बन्द करनेके इसी विश्वाससे प्रभावित हुए पुरुष, स्त्री, पुत्रोंके या घरके व्यवहारको छोड़कर महन्तीमें या अन्य प्रकारके प्रबन्धों में फंसे पाये जाते हैं। जिनको राजा देशान्तरवासका [कालेपानीका] का दण्ड देता है उनका इस देशका व्यवहार बन्द होजाता है, परन्तु वे वहां जाकर नये सम्बन्ध बना लेते हैं। यों व्यवहार हठपूर्वक बन्द करनेकी वस्तु नहीं है। व्यवहार छुटता है छोड़ा नहीं जाता। यह तो ज्ञानाभ्याससे स्वयमेव छूटना चाहिये। जैसे पका हुआ फल स्वयमेव डण्ठलसे अलग होजाता है, या जैसे गर्भ पकजानेपर माताकी नाभिके बन्धन तोड़कर स्वयमेव बाहर आजाता है, इसीप्रकार यह व्यवहारत्याग भी स्वाभाविकरूपमें होना चाहिये।

व्यवहारके रुकनेकेलिये कर्मोंके क्षीण होनेकी बाट बड़े धैर्यसे देखनी पड़ती है। जैसे छोड़ा हुआ बाण ध्यान करनेसे बीचमें नहीं रुकता, इसी प्रकार जबतक प्रारब्ध समाप्त नहीं होलेता तब तक व्यवहार किसीके भी रोके नहीं रुकता।

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद् ध्यानमस्तु ते।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् ध्यायाम्यहं कुतः ॥२६४॥

यदि व्यवहारको विरल (कम) करनेकेलिये तुझे ध्यान करना अच्छा लगता हो तो ध्यान किया कर। परन्तु व्यवहारको अबाधक देखता हुआ मैं ध्यानके बखेड़ेमें क्यों पड़ूं ?

जब कि 'तज्जलान्' इस न्यायसे सब कुछ ब्रह्मतत्व है, तो इस व्यवहारको भी ब्रह्मरूपमें देखना चाहिये। आंखें बन्द करके एकान्तमें बैठकर ब्रह्मतत्वका ध्यान करना ऐसा है जैसे किसी बालकको एक कोठरी में बैठाकर दिशा बतायी गई हों और फिर जब कहीं बाहर उससे दिशा बूझी जाय कि इधर कौनसी दिशा है? और वह यह कहने लगे कि चलो कोठरीमें चलकर बताऊंगा, यहां मुझे दिशा ज्ञात नहीं है। ठीक इसीप्रकार केवल ध्यानमुद्रामें बैठकर ब्रह्मतत्वको समझना और व्यवहारमें इस तत्वको भूलजाना व्यवहारमें इस तत्वको लागू न करना भी ऐसा ही अधूरा ज्ञान है। जो ज्ञान व्यवहारमें न आसके, जिस ज्ञानसे व्यवहार की थोड़ी सी ठोकर भी न सहारीजाय, जो ज्ञान व्यवहारभीरु बनादे, वह ज्ञान ज्ञान नहीं है। जिस ज्ञानके छोटेसे कल्पित कोनेमें अनन्त ब्रह्माण्ड भरे पड़े हैं, वही ज्ञान यदि व्यवहारके आपड़नेपर भाग खड़ा होता हो, तो उस ज्ञानको सच्चा ज्ञान मत समझो। वह तोतेके राम राम की भांति निर्वीर्य ज्ञान है। उसपर मुक्तिरूपी फल कदापि लगनेवाला नहीं है।

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥२६५॥

क्योंकि मुझे विक्षेप नहीं होता, इसीसे मुझे समाधिकी भी आवश्यकता नहीं है। विक्षेप और समाधि ये दोनों विकारशील मनके धर्म हैं। [इन्द्रियोंको रोककर ही दीखनेवाला आत्मा सच्चा आत्मा नहीं है। इन्द्रियोंको रोककर चित्तवृत्तिको बन्द करके पाई हुई अवस्था योगवालोंकी समाधि है। वेदान्तकी समाधि यह है कि आत्मा और ब्रह्मतत्वको एक समझाजाय और फिर अखण्ड ब्रह्मरूप होकर बैठा जाय। प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक व्यवहार, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक प्राणी ब्रह्मरूप दीखें यही सहज समाधि है। यह करनी नहीं पड़ती यह ज्ञानके माहात्म्यसे स्वभावसे होती है।]

नित्यानुभवरूपस्य को मे वानुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥२६६॥

मुझ नित्यानुभवस्वरूपको [मुझसे] पृथक् अनुभव क्या होगा ? [इसीसे अब मैं समाधिके फल कहानेवाले अनुभवके सम्पादनका उद्योग भी नहीं करता] मुझे अब यह निश्चय होगया कि मुझे जो कुछ करना था सो करचुका तथा जो कुछ मुझे पाना था सो पाचुका।

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा ।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥२६७॥

मुझ अकर्ता और अलेपका [भिक्षा आदि] लौकिक, [जप समाधि आदि] शास्त्रीय तथा अन्यप्रकारका [हिंसा आदि प्रतिषिद्ध] सब व्यवहार, प्रारब्धके अनुकूल चलता रहो। [मुझे अब उसकी विशेष अपेक्षा नहीं है]

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेहं का मम क्षतिः ॥२६८॥

अथवा कृतकृत्य भी मैं लोकानुग्रह [प्राणियोंपर कृपा] की इच्छासे शास्त्रके अनुकूल मार्गसे ही चलता हूं। मेरी इससे भी कुछ हानि

नहीं होती। [मोक्ष तक पहुंचनेका सरल राजमार्ग दूसरोंको भी दिखा दिया जाय, वह मोक्षकी राजपद्धति ज्ञानी लोगोंकी उपेक्षासे नष्ट न होजाय इस कारण ज्ञानीको लोकसंग्रहकेलिये भी शुभकर्म करने चाहियें। जैसे बिल्ली अपने बच्चोंको चूहेका आखेट करना सिखाती है, उसीप्रकार ज्ञानी लोग प्रत्येक साधकको अविद्याका आखेट करना सिखादें तो वह मार्ग अक्षुण्ण बना रहसकता है।]

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक्तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥२६९॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥२७०॥

[यह मेरा] शरीर देवार्चन करे, स्नान करे, शौच या भिक्षाचरण करे, [यह मेरी] वाणी तार [प्रणव] का जप करे, या वेदान्तशास्त्रका पाठ करती रहे, [यह मेरी] बुद्धि चाहे विष्णुका ध्यान करे या ब्रह्मानन्द में विलीन होजाय। मैं साक्षी इन सब कामोंमेंसे कुछ भी करता या करवाता नहीं हूं। [मुझे शास्त्रीय मार्गपर चलनेका अभिमान और उससे किसी प्रकारका विकार नहीं होगा।]

एवं च कलहः कुत्र संभवेत् कर्मिणो मम ।
विभिन्नविषयत्वेन पूर्वापरसमुद्रवत् ॥२७१॥

ऐसी परिस्थितिमें पूर्व और पश्चिम समुद्रके समान, भिन्न विषय होनेसे, कर्मीका और मेरा झगड़ा कहां रहा? [कर्मी और मैं दोनों एक विषयपर कथन करते, तो उसका हमारा कलह होना संभव था]

वपुर्वाग्धीषु निर्बन्धः कर्मिणो न तु साक्षिणि ।
ज्ञानिनः साक्ष्यलेपत्वे निर्बन्धो नेतरत्र हि ॥२७२॥

कर्मीका निर्बन्ध शरीर, वाणी और बुद्धितक है। उसका साक्षीमें कुछ निर्बन्ध नहीं है [उससे उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं] इसके विपरीत

ज्ञानीका निर्बन्ध साक्षीके निर्लेपपनेमें है। शरीरादियोंमें उसका निर्बन्ध नहीं है [देहआदियोंसे उसका मोहममताका कोई सम्बन्ध नहीं है। और वह यही चाहता है कि किसी प्रकार यह शिथिल संबन्ध भी सदाके लिये टूटजाय।]

एवं चान्योन्यवृत्तान्तानभिज्ञौ बधिराविव।
विवदेतां, बुद्धिमन्तो हसन्त्येव विलोक्य तौ ॥२७३॥

इस प्रकार ज्ञानी तथा कर्मी जो एक दूसरेकी बातसे अपरिचित बहरोंके समान विवाद करते हैं तो करें। परन्तु अनुभवी बुद्धिमान लोग तो उन्हें देखकर हंसते ही हैं।

यं कर्मी न विजानाति साक्षिणं तस्य तत्ववित्।
ब्रह्मत्वं बुध्यतां, तत्र कर्मिणः किं विहीयते ॥२७४॥

कर्मी जिस साक्षीतत्वको नहीं पहचानता, तत्ववेत्ता पुरुष उस साक्षीतत्वको ब्रह्म जानलेता है तो इसमें कर्मीका क्या बिगड़ता है? [उससे उसके कर्मानुष्ठानमें कुछ रुकाट नहीं पड़ती।]

देहवाग्बुद्धयस्त्यक्ता ज्ञानिनानृतबुद्धितः।
कर्मी प्रवर्तयत्वाभिर्ज्ञानिनो हीयतेऽत्र किम् ॥२७५॥

देह वाणी और बुद्धि इन सबको ज्ञानीने अनृत समझकर छोड़ दिया। कर्मी इनसे काममें प्रवृत्त होता है तो हुआ करे। ज्ञानीका उससे क्या बिगड़ता है? [ज्ञानी और कर्मीका विवाद भिन्नविषयक है। इनके विवादको देखकर सब हंसेंगे]।

प्रवृत्तिर्नोपयुक्ता चेन्निवृत्तिः क्वोपयुज्यते।
बोधहेतु निवृत्तिश्चेद् बुभुत्सायां तथेरा ॥२७६॥

(प्रवृत्तिः न उपयोक्ता चेत्) यदि कहो कि ज्ञानी कर्मानुष्ठानको इसलिये नहीं मानता कि उसका कोई प्रयाजन नहीं रहता (निवृत्तिः

कोपयुज्यते) तो बताओ उसकेलिये निवृत्तिका उपयोग कहां होता है ? (निवृत्तिः बोधहेतुः चेत्) यदि कहो कि निवृत्ति बोधका हेतु है [इससे निवृत्तिका उपयोग होजाता है] (तथा इतरा बुभुत्सायाम् उपयुक्ता) तो हम कहेंगे कि इसी प्रकार प्रवृत्तिका भी तो ज्ञानेच्छा उत्पन्न करनेमें उपयोग होता है। [हम अनादिकालसे प्रवृत्तिमें हैं। जब कभी किसी जन्ममें हमारे मनमें यह प्रश्न उठखड़ा होता है कि इस प्रवृत्तिसे हमें क्या मिला ? क्या मिलरहा है ? और क्या कुछ मिलेगा ? जब हमें इस प्रश्नका कोई सदुत्तर नहीं मिल पाता, तब हम प्रवृत्तिसे हटते हैं--किनारा करने लगते हैं, और तब हमें तत्वकी जिज्ञासा होजाती है। यों प्रवृत्ति भी वैराग्य दिलाकर ज्ञानकी इच्छामें उपयोगी होती है]।

बुद्धश्चेन्न बुभुत्सेत नाप्यसौ बुध्यते पुनः।
अबाधादनुवर्तेत बोधो न त्वन्यसाधनात् ॥२७७॥

(बुद्धः चेत् न बुभुत्सेत) यदि ज्ञानी बुभुत्सा [ज्ञानेच्छा] न करे, [तो वह प्रवृत्तिमें क्यों फंसे ?] (नापि असौ पुनः बुध्यते) तो हम कहेंगे कि उस ज्ञानीको दुबारा बोध भी तो नहीं होता [इस कारण ज्ञानीके लिये निवृत्तिका भी तो कुछ उपयोग नहीं रहता]। (बोधः अबाधात् अनुवर्तेत) [महावाक्यज] बोध तो अबाध [प्रमाणबाधित न होने] से अनुवृत्त रहता है। (न तु अन्यसाधनात्) वह किसी अन्य साधनसे अनुवृत्त नहीं रहता। उसकी स्थिरताके लिये किसी भी साधनकी अपेक्षा नहीं होती। यों तुम बोधकी स्थिरताके लिए भी निवृत्तिकी आवश्यकता नहीं बतासकते। बोधकी स्थिरता संसारसे निवृत्ति आदि किसी भी साधनसे नहीं होती। वह तब स्थिर रहता है जब किसी प्रमाणसे उसकी बाधा न हो। बोधकी स्थिरता अबाधपर निर्भर है। बोधकी स्थिरता निवृत्तिपर निर्भर नहीं है]।

नाविद्या नापि तत्कार्यं बोधं बाधितुमर्हति।
पुरैव तत्वबोधेन बाधिते ते उभे यतः ॥२७८॥

अविद्या या अविद्याके कार्य [कर्तृत्वादिके अध्यास] बोधकी बाधा नहीं करसकते । क्योंकि तत्वज्ञानने उन दोनोंको पहले ही पछाड़ दिया था ।

बाधितं दृश्यतामक्षैस्तेन बाधो न शक्यते ।
जीवन्नाखुर्न मार्जारं हन्ति हन्यात् कथं मृतः ॥२७९॥

यह बाधित जगत्, इन्द्रियोंसे भले ही दीखता रहे, परन्तु इस बाधित जगत्से [तत्वज्ञानकी] बाधा नहीं होसकेगी [क्योंकि अविद्यारूपी उपादानके निवृत्त होजानेसे उसका कार्य बाधित हो चुका] जो चूहा जीते जी बिल्लीको नहीं मारसकता वह भला मरजानेपर कैसे मारसकेगा ?

अपि पाशुपतास्त्रेण विद्धश्चेन्न ममार यः ।
निष्फलेषुवितुन्नाङ्गो नङ्क्ष्यतीत्यत्र का प्रमा ॥२८०॥

जो महाबलशाली, पाशुपत अस्त्रसे बिंधकर भी नहीं मरा, वह विना नोकके बाणोंसे बिंधकर मरजायगा इसमें क्या प्रमाण है ? [अर्थात ऐन्द्रियकद्वैतदर्शनसे तत्वज्ञानकी बाधा नहीं होसकती]

आदावविद्यया चित्रैः स्वकार्यैर्जृम्भमाणया ।
युद्ध्वा बोधोऽजयत् सोऽद्य सुदृढो बाध्यतां कथम् ॥२८१॥

(यः बोधः आदौ चित्रैः स्वकार्यैः जृम्भमाणया अविद्यया युद्ध्वा अजयत्) जिस बोधने प्रारंभमें ही [जब ब्रह्मविद्याका अभ्यास प्रारम्भ किया था] अपने नानाविधि कार्योंकी सेनाको लेकर बढ़ती हुई या चढ़ाई करने वाली अविद्यासे झगड़कर उसपर विजय पाली थी (सः सुदृढः बोधः अद्य कथं बाध्यताम्) वही सुदृढ [अभ्यासकी पटुतासे बलशाली] बोध आज [अविद्याके निवृत्त होजानेपर उसके निर्बल कार्य अध्याससे] क्योंकर बांधाजाय ?

तिष्ठन्त्वज्ञानतत्कार्यशवा बोधेन मारिताः ।
न भीति र्बोधसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य तैः ॥२८२॥

(बोधेन मारिताः अज्ञानतत्कार्यशवाः तिष्ठन्तु) [बोधके मारे हुए अज्ञान और अज्ञान के बच्चे, भले ही पड़े रहें, (बोधसम्राजः न भीतिः) बोधरूपी सम्राट्को [उनसे] कुछ भी भय नहीं होता। (प्रत्युत तस्य तैः कीर्तिः) प्रत्युत उनसे उसकी कीर्ति होती है [कि देखो ये अज्ञान और उसके बच्चे बोधसम्राट्के मारे हुए पड़े हैं।]

य एवमतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते ।
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा देहादिगतयास्य किम् ॥२८३॥

जो पुरुष इस प्रकारके अतिशूर [अविद्या तथा उसके कार्योंके घातक] बोधसे [ब्रह्मात्माके एकत्वज्ञान] से कभी [एक क्षणके लिये भी] वियुक्त नहीं होता, उस महात्माकी देहादिकी प्रवृत्ति या निवृत्तिसे कुछ इष्ट या अनिष्ट नहीं होसकता।

प्रवृत्तावाग्रहो न्याय्यो बोधहीनस्य सर्वथा ।
स्वर्गाय वापवर्गाय यतितव्यं यतो नृभिः ॥२८४॥

बोधहीनका प्रवृत्तिमें आग्रह करना सर्वथा उचित है। क्योंकि मनुष्यको स्वर्ग या मुक्ति, इनमेंसे एकके लिये प्रयत्न करना ही होगा। [सांसारिक आनन्द और मुक्ति-सुख इन दोनोंमेंसे किसी एकके विना इस जीवनमें कुछ सार नहीं है। या तो मनुष्यको मुक्तिसुख मिलना चाहिये। नहीं तो फिर संसारका आनन्द मिलना चाहिये। जब सांसारिक सुखोंको भोगकर उनके फलस्वरूप भोक्ताके ऊपर दुःखके पहाड़ टूटकर गिरते हैं तब मनुष्यको साधक बनकर मोक्षमार्गमें दौड़ना पड़ता है। संसारकी सारी विपत्तियां इसी मोक्षमार्गके गूंगे बुलावे हैं]।

कर्मियोंके बीचमें रहनेपर ज्ञानीका कर्तव्य

विद्वांश्चेत् तादृशां मध्ये तिष्ठेत् तदनुरोधतः ।
कायेन मनसा वाचा करोत्येवाखिलाः क्रियाः ॥२८५॥

यदि ज्ञानीको वैसे लोगोंमें रहना पड़ता है तो वह उन्हीं के अनुसार

शरीर, वाणी और मनसे [लोकसंग्रहके लिये] सब विहित कर्मोंको किया करता है [उसको उन्हें कर्मोंसे हटाना नहीं चाहिये। ऐसे लोगोंको उनकी बिना इच्छाके परमार्थवार्ता नहीं बतानी चाहिये। अधिकारसे ऊंची बात बताना ऊसरमें बीज बोना सा होता है]।

जिज्ञासुओंके बीचमें रहनेपर ज्ञानीका कर्तव्य

एष मध्ये बुभुत्सूनां यदा तिष्ठेत् तदा पुनः।
बोधायैषां क्रियाः सर्वा दूषयंस्त्यजतु स्वयम् ॥२८६॥

यही विद्वान् जब जिज्ञासुओंमें पहुँचे तब उनको बोध करा देनेके लिये सब क्रियाओंको दूषित करते हुए स्वयं भी उन सब क्रियाओंको त्याग दे। [उनसे भी त्याग करादे। क्रियाओंमें जो गुप्त अनन्त दोष भरे पड़े हैं, उन्हें उनका मर्म समझाकर, इस कर्म और भोगके दुःखदायी अनन्त चक्रमेंसे उनका भी उद्धार करले]।

अविद्वदनुसारेण वृत्ति र्बुद्धस्य युज्यते।
स्तनन्धयानुसारेण वर्तते तत्पिता यतः ॥२८७॥

ज्ञानी लोगोंका बर्ताव अज्ञानियोंके अनुसार होना चाहिये। देखते हैं कि स्तनपायी बच्चोंके मातापिता उन्हींके अनुकूल बर्ताव किया करते हैं।

अधिक्षिप्तस्ताडितो वा बालेन स्वपिता तदा।
न क्लिश्नाति न कुप्येत बालं प्रत्युत लालयेत् ॥२८८॥

देखा जाता है कि जब बच्चा पिताको भला बुरा कहता या मार बैठता है तब भी उसका पिता न तो क्लेश मानता है और न क्रुद्ध होता है प्रत्युत वह उसे प्यार करता है।

निन्दितः स्तूयमानो वा विद्वानज्ञैर्न निन्दति।
न स्तौति किन्तु तेषां स्याद् यथा बोधस्तथा चरेत् ॥२८९॥

विद्वान् अज्ञानी पुरुषोंसे निन्दा या स्तुति पाकर इसके उत्तरमें उनकी निन्दा या स्तुति नहीं करता। किन्तु इन अज्ञानियों को जैसे बोध होसके वैसा प्रयत्न करता है।

येनायं नटनेनात्र बुध्यते कार्यमेव तत्।
अज्ञप्रबोधान्नैवान्यत् कार्यमस्त्यत्र तद्विदः ॥२६०॥

[विद्वान्के] जिस जिस प्रकारके आचरणसे इसे ज्ञान होजाय, ज्ञानी वही वही आचरण करे। ज्ञानीका अज्ञानियोंको बोध करानेके अतिरिक्त और कुछ कर्तव्य नहीं है। [इस कारण ज्ञानीको उनका अनुसरण करकरके उन्हें तत्वबोध कराना चाहिये। अज्ञानीकी भांति सब कुछ करने लगना इष्ट नहीं है।]

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥२६१॥

पहले तो यह विद्वान् कृतकृत्यतासे तृप्त होकर, फिर [आगे कही विधिसे] प्राप्तप्राप्तव्य होनेसे तृप्त होताहुआ, अपने मनमें सदा यह सोचा करता है—

धन्योऽहं धन्योहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि।
धन्योहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥२६२॥

मैं कृतार्थ हूं। क्योंकि मैं निरन्तर अपने आत्मतत्वको साक्षात् जान गया। [मुझे आत्माको समझलेनेका परमहर्ष है] मैं कृतार्थ हूं क्योंकि अब मुझे ब्रह्मनामका आनन्द स्पष्ट प्रतीत होनेलगा। [मुझे आत्मज्ञानके फल मिलनेका परमहर्ष है। मुझे मेरा सम्पूर्ण इष्ट मिल चुका।]

धन्योहं धन्योहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य।
धन्योहं धन्योहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥२६३॥

मैं कृतार्थ होगया क्योंकि आज मुझे सांसारिक दुःख या दुःख-स्वरूपसंसार नहीं दीखता। [मैं अनिष्टकी निवृत्ति होजानेसे धन्य होगया हूं।] मैं कृतार्थ हूं क्योंकि आज मेरा अज्ञान [अनेक कर्मोंकी वासनाओं का पुञ्ज] न जाने कहां भागगया ? [मेरा दुःखकी प्रतीतिका कारण भी जाता रहा।]

धन्योहं धन्योहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित्।
धन्योहं धन्योहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम् ॥२६४॥

मैं धन्य हूं, आज मुझे कुछ कर्तव्य नहीं रहा। मैं धन्य हूँ क्योंकि जो मुझे प्राप्तव्य था वह सब आज मिल चुका। [इस श्लोकमें अज्ञान निवृत्तिके कृतकृत्यता तथा प्राप्तप्राप्यतारूपी फल दिखाये हैं।]

धन्योहं धन्योहं तृप्तिर्मे कोपमा भवेल्लोके।
धन्योहं धन्योहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥२६५॥

मैं धन्य हूं। आज मेरे समान तृप्त किसको है ? इससे अधिक और क्या कहूं ? कि मैं धन्य हूं, मैं धन्य हूं, मैं बार बार धन्य हूं [मुझे अब सर्वदा सर्वत्र तुष्टि ही तुष्टि दिखाई देरही है।]

अहो पुण्य महो पुण्यं फलितं फलितं दृढम्।
अस्य पुण्यस्य संपत्ते रहो वयमहो वयम् ॥२६६॥

यह बड़ी प्रसन्नताका अवसर है कि मेरे अनन्त कोटि जन्मोंके अनन्त पुण्य आज निश्चय ही फलरूपमें आगये। आज मैं पुण्योंकी इस राशिके प्रतापसे आनन्दसागरकी लहरोंमें हिलोरे लेरहा हूं। आज मेरे पुण्योंके प्रतापसे यह सारा संसार मुझे संतोष ही संतोष देता दीख पड़रहा है।

अहो शास्त्र महोशास्त्र महो गुरु रहो गुरुः।
अहो ज्ञान महो ज्ञान महो सुखमहो सुखम् ॥२६७॥

आज मुझे उन शास्त्रों और उन गुरुओंको स्मरण करके बड़ा हर्ष होरहा है, जिनके प्रतापसे मेरी हृदयकी ग्रन्थि खुली है। मैं जिस ज्ञानके प्रतापसे इस हर्षातिरेकमें आया हूँ और आनन्दित होरहा हूं उस ज्ञान और उस सुखकी महिमाका क्या वर्णन करूं?

ग्रन्थाभ्यासका फल

तृप्तिदीपमिमं नित्यं येऽनुसन्दधते बुधाः ।
ब्रह्मानन्दे निमज्जन्तस्ते तृप्यन्ति निरन्तरम् ॥२९८॥

जो बुध लोग इस तृप्तिदीपनामके प्रकरणका नित्य विचार करेंगे वे ब्रह्मानन्दमें निमग्न होकर सदा तृप्त रहने लगेंगे।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितं तृप्तिदीपप्रकरणं समाप्तम् ।

कूटस्थदीपप्रकरणम् ८

मुमुक्षुको मोक्षका साधन ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान तब ही प्राप्त होगा जब वह त्वंपदके अर्थ जीवात्माको पूरा पूरा पहचानचुकेगा। उसी त्वंपदार्थका शोध करनेकेलिये कूटस्थदीप नामक प्रकरण प्रारम्भ किया जारहा है। त्वं पदके लक्ष्य कूटस्थ तथा त्वंपदके वाच्य जीवका भेद दिखाया जारहा है:-

देहावभासक दो चैतन्य

स्वादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत् ।
कूटस्थभासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते ॥१॥

आकाशस्थ सूरजसे दीपित भित्तिपर पड़ीहुई दर्पणके सूरजकी [दूसरी] दीप्तिके तुल्य [पहले] कूटस्थ [अविकारिचैतन्य] से भासित यह देह [फिर दुबारा] बुद्धिस्थचिदाभाससे भासित हुआ करता है।

जो भित्ति अभी तक सूर्यके प्रकाशसे सामान्यतया प्रकाशित होरही थी, जैसे दर्पणपर पड़ी हुई सूर्यकी रश्मि फिर उसी भित्तिको विशेषतया प्रकाशित किया करती है, इसी प्रकार निर्विकार चैतन्यने इस देहको [संसारके समस्त देहोंके समान] सामान्यतया प्रकाशित कर रक्खा है, उसे ही यह बुद्धिस्थ चिदाभास फिर दुबारा विशेषरूपसे [अहंग्रहके रूप से] प्रकाशित किया करता है। यों भित्तिभासक दो सौर प्रकाशोंके समान देहको सामान्य तथा विशेष दो प्रकारसे प्रकाशित करनेवाले दो चैतन्य हैं। एक सामान्य चेतन दूसरा विशेष चे.न। कूटस्थ सामान्य चैतन्य है और चिदाभास विशेष चेतन है।

अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां बहुसन्धिषु।
इतरा व्यज्यते, तासामभावेऽपि प्रकाशते ॥२॥

[भित्तिपर पड़े हुये अनेक दर्पणोंके आदित्योंके आभासों [दीप्तियों] की बहुतसी सन्धियों [बहुतसे विचालों] में दूसरी दीप्ति [सामान्यप्रभारूपी सूर्यदीप्ति] स्पष्ट दीखाकरती है। वह [सामान्यप्रभारूपी सूर्यदीप्ति] उन [दर्पणदीप्तियों] के न होनेपर भी [भीतको] प्रकाशित करती रहती है या स्वयं सर्वत्र प्रकाशित रहती है।

चिदाभासविशिष्टानां तथानेकधियामसौ।
सन्धिं धियामभावं च भासयन् प्रविविच्यताम् ॥३॥

(तथा चिदाभासविशिष्टानाम् अनेकधियां सन्धिं धियाम् अभावं च भासयन् असौ कूटस्थः प्रविविच्यताम्) [ऊपर कहे हुये दृष्टान्तके अनुसार जाग्रत तथा स्वप्नमें तो] चिदाभासयुक्त अनेक बुद्धियों [बुद्धि-वृत्तियों] को तथा उनके सन्धिकालको प्रकाशित करनेवाले तथा [सुषुप्ति के समय] उन बुद्धियोंके अभावको प्रकाशित करनेवाले, इस कूटस्थको [उन बुद्धियोंसे] पृथक् जानलेना चाहिए।

जाग्रत् तथा स्वप्नके समय एक वृत्ति नष्ट होती है, दूसरी उत्पन्न होती है। उस समय वृत्तियोंकी अनेक संधि बनती रहती है। इन

संधियोंको जो कोई तत्व प्रकाशित करता है, वही कूटस्थचैतन्य है। सुषुप्तिके समय जब कोई बुद्धिवृत्ति नहीं रहती, तब वृत्तियोंके अभावको जो कोई तत्त्व प्रकाशित करता है, वही कूटस्थ चैतन्य है। वह इन बुद्धि-वृत्तियोंसे और इनके अभावोंसे सर्वथा भिन्न है। यों उस कूटस्थ तत्व का विवेक करलेना चाहिये।

देहसे बाहर चिदाभास तथा ब्रह्मका विभाग

घटैकाकारधीस्था चिद् घटमेवावभासयेत्।
घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासते ॥४॥

किसी अकेले घटके आकारकेसे आकारवाली बुद्धिमें स्थित चित् [चिदाभास उस अकेले] घटको ही प्रकाशित करपाती है [अर्थात् उसमें ज्ञातता उत्पन्न करपाती है। ज्ञातता उत्पन्न करना बुद्धिका काम है] परन्तु उस घटमें जो ज्ञातता नामका धर्म आता है [जिस धर्मके सहारे से 'घटको जानलिया' यह व्यवहार होता है] उसको तो [घटकी कल्पना का अधिष्ठान] ब्रह्मचैतन्य प्रकाशित किया करता है [अर्थात् ज्ञातताको प्रकाशित करना ब्रह्मका काम है। यों देहसे बाहर चिदाभास और ब्रह्म के पृथक् पृथक् क्षेत्रको समझ लेना चाहिये कि कौन कहां किस उपयोग में आता है ?]

बुद्धिसे ज्ञातता आदि भेद

अज्ञातत्वेन ज्ञातोयं घटो बुद्ध्युदयात् पुरा।
ब्रह्मणैवोपरिष्टात्तु ज्ञातत्वेनेत्यसौ भिदा ॥५॥

(बुद्ध्युदयात् पुरा अयं घटः ब्रह्मणा एव अज्ञातत्वेन ज्ञातः) बुद्धि [घटबुद्धि] उत्पन्न होनेसे पहले तो यह घट ब्रह्मसे ही अज्ञातरूपसे ज्ञात [प्रकाशित] था [इसी कारण यह अनुभव होता है कि मैं घटको नहीं जानता अर्थात् उस उसके अज्ञात आकारसे जानता हूं]। (उपरिष्टात् तु ज्ञातत्वेन अपि ब्रह्मणा एव ज्ञातः इति असौ भिदा) बुद्धिकी उत्पत्ति होजानेपर तो यह उसी ब्रह्मसे ज्ञातरूपसे प्रकाशित होनेलगा, बस

केवल इतना भेद है [ऐसी अवस्थामें यह शंका निर्मूल होजाती है कि ज्ञातताको भासित करनेवाले चैतन्यसे ही घटकी भी प्रतीति होसकती है। बुद्धिकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि ज्ञातता तथा अज्ञाततारूपी भेदोंकी सिद्धिके लिये कि अमुक वस्तु ज्ञात है और अमुक अज्ञात है बुद्धिकी भी आवश्यकता है।] ब्रह्मका काम दोनोंको प्रकाशित करना है। कोई पदार्थ जानलिया या कोई नहीं जाना इसपर प्रकाश डालना ब्रह्मका काम है। बुद्धिका काम पदार्थमें ज्ञातता उत्पन्न करने तक सीमित है।

ज्ञातता अज्ञातताके निमित्त ज्ञानअज्ञानके स्वरूप

चिदाभासान्तधीवृत्तिर्ज्ञानं लोहान्तकुन्तवत्।
जाड्यमज्ञानमेताभ्यां व्याप्तः कुम्भो द्विधोच्यते ॥६॥

(लोहान्तकुन्तवत् चिदाभासान्तधीवृत्तिः ज्ञानम् इति उच्यते) [इस श्लोकमें 'ज्ञातता' और 'अज्ञातता' करानेवाले 'ज्ञान' और 'अज्ञान' का स्वरूप बतायागया है] भालेकी नोकपर लगे लोहेके समान अपने अग्रभागमें चित्प्रतिबिम्ब रखनेवाली बुद्धिवृत्ति "ज्ञान" कहाती है। (जाड्यम् अज्ञानम् उच्येते) जाड्य [स्वतः स्फूर्तिका न होना] 'अज्ञान' कहाता है। (एताभ्यां व्याप्तः कुम्भः द्विधा उच्यते) इन दोनोंसे पर्यायसे व्याप्त कुम्भ दो प्रकारसे कहाता है। जब कोई कुम्भ ज्ञानसे व्याप्त होता है तब उसे 'ज्ञातकुम्भ' कहते हैं। जब कोई कुम्भ अज्ञानसे व्याप्त हुआ रहता है तब उसको 'अज्ञातकुम्भ' कहा जाता है]।

अज्ञातो ब्रह्मणा भास्यो ज्ञातः कुम्भ स्तथा न किम्।
ज्ञातत्वजननेनैव चिदाभासपरिक्षयः ॥७॥

(यथा अज्ञातः कुम्भः ब्रह्मणा भास्यः तथा किं ज्ञातः कुम्भः ब्रह्मणा-भास्यः न) जैसे अज्ञात कुम्भ ब्रह्मसे भास्य है, क्या ऐसे ज्ञातकुम्भ ब्रह्मसे भास्य नहीं है ? [जैसे अज्ञातताको उत्पन्न करके अज्ञान या जाड्य उपक्षीण होजाता है इसीप्रकार] ज्ञातताको उत्पन्न करके चिदाभास

[ज्ञान] भी क्षीण होजाता है, [उसके पश्चात् उसका कोई उपयोग नहीं रहता, फिर अज्ञातकुम्भकी भांति ज्ञातकुम्भ भी ब्रह्मसे ही भास्य होता है यह जानना चाहिये ।]

आभासहीनया बुद्ध्या ज्ञातत्वं नैव जन्यते ।
तादृग्बुद्धेर्विशेषः को मृदादेः स्याद् विकारिणः ॥८॥

आभाससे हीन बुद्धिसे ज्ञातता उत्पन्न नहीं होती । बताओ कि वैसी [आभासहीन] बुद्धिमें विकारशील मिट्टी पत्थरसे क्या भेद रहा है ? [इसलिये चिदाभासको निरर्थक मत समझो । ज्ञातता उत्पन्न करना चिदाभासहीन अकेली बुद्धिके बसका काम नहीं है । चिदाभासहीन बुद्धिके अप्रकाशरूप होनेसे उससे ज्ञातताकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी ।]

ज्ञात इत्युच्यते कुम्भो मृदा लिप्तो न कुत्रचित् ।
धीमात्रव्याप्तकुम्भस्य ज्ञातत्वं नेष्यते तथा ॥९॥

(यथा लोके कुत्रचित् अपि घटः मृदा लिप्तः ज्ञातः इति न उच्यते) जैसे लोकमें कहीं भी घट मिट्टीसे आच्छादित होनेपर ज्ञात नहीं कहाता (तथा धीमात्रव्याप्तस्य अपि कुम्भस्य ज्ञातत्वं न इष्यते) इसीप्रकार धीमात्र से अर्थात् चिदाभासरहित बुद्धिसे व्याप्त भी कुम्भको कोई 'ज्ञातकुम्भ' नहीं मानता ।

ज्ञातत्वं नाम कुम्भेऽतश्चिदाभासफलोदयः ।
न फलं ब्रह्मचैतन्यं मानात् प्रागपि सत्वतः ॥१०॥

[क्योंकि केवल बुद्धि ज्ञातताको उत्पन्न नहीं कर सकती] (अतः कुम्भे चिदाभासफलोदयः ज्ञातत्वं नाम) इस कारण कुम्भमें चिदाभास रूपी फलका उदय होजाना ही 'ज्ञातता' कहाती है । (ब्रह्मचैतन्यं फलं न) [ब्रह्मचैतन्यको ही फल मानलें और [चिदाभासको हटादें] यह ठीक नहीं । क्योंकि ब्रह्मचैतन्यको फल [अर्थात् घटादिका स्फुरण] नहीं कह सकते । (मानात् प्राक् अपि सत्वतः) [इसका कारण यह है कि] ब्रह्म-

चैतन्य प्रमाणोंकी प्रवृत्तिसे पहलेसे विद्यमान रहता है। [प्रमाणोंका फल तो उसे कहना चाहिये जो प्रमाणों के पीछे होता हो। फलका प्रमाणोत्तरकालीन होना आवश्यक है।]

बात यह है कि जिसे अनुभव या स्फूर्ति या प्रतीति कहते हैं, वह अजर अमर अखण्ड और एकरस आत्मा है। वह अनादिकालसे ऐसा ही है, और ऐसी ही रहेगा। परन्तु हम देहाभिमानी विचारदरिद्र लोगों को इस अखण्ड अनन्त सदातन स्फूर्तिका ध्यान सर्वथा नहीं है। अब जब कभी किसी पदार्थमें बुद्धिकी सहायतासे ज्ञातता नामका धर्म उत्पन्न होता है, तब ही हम उसे पदार्थकी स्फूर्ति होना मान लेते हैं और समझते हैं स्फूर्ति पैदा हुई। वास्तवमें देखा जाय तो वहां जो स्फूर्ति है वह पैदा नहीं हुई किन्तु वह सदातन ब्रह्मचैतन्य है। जो पदार्थ ज्ञातता उत्पन्न होनेके कारण उस अखण्ड सनातन स्फूर्तिके लपेटेमें आजाता है वह प्रतीत सा होने लगता है। तत्त्वविचारसे ज्ञात होता है कि यह प्रतीति प्रमाणोंसे पैदा नहीं होती। प्रमाणोंसे तो पदार्थोंमें चिदाभासरूपी फलका उदय होता है। चिदाभासरूपी फल पैदा होजाना ही घटका जान लिया जाना होता है।

वेदान्तमेय अर्थ

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता।
संवित्, सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥११॥
इति वार्तिककारेण चित्साहश्यं विवक्षितम्।
ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः साहस्र्यां विश्रुतो यतः ॥१२॥

(परागर्थप्रमेयेषु फलत्वेन सम्मता या संवित् अस्ति) जब कोई बाह्य घट आदि पदार्थ प्रमाणोंके विषय बना करते हैं उस समय जो संवित् [ज्ञान] प्रमाणफल मानीजाती है। (सा एव इह वेदान्तोक्तिप्रमाणतः मेयः अर्थः) वही संवित् इस वेदान्तशास्त्रमें वेदान्तवाक्यरूपी प्रमाणोंसे जाननेयोग्य पदार्थ है।

(इतिवार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम्) इस श्लोकमें वार्तिककार [सुरेश्वराचार्य] ने चित्सादृश्यकी विवक्षा की है [उन्होंने ब्रह्मचैतन्य के सदृश चिदाभासको प्रमाणोंका फल कहना चाहा है। उन्होंने ब्रह्मचैतन्यको फल कहना नहीं चाहा।] (यतः साहस्र्यां ब्रह्मचित्फलयोः भेदः विश्रुतः) क्योंकि [वार्तिककारके गुरु श्रीमच्छंकराचार्यकी] उपदेशसाहस्रीमें ब्रह्मचैतन्य तथा ब्रह्मचैतन्यके फल [चिदाभास] को भिन्न भिन्न सुनागया है।

आभास उदित स्तस्माज्ज्ञातत्वं जनयेद् घटे ।
तत् पुनर्ब्रह्मणा भास्य मज्ञातत्ववदेव हि ॥१३॥

प्रकृत बात यह हुई कि (यस्मात् ब्रह्मचित्फलयोः भेदः प्रसिद्धः) क्योंकि ब्रह्मचित् तथा चिदाभासका भेद सिद्ध होचुका, (तस्मात् उदितः आभासः तत्र घटे ज्ञातत्वं जनयेत्) इसलिये उदित [उत्पन्न] आभास [चिदाभास] घटमें ज्ञातताको उत्पन्न किया करता है। (तत् पुनः अज्ञातत्ववत् ब्रह्मणा एव भास्यं भवति हि) फिर वह ज्ञातता, अज्ञातताकी भांति, ब्रह्मसे ही भास्य होती है, यह बात प्रसिद्ध है।

धीवृत्त्याभासकुम्भानां समूहो भास्यते चिता ।
कुम्भमात्रफलत्वात् स एक आभासतः स्फुरेत् ॥१४॥

धीवृत्ति, चिदाभास तथा कुम्भ इनका समूह अर्थात् ये सब ब्रह्मचैतन्यसे प्रकाशित होते हैं। (चिदाभासस्य कुम्भमात्रफलत्वात् आभासतः [तेन आभासेन] सः कुम्भः एकः एव स्फुरेत्) क्योंकि चिदाभास केवल अकेले कुम्भमें रहनेवाला एक फल है इस कारण उस चिदाभाससे वह घट ही घट अकेला भाससकता है [यों ब्रह्मचैतन्यका तथा चिदाभासका विषयभेद भी है। बुद्धिवृत्ति, चिदाभास तथा कुम्भ ये तीनों ब्रह्मचैतन्य के विषय हैं और घट अकेला चिदाभासका विषय है।]

चैतन्यं द्विगुणं कुम्भे ज्ञातत्वेन स्फुरत्यतः ।
अन्येऽनुव्यवसायाख्य माहुरेतद् यथोदितम् ॥ १५॥

[अतः कुम्भे ज्ञातत्वेन द्विगुणं चैतन्यं स्फुरति) [क्योंकि घट, चिदाभास और ब्रह्मचैतन्य दोनोंसे भास्य होता है] इस कारण घटमें ज्ञातता उत्पन्न होते ही उसमें दुगना चैतन्य प्रतीत होने लगता है। (अन्ये यथोदितम् एतत् एव अनुव्यवसायाख्यं ज्ञानान्तरम् आहुः) दूसरे तार्किक लोग ऊपर बताये हुए इसी घटकी ज्ञातताके भासक ब्रह्मचैतन्यको अनुव्यवसायनामका दूसरा ज्ञान कह देते हैं। [उन्होंने इसीका दूसरा नामकरण करलिया है]।

घटोऽयमित्यसावुक्ति राभासस्य प्रसादतः ।
विज्ञातो घट इत्युक्ति र्ब्रह्मानुग्रहतो भवेत् ॥१६॥

'यह घट है' यह कथन चिदाभासकी सहायतासे होता है। तथा 'घटको जान लिया' यह कथन ब्रह्मके अनुग्रहसे हुआ करता है। [यों व्यवहारोंके भेदसे भी चिदाभास और ब्रह्मका भेद जानलेना चाहिये]

देहके भीतर आभास तथा कूटस्थका विवेक

आभासब्रह्मणी देहाद् बहिर्यद्वद् विवेचिते ।
तद्वदाभासकूटस्थौ विविच्येतां वपुष्यपि ॥१७॥

जैसे यहां तक देहके बाहर [घटआदिमें] चिदाभास और ब्रह्मका विवेक किया, (तद्वत् वपुषि अपि आभासकूटस्थौ विविच्येताम्) इसी प्रकार देहके भीतर भी चिदाभास और कूटस्थका विवेक करलेना चाहये।

अहंवृत्तौ चिदाभासः कामक्रोधादिकासु च ।
संव्याप्य वर्तते, तप्ते लोहे वन्हिर्यथा तथा ॥१८॥

(यथा तप्ते लोहे वन्हिः तथा चिदाभासः अहंवृत्तौ कामक्रोधादिकासु च संव्याप्य वर्तते) जैसेतपे हुए लोहेमें आग व्याप्त रहती है इसीभांति अहंवृत्तिमें और कामक्रोधादि वृत्तियोंमें चिदाभास व्याप्त रहता है।

स्वमात्रं भासयेत् तप्तं लोहं नान्यत् कदाचन ।
एवमाभाससहिता वृत्तयः स्वस्वभासिकाः ॥१९॥

(यथा तप्तं लोहं स्वमात्रं भासयेत् अन्यत् कदाचन न) जैसे तपकर लाल हुआ लोहा केवल अपने आपको प्रकाशित करता है। उसमें अन्य किसी वस्तुको प्रकाशित करनेका सामर्थ्य नहीं होता। इसीप्रकार, आभाससे युक्त वृत्तियां भी केवल अपनी भासक होती हैं दूसरेकी नहीं।

क्रमाद् विच्छिद्य विच्छिद्य जायन्ते वृत्तयोऽखिलाः ।
सर्वा अपि विलीयन्ते सुप्तिमूर्छासमाधिषु ॥२०॥

समस्त वृत्तियां क्रमसे रुक रुक कर पैदा हुआ करती हैं। [जब एक वृत्ति नष्ट होजाती है तब दूसरी वृत्तिका उदय होता है। इसीप्रकार तीसरी और चौथी आदि वृत्तियोंकी उत्पत्तिको समझना चाहिये]। वे सब वृत्तियां सुप्ति मूर्छा और समाधिके समय विलीन होजाती हैं। [सुषुप्ति मूर्छा तथा समाधिकालमें वृत्तियां नहीं रहतीं]

कूटस्थका स्वरूप

सन्धयोऽखिलवृत्तीना मभावाश्चावभासिताः ।
निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते ॥२१॥

जिस निर्विकार चैतन्यसे सब वृत्तियोंकी सन्धियां [जब एक वृत्ति नष्ट होकर दूसरी उत्पन्न होनेको होती है] तथा सब वृत्तियोंके अभाव [जब कोई वृत्ति नहीं रहती] प्रकाशित [ज्ञात] होते हैं, उसको कूटस्थ कहाजाता है। [कूटस्थका ज्ञान वृत्यभावके साक्षीके रूपमें संभव है]

घटे द्विगुणचैतन्यं यथा बाह्ये तथान्तरे ।
वृत्तिष्वपि, ततस्तत्र वैशद्यं सन्धितोऽखिलम् ॥२२॥

(यथा बाह्ये घटे द्विगुणचैतन्यं तथा आन्तरे वृत्तिषु अपि द्विगुण चैतन्यम् अस्ति) जैसे बाह्य घटमें दुगना चैतन्य [एक तो घटमात्रका

भासक चिदाभास तथा दूसरा घटकी ज्ञातताका भासक ब्रह्मचैतन्य] होता है, इसीप्रकार भीतरकी अहंकारादि वृत्तियोंमें भी दुगना चैतन्य [एक कूटस्थ चैतन्य, दूसरा केवल वृत्तियोंका भासक चिदाभास] होता है। (ततः संधितः तत्र वैशद्यम् दृश्यते) दुगना चैतन्य होनेके कारण संधियों से वृत्तियोंमें स्पष्टता अधिक पायीजाती है। [सन्धियोंमें चैतन्यकी इतनी विशदता नहीं होती, जितनी इन वृत्तियोंमें होती है। क्योंकि वृत्तियोंमें दुगना चैतन्य होता है।]

ज्ञातताज्ञातते न स्तो घटवद् वृत्तिषु क्वचित् ।
स्वस्य स्वेनागृहीतत्वात् ताभिश्चाज्ञाननाशनात् ॥२३॥

जैसे घटमें ज्ञातता और अज्ञातता होती है, वैसे वृत्तियोंमें ज्ञातता और अज्ञातता कभी नहीं होतीं। क्योंकि एक तो अपना आपा अपने आपसे गृहीत नहीं हुआ करता दूसरे उन [वृत्तियोंके उत्पन्न होते ही उन] से अज्ञानका नाश होजाया करता है। [भाव यह है कि ज्ञान की व्याप्तिसे ज्ञातता और अज्ञानकी व्याप्तिसे अज्ञातता होती है। वृत्तियां क्योंकि स्वयंप्रकाश होती हैं, इस कारण उनमें ज्ञानकी व्याप्ति नहीं होती और 'ज्ञातता' भी नहीं आती। वे वृत्तियां जब उत्पन्न होती हैं तब वे उत्पन्न होते ही स्वविषयक अज्ञानको हटा देती हैं। यों वृत्तियोंमें अज्ञान की व्याप्ति भी नहीं रहती और 'अज्ञातता' भी नहीं आती। वृत्तियोंमें ज्ञातता तथा अज्ञातता न रहनेसे कूटस्थको वृत्तिसंबन्धी ज्ञातता और अज्ञातताका भासक नहीं माना जाता।]

कूटस्थ अकूटस्थ चैतन्यकी पहचान

द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः ।
अकूटस्थं तदन्यत्तु कूटस्थमविकारतः ॥२४॥

(द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः चिदाभासनामकं चैतन्यम् अकूटस्थम्) सार यह है कि उस दुगने चैतन्यमें [उन दो कूटस्थ तथा

चिदाभासनामक चैतन्योंमेंसे] जिस [चिदाभासनामक चैतन्य] के जन्म नाश होते हुए प्रतीत होरहे हैं, उसे 'अकूटस्थ' मानना चाहिये। (तदन्यत् तु अविकारतः कूटस्थम्) उससे भिन्न दूसरा चैतन्य तो अविकारी होनेसे [उसके विकारी होनेका कोई प्रमाण न मिलनेसे] कूटस्थ है।

अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा ।
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः ॥२५॥

'अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षी चैतन्यविग्रहः । आनन्दरूपः सत्यः सन् किं नात्मानं प्रपद्यसे' इत्यादि श्लोकोंमें अनेक स्थानोंपर पूर्वाचार्योंने [चिदाभाससे भिन्न] कूटस्थका ही उत्पादन किया है। [यह कूटस्थ हमारा कपोलकल्पित नहीं है]।

आत्माभासाश्रयाश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा ।
गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिभ्यामित्याभासश्च वर्णितः ॥२६॥

जैसे (१) मुख (२) मुखाभास तथा (३) उसका आश्रय [अर्थात दर्पण] ये तीन पदार्थ प्रत्यक्ष दीखते हैं इसीप्रकार (१) कूटस्थ आत्मा (२) आभास तथा (३) उसका आश्रय अन्तःकरण आदि तीन पदार्थ शास्त्र और युक्तिसे जाने जाते हैं। (इति आभासः च वर्णितः) यहां जो आभासका वर्णन आया है उसका अभिप्राय कूटस्थसे भिन्न चिदाभाससे है ['मनसः साक्षीः बुद्धेः साक्षी' यह शास्त्र बुद्धिके साक्षी कूटस्थका प्रतिपादन करनेवाला है। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (कठ ५-२) यह शास्त्र चिदाभासका प्रतिपादन करता है। इनमेंसे एक [चिदाभास] विकारी है दूसरा [कूटस्थ] अविकारी है यह २४वें श्लोकमें युक्ति देकर बता चुके हैं।]

चिदाभासपर आक्षेप

बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थो लोकान्तरगमागमौ ।
कर्तुं शक्तो घटाकाश इवाभासेन किं वद ॥२७॥

जैसे घटके द्वारा घटाकाश गमनागमन करलेता है, इसी प्रकार बुद्धिसे अवच्छिन्न कूटस्थ ही बुद्धिके द्वारा लोकान्तरका गमनागमन करलेगा। फिर यह बताओ कि तुम इस चिदाभासको क्यों मानते हो ? [पूर्वपक्षी कहना चाहता है कि चिदाभासकी कल्पनामें गौरव है।]

शृणवसङ्गः परिच्छेदमात्राज्जीवो भवेन्न हि।
अन्यथा घटकुड्याद्यै रवच्छिन्नस्य जीवता ॥२८॥

इसका उत्तर सुनो, कि केवल परिच्छेद होजानेसे वह असङ्गतत्व जीव नहीं होजाता। [यदि केवल परिच्छेद होनेसे वह 'जीव' होजाता होता] तब तो घट और भित्ति आदिसे परिच्छिन्न होजानेपर भी वह जीव होगया होता। [जो तुम्हें भी इष्ट नहीं है।]

न कुड्यसदृशी बुद्धिः स्वच्छत्वादिति चेत्तथा।
अस्तु नाम परिच्छेदे किं स्वाच्छ्येन भवेत्तव ॥२९॥

यदि यह कहो कि स्वच्छ होनेके कारण बुद्धि भित्तिके समान नहीं है, [इस कारण बुद्धि परिच्छेद करसकती है, भित्ति नहीं कर सकती सो यह कथन निःसार है] क्योंकि बुद्धि स्वच्छ है तो हुआ करे। तुम्हारे मतमें स्वच्छताका क्या उपयोग होगा सो बताओ ?

प्रस्थेन दारुजन्येन कांस्यजन्येन वा न हि।
विक्रेतुस्तण्डुलादीनां परिमाणं विशिष्यते ॥३०॥

(दारुजन्येन कांस्यजन्येन वा प्रस्थेन विक्रेतुः तण्डुलादीनां परिमाणं न विशिष्यते) लकड़ी या कांसेके बने स्वच्छ प्रस्थनामक पैमाने [की अस्वच्छता या स्वच्छता] से बेचनेवालेके तण्डुल आदिके परिमाणोंमें कोई विशेषता [न्यूनाधिक भाव] नहीं आती।

परिमाणाविशेषेऽपि प्रतिबिम्बो विशिष्यते।
कांस्ये यदि, तदा बुद्धावप्याभासो भवेद् बलात् ॥३१॥

(कांस्ये परिमाणाविशेषे अपि प्रतिबिम्बः विशिष्यते इत्युच्येत)

यदि कांसेके बने प्रस्थमें [नापनेपर यद्यपि चावलोंके] परिमाणके समान रहनेपर भी उसमें चावलोंका प्रतिबिम्ब पड़नारूपी विशेषता रहती है। [यही उसमें लकड़ीके प्रस्थसे विशेषता होती है] (तदा बुद्धौ अपि बलात् आभासः भवेत्) ऐसा यदि कहाजायगा तो हम कहेंगे कि तब तो बुद्धिमें भी आभास पड़ेगा ही [तब तुम्हें स्वच्छ होनेसे बुद्धिमें भी आभास मानना पड़ेगा। बात यह है कि बुद्धिके स्वच्छ होनेसे उसमें आभास पड़जाता है। काष्ठ आदिके अस्वच्छ [प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेमें अयोग्य] होनेसे उनमें चेतनका आभास नहीं पड़ता।]

बिम्ब और आभास पर्यायवाची शब्द

ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिम्बस्तथाविधः।
बिम्बलक्षणहीनः सन् बिम्बवद् भासते हि सः ॥३२॥

थोड़े भासको 'आभास' कहते हैं, वैसा ही प्रतिबिम्ब भी होता है। वह [प्रतिबिम्ब] बिम्बके लक्षणसे हीन होनेपर भी बिम्बकी भांति भासा करता है। [यों 'आभास' और 'प्रतिबिम्ब' एकार्थक दो शब्द होजाते हैं।]

ससङ्गत्वविकाराभ्यां बिम्बलक्षणहीनता।
स्फूर्तिरूपत्वमेतस्य बिम्बवद् भासनं विदुः ॥३२॥

चिदाभासके असङ्ग और विकारयुक्त होनेसे यह बिम्बके [असङ्गता और अविकारितारूपी] लक्षणोंसे हीन है, परन्तु इस चिदाभासका स्फूर्तिरूप होना इसका बिम्बकी भांति भासना कहाता है। [जैसे हेतुके लक्षणोंसे रहित हो और हेतुकी भांति भासता हो तो उसे हेत्वाभास कहते हैं, ऐसे ही बिम्बके लक्षणोंसे रहित हो और बिम्बकी नाईं भासता हो, उसे 'आभास' कहाजाता है।]

न हि धीभावभावित्वादाभासोऽस्ति धियः पृथक्।
इति चेदल्पमेवोक्तं धीरप्येवं स्वदेहतः ॥३४॥

जैसे मिट्टीके होनेपर ही उत्पन्न होनेवाला घट, मिट्टीसे भिन्न नहीं होता] इसी प्रकार (आभासः धीभावभावित्वात् धियः पृथक् न हि अस्ति) चिदाभास बुद्धिके होनेपर ही होनेवाला होनेसे, बुद्धिसे पृथक् नहीं होता, (इति चेत् अल्पम् उक्तम्) ऐसा यदि कहो तो हम कहेंगे कि यह तो तुमने बहुत ही थोड़ा कहा (एवं तु धीः अपि स्वदेहतः पृथक् न सिद्ध्येत्) इस प्रकार तो बुद्धि भी देहसे भिन्न सिद्ध नहीं हो सकेगी [क्योंकि बुद्धि देहके होनेपर ही रहती है देहके न रहनेपर नहीं रहती]।

आभासकी बुद्धिसे पृथक्ता

देहे मृतेऽपि बुद्धिश्चेच्छास्त्रादस्ति तथासति ।
बुद्धे रन्यश्चिदाभासः प्रवेशश्रुतिषु श्रुतः ॥३५

यदि कहो कि देहके मरजानेपर भी 'सविज्ञानो भवति' इस शास्त्र प्रमाणसे बुद्धि रहती है, तो हम कहेंगे कि (प्रवेशश्रुतिषु चिदाभासः बुद्धेः अन्यः श्रुतः) प्रवेशश्रुतियोंमें बुद्धिसे अन्य चिदाभासका कथन है [जो तुम श्रुतिके बलसे देहसे भिन्न बुद्धिको मानते हो, वह तुम प्रवेशश्रुतियोंके बलसे बुद्धिसे भिन्न चिदाभासको क्यों नहीं मानलेते ?]

धीयुक्तस्य प्रवेशश्चेन्नैतरेये धियः पृथक् ।
आत्मा प्रवेशं संकल्प्य प्रविष्ट इति गीयते ॥३६॥

यदि यह कहाजाय कि वह बुद्धिसे युक्त ही प्रवेश करता है, सो यह ठीक नहीं। क्योंकि ऐतरेयमें ऐसा कहा है कि बुद्धिसे अतिरिक्त आत्माने पहले [बुद्धिमें] प्रवेशका संकल्प किया और फिर उसमें प्रविष्ट होगया। ऐसी अवस्थामें बुद्धिरूपी उपाधिवाले आत्माका प्रवेश मानना ठीक नहीं। क्योंकि वहां अकेले आत्माके प्रवेशकी बात कही है।

कथंन्विदं साक्षदेहं मद्ते स्यादितीरणात् ।
विदार्य मूर्धसीमानं प्रविष्टः संसरत्ययम् ॥३७॥

उस श्रुतिमें कहा है कि यह परमात्मा इन्द्रिय और देहसहित यह [जड संसार] मुझ [चेतन] को छोड़कर कैसे रहेगा ? [इसका निर्वाह

मुक्त चेतनके विना कैसे होगा ?] यह विचारकर मूर्धसीमाको विदीर्ण करके [तीनों कपालोंके मध्यदेशको अपनी सन्निधिमात्रसे भेदकर] प्रविष्ट होगया और संसारमें फंसा फिरनेलगा । अर्थात् जाग्रत् आदि अवस्थाओंका अनुभव कर रहा है ।

कथं प्रविष्टोऽसङ्गश्चेत् सृष्टिर्वास्य कथं वद ।
मायिकत्वं तयोस्तुल्यं विनाशश्च समस्तयोः ॥३८॥

यदि पूछो कि जब वह असंग है तब वह देहेन्द्रियोंमें प्रविष्ट कैसे होगया ? तो हम पूछेंगे कि फिर उस असंगने सृष्टिरचना कैसे करदी ? [यह आक्षेप सृष्टिरचना में भी समान है] देहेन्द्रियोंकी तथा सृष्टिकी मायिकता भी समान है और इन दोनोंका विनाश भी समान है । [यदि कहो कि मायिक होनेसे सृष्टि रचदी तो हम कहेंगे कि मायिक होनेसे ही वह प्रवेश भी करगया । मायिक होना दोनों बातोंमें समान है । कहो सृष्टि मायिक है तो हम कहेंगे प्रवेश भी मायिक है] ।

समुत्थायैष भूतेभ्यस्तान्येवानुविनश्यति ।
विस्पष्टमिति मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य उवाच हि ॥३९॥

यह [प्रज्ञानघन आत्मा पांच] भूतों [से बने इन देह इन्द्रिय आदि उपाधियों] के सहारेसे उठकर [अर्थात् जीवत्वका अभिमान करके] उन देहादिके नष्ट होनेपर उनके पीछे पीछे, उन्हींके साथ नष्ट हो जाता है [अथवा यों समझो कि उनके नष्ट होजानेपर, उनके कारण उत्पन्न हुए, जीवत्वके अभिमानको छोड़देता है । अर्थात् जब ये देहादि नष्ट होजाते हैं तब फिर उसका जीवत्वका अभिमान भी नहीं रहता] (इति याज्ञवल्क्यः मैत्रेय्यै विस्पष्टम् उवाच हि) इस रीतिसे याज्ञवल्क्यने मैत्रेयी को समझानेकेलिये [सोपाधिकरूपको जिसको हम चिदाभास कहते हैं] स्पष्टरूपसे विनाशी कहा है ।

अविनाश्ययमात्मेति कूटस्थः प्रविवेचितः ।
मात्राऽसंसर्ग इत्येवमसङ्गत्वस्य कीर्तनात् ॥४०॥

'अविनाशी वारेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा' [बृ० ४-५-१४] इस श्रुतिमें कूटस्थको उस [चिदाभास] से भिन्न दर्शाया है । 'मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' [बृ० ४-५-१४] इस श्रुतिमें आत्माकी असंगताका कीर्तन किया है [कि इस आत्माका मात्रा अर्थात् देहादिके साथ संसर्ग कभी भी—देह धारण करनेपर भी—नहीं होपाता [आत्माकी यह असंगता आत्माके अविनाशी होनेके कारणरूपमें कही गई है ।]

जीवापेतं वाव किल शरीरं म्रियते न सः ।
इत्यत्र न विमोक्षोऽर्थः किन्तु लोकान्तरे गतिः ॥४१॥

'जीवापेतं वाव किल शरीरं म्रियते न जीवो म्रियते' [छा० ६-११-३] जीवसे छोड़ा हुआ यह शरीर ही मरा करता है जीव नहीं मरता । इस श्रुतिमें मोक्षका वर्णन नहीं है । इसमें तो लोकान्तरकी गतिका वर्णन है । [इस श्रुतिका मुख्य प्रतिपाद्य विषय देहान्तरप्राप्ति है । जीवके आत्यन्तिक नाशको अस्वीकार करना इसका मुख्य विषय नहीं है ।]

नाहं ब्रह्मेति बुध्येत स विनाशीति चेन्न तत् ।
सामानाधिकरण्यस्य बाधायामपि संभवात् ॥४२॥

(सः जीवः यदि विनाशी अहं ब्रह्म इति न बुध्येत इति चेत् तत् न) प्रश्न यह है कि वह चिदाभास यदि विनाशी है तो फिर वह अपने को यह कैसे जानेगा कि मैं ब्रह्म हूँ ? [क्योंकि विनाशी और अविनाशी की एकताका विरोध है] इसका उत्तर यह है कि समानाधिकरण्य बाधा में भी होता है ।

सामानाधिकरण्य दो प्रकार होता है—एक मुख्य सामानाधिकरण्य, दूसरा बाधसामानाधिकरण्य । सो यहां मुख्य सामानाधिकरण्य

न सही, बाधामें सामानाधिकरण्य तो होसकता है। वह अपने जीवभाव की बाधा करके अपने ब्रह्मभावको समझ सकता है।

योऽयं स्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव ।
ब्रह्मास्मीति धिया शेषाप्यहंबुद्धि र्निवर्त्यते ॥४३॥

(यः अयं स्थाणुः प्रतीयते एषः पुमान् अस्ति अत्र वाक्ये पुंधिया निवृत्तस्थाणुधीः इव) 'यह जो स्थाणु दीख रहा है यह पुरुष है' इस वाक्यमें पुरुषज्ञानसे निवृत्त होजानेवाले स्थाणुज्ञानके समान 'मैं ब्रह्म हूं' इस बुद्धिसे 'मैं कर्ता हूं मैं भोक्ता हूं' इत्यादि समस्त अहंबुद्धि नष्ट हो जाती है। ['पूर्ण अहं' से 'क्षुद्र अहं' मारडालाजाता है]

नैष्कर्म्यसिद्धावप्येवमाचार्यैः स्पष्टमीरितम् ।
सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमतोऽस्तु तत् ॥४४॥

सुरेश्वराचार्यने नैष्कर्म्यसिद्धिमें यह बात स्पष्ट कही है [कि सामानाधिकरण्य बाध करनेकेलिये भी होता है] (अतः अहं ब्रह्मस्मि इति वाक्ये तत् सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वम् अस्तु) इस कारण 'मैं ब्रह्म हूं' इस वाक्यमें जो सामानाधिकरण्य है उसे बाधार्थक सामानाधिकरण्य रहने दो।

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामानाधिकरण्यवत् ।
अहं ब्रह्मेति जीवेन समानाधिकृतिर्भवेत् ॥४५॥

जैसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिमें जगत्के साथ बाधा में भी सामानाधिकरण्य देखा गया है, इसीप्रकार 'अहंब्रह्म' इस वाक्यमें जीवके साथ भी बाधामें सामानाधिकरण्य होसकता है।

सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं निराकृतम् ।
प्रयत्नतो विवरणे कूटस्थस्य विवक्षया ॥४६॥

विवरणाचार्यने अपने विवरणग्रन्थमें जो कि बाधसामानाधिकरण्यका प्रयत्नपूर्वक खण्डन किया है वह तो उन्होंने अहंशब्दका अर्थ कूटस्थ कहना चाहकर किया है [यों उन्होंने कूटस्थकी विवक्षासे सामानाधिकरण्य का खण्डन किया है । उन्होंने आदर्शका दृष्टान्त दिया है कि आदर्शसे प्रतिहत होनेपर लौटी हुई नयनरश्मिका जब स्वमुखसे सन्निकर्ष होता है तब देखनेवाले को प्रतिबिम्बनामकी वस्तु न दीखकर स्वमुख ही दीखता है, दर्पणमें कोई वास्तविक मुख नहीं होता । दार्ष्टान्त अन्तःकरणमें भी प्रतिबिम्ब नामका कोई पदार्थ नहीं है किन्तु ब्रह्मस्वरूप ही है । परन्तु मनुष्य उसीको आत्मा कहते हैं यह मानकर उन्होंने ऐसा कहा है । हमने उसीका नामान्तर रख लिया है । तात्पर्यमें कोई भेद नहीं है ।]

शोधितत्वंपदार्थो यः कूटस्थो ब्रह्मरूपताम् ।
तस्य वक्तुं विवरणे तथोक्त मितरत्र च ॥४७॥

विवरण तथा अन्य ग्रन्थोंमें शोधित त्वंपदार्थवाले कूटस्थकी ब्रह्मरूपता कहनेकेलिये [जिस कूटस्थके त्वंपदार्थका शोध—बुद्धि आदियोंसे विवेक—करलिया गया हो] उसीको ब्रह्मरूप बताने केलिये वैसा [बाधसामानाधिकरण्यको हटाकर मुख्य समानाधिकरण्य] कहा है ।

वेदान्तमें कूटस्थशब्दार्थ

देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य या ।
अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थात्र विवक्षिता ॥४८॥

यहां वेदान्तोंमें देह, इन्द्रिय और मनसे [अर्थात् स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरोंसे] युक्त जीवाभासरूपी भ्रमके अधिष्ठानभूत चैतन्यको 'कूटस्थ' कहा है ।

वेदान्तमें ब्रह्मशब्दार्थ

जगद्भ्रमस्य सर्वस्य यदधिष्ठानमीरितम् ।
त्रय्यन्तेषु, तदत्र स्याद् ब्रह्मशब्दविवक्षितम् ॥४९॥

तथा वेदान्तोंमें जिस चेतनको इस सब जगत्की कल्पनाका अधिष्ठान बताया है, उसीको यहां 'ब्रह्म' शब्दसे कहा है [जीवत्वरूपीभ्रमका अधिष्ठान चेतन तो 'कूटस्थ' है तथा जगद्रूपी भ्रमका अधिष्ठान 'ब्रह्म' शब्दसे विवक्षित है ।]

एकस्मिन्नेव चैतन्ये जगदारोप्यते यदा ।
तदा तदेकदेशस्य जीवाभासस्य का कथा ॥५०॥

जबकि एकही चेतन्यमें इस समस्त जगतका आरोप होरहा है, तब उसी जगत्के एक भाग जीवाभास [चिदाभास] का क्या कहना ? [उसको भी उसीमें आरोपित मानना चाहिये ।]

जगत्तदेकदेशाख्यसमारोप्यस्य भेदतः ।
तत्वंपदार्थौ भिन्नौ स्तो वस्तुतस्त्वेकता चितेः ॥५१॥

जगत् और जगत्का एकदेश [चिदाभास] इन दो नामोंसे कहाने वाले आरोपणीय पदार्थोंके भेदसे ही तत् त्वं पदार्थ भिन्न भिन्न हैं। वास्तवमें तो 'चिति' एक है । [उनमें औपाधिक तो भेद हैं तथा वास्तव एकता है । जब जगत्का ध्यान आता है तब उस चेतनको तत् अर्थात् ब्रह्म कहते हैं, जब देह इन्द्रिय आदिका ध्यान आता है तब उस चेतनको त्वं अर्थात कूटस्थ कहते हैं । यदि हम जगत्को और देहादिको भूल जांय तो अकेला चेतन ही चेतन शेष रहा दीख सकता है ।]

कर्तृत्वादीन् बुद्धिधर्मान् स्फूर्त्याख्यां चात्मरूपताम् ।
दधद् विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमो भवेत् ॥५२॥

यह आभास कर्तृत्व [भोक्तृत्व प्रमातृत्व] आदि बुद्धिके धर्मोंको तथा स्फूर्ति नामके आत्माके धर्मको धारण किये हुये दीखता है इससे भ्रम होजाता है [जैसे भ्रमस्थलकी चांदीमें अधिष्ठान शुक्ति और आरोप्य चांदी दोनोंके धर्म दीखते हैं और वह आरोपित [कल्पित] मानी जाती है इसीप्रकार यह आभास दोनोंके धर्म दीखनेसे कल्पित है ।]

अनिर्णय ही संसारका स्वरूप है

का बुद्धिः कोऽयमाभासः को वात्मात्र जगत् कथम् ।
इत्यनिर्णयतो मोहः सोऽयं संसार इष्यते ॥५३॥

बुद्धि क्या वस्तु है ? यह आभास कौन है ? इन सबमें आत्मा नामका पदार्थ कौनसा है ? यह जगत् कैसे बना है ? इन सब बातोंके स्वरूपका निर्णय न करने से मोह होजाता है। इसीको संसार कहते हैं [मुमुक्षु लोगोंको इसी मोहको हटाना है। यही मोह सब अनर्थोंका मूल कारण है। बुद्धि आदिके स्वरूपको ठीक ठीक समझ जानेसे यह संसार भ्रम हटता है।]

तत्वज्ञानी तथा मुक्त

बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यो विविनक्ति स तत्ववित् ।
स एव मुक्त इत्येवं वेदान्तेषु विनिश्चयः ॥५४॥

जो बुद्धि आदिके स्वरूपका विवेक कररहा है [जो, बुद्धि, आभास, आत्मा और जगत् इन चारोंको अलग अलग छांट चुका है] वही ज्ञानी है, वही मुक्त है, [विवेकसे ही अनर्थों से छुटकारा होसकता है] यह वेदान्तोंका निश्चय है।

एवं च सति बन्धः स्यात् कस्येत्यादिकुतर्कजाः ।
विडम्बना दृढं खण्ड्याः खण्डनोक्तिप्रकारतः ॥५५॥

जबकि बन्ध और मोक्ष दोनों अविवेकमूलक हैं तब फिर अद्वैतवादमें किसका बन्ध या किसका मोक्ष है ? इत्यादि [तार्किकोंके किये हुए] कुतर्कमूलक परिहासोंका परिहार खण्डननामक ग्रन्थमें लिखी हुई विधिसे करना चाहिये।

शैवपुराणमें कूटस्थका विवेचन

वृत्तेः साक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः ।
बुभुत्सायां तथाऽज्ञोऽस्मीत्याभासाज्ञानवस्तुनः ॥५६॥

असत्यालम्बनत्वेन सत्यः, सर्वजडस्य तु ।
साधकत्वेन चिद्रूपः, सदा प्रेमास्पदत्वतः ॥५७॥
आनन्दरूपः, सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना ।
सर्वसम्बन्धवत्वेन सम्पूर्णः, शिवसंज्ञितः ॥५८॥

पुराणोंमें कहा है कि [कामादिवृत्तियोंकी उत्पत्तिके समय तो] (सः शिवः वृत्तेः वृत्तिप्रागभावस्य च साक्षितया स्थितः) यह शिव ही [उन] वृत्तियोंका तथा [वृत्तियोंके उदय होनेसे पहले] वृत्तिके प्रागभावका साक्षी होकर रहता है, (सः बुभुत्सायां तत्साक्षितया तथा अज्ञः अस्मि इति आभासाज्ञानवस्तुनः साक्षितया स्थितः) आत्मजिज्ञासा होनेपर जिज्ञासा का साक्षी होकर तथा जिज्ञासासे पहले 'मैं अज्ञानी हूं' इस रूपसे अनुभवमें आनेवाले अज्ञानका साक्षी बनकर रहता है ॥५६॥ वह शिव इस असत्य जगत्का आलम्बन [अधिष्ठान] होने से तो 'सत्य' है, सब जड पदार्थोंका साधक [किंवा अवभासक] होनेसे 'चिद्रूप' है, सदा [सार्वदिक] प्रेमका विषय होनेसे 'आनन्दरूप' है, तथा सब पदार्थोंका साधक होनेके कारण सबसे सम्बन्ध रखनेवाला होनेसे 'सम्पूर्ण' कहाता है ।

इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः ।
जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः ॥५९॥

इसप्रकार सूतसंहिता आदि शैव पुराणोंमें जीव और ईश्वर आदि की कल्पनासे रहित, केवल, [अद्वितीय] स्वयंप्रकाशचैतन्यरूप शिवनामक कूटस्थ तत्वका विवेचन किया है ।

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः ।
मायिकावेव जीवेशौ स्वच्छौ तौ काचकुम्भवत् ॥६०॥

श्रुतिमें यह कहा गया है कि माया, आभासके द्वारा 'जीव' और 'ईश्वर' को बनालेती है । जीव और ईश्वर ये दोनों मायिक हैं और वे दोनों काचकुम्भके समान स्वच्छ हैं, [जैसे काचनामक मिट्टीका बनाहोनेपर

भी काचका घड़ा और घड़ोंसे स्वच्छ होता है इसीप्रकार मायाके बने होने पर भी ये दोनों देहादियोंसे स्वच्छ होते हैं।]

अन्नजन्यं मनो देहात् स्वच्छं यद्वत् तथैव तौ।
मायिकावपि सर्वस्मादन्यस्मात् स्वच्छतां गतौ ॥६१॥

[देह और मन दोनों अन्नसे बने हैं] जैसे मन अन्नसे उत्पन्न होनेपर भी देहसे स्वच्छ होता है, इसी प्रकार ये 'जीव' और 'ईश्वर' मायिक होनेपर भी अन्य सब मायिक पदार्थोंकी अपेक्षा स्वच्छता पागये हैं।

चिद्रूपत्वं च संभाव्यं चित्त्वेनैव प्रकाशनात्।
सर्वकल्पनशक्ताया मायाया दुष्करं न हि ॥६२॥

उन जीवेश्वरोंकी चिद्रूपताकी सम्भावना [अनुभवके आधारसे] करो। क्योंकि वे जीवेश्वर चिद्रूपसे प्रकाशित हुए रहते हैं। सबकी कल्पना करनेमें समर्थ मायाके लिये दुर्घट कुछ नहीं है। [उस अघटघटना पटीयसी मायाने ही उन दोनों मायिकोंको चिद्रूपसे प्रकाशित करडाला है।]

अस्मन्निद्रापि जीवेशौ चेतनौ स्वप्नगौ सृजेत्।
महामाया सृजत्येतावित्याश्चर्यं किमत्र ते ॥६३॥

हमारी नींद भी [जिसे हमारी माया भी कह सकते हैं] सुपनेके चेतन 'जीव' और 'ईश्वर' उत्पन्न करलेती है। फिर महामाया इन चेतन जीवेश्वरोंको उत्पन्न करले, इसमें तुम्हें आश्चर्य क्यों होता है?

सर्वज्ञत्वादिकं चेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत्।
धर्मिणं कल्पयेद् यास्याः को भारो धर्मकल्पने ॥६४॥

[यह उस महामायाका स्वभाव है कि वह ईश्वरमें सर्वज्ञत्वादि धर्मोंकी कल्पना करदिखाती है [उसे जीवकी भांति असर्वज्ञ नहीं रखती

है] भला जिस मायाने धर्मीकी कल्पना करडाली, उसे धर्मकी कल्पना करनेमें कौनसी कठिनाई हो सकती है ?

कूटस्थेऽप्यतिशङ्का स्यादिति चेन्मातिशंक्यताम् ।
कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं न हि विद्यते ॥६५॥

जीव और ईश्वरकी भांति कूटस्थको मायिक मानना ठीक न होगा । क्योंकि कूटस्थके मायिक होनेका कोई प्रमाण नहीं मिलता ।

वस्तुत्वं घोषयन्त्यस्य वेदान्ताः सकला अपि ।
सपत्नरूपं वस्त्वन्यन्न सहन्तेऽत्र किंचन ॥६६॥

सम्पूर्ण वेदान्त एकस्वर होकर इस कूटस्थको वास्तव पदार्थ घोषित कररहे हैं । वे इस संसारमें किसी भी प्रतिपत्ती पदार्थको सहन नहीं करते ।

श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मो न तर्काद् वच्मि किंचन ।
तेन तार्किकशङ्काना मत्र कोऽवसरो वद ॥६७॥

हम केवल श्रुतिके तात्पर्यको विशद करनेवाले लोग हैं । हम तर्क के सहारेसे स्वतन्त्ररूपके कुछ नहीं कहते । ऐसी अवस्थामें यहां तार्किकों की शंकाओंका क्या अवसर है ?

तस्मात् कुतर्कं सन्त्यज्य मुमुक्षुः श्रुति माश्रयेत् ।
श्रुतौ तु माया जीवेशौ करोतीति प्रदर्शितम् ॥६८॥

इस कारण मुमुक्षु [इस दुरवगाह्य आत्मतत्वको जाननेके लिये] कुतर्कको छोड़कर श्रुतिका आश्रय ले । श्रुतियोंमें तो माया जीवेश्वरोंको बनाती है यह कहा है ।

ईश और जीवकी सृष्टि

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशकृता भवेत् ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकर्तृकः ॥६९॥

ईक्षणसे लेकर प्रवेश तककी सृष्टि ईश्वरकी बनाई हुई है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, बन्ध तथा मोक्षरूपी संसारको जीवने बनाया है। [इसका स्पष्टीकरण तृप्तिदीपके चतुर्थ श्लोकमें कियाजाचुका है]।

असङ्ग एव कूटस्थः सर्वदा नास्य कश्चन।
भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम् ॥७०॥

मुमुक्षु लोग इस बातको अपने मनमें सदा विचारा करें कि कूटस्थ सदा असङ्ग रहता है। [संसारमें जन्म जरा रोग और मृत्यु अनादिकाल से क्रमानुसार बराबर होते चले आरहे हैं। परन्तु इन सबसे इस कूटस्थ-तत्वमें कभी कुछ अतिशय नहीं होपाता। मुमुक्षु लोग अपने मनमें सदा ही इन तथ्योंका विचार करते रहें।]

न निरोधो न चोत्पत्ति र्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षु र्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥७१॥

[परमार्थका निचोड़ तो श्रुतिके शब्दोंमें इतना है कि] मरण और जन्म कुछ वस्तु नहीं हैं। बद्ध और साधक कोई नहीं होता। मुमुक्षु और मुक्त किसीको नहीं कह सकते। निरोध उत्पत्ति बद्धता साधकभाव मुमुक्षता तथा मुक्ति ये सब अद्वैत आत्माकी स्वरूपदर्शनार्थी लीला हैं।

श्रुतियोंमें जीवेश्वरादि प्रतिपादन अवाङ्मनोगम्य आत्माके बोधका उपाय

अवाङ्मनसगम्यं तं श्रुतिर्बोधयितुं सदा।
जीवमीशं जगद् वापि समाश्रित्य प्रबोधयेत् ॥७२॥

श्रुति भगवती वाणी और मनसे अगम्य उस तत्वका बोध करानेके लिये या तो 'जीव' या 'ईश्वर' या 'जगत्' [इनमेंसे किसी एकको दोको या तीनोंको] पकड़कर, मनुष्यको आत्मबोध कराती है। [श्रुतियोंमें जहां तहां मन वाणीके अगम्य उस तत्वका बोध करानेकेलिये 'जीव' 'ईश्वर' तथा 'जगत्' के स्वरूपका प्रतिपादन किया है। श्रुतिका परम-तात्पर्य जिस किसीप्रकार उस अगम्य तत्वका बोध करानेमें है।]

यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वीत्याचार्यभाषितम् ॥७३॥

पुरुषोंको जिस जिस प्रक्रियासे आत्मतत्वका परिज्ञान होजाय, वही वही प्रक्रिया ठीक होती है, यह बात सुरेश्वराचार्यने कही है। वह आत्मतत्व एकरूप है। तत्वमें किसी प्रकारकी भिन्नता नहीं है। बोध करानेके प्रकारोंमें भिन्नता पायी जाती है। क्योंकि जिन पुरुषोंको बोध कराना है, या जिन्होंने बोध कराना है, उन सबके चित्त एकसमान नहीं होते। उनके चित्तोंमें बड़ी विषमता रहती है। उनके चित्तोंकी विषमताके कारण बोध करानेकी रीति भी भिन्न-भिन्न होजाती है। यही सुरेश्वराचार्यका अभिप्राय है।

श्रुतितात्पर्य मखिल मबुद्ध्वा भ्राम्यते जडः ।
विवेकी त्वखिलं बुद्ध्वा तिष्ठत्यानन्दवारिधौ ॥७४॥

जडलोग श्रुतिके पूरे तात्पर्यको न समझकर भ्रममें पड़जाया करते हैं। विवेकी तो श्रुतिके सम्पूर्ण तात्पर्यको समझकर आनन्दसमुद्रमें मग्न रहनेलगता है।

विवेकीके निश्चयका स्वरूप

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा ।
चिदाकाशस्य नो हानि र्न वा लाभ इति स्थितिः ॥७५॥

विवेकी लोगोंका निश्चय है कि यह मायारूपी मेघ, जगत् रूपी जलको, जैसे तैसे भले ही बरसाता रहो। इसके बरसनेसे चिदाकाशकी कुछ भी हानि या लाभ नहीं होता। यही सच्ची स्थिति है।

ग्रन्थाभ्यासफल

इमं कूटस्थदीपं योऽनुसन्धत्ते निरन्तरम् ।
स्वयं कूटस्थरूपेण दीप्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥७६॥

जो सदा इस कूटस्थदीपका विचार करेंगे, वे स्वयं सदा कूटस्थरूप होकर चमक उठेंगे।

इति श्रीमद्विद्यारण्यविरचितपंचदश्यां कूटस्थदीपप्रकरणं समाप्तम्।

ध्यानदीपप्रकरणम् ९

इस प्रकरणमें जिन लोगोंको उपनिषदोंका श्रवण करनेपर भी बुद्धिकी मन्दता आदि किसी प्रतिबन्धसे वाक्यार्थका प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न न होता हो, उनके लाभकेलिए, अपरोक्षज्ञानको पैदा करके मोक्ष दिलाने वाली उपासनाओंका विधान किया है। जिसप्रकार सूक्ष्म लक्ष्यकी ओर सहस्रों बाण फेंकनेसे उनमेंसे कोई न कोई लगजाता है इसीप्रकार उपासनामें अपने ध्येयकी अनेक आवृत्ति होनेसे कुछ काल पश्चात् जब ध्येय ध्यानपर आरूढ होजाता है तब वाक्यार्थका प्रत्यक्ष अनुभव होजाता है। ध्यानसे देहाभिमानका ध्वंस करके अद्वयात्माके दर्शन कराकर मर्त्य को अमर बना देना और इसी जन्ममें ब्रह्मभावका लाभ करदेना इस प्रकरणका तात्पर्य है।

उपासनासे भी मोक्षलाभ

संवादिभ्रमवद् ब्रह्मतत्वोपास्त्याऽपि मुच्यते ।
उत्तरे तापनीयेऽतः श्रुतोपास्तिरनेकधा ॥१॥

संवादी भ्रमके समान [जैसे मनुष्य संवादि भ्रममें आकर किसी कार्यमें प्रवृत्त होता है, और उसे उसकी अभिप्रेत वस्तु मिल जाती है] ब्रह्मतत्वकी उपासनासे भी मोक्ष मिलजाता है। [क्योंकि उपासना मोक्ष का सीधा रास्ता नहीं है] इसी कारण तापनीय उपनिषत्में अनेक प्रकार से ब्रह्मतत्वकी उपासनायें सुनी गयी हैं।

कहीं कहीं मिथ्याज्ञानसे भी प्रयोजनलाभ

मणिप्रदीपप्रभयो र्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥२॥

[वार्तिककारने संवादिभ्रमका निरूपण इन शब्दोंमें किया है]

मणि और प्रदीपकी प्रभाको मणि समझकर दौड़नेवाले दो मनुष्योंके मिथ्याज्ञानमें समानता होनेपर भी उनको प्रयोजनसिद्धिमें विशेषता होती है। [जो मणिप्रभाको मणि समझकर उठाने दौड़ता है, उसका काम सिद्ध होजाता है अर्थात् उसको मणि मिलजाती है। दीपप्रभाको मणि समझकर उसे उठाने दौड़नेवालेको माण नहीं मिलती]।

दीपोऽपवरकस्यान्तर्वर्तते, तत्प्रभा बहिः ।
दृश्यते द्वार्यथान्यत्र तद्वद् दृष्टा मणिप्रभा ॥३॥
दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि ॥४॥
न लभ्यते मणि र्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता ।
प्रभायां धावतावश्यं लभ्येतैव मणिर्मणेः ॥५॥

दीपक किसी झरोकेमें है उसकी प्रभा [किसी द्वारसे निकलकर] बाहर [रत्नसी] दाखती है। इसा प्रकार किसो दूसरे मकानमें माण रक्खी है, और उसकी प्रभा भी किसा झरोकेमें हाकर बाहर मणिसी दीखती ह ॥३॥

इन दानों प्रभाओंको दूरसे देखकर इन्हें मणि समझकर दौड़ने वाले दानांका प्रभाका माण समझना यद्यपि दोनोंका ही मिथ्या ज्ञान है ॥४॥

तथापि दोपप्रभाकी ओर दौड़नेवाले पुरुषको मणि नहीं मिलती, और माणकी प्रभाकी आर दौड़नेवालेको मणि अवश्य मिलती है।

विसंवादी तथा संवादी भ्रम

दीपप्रभामणिभ्रान्ति र्विसंवादिभ्रमः स्मृतः ।
मणिप्रभामणिभ्रान्तिः संवादिभ्रम उच्यते ॥६॥

दीपप्रभामें मणि भ्रान्तिको 'विसंवादिभ्रम' किंवा 'विफलभ्रम' कहाजाता है [क्योंकि उससे मणिका लाभ नहीं होता] परन्तु मणिप्रभा में मणि भ्रान्तिको 'संवादिभ्रम' किंवा 'सफलभ्रम' कहते हैं [क्योंकि उस भ्रमसे मणिका लाभ होजाता है] यह संवादिभ्रमका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

संवादिभ्रम

वाष्पं धूमतया बुद्धा तत्राङ्गारानुमानतः ।
वन्हिर्यदृच्छया लब्धः, स संवादिभ्रमो मतः ॥७॥

वाष्पको धूम समझकर उस देशमें अङ्गारोंका अनुमान करके वहां किसीको दैवगतिसे अग्नि मिलजाय तो उसका यह [वाष्पको धूम समझना] 'सफलभ्रम' मानागया है। यह संवादी भ्रमका अनुमानसिद्ध उदाहरण है।

संवादि भ्रम

गोदावर्युदके गङ्गोदकं मत्वा विशुद्धये ।
संप्रोक्ष्य शुद्धि माप्नोति, स संवादिभ्रमो मतः ॥८॥

[गोदावरी और गङ्गाका जल दोनों पुराणोंके कथनानुसार शुद्धि कारक हैं] यदि कोई गोदावरीके जलको गङ्गाजल समझकर शुद्ध होनेके लिये प्रोक्षण करके शुद्ध होजाय तो उसका यह गोदावरीके जलको गङ्गा जल समझना 'संवादिभ्रम' मानाजाता है। यह संवादिभ्रमका शास्त्रीय उदाहरण है।

संवादि भ्रम

ज्वरेणाप्तः सन्निपातं भ्रान्त्या नारायणं स्मरन् ।
मृतः स्वर्गमवाप्नोति, स संवादिभ्रमो मतः ॥९॥

जिसे ज्वरसे सन्निपात होगया हो, यदि वह सन्निपातके पागलपन में भ्रमसे भी नारायणका स्मरण करनेलगे, तो मरकर स्वर्गको जाता है। यह भी संवादिभ्रम है। हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः। आक्रुश्य पुत्रंमघवान्……नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् इत्यादि पुराणों के अनुसार भ्रमसे नारायणस्मरणसे भी स्वर्गप्राप्ति होती है। यहां नारायण के नामको पुत्रका नाम समझना संवादिभ्रम है।

प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे ।
उक्तन्यायेन संवादिभ्रमाः सन्ति हि कोटिशः ॥१०॥

प्रत्यक्ष अनुमान तथा शास्त्रोंमें उक्त प्रकारके अनन्त 'संवादिभ्रम' हैं।

मृत्तिका आदि संवादिभ्रमसे ही देव या पूज्य बने हैं

अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः स्युर्देवताः कथम् ।
अग्नित्वादिधियोपास्याः कथं वा योषिदादयः ॥११॥

यदि संवादिभ्रम न होते हों तो, मिट्टी लकड़ी और पत्थरकी प्रतिमायें देवता कैसे होजांय ? [ये संवादिभ्रमको मानकर फलसिद्धि केलिये देवता भावसे पूजी जाती हैं] यदि संवादिभ्रम न होता तो [पंचाग्निविद्यामें योषा वाव गोतमाग्निः पुरुषो वाव गोतमाग्निः] स्त्री आदिको अग्नि आदि समझकर उपासनाका विधान क्यों किया होता ? ['मनोब्रह्मेत्युपासीत [छा० ३-१८-१] आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' [छा० ३-१९-१] इत्यादिकी भी यही गति है। ये भी सब संवादिभ्रम हैं।]

संवादिभ्रमका लक्षण

अयथावस्तुविज्ञानात् फलं लभ्यत ईप्सितम् ।
काकतालीयतः सोऽयं संवादिभ्रम उच्यते ॥१२॥

जब वस्तुके विपतरीतज्ञानसे भी किसीको काकतालीयन्याय [किंवा दैवगति] से अभिलषित फल मिलजाता है तब यह 'संवादिभ्रम' कहाता है।

उपासनासे भी मुक्तिलाभ

स्वयंभ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक् फलप्रदः ।
ब्रह्मतत्त्वोपासनापि तथा मुक्तिफलप्रदा ॥१३॥

जैसे संवादीभ्रम स्वयं भ्रम होनेपर भी निश्चितरूपसे फलदायी होजाता है, इसीप्रकार ब्रह्मतत्वकी उपासना अयथावस्तुविषयक [यथार्थ वस्तुको विषय न करनेवाली किंवा यथार्थ वस्तु तक न पहुँचानेवाली] होने पर भी मुक्तिरूपी फलको दे देता है। जिसप्रकार नाव स्वयं पार न जाकर दूसरोंको पार पहुँचा देती है इसीप्रकार उपासना स्वयं उपास्य तक न पहुँचकर भी उपासकको उपास्य तक पहुंचा देती है। अर्थात् मुक्तिरूपी फल का लाभ करा देती है।

वेदान्तेभ्यो ब्रह्मतत्व मखण्डैकरसात्मकम् ।
परोक्षमवगम्यैत दहमस्मीत्युपासते ॥१४॥

वेदान्तोंके श्रवणसे अखण्ड एकरसात्मक ब्रह्मतत्वको परोक्षरूपसे जानकर उसकी 'अहं ब्रह्मास्मि' [बृ० १-३-१०] मैं ब्रह्म हूं इस रूपमें उपासना करते हैं। [शास्त्रसे परोक्षरूपसे जाना हुआ ब्रह्म उपासनाका विषय होता है इससे उपासना व्यर्थ नहीं होती।]

परोक्षज्ञानका स्वरूप

प्रत्यग्व्यक्तिमनुल्लिख्य शास्त्राद् विष्ण्वादिमूर्तिवत् ।
अस्ति ब्रह्मेति सामान्यज्ञानमत्र परोक्षधीः ॥१५॥

जैसे विष्णु आदि की मूर्तिको बतानेवाले शास्त्रके कहनेसे मूर्तिका परोक्षज्ञान होजाता है, उसीप्रकार प्रत्यक्षरूपसे आत्माको विषय न करने पर भी वेदान्तके कहनेसे 'ब्रह्म है' केवल इतना सामान्य ज्ञान होजाना इस उपासनामें 'परोक्षज्ञान' कहाता है।

चतुर्भुजाद्यवगतावपि मूर्ति मनुल्लिखन् ।
अक्षैः, परोक्षज्ञान्येव न तदा विष्णुमीक्षते ॥१६॥

शास्त्रसे विष्णुको चतुर्भुज आदि जान लेनेपर भी जब तक वह मूर्ति [भावनाके प्रतापसे] इन्द्रियोंसे दीख नहीं पड़ती, तब तक उपासक पुरुष परोक्षज्ञानी ही रहता है । क्योंकि वह उपासक उपासनाके समय अपने उपास्य विष्णुको नहीं देखता ।

परोक्षत्वापराधेन भवेन्नातत्त्ववेदनम् ।
प्रमाणेनैव शास्त्रेण सत्वमूर्तेर्विभासनात् ॥१७॥

कोई ज्ञान परोक्षतारूपी न्यूनतासे मिथ्याज्ञान नहीं होजाता [मिथ्याज्ञान वह तब होता जब उस ज्ञानका विषय असत्य होता । परोक्ष-ज्ञान होना भ्रान्तिज्ञान होने का कारण नहीं है किन्तु विषयकी असत्यता भ्रान्तिज्ञान होनेका कारण है ।] यहां हमें प्रमाणभूत शास्त्रसे ही विष्णु आदिकी मूर्तिका ज्ञान मिलता है [फिर उसे अतत्वज्ञान कैसे कहदें ?]

सच्चिदानन्दरूपस्य शास्त्राद् भानेऽप्यनुल्लिखन् ।
प्रत्यञ्चं साक्षिणं तत्तु ब्रह्म साक्षान्न वीक्षते ॥१८॥

(सच्चिदानन्दरूपस्य शास्त्रात् भाने अपि प्रत्यञ्चं साक्षिणं अनुल्लिखन् तत् ब्रह्म साक्षात् न तु वीक्षते) शास्त्रसे सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म का भान होजानेपर भी, जबतक कोई उस ब्रह्मको प्रत्यगात्मरूपसे [साक्षि-रूपसे] नहीं जानलेता, तबतक ब्रह्मको साक्षात् नहीं देखपाता ।

शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण सच्चिदानन्दनिश्चयात् ।
परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्वज्ञानं, न तु भ्रमः ॥१९॥

वह ज्ञान परोक्ष होनेपर भी शास्त्रोक्त रीतिसे [ब्रह्मके] सच्चिदा-नन्दरूपका निश्चायक होनेसे तत्वज्ञान ही है। वह ज्ञान भ्रमज्ञान नहीं है ।

ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम् ।
महावाक्यैस्तथाप्येतद् दुर्बोधमविचारिणः ॥२०॥

यद्यपि वेदान्तों [के महावाक्यों] ने ब्रह्मको प्रत्यगात्मा रूपमें ही कहा है, तो भी अविचारी [अन्वयव्यतिरेकसे तत् त्वं पदार्थोंका विवेक न करनेवाले] के लिये यह बात अत्यन्त दुर्बोध है । [इसी कारण कहते हैं कि केवल वाक्योंसे प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न नहीं होसकता । किन्तु विचारसहित वाक्यसे प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है]

देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्यां न हठात् पुमान् ।
ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मन्दधीत्वतः ॥२१॥

मनुष्य देहादिको आत्मा समझनेके भ्रमके जागे रहते हुए लाख चाहनेपर भी मन्दबुद्धि होनेके कारण, ब्रह्मको आत्मा जाननेमें समर्थ नहीं होसकता [ब्रह्मज्ञानके विरोधी देहादियोंमें आत्मताके भ्रमको विचार ही हटा सकता है । उसकेलिये केवल विचारकी आवश्यकता है]

ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयं श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः ।
अपरोक्षाद्वैतबुद्धिः परोक्षाद्वैतबुद्ध्यनुत् ॥२२॥

(यतः अपरोक्षाद्वैतबुद्धिः परोक्षाद्वैतबुद्ध्यनुत् अतः श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयम्) क्योंकि अपरोक्षाद्वैतबुद्धि परोक्ष अद्वैत बुद्धिकी अनाशिका है इसलिये श्रद्धालु शास्त्रदर्शीको ब्रह्मका परोक्षज्ञान होजाना सुकर है ।

अपरोक्षशिलाबुद्धिर्न परोक्षेशतां नुदेत् ।
प्रतिमादिषु विष्णुत्वे को वा विप्रतिपद्यते ॥२३॥

[अपरोक्षभ्रमके परोक्षतत्वज्ञानका अविरोधी होनेकी बात लोकमें भी देखलो कि] पत्थरकी प्रतिमाके विषयमें प्रत्यक्षशिला बुद्धि उसके परोक्ष ईश्वरपनको नहीं हटापाती । प्रतिमा आदिको विष्णु माननेमें किसी को विवाद नहीं होता ।

अश्रद्धालोरविश्वासो नोदाहरणमर्हति ।
श्रद्धालोरेव सर्वत्र वैदिकेष्वधिकारतः ॥२४॥

इस विषयमें अश्रद्धालुके अविश्वासका उदाहरण देना ठीक नहीं। क्योंकि वैदिक कामोंमें सर्वत्र श्रद्धालुका ही अधिकार होता है।

सकृदाप्तोपदेशेन परोक्षज्ञान मुद्भवेत् ।
विष्णुमूर्त्युपदेशो हि न मीमांसामपेक्षते ॥२५॥

परोक्षज्ञान आप्तपुरुषके एक वारके उपदेशसे ही होजाता है। विष्णुमूर्तिका उपदेश विवाद और तर्ककी अपेक्षा नहीं करता [जिसको उपदेशसे ज्ञान होना होता है उसे एक बारके उपदेशसे होजाता है]

कर्मोपास्ती विचार्येते अनुष्ठेयाविनिर्णयात् ।
बहुशाखाविप्रकीर्णं निर्णेतुं कः प्रभुर्नरः ॥२६॥

अनुष्ठान करने योग्य कर्म तथा उपासनाओंका निर्णय न होसकनेसे कर्म तथा उपासनाका विचार करना पड़ता है। क्योंकि अनेक शाखाओंमें जहां तहां प्रतिपादित किये हुए संदेहास्पद कर्मका निर्णय [एकत्र समाहार] कौन साधारण पुरुष करसकता है ?

निर्णीतोऽर्थः कल्पसूत्रै ग्रंथित स्तावतास्तिकः ।
विचारमन्तरेणापि शक्तोऽनुष्ठातुमञ्जसा ॥२७॥

जैमिनि आदि पूर्वाचार्योंसे निर्णीत अर्थ [कर्मपद्धति] को कल्पसूत्रोंने संग्रह करदिया है। विश्वासी आस्तिक पुरुष विचार किये बिना इतनेमात्रसे भी कर्मको भलेप्रकार कर ही सकता है।

उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रन्थेषु वर्णितम् ।
विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः ॥२८॥

उपासनाओंकी रीति आर्षग्रन्थोंमें कही है। [विचाराक्षमर्त्याः च तत् उपासनं गुरोः श्रुत्वा उपासते) विचार न कर सकनेवाले मनुष्य उन कल्पोंमें कही हुई उपासनाओंको गुरुमुखसे सुनकर करने लगते हैं।

वेदवाक्यानि निर्णेतु मिच्छन् मीमांसतां जनः ।
आप्तोपदेशमात्रेण ह्यनुष्ठानं हि सम्भवेत् ॥२६॥

वेदवाक्योंका निर्णय चाहनेवाला पुरुष, [अपनी बुद्धिको सन्तुष्ट करनेकेलिये] उनका विचार करता है तो करे। परन्तु उन कर्मोंका अनुष्ठान तो केवल इतनेसे होसकता है कि वे आप्तोंके उपदेश हैं।

ब्रह्मसाक्षात्कृति स्त्वेवं विचारेण विना नृणाम् ।
आप्तोपदेशमात्रेण न सम्भवति कुत्रचित् ॥३०॥

ब्रह्मसाक्षात्कार तो कर्मानुष्ठानकी भांति विचार किये बिना केवल आप्त पुरुषके कहदेनेसे मनुष्यों को कहीं नहीं होसकता।

अश्रद्धा परोक्षज्ञानका तथा अविचार अपरोक्षज्ञानका प्रतिबन्धक

परोक्षज्ञान मश्रद्धा प्रतिबध्नाति, नेतरत् ।
अविचारोऽपरोक्षस्य ज्ञानस्य प्रतिबन्धकः ॥३१॥

अश्रद्धा ही परोक्षज्ञानको रोके रहती है, अविचार नहीं, [अश्रद्धा टूटजानेपर एकवारके उपदेशसे परोक्षज्ञान होजाता है] अविचार तो अपरोक्षज्ञानका प्रतिबन्धक है। [जबतक विचारके द्वारा अविचारको निवृत्त नहीं करदियाजाता तबतक अपरोक्षज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस कारण विचार करना चाहिये।]

अपरोक्षज्ञानमें विचारकी समाप्ति

विचार्याप्यापरोक्ष्येण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत् ।
आपरोक्ष्यावसानत्वाद् भूयो भूयो विचारयेत् ॥३२॥

[यदि कोई 'तत्' 'त्वं' पदार्थोंको] विचारकर भी ब्रह्मात्माको [अर्थात् ब्रह्म और आत्माकी एकताको] प्रत्यक्षरूपमें न जानसका हो तो उसे बार बार विचार ही करते रहना चाहिये। क्योंकि विचारका अवसान [समाप्ति] अपरोक्षज्ञान होनेपर ही होता है [अपरोक्षज्ञान ही विचारकी

अन्तिम सीमा है। विचार अपरोक्षज्ञानमें विलीन होनेवाला पदार्थ है। यदि विचार ठीक है तो उसे अन्तमें अपरोक्षज्ञानका रूप लेलेना चाहिये। विचारके अतिरिक्त अपरोक्षज्ञानका अन्य कोई हेतु नहीं है।]

विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत चेत्।
जन्मान्तरे लभेतैव प्रतिबन्धक्षये सति ॥३३॥

यदि कोई मरणपर्यन्त विचार करते रहनेपर भी आत्माका साक्षात्कार न करपाया हो तो वह प्रतिबन्धोंके हटजानेपर, दूसरे किसी जन्ममें साक्षात्कारका लाभ अवश्य करेगा।

इह वामुत्र वा विद्येत्येवं सूत्रकृतोदितम्।
शृण्वन्तोऽप्यत्र बहवो यन्न विद्युरिति श्रुतिः ॥३४॥

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ※ (ब्रह्म सू० ३-४-५१) इस सूत्रमें ब्रह्मसूत्रकार व्यासदेवने कहा है कि विचार करनेवालेको या तो इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें ब्रह्मज्ञान होजाता है। 'शृण्वन्तोऽप्यत्र बहवो यन्न विद्युः' (क० २-७) यह श्रुति भी कहती है कि प्रतिबन्ध होने पर बहुतोंको इस जन्ममें ज्ञान नहीं भी होता।

गर्भ एव शयानः सन् वामदेवोऽवबुद्धवान्।
पूर्वाभ्यस्तविचारेण यद्वदध्ययनादिषु ॥३५॥

['गर्भे नु सन्नन्वेषा मवेदहं देवानां जनिमानि विश्वा (ऐतरेय ४-५) इस श्रुतिमें कहा है कि] वामदेव अपने पूर्व जन्माभ्यस्त विचारके प्रतापसे गर्भवासके दिनोंमें ही अध्ययन आदिके समान अपरोक्षज्ञानी होगया था। [इससे यह सिद्ध होता है कि इस जन्ममें श्रवणादि करलेने-

---

※ कोई प्रतिबन्ध न हो तो श्रवण आदिसे इस जन्म में भी ज्ञान होता पायाजाता है। प्रतिबन्ध हो तो इस जन्ममें न होकर दूसरे जन्मोंमें होता है। प्रतिबन्धके साधक प्रमाण देखे जाते हैं। जैसेकि वामदेवको गर्भमें ज्ञान हुआ था।

वालेको दूसरे जन्ममें भी अपरोक्षज्ञान होता है। दैनिक व्यवहारमें भी देखते हैं कि पठनपाठन आदि कामोंमें पहले अभ्यास किए हुए विचारसे कभी कभी अगले दिन विना ही स्मरण किये स्मरण आजाता है।]

बहुवारमधीतेऽपि तदा नायाति चेत् पुनः।
दिनान्तरेऽनधीत्यैव पूर्वाधीतं स्मरेत् पुमान् ॥३६॥

यदि बहुतवार स्मरणश्रम करनेपर भी, उस दिन स्मरण न आता हो, तो [कभी कभी ऐसा होता है कि] दूसरे दिन विना स्मरण किये पहले पढ़े हुए पाठ स्मृतिमें आजाते हैं।

कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा।
तद्वदात्मविचारोपि शनैः कालेन पच्यते ॥३७॥

जैसे खेती तथा गर्भ आदि तुरन्त परिपक्व नहीं होते। किन्तु इन्हें पकनेमें कुछ समय लगता है। इसीप्रकार आत्मविचार भी धीरे-धीरे कालपाकर परिपक्व हुआ करता है।

पुनः पुनर्विचारेऽपि त्रिविधप्रतिबन्धतः।
न वेत्ति तत्वमित्येतद् वार्तिके सम्यगीरितम् ॥३८॥

वार वार विचार करनेपर भी, तीन प्रकारके प्रतिबन्धोंके होनेसे तत्वका साक्षात्कार नहीं होता। यह बात वार्तिककारने भले प्रकार समझायी है।

भूत भावी तथा वर्तमान तीन प्रकारके प्रतिबन्ध

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत् तद्धि बन्धपरिक्षयात्
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा ॥३९॥

[वार्तिककारने उन प्रतिबन्धोंका निरूपण इन अगले सोलह श्लोकोंमें ५४वें श्लोक तक किया है] [जो पहले जन्ममें उत्पन्न नहीं होपाया था] वह ज्ञान अब [इस दूसरे जन्ममें] किस कारणसे उत्पन्न होजाता है?

इसका उत्तर यह है कि वह प्रतिबन्धके क्षीण होनेसे उत्पन्न होता है। वह प्रतिबन्ध (१) भूत (२) भावी तथा (३) वर्तमान भेदसे तीन प्रकार का होता है।

अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते।
हिरण्यनिधिदृष्टान्तादिदमेव हि दर्शितम् ॥४०॥

प्रतिबन्ध होनेसे ही वेदवेदार्थके ज्ञाता लोग भी मुक्त नहीं होपाते। हिरण्यनिधिके दृष्टान्तसे इसी प्रतिबन्धके अस्तित्वको दिखाया है। 'तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुः एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः' [छा० ८-३-२] जैसे भूगर्भविद्याको न जानने वाले लोग, हिरण्यनिधिके ऊपर घूमते हुए भी उसे पा नहीं सकते। इसी प्रकार ये सारी प्रजायें प्रति दिन ब्रह्मके पास जाती हुई भी [विषयवासना रूपी] अनृतसे ढकी रहनेके कारण उस ब्रह्मलोकको पा नहीं सकती।

भूतप्रतिबन्धका उदाहरण

अतीतेनापि महिषीस्नेहेन प्रतिबन्धतः।
भिक्षुस्तत्त्वं न वेदेति गाथा लोके प्रगीयते ॥४१॥

[भूतप्रतिबन्ध लोकमें मिलता है कि] अतीतकालके भी महिषी स्नेहसे उत्पन्न हुये प्रतिबन्धसे भिक्षुने तत्वको नहीं जाना था। यह गाथा वेदान्तसंप्रदायमें प्रसिद्ध है। [कोई यति गृहस्थ आश्रममें अपनी भैंसपर प्रेम रखता था। इसी मध्यमें उसने संन्यास लेलिया। वेदान्तका श्रवण करनेपर भी उसी महिषीस्नेहसे उत्पन्न हुए प्रतिबन्धके कारण गुरुसे कही हुई बात उसकी समझमें नहीं आयी।]

अनुसृत्य गुरुः स्नेहं महिष्यां तत्व मुक्तवान्।
ततो यथावद् वेदैष प्रतिबन्धस्य संक्षयात् ॥४२॥

गुरुने उसके महिषीस्नेहका अनुसरण करके महिषी [रूपी उपाधि] में ही तत्व [ब्रह्म] बतादिया था। तब उसने महिषी उपाधिवाले

ब्रह्मकी उपासना की और उपासना करते करते [महिषीस्नेहरूपी] प्रतिबंध का क्षय होजानेपर वह पूर्ण रूपसे ज्ञानी होगया ।

वर्तमान प्रतिबन्ध

प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः ।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः ॥४३॥

वर्तमान प्रतिबन्धोंमें से पहला प्रतिबन्ध चित्तकी विषयासक्ति दूसरा प्रज्ञाका तीक्ष्ण न होना तीसरा कुतर्क [शुष्क तार्किक बनकर श्रुति के अर्थकी अन्यथा ऊहना करना] और चौथा अपने विपरीतज्ञानपर दुराग्रह करना [आत्मा कर्ता भोक्ता है, इस विपरीतज्ञानपर विना युक्तिके डटे रहना] है । [इन चारोंमें किसी एकके होनेपर भी ज्ञानका उदय नहीं होता ।]

प्रतिबन्धनिवृत्तिसे ब्रह्मत्वलाभ

शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्रतत्रोचितैः क्षयम् ।
नीतेऽस्मिन् प्रतिबन्धेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते ॥४४॥

शम दम उपरति तथा श्रवण आदि [मनन निदिध्यासन] साधनोंमें जो जो जिस जिस प्रतिबन्धको हटाने में उचित हों उन उनसे उस उस प्रतिबन्धके नष्ट करदिये जाने पर (अतः स्वस्य ब्रह्मत्वम् अश्नुते) उस प्रतिबन्धके हटजानेमात्रसे अपने प्रत्यगात्माकी खोई हुई ब्रह्मताको पाजाता है ।

भावी प्रतिबन्धका उदाहरण

आगामिप्रतिबन्धश्च वामदेवे समीरितः ।
एकेन जन्मना क्षीणो, भरतस्य त्रिजन्मभिः ॥४५॥

जन्मान्तर दिलानेवाला प्रारब्धशेष आगामी प्रतिबन्ध कहाता है [वह भोगके बिना निवृत्त नहीं होता । इस कारण उसकी निवृत्तिका काल भी नियत नहीं किया जासकता] वह प्रतिबन्ध वामदेवका एक जन्म

में क्षीण होपाया था। भरतका [नृप-मृग और जडभरत इन] तीन जन्मोंमें क्षीण हुआ था।

योगभ्रष्टस्य गीतायामतीते बहुजन्मनि।
प्रतिबन्धक्षयः प्रोक्तो न विचारोऽप्यनर्थकः ॥४६॥

गीतामें योगभ्रष्ट [तत्वसाक्षात्कार तक विचार न करपाकर विचार को बीचमें छोड़ बैठनेवालेका अतीत अनेक जन्मोंमें प्रतिबन्धक्षय होना लिखा है। [उनके प्रतिबन्धका क्षय होनेमें बहुत जन्म लगजाते हैं एक दो या तीनों जन्मोंका कोई नियम नहीं है] परन्तु इस रुकावटके कारण विचार व्यर्थ भी नहीं होता [क्योंकि प्रतिबन्धके हटते ही फिर तुरन्त अपरोक्षज्ञानरूपी फल होता है।]

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानात्मतत्वविचारतः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे साभिलाषोऽभिजायते ॥४७॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
निःस्पृहो ब्रह्मतत्वस्य विचारात् तद्धि दुर्लभम् ॥४८॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयस्तस्मादेतद्धि दुर्लभम् ॥४९॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥५०॥

गीतामें कहा है कि योगभ्रष्ट आत्मतत्वके विचार [के प्रभाव] से. पुण्यकारी लोगोंको मिलनेवाले स्वर्गादिलोकोंको पाकर [वहां बहुत दिन तक सुख भोगकर उस भोगके समाप्त होजानेपर] यदि उसे फिर भी कोई कोई अभिलाषा रह गई हो, तो पवित्र श्रीमानोंके कुलमें जन्म लिया करता है ॥४७॥

अथवा ब्रह्मतत्वका विचार करते रहने से निस्पृह [विरक्त] होचुका

हुआ वह योगभ्रष्ट [उस विचारके प्रभावसे] धीमान योगियोंके कुलमें [जिनको आत्मतत्वका पूर्ण निश्चय हुआ रहता है] जन्म लेता है। योगिकुलका यह जन्म बड़ा दुर्लभ है। यह किसीको थोड़े [साधारण] पुण्योंसे नहीं मिलता ॥४८॥

क्योंकि योगियोंके उस कुलमें जन्म लेनेपर वह योगभ्रष्ट पहले देहवाले बुद्धिसंयोगको शीघ्र पालेता है। [वहां योगियोंके कुलमें उसको योगके अनुकूल सामग्री प्रस्तुत मिलती है] वह वहां पहले प्रयत्नसे भी अधिक प्रयत्न करने लगता है। इससे ऐसा जन्म दुर्लभ है ॥४९॥

वह योगभ्रष्ट उस पूर्वाभ्याससे बलपूर्वक अपनी ओर खेंच लिया जाता है। [उसकी पूर्वजन्मार्जित समाधिनिद्रा उसको स्वयं ढूंढ निकालती है] यों अनेक जन्मों पर्यन्त किये गये प्रयत्नोंसे तत्वज्ञान सम्पन्न होकर उस तत्वज्ञानसे परागति किंवा मुक्ति पालेता है ॥५०॥

आगामी प्रतिबन्धका अन्य उदाहरण

ब्रह्मलोकाभिवाञ्छायां सम्यक् सत्यां निरुध्य ताम् ।
विचारयेद् य आत्मानं न तु साक्षात् करोत्ययम् ॥५१॥

जो ब्रह्मलोकको पानेकी दृढ इच्छा होने पर भी उस इच्छाको रोके रखकर आत्मविचार करेगा, उसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होगा।

ब्रह्मलोकाभिलाषीकी ब्रह्मके साथ मुक्ति

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था इति शास्त्रतः ।
ब्रह्मलोके स कल्पान्ते ब्रह्मणा सह मुच्यते ॥५२॥

यह ब्रह्मलोकाभिलाषी मनुष्य वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे। ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम् [मु० ३-२-६] इस शास्त्रके कथनानुसार ब्रह्मलोकमें पहुँचकर [पहले वह ब्रह्मलोकमें जाता है फिर उसे वहां तत्वका

साक्षात्कार होता है] कल्पान्तके समय ब्रह्मके साथ मुक्त होता है [यों उसकी क्रममुक्ति होती है]।

तीव्र पापियोंको विचारकी दुर्लभता

केषांचित् स विचारोपि कर्मणा प्रतिबध्यते ।
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति श्रुतेः ॥५३॥

[कइयोंको तत्वविचार करते हुए भी किसी प्रतिबन्धके कारण, इस जन्ममें साक्षात्कार नहीं होता दूसरे जन्मोंमें होता है ।] परन्तु कई ऐसे भी लोग होते हैं कि उनके पापकर्मोंसे विचारमें भी रुकावट पड़जाती है । उनको विचारका भी अवसर नहीं मिलता । श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः [क० २-७] इस श्रुतिमें भी कहा है कि वह परमात्मतत्व बहुतसे पापियोंको सुननेको भी प्राप्त नहीं होता ।

विचारमें असमर्थके लिये उपासनाका विधान

अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद् वा सामग्र्या वाप्यसंभवात् ।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥५४॥

जो मनुष्य बुद्धिके अति मन्द होनेसे, अथवा ज्ञानकी [गुरु, अध्यात्मशास्त्र या अनुकूल देश कालादि] सामग्री न मिलनेसे, विचार न कर सके [और ब्रह्मपुरुषार्थका अभिलाषी हो] वह प्रतिक्षण ब्रह्मकी उपासना किया करे । [इस प्रकरणके २८ वें श्लोकमें यही बात संक्षेपसे कही है ।]

निर्गुणब्रह्मोपासनाकी संभवता

निर्गुणब्रह्मतत्वस्य न ह्युपास्ते रसंभवः ।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात् ॥५५॥

[गुणरहित होनेके कारण] निर्गुण ब्रह्मतत्वकी उपासना होना असंभव नहीं है । क्योंकि सगुण ब्रह्मकी भांति इस निर्गुण ब्रह्ममें भी

प्रत्ययकी आवृत्ति हो सकती है, [यों निर्गुणतत्वकी उपासना संभव हो जाती है ।]

अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत् तदा ।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत् ॥५६॥

यदि वह निर्गुण ब्रह्म वाणी और मनसे अज्ञेय होनेके कारण तुम्हारी समझमें उपास्य न होता हो, तो इस युक्तिसे वाणी और मनसे अगम्य उस तत्वका ज्ञान भी नहीं होसकेगा। [यह दोष उपासना तथा ज्ञान दोनों पक्षोंमें समान है ।]

वागाद्यगोचराकार मित्येवं यदि वेत्यसौ ।
वागाद्यगोचराकार मित्युपासीत नो कुतः ॥५७॥

यदि कहा जाय कि 'उस ब्रह्मका आकार वागादिके गोचर होने वाला नहीं है' इस रूपसे उसे जान तो सकते हैं। तो हम कहेंगे कि फिर इसी [वागादिके अगोचर] रूपसे उसकी उपासना क्यों नहीं हो सकती ? [वागादिमें अगोचर रूपसे ही उपासना भी कीजासकती है ।]

सगुणत्व मुपास्यत्वाद्यदि, वेद्यत्वतोऽपि तत् ।
वेद्यं चेल्लक्षणावृत्या लक्षितं समुपास्यताम् ॥५८॥

यदि तुमको उपास्य होनेसे सगुणताकी संभावना प्रतीत होती हो तो, वह संभावना वेद्य होनेसे भी होगी। यदि कहो कि वह वेद्य तो लक्षणा वृत्तिसे होता है [इसीलिये सगुण नहीं होता] तो हम कहेंगे कि उपासना भी लक्षितकी ही करडालो ।

ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते ।
इति श्रुते रुपास्यत्वं निषिद्धं ब्रह्मणो यदि ॥५९॥
विदितादन्यदेवेति श्रुते र्वेद्यत्वमस्य न ।
यथा श्रुत्यैव वेद्यं चेत्तथा श्रुत्याप्युपास्यताम् ॥६०॥

'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' [केन १-५] यह श्रुति, ब्रह्मके उपास्य होनेका निषेध कर रही है । [यह कहती है—तुम मन वाणीके अगम्य तत्वको ब्रह्म समझो । संसारके लोग जिसकी उपासना कर रहे हैं उसको ब्रह्म मत समझो । यह शंका यदि किसीको हो तो—॥५६॥ [उसका उत्तर यह है कि] अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि [केन १-३] इस श्रुतिप्रमाणसे वह वेद्य भी तो नहीं है । यदि श्रुतिके कथनानुसार ब्रह्मको विदित और अविदितसे अनोखा मानलेना चाहिये तो श्रुतिके कथनानुसार वैसे ही की उपासना भी करलेनी चाहिये ।

अवास्तवी वेद्यता चेदुपास्यत्वं तथा न किम् ।
वृत्तिव्याप्ति र्वेद्यता चेदुपास्यत्वेऽपि तत्समम् ॥६१॥

यदि कहो कि वेद्यता ब्रह्ममें अवास्तव है तो हम कहेंगे कि उसमें उपास्यता अवास्तव क्यों नहीं है । यदि कहा जाय कि वेदनपक्षमें वृत्ति ब्रह्माकार होसकती है तो हम कहेंगे उपास्य पक्षमें भी [शब्दप्रमाणके बलसे] वृत्ति ब्रह्माकार हो ही सकती है । [वृत्तिका ब्रह्माकार होना दोनों पक्षोंमें समान होसकता है]

का ते भक्ति रुपास्तौ चेत् कस्ते द्वेषस्तदीरय ।
मानाभावो न वाच्योऽस्यां बहुश्रुतिषु दर्शनात् ॥६२॥

यदि मुझपर यह युक्तिशून्य उलहना दो, कि उपास्तिमें तुम्हें इतनी भक्ति क्यों है ? तो हम पूछेंगे कि तुम्हें उपासनासे इतना द्वेष क्यों है ? यह कहना भी ठीक नहीं कि निर्गुणब्रह्मकी उपासना करनेके प्रमाण नहीं मिलते । क्योंकि अनेक श्रुतियोंमें निर्गुणब्रह्मकी उपासना देखी गयी है ।

निर्गुण ब्रह्मोपासनाके प्रमाण

उत्तरस्मिंस्तापनीये शैव्यप्रश्नेऽथ काठके ।
माण्डूक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरीरिता ॥६३॥

तावदेवाह वै प्रजापति मब्रवन्नणोरणीयांस मिममात्मान मोंकारं नो व्याचक्ष्व इत्यादि तापनीय उपनिषत्में निर्गुणोपासनाका कथन है। प्रश्न उपनिषत्में पांचवें प्रश्नमें 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' [प्रश्न ५-५] में निर्गुणोपासनाका वर्णन आया है। कठोपनिषत्में 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठ० २-१५) से प्रारम्भ करके 'एतद्‌ध्येवाक्षरं ब्रह्म' [कठ० २-१६] 'एतदालम्बनं श्रेष्ठम्' [कठ० २-१७] इत्यादिसे प्रणवोपासना कही गई है। माण्डूक्यउपनिषत्में 'ओमित्यतदक्षरमिदं सर्वम्' इत्यादिसे तीनों अवस्थाओंसे अतीत चतुर्थ तत्वकी उपासना बतायी गयी है। तैत्तिरीय मुण्डक आदिमें भी निर्गुणोपास्तिका वर्णन आया है।

निर्गुणोपासनाका प्रकार

अनुष्ठानप्रकारोऽस्याः पञ्चीकरण ईरितः।
ज्ञानसाधनमेतच्चेन्नेति केनात्र वारितम् ॥६४॥

इस निर्गुणोपसाना की विधि [श्रीमच्छंकराचार्यके] 'पंचीकरण' नामक ग्रन्थमें कही है। यदि कहो कि यह उपासना मुक्तिका साधन नहीं है, यह तो ज्ञानका साधन है। तो हम कहेंगे कि इस बातका निषेध किसने किया है ? अर्थात् यह बात हमें स्वीकार है।

नानुतिष्ठति कोप्येतदिति चेन्मानुतिष्ठतु।
पुरुषस्यापराधेन किमुपास्तिः प्रदुष्यति ॥६५॥

यदि कहो कि संसारमें सगुणोपासना करनेवाले तो बहुतसे पाये-जाते हैं, परन्तु निर्गुणोपासना करता कोई भी नहीं दीखता। तो हम कहेंगे कि [भले ही अधिक संख्यावाले लोग निर्गुणोपासना न करें यह करनेवाले पुरुषोंकी त्रुटि है] क्या पुरुषकी त्रुटिसे उपासना दूषित होजायगी ?

इतोऽप्यतिशयं मत्वा मन्त्रान् वश्यादिकारिणः ।
मूढा जपन्तु, तेभ्योऽतिमूढाः कृषिमुपासताम् ॥६६॥

मूढ लोग संसारिकफलदातृत्वरूपी विशेषता देखकर सगुणोपासना से भी सुकर वशीकरण आदि मंत्रोंको जपें [परन्तु विवेकी कालान्तरभावि-फलवाली सगुणोपासनाको छोड़ नहीं बैठते] उनसे भी मूर्ख लोग खेतीमें नियमबन्धनहीनतारूपी विशेषता ? देखकर खेती करलें [तो भी मुमुक्षु लोग निर्गुणोपासनाको कैसे छोड़ देंगे ?

सगुणोपासनाका फल बहुत दिनों पीछे मिलता है । इसकारण विवेकी लोग ऐहिकफल देनेकी अधिकताको देखकर, सगुणोपासना नहीं छोड़ देते । अथवा उनसे भी अतिमूर्ख लोग, किसी भी नियममें न बंधने की स्वतन्त्रता देखकर खेती करते हैं । परन्तु उन्हें देखकर मन्त्रोंका जप करने वाले लोग अपने मन्त्रानुष्ठानको नहीं छोड़ बैठते । इसी प्रकार यदि सांसारिक फलोंकी चाहवाले लोग निर्गुणोपासनाका अनुष्ठान नहीं करते तो भी मुमुक्षु लोग निर्गुणोपासना नहीं छोड़ सकते ।

उपासनामें सर्वशाखास्थ गुणोंका उपसंहार

तिष्ठन्तु मूढाः, प्रकृता निर्गुणोपास्तिरीर्यते ।
विद्यैक्यात् सर्वशाखास्थान् गुणानत्रोपसंहरेत् ॥६७॥

मूढ लोगोंकी बातोंको यहीं छोड़कर, अब प्रकृत निर्गुणोपासना का कथन कियाजाता है । ['सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्' (वेदान्त ३-३-१) जो जो उपासनायें जहां तहां वेदान्तोंमें बिखरी पड़ी हैं, क्योंकि चोदना सर्वत्र एक सी है, इस कारण उन उपासनाओंमें कोई भेद नहीं है] । इस व्याससूत्रके अनुसार निर्गुणोपासना नामकी विद्याके एक होनेसे भिन्न भिन्न शाखाओंमें वर्णित उपास्य के उन सब गुणोंको, उपासनामें इकट्ठे करके उपासना करनी चाहिये । [चाहे किसी उपासनामें ब्रह्मको आनन्दरूपमें उपास्य कहा है तो भी उपास्य ब्रह्ममें जितने भी सत चित् विभुआदि धर्म संभव हैं उनसबसे सेहितकी उपासना करनी चाहिये ।

विधेय गुणोंका उपसंहार

आनन्दादेर्विधेयस्य गुणसङ्घस्य संहृतिः ।
आनन्दादय इत्यस्मिन् सूत्रे व्यासेन वर्णिता ॥६८॥

[वे उपास्यगुण दो प्रकारके हैं—एक 'विधेय' दूसरे 'निषेध्य'] उपासनामें आनन्द, [विज्ञान, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरञ्जन, विभु, अद्वितीय, आनन्द, पर, प्रत्यगेकरस] इत्यादि समस्त विधेय गुणोंका उपसंहार करलेना चाहिए। यह बात 'आनन्दादयः प्रधानस्य' [वेदान्तदर्शन ३-३-११] [प्रधानब्रह्मतत्त्वके समस्त संभाव्य धर्मोंका उपसंहार सर्वत्र करलेना चाहिए] इस सूत्रमें व्यासदेवने कही है।

निषेध्यगुणोंका उपसंहार

अस्थूलादेर्निषेध्यस्य गुणसंघस्य संहृतिः ।
तथा व्यासेन सूत्रेऽस्मिन्नुक्ताक्षरधियां त्विति ॥६९॥

इस उपासनामें अस्थूल [अनणु, अह्रस्व, अद्रेश्य, अग्राह्य, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, तथा अव्यय] आदि समस्त निषेध्य गुणों [जो जहां तहां अध्यात्मशास्त्रमें कहे गये हैं] का उपसंहार करलेना चाहिये। यह बात 'अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्या मौपसदनवत्तदुक्तम्' [वेदान्त ३-३-३३] इस सूत्रमें व्यासदेवने कही है। विशेषनिराकरणरूपी ब्रह्मप्रतिपादनप्रकार समान होने तथा सर्वत्र समान रूपसे ब्रह्मभावका प्रतिपादन होनेसे भिन्न भिन्न प्रकरणोंमें बिखरी हुई, अक्षरब्रह्ममें द्वैतका निषेध करनेवाली समस्त बुद्धियोंका सब निषेधोंमें उपसंहार करलेना चाहिये।

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य विद्यायां गुणसंहृतिः ।
न युज्येतेत्युपालम्भो व्यासं प्रत्येव मां न तु ॥७०॥

'निर्गुण ब्रह्मकी विद्यामें गुणोंका उपसंहार होना ही ठीक नहीं है। [क्योंकि गुणोंका उपसंहार निर्गुणविद्यापनका विरोधी है] यह आक्षेप

व्यासदेवपर करना चाहिये, मुझपर नहीं। व्यासजीने यह बात इसलिये कही है कि निर्गुणप्रकरणमें जितने सगुण वाक्य हैं वे सब निषेध वाक्योंके अपेक्षित निषेध्यका सम्पादन करने अर्थात् उसका पूरा चित्र उतारनेके रूपमें काममें आनेकेलिये हैं। यों किसी भी वाक्यका अद्वितीय ब्रह्म प्रतिपादनसे विरोध नहीं है।

हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनामनुदाहृतेः ।
अविरुद्धं निर्गुणत्वमिति चेत् तुष्यतां त्वया ॥७१॥

हिरण्यश्मश्रुयुक्त सूर्य आदि सगुणमूर्तियोंका कथन न होने से [अस्थूलता आदिके होनेपर भी] निर्गुणतामें कोई विरोध नहीं है [निर्गुणतामें विरोध तो किसी हिरण्यश्मश्रु जैसी सगुणमूर्तिकी कल्पनासे होता। इससे यह निर्गुणोपासना है] ऐसा यदि तू समझ गया तो तू सन्तोष कर [क्योंकि तुझे तत्वज्ञान होचुका]

गुणानां लक्षकत्वेन न तत्वेऽन्तःप्रवेशनम् ।
इति चेदस्त्वेवमेव ब्रह्मतत्वमुपास्यताम् ॥७२॥

गुणों [आनन्दादि या अस्थूलादि] के [वस्तुके] लक्षक होनेसे वस्तुकी ओरको संकेत [इशारा] भर करनेवाले होनेसे वे गुण [उपास्य] तत्वके भीतर तक प्रवेश नहीं करते अर्थात् वे उसके स्वरूप नहीं होते, ऐसा यदि कहो तो हम कहेंगे कि हां ठीक है। तुम ऐसे ही ब्रह्मतत्वकी उपासना किया करो कि गुण उसके भीतर तक नहीं प्रविष्ट होते [यों तुम लक्षित ब्रह्मकी उपासना किया करो।]

लक्षित ब्रह्मकी उपासनाका प्रकार

आनन्दादिभि रस्थूलादिभिश्चात्मात्र लक्षितः ।
अखण्डैकरसः सोहमस्मीत्येव मुपासते ॥७३॥

उपासनाकी रीति यह है कि इन श्रुतियोंमें आनन्द आदि तथा अस्थूल आदि गुणोंसे अखण्डैकरस आत्मा लक्षित किया। मुमुक्षु लोग 'सोऽहमस्मि' वही मैं हूं इस रूपमें उसकी उपासना किया करते हैं।

ज्ञान तथा उपासनाका भेद

बोधोपास्त्यो र्विशेषः क इति चेदुच्यते शृणु ।
वस्तुतन्त्रो भवेद् बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम् ॥७४॥

बोध और 'उपासना' में क्या भेद है वह हम कहते हैं उसे सुनो। बोध [ज्ञान] सदा ज्ञेय वस्तुके अधीन हुआ करता है। उसके विपरीत उपासना सदा कर्ताके अधीन होती है।

विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छा यं न निवर्तयेत् ।
स्वोत्पत्तिमात्रात् संसारे दहत्यखिलसत्यताम् ॥७५॥

बोध वस्तुतत्वके विचारसे उत्पन्न हुआ करता है, उस बोधकी अनिच्छा कि मुझे बोध न हो, बोधको रोक नहीं सकती। वह उत्पन्न होते ही इस संसारमें समस्त पदार्थोंकी सत्यताको जलादेता [नष्ट करदेता] है।

तावता कृतकृत्यः सन्नित्यतृप्तिमुपागतः ।
जीवन्मुक्ति मनुप्राप्य प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥७६॥

ज्ञानी पुरुष तत्वज्ञानके उत्पन्न होनेमात्रसे कृतकृत्य होकर तथा नित्यतृप्ति [अर्थात् सर्वाधिक सुख] को पाकर, जीवन्मुक्तिका महालाभ करके, अपने प्रारब्धक्षयकी बाट जोहने लगता है।

उपासनाका स्वरूप

आप्तोपदेशं विश्वस्य श्रद्धालु रविचारयन् ।
चिन्तयेत् प्रत्ययैरन्यै रनन्तरितवृत्तिभिः ॥७७॥

श्रद्धालु मनुष्य गुरुके [उपास्यके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले] उपदेशपर विश्वास करके, स्वयं उसपर कुछ भी विचार न करके, अपने उपास्यतत्वके चिन्तनमें अन्य किसी विषयका विचार न आने देकर उसका निरन्तर चिन्तन करे। [यह उपासनाका स्वरूप है।]

उपास्यचिन्ताकी अवधि

यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते ।
तावद् विचिन्त्य, पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत् ॥७८॥

[ऐसा चिन्तन कब तक करते जायं इसका उत्तर सुनो] चिन्तन करते करते तुम्हारे मनमें चिन्त्यस्वरूप होजानका अभिमान पैदा होने या यह भान होने तक कि यह जो मेरा चिन्त्य स्वरूप है यह स्वयं मैं ही हूं, चिन्ताको लेचलकर [उसे तब तक साथ रखकर या उसे इस लक्षण आने तक न छोड़कर] मरणपर्यन्त इसी धारणाको बनाये रक्खे।

उपासकके उपास्यस्वरूपाभिमानका उदाहरण

ब्रह्मचारी भिक्षमाणो युतः संवर्गविद्यया ।
संवर्गरूपतां चित्ते धारयित्वा ह्यभिक्षत ॥७९॥

[उपासक उपास्यरूपका अभिमान करलेता है यह बात शास्त्रमें देखी गयी है] संवर्गगुणवाले प्राणकी उपासना करनेवाला कोई प्राणोपासक ब्रह्मचारी, जब भिक्षा करने चला तो उसने अभिप्रतारि राजाके सामने [महात्मनश्चतुरो देव एकः स जागार भुवनस्य गोपाः । तं कापेयं नाभिपश्यन्ति मर्त्याः अभिप्रतारिन् बहुधा वसन्तम् इस मन्त्रसे] अपने आपको अपने चित्तमें संवर्गरूप मानकर भिक्षाकी थी यह बात छान्दोग्यमें है।

उपासना सार्वदिक कर्तव्य

पुरुषस्येच्छया कर्तुमकर्तुं कर्तुमन्यथा ।
शक्योपास्तिरतो नित्यं कुर्यात् प्रत्ययसन्ततिम् ॥८०॥

उपासना पुरुषकी इच्छाके अनुसार की भी जासकती है, नहीं भी की जासकती, उलट पुलट भी करडाली जासकती है। इसलिये [पुरुषेच्छाधीन होनेसे] उपासना सदा करनी चाहिये। [मरण-पर्यन्त छोड़नी नहीं चाहिये] ।

निरन्तर उपास्यचिन्तासे स्वप्नमें भी ध्यान

वेदाध्यायी ह्यप्रमत्तोऽधीते स्वप्नेऽधिवासतः ।
जपिता तु जपत्येव तथा ध्यातापि वासयेत् ॥८१॥

सावधान वेदपाठी, या सदा जप करते रहनेवाला, दृढ वासना के कारण सुपनेमें भी वेदपाठ या जप किया करता है। इसीप्रकार उपासकलोग भी उपासनाकी वासनाको इतना दृढ करें कि सुपने आदिमें भी उसीका ध्यान आने लगे।

विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरन्तर्येण भावयन् ।
लभते वासनावेशात् स्वप्नादावपि भावनाम् ॥८२॥

विरोधी विचारोंका त्याग करके निरन्तर भावना करते करते संस्कारोंकी प्रबलतासे सुपने आदिमें भी ध्यान होने लगता है।

आस्थातिशयसे भावनासिद्धि

भुञ्जानोऽपि निजारब्धमास्थातिशयतोऽनिशम् ।
ध्यातुं शक्तो, न संदेहो, विषयव्यसनी यथा ॥८३॥

उपासक उपास्यमें श्रद्धा की अधिकतासे अपने प्रारब्धको भोगता हुआ भी विषयव्यसनीकी नाईं उपासनाको दिन रात निरन्तर करता रह सकता है, इसमें सन्देह नहीं।

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसंगरसायनम् ॥८४॥

लोकमें देखते हैं कि परपुरुषके व्यसन वाली नारी घरके [लेपन संमार्जन आदि] कामोंमें व्यग्र रहनेपर भी, अपने मनसे उसी परसङ्ग-रसायनका स्वाद लिया करती है।

परसङ्गं स्वादयन्त्या अपि नो गृहकर्म तत् ।
कुण्ठीभवेदपि त्वेतदापातेनैव वर्तते ॥८५॥

परसङ्गका स्वाद लेने वाली भी उस नारीके घरका काम बन्द नहीं होजाता। [वह बराबर चलता रहता है] उसका काम ऊपरके मनसे होता रहता है।

गृहकृत्यव्यसनिनी यथा सम्यक् करोति तत् ।
परव्यसनिनी तद्वन्न करोत्येव सर्वथा ॥८६॥

जैसे घरके कामोंके व्यसन वाली नारी घरके काम भले प्रकार [जी लगाकर] करती है, परव्यसनिनी नारी उस भांति घरके काम प्रेमसे नहीं करती।

ध्यानी और ज्ञानीके लौकिकाचरणका भेद

एवं ध्यानैकनिष्ठोऽपि लेशाल्लौकिकमारभेत् ।
तत्वविस्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत् ॥८७॥

इसीप्रकार ध्यानैकनिष्ठ पुरुष भी अपने लौकिक कामोंको आंशिक रूपमें करता रहता है। परन्तु तत्वज्ञानी लोग व्यवहारके तत्वज्ञानके अविरोधी होनेसे लौकिक कार्योंको भी भलेप्रकार निभाता रहता है [ज्ञानी होते ही लौकिक व्यवहार छुटजाता है, या छोड़देना चाहिये, ऐसा विचार भ्रमपूर्ण है। ज्ञानी लोगोंके व्यवहार तो और लोगोंसे उत्तम प्रकारके होने चाहियें। उनका व्यवहार ऐसा होना चाहिये कि वह दूसरों केलिये आदर्शका काम दे।]

मायामयः प्रपंचोऽय मात्मा चैतन्यरूपधृक् ।
इति बोधे विरोधः को लौकिकव्यवहारिणः ॥८८॥

यह प्रपंच मायामय है और आत्मा [आपा] केवल चैतन्यरूप है, यह बोध होचुकने पर लौकिक व्यवहार करनेवाले तत्वज्ञानीका व्यवहारसे विरोध कैसा ?

अपेक्षते व्यवहृति र्न प्रपंचस्य वस्तुताम् ।
नाध्यात्मजाड्यं, किंत्वेषा साधनान्येव कांक्षति ॥८९॥

व्यवहार न तो प्रपंचके सच्चेपनको चाहता है और न आत्मा का जड होना चाहता है। व्यवहार तो केवल साधनोंकी आवश्यकता रखता है।

मनोवाक्कायतद्बाह्यपदार्थाः साधनानि, तान्।
तत्वविन्नोपमृद्नाति, व्यवहारोऽस्य नो कुतः ॥९०॥

मन, वाणी, काया तथा देहसे बाहरके गृह-क्षेत्र आदि पदार्थ व्यवहारके साधन हैं। तत्वज्ञानी उनका उपमर्द [निवारण] नहीं करता फिर इस [ज्ञानी] का व्यवहार क्यों न चले ?

उपमृद्नाति चित्तं चेद् ध्यातासौ न तु तत्ववित्।
न बुद्धिं मर्दयन् दृष्टो घटतत्वस्य वेदिता ॥९१॥

यदि कोई अपने चित्तका उपमर्द करता है तो वह ध्याता [उपासक] है तत्वज्ञानी नहीं। लोकमें घटतत्वके ज्ञाताको, बुद्धिका मर्दन [किंवा उसे एकाग्र] करता हुआ कहीं नहीं देखाजाता।

सकृत्प्रत्ययमात्रेण घटश्चेद् भासते सदा।
स्वप्रकाशोऽयमात्मा किं घटवच्च न भासते ॥९२॥

यदि केवल एक बारके ज्ञानसे परप्रकाश्य घटका भास सदाके लिये होजाता है [और चित्तके निरोधकी कोई आवश्यकता नहीं रहती] तो भला स्वयंप्रकाश यह आत्मा जो घटसे बहुत स्पष्ट है – घटकी भांति क्यों नहीं भाससकता ? [इस आत्माके ज्ञानमें चित्तनिरोधकी आवश्यकता नहीं है।]

स्वप्रकाशतया किं ते तद् बुद्धिस्तत्ववेदनम्।
बुद्धिश्च क्षणनाश्येति चोद्यं तुल्यं घटादिषु ॥९३॥

(किं च ते मते ब्रह्मणः स्वप्रकाशतया अपि तत्ववेदनं तु तद्बुद्धिः [ब्रह्मगोचरबुद्धिः] एव। बुद्धिः च क्षणनाश्या। अतः ब्रह्मणि पुनः पुनः अव-

स्थानम् अपेक्ष्यते इति आक्षिप्येत चेत् इदं चोद्यं घटादिषु तुल्यम्) तुम्हारे मतमें ब्रह्मके स्वप्रकाश होनेपर भी तत्वज्ञान तो ब्रह्मगोचरबुद्धि ही है और बुद्धि क्योंकि क्षणभंगुर है इसलिये यह ब्रह्ममें बार बार अवस्थान चाहती है [इससे ज्ञानीको भी उपासना करनी चाहिये] ऐसा आक्षेप करो तो यह आक्षेप घटादियों में भी समान है। [यों तो घटादिमें भी बुद्धिको बार बार लगाते रहना आवश्यक होजायगा]।

घटादौ निश्चिते बुद्धिर्नश्यत्येव, यदा घटः।
इष्टो नेतुं तदा शक्य इति चेत् सममात्मनि ॥९४॥

घटादिका निश्चय होजानेपर घटबुद्धि [घटज्ञान] नष्ट हो ही जाती है [अर्थात् घटादिज्ञान क्षणिक हैं] परन्तु घटादिज्ञानके क्षणिक होनेपर भी जब कभी घटकी आवश्यकता हो तब ही उस घटको लेजा सकते हैं [उसमें चित्तको स्थिर रखनेकी आवश्यकता नहीं होती] (इति चेत् आत्मनि समम्) तो हम कहेंगे कि यही बात आत्माके विषयमें समान है। [उसमें भी चित्तको स्थिर कर रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।]

निश्चित्य सकृदात्मानं यदापेक्षा तदैव तम्।
वक्तुं मन्तुं तथा ध्यातुं शक्नोत्येव हि तत्ववित् ॥ ९५॥

[यही बात आत्माके विषयमें यों है कि] एक बार आत्माके स्वरूपका निश्चय होजानेपर ज्ञानी लोग जब कभी अपेक्षा होती है तब ही उसके विषयका कथन, मनन या ध्यान कर सकते हैं।

उपासक इव ध्यायन् लौकिकं विस्मरेद् यदि।
विस्मरत्वेव सा ध्यानाद् विस्मृति र्न तु वेदनात् ॥९६।

यदि तत्वज्ञानी भी उपासक के समान ध्यान करता करता जगदनु-सन्धानको भूलता है, तो उसका यह विस्मरण [अनुसन्धानराहित्य] ध्यानकी प्रबलतासे है। यह विस्मरण, ज्ञानप्रयुक्त नहीं है।

ध्यानं त्वैच्छिकमेतस्य वेदनान्मुक्तिसिद्धितः ।
ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिण्डिमः ॥६७॥

(वेदनात् मुक्तिसिद्धितः ध्यानं तु अस्य ऐच्छिकम्) ज्ञानसे मुक्ति प्राप्त होचुकनेके कारण ध्यान करना तत्वज्ञानीका ऐच्छिक [इच्छा पर निर्भर] व्यापार है [वह चाहे तो करे, न चाहे न करे] तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय [श्वे० ३-८] ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः [श्वे० २-१५] ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते इत्यादि शास्त्र डंकेकी चोट कहरहे हैं कि कैवल्य अकेले ज्ञानसे मिल जाता है [कैवल्यप्राप्तिकेलिये ध्यान आदि किसीकी आवश्यकता नहीं है]

तत्त्वविद् यदि न ध्यायेत् प्रवर्तेत तदा बहिः ।
प्रवर्ततां सुखेनायं को बाधोऽस्य प्रवर्तने ॥९८॥

'तत्वज्ञानी ध्यान न करेगा तो वह बाहर प्रवृत्ति करेगा' ऐसा कहनेपर हम कहेंगे, तत्वज्ञानी लोग सुखपूर्वक बाह्य व्यापारोंमें प्रवृत्ति करें। उनकी प्रवृत्तिमें कोई बाधा नहीं है।

अतिप्रसङ्ग इति चेत् प्रसङ्गं तावदीरय ।
प्रसंगो विधिशास्त्रं चेन्न तत् तत्त्वविदं प्रति ॥९९॥

यदि कहो [कि तत्वज्ञानीकी बाह्यप्रवृत्ति माननेपर] अतिप्रसङ्ग होजायगा। तो हम कहते हैं कि [तुम्हारी बातका उत्तर हम पीछेसे देंगे पहिले] तुम पहले प्रसङ्गका अभिप्राय बताओ [कि प्रसङ्ग किसे कहते हैं]? यदि कहो कि विधि [या निषेध] शास्त्रको प्रसङ्ग कहते हैं तो हम कहेंगे कि विधि या निषेध शास्त्र ज्ञानीकेलिये नहीं होते [वे अज्ञानी पर लागू होते हैं]

विधिनिषेधशास्त्र अनात्मज्ञोंके लिये

वर्णाश्रमवयोवस्थाभिमानो यस्य विद्यते ।
तस्यैव च निषेधाश्च विधयः सकला अपि ॥१००॥

जिस अज्ञानीको [देहके] वर्ण, आश्रम, आयु, और अवस्थाओं का अभिमान होता है, [जो इन सबको अपने मानाकरता है] ये सब विधि और निषेध शास्त्र केवल उसकेलिए हैं।

आत्मज्ञकी धारणा

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ।
नात्मनो बोधरूपस्येत्येवं तस्य विनिश्चयः ॥१०१॥

तत्वज्ञानीको तो ऐसा दृढ निश्चय रहता है कि ये वर्णाश्रमादि मायाने देहमें कल्पित करलिये हैं। ज्ञानरूप आत्माके कोई वर्ण या आश्रमादि नहीं होते।

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥१०२॥

अपने जीमेंसे सम्पूर्ण आसक्तियोंको निकाल फेंकनेवाला उत्तमाशय अर्थात् निर्मलवाला महापुरुष समाधि करे या न करे, काम करे या न करे, [यह सब उसकी इच्छापर निर्भर है। इस विषयमें उससे कुछ कहनेका शास्त्रको साहस नहीं है] वह मुक्त है।

ज्ञानीके कर्तव्य न रहनेका प्रमाण

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थ स्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः ।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥१०३॥

[औरोंने भी कहा है कि] जिसका मन निर्वासन [वासनाओंसे रहित] होचुका, फिर उसे कर्मको छोड़ बैठने या करते जानेसे या समाधि और जपसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

आत्मासङ्गस्ततोऽन्यत् स्यादिन्द्रजालं हि मायिकम् ।
इत्यचंचलनिर्णीते कुतो मनसि वासना ॥१०४॥

आत्मा असंग है, उससे भिन्न सब कुछ इन्द्रजालके समान

मायिक है। ऐसा स्थिर निर्णय करचुकनेके पश्चात् मनमें वासना कैसे उठेगी ? [भाव यह है कि तत्वज्ञानीके मनमें वासना नहीं उठती। फिर वह उस वासनाको हटानेके लिये ध्यान क्यों करे ?]

एवं नास्ति प्रसङ्गोऽपि कुतोऽस्यातिप्रसञ्जनम् ।
प्रसङ्गो यस्य तस्यैव शंक्येतातिप्रसंजनम् ॥१०५॥

[प्रकृत बात इतनी है कि] इस प्रकार जब ज्ञानीको प्रसङ्ग [नियम बन्धन] ही नहीं है तब फिर उसे अतिप्रसङ्ग [नियमभंग] का दोष कैसे लगजायगा ? अतिप्रसङ्ग उसीको होता होता है जिसको प्रसङ्गका बन्धन हो। [प्रसङ्गवाला पुरुष जब प्रसङ्गकी अवहेलना करता है तब वह उसकी अतिप्रसक्ति कही जाती है।]

विध्यभावान्न बालस्य दृश्यतेऽतिप्रसंजनम् ।
स्यात् कुतोऽतिप्रसङ्गोऽस्य विध्यभावे समे सति ॥१०६॥

[यह बात लोकमें भी देखी जाती है] बालकके लिये विधि शास्त्र न होनेसे उसपर विधिकी अतिप्रसक्ति भी नहीं मानी जाती। ज्ञानी और बालक दोनोंके लिये विधि या निषेध शास्त्रका अभाव समान होने पर इस ज्ञानीको अतिप्रसङ्ग कैसे होजायगा ?

विधि अज्ञानियोंके लिये

न किञ्चिद्वेत्ति बालश्चेत् सर्वं वेत्त्येव तत्त्ववित् ।
अल्पज्ञस्यैव विधयः सर्वे स्यु र्नान्ययोर्द्वयोः ॥१०७॥

यदि कहो कि बालक कुछ नहीं जानता। [उसकी अज्ञता उसपर विधिका वश नहीं चलने देती] तो हम कहेंगे कि ज्ञानी सब कुछ जानता है [उसकी सर्वज्ञता उसपर विधिका अंकुश नहीं रखने देती] देखो विधि के अधिकारकी बात इतनी है कि ये विधी और निषेध शास्त्र अल्पज्ञके लिये बनाये गये हैं। अज्ञ और सर्वज्ञ दोनोंके लिये विधि या निषेध शास्त्र नहीं होते।

शापादिसामर्थ्य ज्ञानका फल नहीं तपका फल है

शापानुग्रहसामर्थ्यं यस्यासौ तत्वविद् यदि ।
तन्न, शापादिसामर्थ्यं फलं स्यात्तपसो यतः ॥१०८॥

जो किसीको शाप या वर देसके ? उसको यदि तत्वज्ञानी [या पहुंचा हुआ महात्मा] समझते होतो यह विचार ठीक नहीं। क्योंकि शापादि सामर्थ्य उनके तपका फल है [यह उनके तत्वज्ञानका फल नहीं है।]

व्यासादेरपि सामर्थ्यं दृश्यते तपसो बलात् ।
शापादिकारणादन्यत् तपो ज्ञानस्य कारणम् ॥१०९॥

व्यास आदि [तत्वदर्शियों] में जो शापानुग्रहसामर्थ्य [शाप और वरदानकी शक्ति] था वह ज्ञानके कारण नहीं था। किन्तु उनके तपोबलसे था। शापादिसामर्थ्यजनक तपसे ज्ञानजनक तप दूसरा होता है। तप दो प्रकारका होता है—एक तप तत्वज्ञानका कारण है [तपसा ब्रह्मजिज्ञासस्व] दूसरा तप शाप और अनुग्रहका सामर्थ्य उत्पन्न करता है।

द्वयं यस्यास्ति तस्यैव सामर्थ्यज्ञानयोर्जनिः ।
एकैकं तु तपः कुर्वन्नेकैकं लभते फलम् ॥११०॥

जिसने दोनों प्रकारके तप किये होंगे, उसीमें सामर्थ्य और ज्ञान दोनों होंगे। जो अकेले अकेले तप करेगा उसे एक ही एक फल मिलेगा।

सामर्थ्यहीनो निन्द्यश्चेद् यतिभि र्विधिवर्जितः ।
निन्द्यन्ते यतयोऽप्यन्यै रनिशं भोगलम्पटैः ॥१११॥

यदि यति [अर्थात् विहित कर्म पालन करनेवाले] लोग [ज्ञानी होनेके कारण विधिरहित परन्तु] शापादिसामर्थ्यहीन ज्ञानीको निन्द्य समझने हैं तो समझें। ऐसे तो भोगलम्पट लोग उन विध्यनुसारी लोगों की भी निन्दा सदा किया करते हैं [वे कर्मीको पाखण्डी और पोप नामसे पुकारते हैं। जैसे इस निन्दासे सच्चे कर्मीको कुछ दुःख नहीं होता, इसीप्रकार कर्मीकी निन्दासे सामर्थ्यहीन ज्ञानीको दुःख नहीं होसकता।]

भिक्षावस्त्रादि रक्षेयु र्यद्येते भोगतुष्टये ।
अहो यतित्वमेतेषां वैराग्यभरमन्थरम् ॥११२॥

यदि ये लोग भोगकी तुष्टिकेलिये भोजन वस्त्रादिका उपार्जन करने लगें तो उनका वैराग्यके बोझसे मन्दगति यतिपन क्या हुआ ? [फिर उन्हें गृहस्थ आश्रममें कौनसी आपत्ति थी। भाव यह है कि यतिधर्ममें दीक्षित होजाने वाला पुरुष अपने व्यष्टि अहंके लिये कुछ काम नहीं करसकता। उसे व्यष्टि अभिमानका पोषण करनेवाली प्रत्येक बातसे बचकर रहना चाहिये। नहीं तो उसका यतिधर्म नष्ट होजाता है]

वर्णाश्रमपरान् मूढा निन्दन्त्वित्युच्यते यदि ।
देहात्ममतयो बुद्धं निन्दन्त्वाश्रममानिनः ॥११३॥

यदि यह कहो कि मूढ [अर्थात् विषयलम्पट और पामर] लोग वर्णाश्रम धर्मको पालनेवालों [कर्मियों] की निन्दा करते रहें उनकी इस निन्दासे क्या हानि है ? तो हम कहेंगे कि देहको आत्मा माननेवाले, आश्रमोंका अभिमान करनेवाले. कर्मी लोग भी तत्वज्ञानीकी निन्दा भले ही करें, [उसकी भी उससे कुछ हानि नहीं होसकती।]

तदित्थं तत्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात् ।
ज्ञानिनाचरितुं शक्यं सम्यग् राज्यादि लौकिकम् ॥११४॥

[प्रकृत बात यही हुई कि] उक्त रीतिसे तत्वज्ञान होजानेपर [लौकिक व्यवहारके मन आदि] साधनोंका उपमर्द किंवा विनाश न हो जानेके कारण तत्वज्ञानी लोग लौकिक राज्य [उस जैसे बड़े-बड़े काम भी] भले प्रकार चला सकता है। [ज्ञानी होनेका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि ज्ञानी पुरुष निकम्मा होकर क्षयरोगी की भांति हाथपर हाथ रख कर बैठ जाय या कहीं एकान्त गुफामें जा पड़े। जिन लोगोंका विचार यह है कि ज्ञान होजानेपर कुछ काम नहीं होसकता। वे तत्वज्ञानको एकप्रकार

का पक्षाघात रोग मानते हैं । ज्ञान मनकी एक रहस्यवेदी उच्चतम अवस्था है । उसका शरीर आदिके व्यापारोंपर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता । शरीर आदिके व्यापार ज्ञान होजानेपर भी ज्यों के त्यों चलते रहसकते हैं । ज्ञान होनेपर पहले संकीर्ण दृष्टिकोणसे होनेवाले काम व्यापक दृष्टिकोण से होने लगते हैं । यों तत्वज्ञानी लोग राज्य जैसे बड़े कामोंको औरोंसे अच्छे प्रकार करसकते हैं । ज्ञानीमें लोभ आदि न रहनेसे उसके सब काम आदर्श होते हैं ।]

मिथ्यात्वबुद्ध्या तत्रेच्छा नास्ति चेत् तर्हि मास्तु तत् ।
ध्यायन्वाथ व्यवहरन् यथारब्धं वसत्वयम् ॥११५॥

उन सब लौकिक कामोंको मिथ्या समझलेनेके कारण, ज्ञानीको उनकी इच्छा न रहती हो तो न रहो । [हमारा कहना है कि] ज्ञानीलोग अपने प्रारब्धके अनुसार, चाहें ध्यान करें या व्यवहारमें लगे रहें ।

उपासकस्तु सततं ध्यायन्नेव वसेद्, यतः ।
ध्यानेनैव कृतं तस्य ब्रह्मत्वं विष्णुतादिवत् ॥११६॥

परन्तु उपासक लोगोंको सदा ध्यानमें ही लगे रहना चाहिए । क्योंकि उपासककी ब्रह्मता अपनेमें ध्यानसे सम्पादित विष्णुताके समान ध्यानकी ही निर्मित हुई होती है । [उसे अपनी ब्रह्मता ध्यानसम्पादित विष्णुताके समान प्रमाणोंसे समझमें नहीं आई ।]

ध्यानोपादानकं यत् तद् ध्यानाभावे विलीयते ।
वास्तवी ब्रह्मता नैव ज्ञानाभावे विलीयते ॥११७॥

जो बात ध्यानसे उत्पन्न हुई होगी वह ध्यानके न रहनेपर विलीन होजायगी । परन्तु क्योंकि ब्रह्मता वास्तविक है इसलिये वह ज्ञापक ज्ञानके न रहनेपर विलीन नहीं होगी ।

ततोऽभिज्ञापकं ज्ञानं न नित्यं जनयत्यदः ।
ज्ञापकाभावमात्रेण न हि सत्यं विलीयते ॥११८॥

क्योंकि यह ब्रह्मभाव नित्य है इसलिए ज्ञान उस [ब्रह्मभाव] का अभिज्ञापक [बोधक] मात्र होसकता है। वह इस नित्यब्रह्मत्वका जनक नहीं होसकता। सत्यपदार्थ केवल ज्ञापकके न रहनेसे नष्ट नहीं होजाता [अभिप्राय यह है कि ब्रह्मता यदि ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली होती तो ज्ञानके नष्ट होते ही नष्ट होजाया करती। क्योंकि वह नष्ट नहीं होती, इसी से जानते हैं कि ब्रह्मता उत्पन्न नहीं होती। नित्य है]

अस्त्येवोपासकस्यापि वास्तवी ब्रह्मतेति चेत् ।
पामराणां तिरश्चां च वास्तवी ब्रह्मता न किम् ॥११९॥

यदि कोई कहे कि उपासक भी वास्तवमें ब्रह्म होता है, तो हम कहेंगे कि इतना ही क्यों कहते हो ? क्या पामर मनुष्य और पशु पक्षी भी वास्तव ब्रह्म नहीं है ?

अज्ञानादपुमर्थत्व मुभयत्रापि तत् समम् ।
उपवासाद् यथा भिक्षा वरं ध्यानं तथान्यतः ॥१२०॥

यदि कोई कहे कि पामर मनुष्यों और पशु पक्षियोंको तो अपनी ब्रह्मताका ज्ञान नहीं होता, इसकारण उनकी ब्रह्मता उनके किसी प्रयोजनकी नहीं होती, [ऐसी अज्ञात ब्रह्मताको कोई पुरुषार्थ नहीं मानता] तो हम कहेंगे कि यह बात दोनों पक्षोंमें समान है [उपासकको भी अपनी ब्रह्मता का निश्चय नहीं होता इसीकारण उसकी ब्रह्मता उसकेलिये अपुरुषार्थ होती है]। हां इतनी बात तो हम मानते हैं कि जैसे भूखे रहनेसे भीख मांगना श्रेष्ठ है,इसीप्रकार और सब बातोंसे ध्यान [उपासना] अच्छाहै।

पामराणां व्यवहृते र्वरं कर्माद्यनुष्ठितिः ।
ततोऽपि सगुणोपास्ति र्निर्गुणोपासना ततः ॥१२१॥

विषयव्याकुल पामरोंके व्यवहारसे तो कर्मानुष्ठान श्रेष्ठ है, उससे सगुणोपासना श्रेष्ठ है। सगुणोपासनासे भी निर्गुणोपासनाका पद ऊंचा है।

निर्गुणोपासनाकी सर्वश्रेष्ठताका कारण

यावद् विज्ञानसामीप्यं तावच्छ्रैष्ठ्यं विवर्धते ।
ब्रह्मज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः ॥१२२॥

ज्यों-ज्यों विज्ञानकी समीपता आतीजाती है, त्यों-त्यों श्रेष्ठताकी मात्रा बढ़ने लगती है। [निर्गुणोपासनाके सर्वश्रेष्ठ होनेका कारण यही है कि] यह उपासना अन्तमें धीरे धीरे ब्रह्मज्ञानके रूपमें परिणत जाती है।

यथासंवादिविभ्रान्तिः फलकाले प्रमायते ।
विद्यायते तथोपास्ति र्मुक्तिकालेऽतिपाकतः ॥१२३॥

जैसे संवादिभ्रम फल मिलनेके समयमें प्रमाज्ञान होजाता है, इसीप्रकार उपासना ही अतिपक्व होनेके कारणका समय आजानेपर 'ब्रह्मविद्या' बन जाती है।

संवादिभ्रमतः पुंसः प्रवृत्तस्यान्यमानतः ।
प्रमेति चेत् तथोपास्ति र्मान्तरे कारणायताम् ॥१२४॥

संवादिभ्रमसे प्रवृत्त [किसी वस्तुको उठाने दौड़नेवाले] पुरुषको [उस भ्रमसे प्रमाज्ञान नहीं होता किन्तु] किसी दूसरे प्रमाणसे प्रमाज्ञान होजाता है [भ्रान्तिसे प्रवृत्त पुरुषको उसके पश्चात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से प्रमाज्ञान होता है] ऐसा यदि कहो तो हम कहेंगे कि इसीप्रकार उपासना भी [स्वयं ब्रह्मज्ञान नहीं होजाती। किन्तु वह] दूसरे ज्ञानका कारण बन जाती है। [अर्थात् निर्गुणोपासना निदिध्यासनरूप होकर वाक्यजन्य अपरोक्षज्ञानका कारण बन जाती है।]

ज्ञानकी समीपता ही निर्गुणोपासनाकी विशेषता

मूर्तिध्यानस्य मन्त्रादेरपि कारणता यदि ।
अस्तु नाम तथाप्यत्र प्रत्यासत्तिर्विशिष्यते ॥१२५॥

यदि कहो कि यों तो [चित्तकी एकाग्रताके सम्पादनके द्वारा] मूर्ति

का ध्यान या मन्त्रादि भी [अपरोक्षज्ञानके] कारण होते हैं तो हम इस बातको स्वीकार करते हैं। परन्तु इस निर्गुणोपासनामें प्रत्यासत्ति विशेष पाई जाती है। [यह उपासना ज्ञानके सबसे अधिक समीप है]।

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैस्ततः।
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते ॥१२६॥

[वह निर्गुणोपासना ज्ञानके समीप यों है कि] जब यह निर्गुणोपासना पकने लगती है तब इसकी पहले तो सविकल्प समाधि बनती है फिर धीरे धीरे वह सविकल्प समाधि [से निरोधसमाधिका लाभ होता है फिर उस निरोधका भी निरोध होनेपर सर्वनिरोध होकर निर्बीज या] निर्विकल्प समाधि बनजाती है। यह निरोध नामकी समाधि निर्गुणोपासनाको अनायास प्राप्त होजाती है।

निर्विकल्पसमाधिलाभका फल

निरोधलाभे पुंसोऽन्तरसङ्गं वस्तु शिष्यते।
पुनः पुनर्वासितेऽस्मिन् वाक्याज्जायेत तत्त्वधीः ॥१२७॥

निरोधका लाभ होजानेपर [निर्विकल्प समाधि होजानेपर पुरुषके अन्दर असंग वस्तु शेष रहजाती है। इस असङ्ग वस्तुकी बार बार भावना करते रहनेपर तत्वमसि आदि वाक्योंसे तत्वज्ञान [कि ब्रह्मनामका तत्व मैं ही हूँ] उत्पन्न होजाता है।

तत्वज्ञानका स्वरूप

निर्विकारासङ्गनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः।
बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहन्त्यविवादतः १२८॥

असङ्ग वस्तुकी निरन्तर भावना करते करते अध्यात्मशास्त्रोक्त निर्विकारता, असङ्गता, नित्यता, स्वप्रकाशता, एकता, तथा पूर्णता नामक उदार धर्म झटपट निर्विवाद या निःसंदिग्ध रूपमें बुद्धिमें बैठ जाते हैं। [जब तक निरोधका लाभ नहीं होता, तब तक निर्विकारता, असंगता,

स्वप्रकाशता आदिका सच्चा अर्थ मनुष्यकी कल्पनामें नहीं आता। इन शब्दोंके भीतर जो अनन्त आध्यात्मिकनिधि भरी पड़ी है वह उक्त साधन किये विना किसीको नहीं दीखती।]

निर्विकल्प समाधिसे अपरोक्षज्ञान होनेके प्रमाण

योगाभ्यास स्त्वेतदर्थोऽमृतबिन्द्वादिषु श्रुतः।
एवं च दृष्टद्वारापि हेतुत्वादन्यतो वरम् १२६॥

अमृतबिन्दु आदि उपनिषदोंमें उसी [निर्विकल्प समाधिको सिद्ध करने] के लिये योगाभ्यास [उपासनाभ्यास] बताया है। [निर्गुणउपासना प्रत्यक्षज्ञानके सबसे अधिक निकट है। उससे एक यह दृष्ट फल भी होता है कि निर्विकल्पसमाधिका लाभ होजाता है। यह निर्गुणउपासना सगुणउपासनासे बहुत ऊंची वस्तु है]। यों यह निर्गुणोपासना दृष्ट निर्विकल्पसमाधिलाभरूपी प्रयोजनके द्वारा और अपिशब्दसे अदृष्ट के द्वारा यों दो प्रकारोंसे ज्ञानका साधन होनेसे सगुणोपासना आदियों से श्रेष्ठ है।

उपेक्ष्य तत् तीर्थयात्राजपादीनेव कुर्वताम्।
पिंडं समुत्सृज्य करं लेढीति न्याय आपतेत् ॥१३०॥

जो अविचारी लोग अपरोक्षज्ञान सिद्ध कर सकनेवाली निर्गुणो पासनाको छोड़कर तीर्थाटन और जप तपमें लगे रहते हैं, उनका परिश्रम उस जैसा वृथा है जो हाथमेंसे गुडपिण्ड फेंककर हाथको चाट रहा हो।

विचारकी असंभवतामें उपासना

उपासकानामप्येवं विचारत्यागतो यदि।
बाढं, तस्माद् विचारस्यासंभवे योग ईरितः ॥१३१॥

ऐसे तो आत्मतत्वका विचार छोड़कर निर्गुणउपासना करनेवाले पर भी यह न्याय लागू होगा, ऐसा यदि कहो तो आत्मतत्वका विचार छोड़ कर निर्गुणोपासना करनेवाले उपासकोंपर भी यही गुड फेंककर हाथ चाटनेवाला न्याय लागू होगा [वे भी उन्हीं जैसे अविचारशील कहलायेंगे]

यह बात हमें स्वीकार है। इसी कारण शास्त्रने विचारके असम्भव होने पर ही योग [उपासना] का विधान किया है।

व्याकुलचित्तकेलिये योग

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात् तत्वधी र्नहि।
योगो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ॥१३२॥

अत्यन्त व्याकुल चित्तवालोंको विचारसे तत्वज्ञान लाभ नहीं होता। इसकारण उनकेलिये योग [उपासना] ही मुख्य उपाय है। क्योंकि उपासनासे उनका धीदर्प नष्ट होजाता है। [इससे वह मुख्य उपाय है]

अव्याकुल चित्तकेलिये विचार

अव्याकुलधियां मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम्।
सांख्यनामा विचारः स्यन्मुख्यो झटिति सिद्धिदः ॥१३३॥

अव्याकुल बुद्धिवाले उन लोगोंकेलिये जिनका आत्मा केवल मोहके आवरणमें छिप रहा है, उनके लिये 'सांख्य' नामका तत्वविचार ही मुख्य उपाय है। क्योंकि वह झटपट सिद्धि देनेवाला है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥१३४॥

[योग [उपासना] और सांख्य [तत्वज्ञान] दोनों तत्वज्ञानके द्वारा मुक्तिके साधनहैं। यह बात गीतामें भी कही गयी है।] कि सांख्य [विचार] मार्गी जिसपदको पाते हैं योग [उपासना] मार्गी भी वहीं पहुँच जाते हैं। जो ज्ञानी मनुष्य सांख्य और योगको फलमें एक समझलेता है अर्थात् जो इनमें भेद नहीं जानता, वही शास्त्र के तात्पर्यको ठीक जाननेवाला है।

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्य मिति हि श्रुतिः।
यस्तु श्रुते विरुद्धः स आभासः सांख्ययोगयोः ॥१३५॥

श्वेताश्वतर श्रुतिमें भी कहा है कि इस जगत्का मूलकारण सांख्य और योग दोनोंमेंसे किसीसे भी जाना जासकता है। आज कल 'सांख्य और योग' नामसे प्रसिद्ध शास्त्रोंमें जो बहुतसी बातें श्रुतिके विरुद्ध दीखती हैं वे 'सांख्य' या 'योग' नहीं है। वे 'सांख्याभास' तथा 'योगाभास' हैं। [जैसे आभासकी बाधा होजाती है वैसेही उनकी भी बाधा होजायगी]

उपासनं नापि पक्कमिह यस्य परत्र सः ।
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्वं विज्ञाय मुच्यते ॥१३६॥

जिसकी उपासना [योग] इस जन्ममें परिपक्व न होचुकी हो, वह आगे चलकर या तो मरते समय या ब्रह्मलोकमें पहुँचकर, तत्वको जान लेनेपर मुक्त होता है। [उपासक तत्वज्ञान होनेसे पहले बीचमें मरजाय तो भी मोक्षसे वंचित नहीं रहता]।

मरणावसरपर ज्ञानसे मुक्तिलाभका प्रमाण

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति, यच्चित्तस्तेन यातीति शास्त्रतः ॥१३७॥
अन्त्यप्रत्ययतो नूनं भाविजन्म, तथा सति ।
निर्गुणप्रत्ययोऽपि स्यात् सगुणोपासने यथा ॥१३८॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं तं तमेवैति (भ० गी० ८-६) [प्राणी अपने मरणकालमें जिस जिस भावको स्मरण करताहुआ शरीर छोड़ता है, उसी भावको पाजाता है] इस वाक्यसे यच्चित्तस्तेनैव प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति (प्र० ३-१०) [मरते समय जैसा प्राणीका चित्त अर्थात् संकल्प होजाता है, अर्थात् मरते समयपर भी जिस देवता मनुष्य पशु पक्षी और वृक्ष आदिके शरीरको अच्छा मानलेता है, वह उसी संकल्पको साथ लेकर अपनी सब इन्द्रियोंके साथ मुख्य प्राणमें आजाता है अर्थात् तब सर्वेन्द्रियोपसंहारके पश्चात् केवल प्राणव्यापार रहजाता है। उसके पश्चात

वह प्राण तेज [अर्थात् उदानवायु] से युक्त होकर भोक्ताको संकल्पानुसारी लोकमें लेजाता है। कर्म करते समय प्राणीके जैसे संकल्प रहे हैं मरते समय वे वासनारूपसे प्रकट होते हैं। अगले जन्ममें उन ही वासनाओंका शरीर बनजाता है। मरणके पश्चात् प्राणीको जैसी योनि मिलनी होती है, वैसी ही वासनायें होती हैं और वे ही योनियां मुमूर्षुको दीखा करती हैं] तथा इस श्रुतिके कथनानुसार मरते समयवाले अंतिम ज्ञानके अनुसार भाविजन्म होता है, यह निश्चय है—॥१३७॥ [मरते समय इस जन्मके सबसे पिछले विचार बता देते हैं कि अगला जन्म कैसा होगा ? कौनसी योनि मिलेगी ? ऊपरके दो प्रमाणोंसे यह सिद्ध होजाता है। परन्तु उसके साथ ही मरणकालमें भी ज्ञान होसकता है और उससे मोक्ष मिलजाता है यह बात भी इन्हीं प्रमाणोंसे सिद्ध होजाती है] (तथा सति) जीवनके सबसे पिछले ज्ञानसे भाविजन्मका निश्चय होनेका सिद्धान्त स्वीकार करलेनेपर (यथा सगुणोपासने) जैसे सगुणोपासनामें होता है कि सगुणोपासकको जीवनव्यापी उपासनाभ्यास वश मरणकालमें सगुण ब्रह्मके दर्शन मिलजाते हैं इसीप्रकार निर्गुणोपासकको भी अपने जीवनव्यापी अभ्यासप्रतापसे निर्गुण ब्रह्मज्ञान होजाता है।

नित्यनिर्गुणरूपं तन्नाममात्रेण गीयताम् ।
अर्थतो मोक्ष एवैष संवादिभ्रमवन्मतः ॥१३८॥

[यदि कहो कि निर्गुणोपासकको मरणकालमें निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति होसकती है। परन्तु उसे मुक्ति क्योंकर मिल जायगी ? इसका समाधान यह है कि] तुम उस ब्रह्मका नित्य निर्गुणनाम भले ही रखते रहो। वास्तवमें यह संवादिभ्रमके तत्वज्ञान होनेके समान मोक्ष ही मानागया है। [निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति और मुक्ति ये एक ही बातके दो नाम रखलिये गये हैं]।

तत्सामर्थ्याज्जायते धीर्मूलाविद्यानिवर्तिका ।
अविमुक्तोपासनेन तारकब्रह्मबुद्धिवत् ॥१४०॥

अविमुक्तोपासना [भ्रुकुटीमें वैश्वानरकी उपासना] से तारक ब्रह्मबुद्धि होजानेके समान निर्गुण उपासनाके सामर्थ्यसे मूलाविद्याको निवृत्त कर देनेवाली बुद्धि पैदा होजाती है। अर्थात् मानस क्रियारूप निर्गुणोपासना साक्षात् मुक्तिसाधन नहीं है किन्तु उससे उत्पन्न ज्ञान ही मोक्षका साधन है। अविमुक्तोपासनाका अर्थ सगुणोपासना भी होता है। सगुणोपासनासे मनुष्यको तारक ब्रह्म विषयक ज्ञान होजाता है। पुराणोंके अनुसार शिव सगुणब्रह्म है। शिवका वासस्थान काशी है। वह वहां मरनेवाले अपने उपासकको कानमें तारक ब्रह्मका उपदेश देकर उसे ज्ञानी बना देता है और वह मुक्त होजाता है।

मोक्षके निर्गुणोपासनाका फल होनेका प्रमाण

सोऽकामो निष्काम इति ह्यशरीरो निरिन्द्रियः ।
अभयं हीति मुक्तत्वं तापनीये फलं श्रुतम् ॥१४१॥

सोऽकामो निष्कामः आप्तकाम आत्मकामो । न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते । ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति । अशरीरो निरिन्द्रियः अप्राणो ह्यमनाः । सच्चिदानन्दमात्रः । स स्वराड् भवति य एवं वेद । चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिन्मयमिदं सर्वम् । तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्यमृतमभयमेतद्ब्रह्म । अभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम्। इत्यादि वाक्योंके द्वारा तापनीय उपनिषत् में मोक्षको निर्गुणोपासनाका फल बताया है।

उपासनस्य सामर्थ्याद् विद्योत्पत्तिर्भवेत् ततः ।
नान्यः पन्था इति ह्येतच्छास्त्रं नैव विरुध्यते ॥१४२॥

क्योंकि उपासनाके सामर्थ्यसे ज्ञानकी उत्पत्ति होना हम मान रहे हैं इससे नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (श्वे० ३-८) इस शास्त्रसे विरोध

नहीं रहता । [उपासनाके सामर्थ्यसे ज्ञानकी उत्पत्ति होजाती है और ज्ञान से मुक्ति होजाती है । यों नान्यः पन्था इस शास्त्रका विरोध नहीं होता ।

निष्कामोपासनान्मुक्ति स्तापनीये समीरिता ।
ब्रह्मलोकः सकामस्य शैव्यप्रश्ने समीरितः ॥१४३॥

तापनीय उपनिषत्में निष्कामोपासनासे मुक्ति मिलनेकी बात कही है [वह उपनिषत् ऊपर उद्धृत कीजा चुकी है]। शैव्यप्रश्नमें यह बात कही है कि सकामोपासना करनेवालेको ब्रह्मलोक मिलता है ।

य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते ।
स एतस्माज्जीवघनात् परं पुरुषमीक्षते ॥१४४॥

शैव्यप्रश्नोपनिषत् में यह बात कही है कि यः पुनरेतत् त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः यथा पादोदर स्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभि रुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते । जो त्रिमात्र ओंकारसे इस परम पुरुषकी उपासना करता है, वह क्रमसे ब्रह्मलोकमें लेजाया जाता है । उसीमें यह भी कहा है कि ब्रह्मलोकमें पहुँचा हुआ वह उपासक वहां इस जीवघन [अर्थात् जीवोंकी समष्टिरूप इस हिरण्यगर्भ] से भी ऊंचे उपाधिरहित चैतन्यरूपी परमात्माका साक्षात् कर लेता है ।

अप्रतीकाधिकरणे 'तत्क्रतुन्याय' ईरितः ।
ब्रह्मलोकफलं तस्मात् सकामस्येति वर्णितम् ॥१४५॥

'अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायणः (ब्रह्म ४-३-१५) उभयथा दोषात्तत्क्रतुश्च' इन दोनों सूत्रों वाले अप्रतीकाधिकरणमें व्यास मुनिने तत्क्रतुन्याय अर्थात् कमनीयसंकल्पानुसारी फल मिलनेका सिद्धान्त कहा है । श्रीव्यासके प्रतिपादनानुसार भी सकाम लोगोंको ब्रह्मलोक की गति मिलती है । [सूत्रार्थ=प्रतीकोपासना न करनेवाले उपासकोंको असा-

नव पुरुष लेजाता है, ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं। किन्हींको ले जाता है किन्हींको नहीं लेजाता ऐसी दोनों बात माननेमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि यह सब मनुष्यके संकल्पपर निर्भर करता है।]

निर्गुणोपास्तिसामर्थ्यात् तत्र तत्वमवेक्षते ।
पुनरावर्तते नायं कल्पान्ते च विमुच्यते ॥१४६॥

[सकाम निर्गुणोपासकको तत्वज्ञान होनेका कारण यह है कि] सकाम निर्गुणोपासक निर्गुणोपासनाके सामर्थ्यसे ब्रह्मलोकमें ही तत्व-साक्षात्कार करलेता है। वह फिर इस मर्त्यलोकमें लौटकर नहीं आता इमं मानवमावर्तं नावर्तते। न स पुनरावर्तते। ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम्। जब कल्पका अन्त होनेलगता है उस समय वह आत्मद्रष्टा हिरण्यगर्भके कल्पशासनकालके समाप्त होजाने पर मुक्त होजाता है।

प्रणवकी निर्गुण और सगुण उपासना

प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्गुणा एव वेदगाः ।
क्वचित् सगुणताप्युक्ता प्रणवोपासनस्य हि ॥१४७॥

वेद [उपनिषत] में प्रणवकी उपासनायें हैं, प्रायः निर्गुण ही हैं। कहीं कहीं एकाध प्रणवोपासना सगुण भी वर्णित है।

प्रणवोपासनाकी द्विविधतामें प्रमाण

परापरब्रह्मरूप ओंकार उपवर्णितः ।
पिप्पलादेन मुनिना सत्यकामाय पृच्छते ॥१४८॥

पिप्पलाद मुनिने प्रश्नकर्ता सत्यकामके प्रश्नके उत्तरमें एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकार स्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेन एकतरमन्वेति परापर ब्रह्मरूप दो प्रकारका ओंकार बताया है। [इसीको ओंकारकी निर्गुण और सगुणोपासनाका प्रमाण समझना चाहिए।]

कठवल्लीमें दो प्रकारकी प्रणवोपासना

एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।
इति प्रोक्तं यमेनापि पृच्छते नचिकेतसे ॥१४९॥

[कठोपनिषत् में] यमने भी प्रश्नकर्ता नचिकेताको यही उत्तर दिया है कि (एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्) इस ओंकाररूपी आलम्बनको जानकर जो पुरुष जो चाहता है उसे वही मिलता है। [यमके इस उत्तरसे भी प्रणवोपासना दो प्रकारकी पायी जाती है ।]

इह वा मरणे वास्य ब्रह्मलोकेऽथवा भवेत् ।
ब्रह्मसाक्षात्कृतिः सम्यगुपासीनस्य निर्गुणम् ॥१५०॥

प्रकरणका तात्पर्य यह है कि जो निर्गुणकी [किसी प्रकारकी भी] उपासना भलेप्रकार करलेता है उसको या तो इसी लोकमें या मरतेसमय अथवा ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्मका साक्षात्कार हो ही जाता है। [वह होने से नहीं रुकता]

अर्थोऽयमात्मगीतायामपि स्पष्टमुदीरितः ।
विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति संततम् ॥१५१॥

विचार करनेमें असमर्थ [जिन्हें विचारसे तत्वज्ञान प्राप्त नहीं होसकता] मनुष्य निर्गुणब्रह्मकी निरन्तर उपासना किया करें। यह बात आत्मगीतामें भी स्पष्ट कही है। [विचारसे तत्वज्ञानसम्पादनमें असमर्थ निर्गुण ब्रह्मध्यानका अधिकारी है।]

ध्यानाधिकारके सम्बन्धी आत्मगीताका प्रमाण

साक्षात्कर्तुमशक्तोऽपि चिन्तयेन्मामशङ्कितः ।
कालेनानुभवारूढो भवेयं फलितं ध्रुवम् ॥१५२॥

[आत्मगीतामें कहा है कि] आत्मतत्वका साक्षात् करनेमें अशक्त मनुष्य भी निःशङ्क होकर, मेरी उपासना किया करे। मैं विश्वास

दिलाता हूं कि मैं समय आनेपर उसके अनुभवमें आऊंगा और निश्चय ही फलित होजाऊंगा।

ध्यानके तत्वज्ञानका उपाय होनेका दृष्टान्त

यथाऽगाधनिधेर्लब्धौ नोपायः खननं विना ।
मल्लाभेऽपि तथा स्वात्मचिन्तां मुक्त्वा न चापरः ॥१५३॥

जैसे अगाध निधिको पानेका खोदनेके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है, इसीप्रकार मेरे पानेका भी आत्मचिन्ताको छोड़कर और कोई उपाय नहीं है।

देहोपलमपाकृत्य बुद्धिकुद्दालकात्पुनः ।
खात्वा मनोभुवं भूयो गृह्णीयान्मां निधिं पुमान् ॥१५४॥

पुरुष बुद्धिरूपी कुदालके सहारेसे [आत्मनिधिको छिपाये रखने वाले] देहरूपी पत्थरको हटाकर और मनरूपी भूमिको बार बार खोद खोदकर, मुझ निधिको प्राप्त करके छोड़े।

ज्ञानमें असमर्थको ध्यानमें अधिकार

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम् ।
अप्यसत् प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥१५५॥

अनुभूति न होती हो तो भी 'मैं ब्रह्म हूं' यह चिन्ता [उपासना] करता रहे। ध्यानसे असत् [पहले से अविद्यमान देवत्व आदि] भी मिल जाता है [उपासकलोग ध्यानकी महिमासे असत् भी देवभावको प्राप्त कर लेते हैं] अपना स्वरूप होनेके कारण, ध्यानसे नित्यप्राप्त सर्वात्मक ब्रह्म मिलजाता है, इसका तो कहना ही क्या ?

ब्रह्मध्यानका प्रत्यक्षसिद्ध फल

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद् दिने दिने ।
पश्यन्नपि न चेद् ध्यायेत् कोऽपरोऽस्मात् पशुर्वद ॥१५६॥

[ध्यानकरने वालोंका कहना है कि] ध्यान करनेसें दिनपर दिन अनात्मबुद्धि ढीली पड़ती जाती है। यदि कोई ध्यानके इस महाफलको देखकर भी ध्यान [उपासना] न करे तो इससे बड़ा पशु और कौन होगा?

प्रकरणका निष्कर्ष

देहाभिमानं विध्वस्य ध्यानादात्मानमद्वयम् ।
पश्यन् मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१५७॥

ध्यानका ऐसा अद्भुत प्रभाव है कि ध्यानसे देहाभिमानका ध्वंस करके अद्वय आत्माको पालेनेवाला मरणधर्मा भी अमर बनजाता है और इसी जन्ममें ब्रह्मीभावका लाभ करलेता है। [ध्यानसे देहाभिमानका विध्वंस होजाता है। अद्वितीय आत्माके दर्शन मिलते हैं। इस मरने वाले देहमें से 'मैंपने' का अभिमान टूट जानेके कारण उसे अपने स्वाभाविक अमरपनेका लाभ होजाता है। फिर उसे इस मरनेवाले देहमें रहते रहते ही अपना निजस्वरूप ब्रह्म प्राप्त होजाता है।]

ध्यानदीपके विचारका फल

ध्यानदीपमिमं सम्यक् परामृशति यो नरः ।
मुक्तसंशय एवायं ध्यायति ब्रह्म संततम् ॥१५८॥

जो पुरुष इस 'ध्यानदीप' का भले प्रकार विचार करता है, वह सभी संशयोंसे मुक्त होजाता है और सदा ब्रह्मका ध्यान रखने लगता है।

इतिश्रीमद्विद्यारण्यविरचितपंचदश्यां ध्यानदीपप्रकरणम्

नाटकदीपप्रकरणम् १०

इस प्रकरणमें अध्यारोप तथा अपवादकी प्रक्रियासे मन्दाधिकारियों को अनायास निष्प्रपंच ब्रह्मात्मतत्वका ज्ञान कराया जारहा हैः—

आत्मामें जगदारोपका प्रकार

परमात्माद्वयानन्दपूर्णः पूर्वं स्वमायया ।
स्वयमेव जगद् भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः ॥१॥

[सृष्टिसे] पहले [सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् । विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । पूर्णमदः] अद्वयआनन्दसे परिपूर्ण रहनेवाला वह परमात्मा अपनेमें रहनेवाली मायाशक्तिसे [मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्] (स्वयमेव जगद् भूत्वा) अपनेआप ही जगद्रूप [जगदाकारको प्राप्त] होकर तदात्मानं स्वयमकुरुत । सच्च त्यच्चाभवत् (जीवरूपतः प्राविशत्) उसीमें जीव रूपसे प्रवेश कर बैठा [तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । अनेन जीवेनात्मना नुप्रविश्य] ।

उत्तमाधमभावका अविरोध

विष्ण्वाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टो देवता भवेत् ।
मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भजति मर्त्यताम् ॥२॥

वह परमात्मा जब विष्णु आदि उत्तम देहोंमें प्रविष्ट होता है तब देवता बनजाता है । वह जब मर्त्य आदि अधम देहोंमें घुसता है तब मर्त्यभावको प्राप्त हो जाता है । [क्योंकि यह दीखने वाला उत्तमाधमभाव स्वाभाविक नहीं है । किन्तु यह ऊंचनीचभाव शरीररूपी उपाधिके कारण है । ऐसी अवस्थामें जब एक ही परमात्मा सब शरीरों में प्रविष्ट हुआ है तब फिर पूज्यपूजकभाव या उत्तमाधमभाव क्यों है ? इस प्रश्न का समाधान होजाता है ।]

जगदपवाद तथा उसका साधन

अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति ।
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम् ॥३॥

अनेक जन्मोंके भजनसे [अनेक जन्मोंमें किये हुए कर्मोंको ब्रह्ममें समर्पण करनेसे] यह प्राणी आत्मविचार [ज्ञानसाधन श्रवण आदि] करना चाहा करता है । आत्मविचार [विचारजनित ज्ञान] के प्रभावसे [अपने अद्वयानन्दादि रूपोंको ढकनेवाली] मायाके नष्ट होजानेपर फिर पहलेकी भांति स्वयं [अद्वयानन्दपूर्ण परमात्मा] ही शेष रहजाता है ।

बन्ध तथा मुक्ति

अद्वयानन्दरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता ।
बन्धः प्रोक्तः, स्वरूपेण स्थितिर्मुक्ति रितीर्यते ॥४॥

(अद्वयानन्दरूपस्य सद्वयत्वं दुःखिता च बन्धः प्रोक्तः) अद्वितीय आनन्दरूप ब्रह्मको अपने सद्वयपने और दुःखी होनेका भ्रम होजाना ही बन्ध कहाता है । (स्वरूपेण स्थितिः मुक्तिः इति ईर्यते) उस सद्वयपने तथा दुखीपनेके हट जानेपर उसका अपने स्वरूपमें स्थित होजाना मोक्ष कहाता है । [अद्वतीय ब्रह्मके सच्चे बन्ध मोक्षका निरूपण न होसकनेसे भ्रम ही बन्ध है और भ्रमनिवृत्ति ही मोक्ष है ।]

विचारजन्य ज्ञानकी आवश्यकता

अविचारकृतो बन्धो विचारेण निवर्तते ।
तस्माज्जीवपरात्मानौ सर्वदैव विचारयेत् ॥५॥

(बन्धः अविचारकृतः) यह बन्धन अविचारका [जीव और परमात्माके भेदको न विचारनेका] किया हुआ है । (विचारेण निवर्तते) विचार [जीव और आत्माके विचार] से ही यह निवृत्त होता है । (तस्मात्) इस कारण [तत्वसाक्षात्कार होने तक] (सर्वदा एव) सदा ही (जीवपरात्मानौ विचारयेत) जीव और परमात्माका विचार करता रहे ।

उपकरणसहित जीवका स्वरूप

अहमित्यभिमन्ता यः कर्ताऽसौ, तस्य साधनम् ।
मनस्तस्य क्रिये अन्तर्बहिर्वृत्ती क्रमोत्थिते ॥६॥

(यः अहम् इति अभिमन्ता असौ कर्ता) जो [चिदाभाससे युक्त अहंकार, देहादिमें] मैंपनेका अभिमान किया करता है, वही 'कर्ता' [कर्तृत्व आदि धर्मोंवाला जीव] कहाता है। (मनः तस्य साधनम्) मन [कामादिवृत्तिवाला अन्तःकरणभाग] उसका साधन है। (अन्तर्बहिर्वृत्ती तस्य क्रमोत्थिते क्रिये) अन्दर बाहरके गमनागमन व्यापार उस मनकी क्रमोत्थित क्रियायें हैं। [मन क्रमानुसार कभी अन्तर्वृत्ति और कभी 'बहिर्वृत्ति' नामकी दो प्रकारकी क्रियायें किया करता है]।

मनकी दो वृत्तियोंका स्वरूप और विषय

अन्तर्मुखाहमित्येषा वृत्तिः कर्तारमुल्लिखेत् ।
बहिर्मुखेदमित्येषा बाह्यं वस्त्विदमुल्लिखेत् ॥७॥

[उस मनकी] 'मैं' यह अन्तर्मुख वृत्ति तो कर्ताका उल्लेख करती है। [उसी मनकी] बहिर्मुख रहनेवाली 'इदं' यह वृत्ति देहसे बाहरके पदार्थोंको 'यह' इस रूपमें विषय किया करती है।

घ्राण आदि पांच इन्द्रियोंका विशेष कार्य

इदमो ये विशेषाः स्युर्गन्धरूपरसादयः ।
असांकर्येण तान् भिन्द्याद् घ्राणादीन्द्रियपंचकम् ॥८॥

[मन तो सामान्यतया 'इदं'को विषय करता है परन्तु] उस इदंके जो [गन्ध, रूप, रस आदि] विशेष विशेष धर्म हैं, उनको घ्राण आदि पांच इन्द्रियां ही पृथक् पृथक् प्रकट किया करती हैं। [यों मनका भी उपयोग होजाता और घ्राण आदि इन्द्रियें भी व्यर्थ नहीं होतीं। मनसे सामान्यज्ञान तथा इन्द्रियोंसे विशेष ज्ञान होता है। यहां तक उपकरण सहित जीवका निरूपण किया जाचुका]।

परमात्माका स्वरूप

कर्तारं च क्रियां तद्वद् व्यावृत्तविषयानपि ।
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः ॥९॥

जो चिद्रूप, चिद्रूप रहकर ही कर्ता अर्थात् अहंकारको भी, क्रिया [मनकी 'मैं' और 'यह' इन दो वृत्तिरूपी] को भी, तथा एक दूसरेसे अत्यन्त विलक्षण गन्धादि विषयोंको भी, एक ही यत्नसे अर्थात् एक ही साथ प्रकाशित किया करता है, उसी चिद्रूप को यहां [वेदान्तमें] साक्षी कहते हैं ।

ईक्षे शृणोमि जिघ्रामि स्वादयामि स्पृशाम्यहम् ।
इति भासयते सर्वं नृत्यशालास्थदीपवत् ॥१०॥

मैं रूप देखता हूं मैं शब्द सुनता हूं मैं गन्ध सूंघता हूं मैं रस चखता हूं मैं स्पर्श करता हूं इसप्रकार साक्षी आत्मा नृत्यशालामें रखे हुए दीपकके समान [द्रष्टा दृश्य और दर्शन] सबको एक ही साथ प्रकाशित किया करता है ।

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् ।
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ॥११॥

नृत्यशालामें रक्खा हुआ दीपक प्रभु [नृत्यशालाके स्वामी] को, सभ्यों अर्थात् दर्शकोंको, तथा नर्तकीको, समान रूपसे प्रकाशित किया करता है [वह किसीके प्रकाशकेलिए घटता बढ़ता नहीं है और जब नृत्यशालामेंसे ये सब लोग चले जाते हैं] जब वहां कोई नहीं रहता तब भी वह वहाँ दीप्त हुआ रहता है ।

अहकारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत् ।
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत् ॥१२॥

[ऊपरके दृष्टान्तकी भांति] यह साक्षीतत्व अहंकारको, बुद्धिको

और विषयोंको, प्रकाशित किया करता है। [सुषुप्ति आदिके समय] अहंकार सुषुप्ति आदिके रहने पर भी वह साक्षी पहले ही की भांति उसका साक्षी होकर जगमगाता रहता है।

निरन्तरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः ।
तद्भासा भास्यमानेयं बुद्धिर्नृत्यत्यनेकधा ॥१३॥

(कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः निरन्तरं भासमाने) उस कूटस्थ साक्षीके ज्ञप्ति [किंवा स्वप्रकाश चैतन्य] रूपसे सदा भासते रहनेपर (तद्भासा भास्यमाना इयं बुद्धिः अनेकधा नृत्यति) उसी अर्थात् सदाविभात साक्षी की प्रभासे प्रकाश्यमान यह बुद्धि ['यह घट है' 'यह पट है' इत्यादि] अनेक रूपोंमें नाचा करती [विकृत होती रहती] है। [क्योंकि बुद्धि विकारी होनेसे जड है, जड होनेसे स्फूर्तिरहित है, इस कारण उससे भिन्न सर्वावभासक साक्षी मानना पड़ता है।

नाटककल्पना

अहंकारः प्रभुः, सभ्या विषया, नर्तकी मतिः ।
तालादिधारीण्यक्षाणि, दीपः साक्ष्यवभासकः ॥१४॥

अहंकार ही इस [जगतरूपी] नाटकका प्रभु है [क्योंकि नाटकके स्वामीकी भांति विषयभोगकी सफलता और विफलतासे हर्ष और विषाद इसी अहंकारको होते हैं] विषय ही इस नाटकके सभ्य हैं [नाटकके दर्शकोंको सुखदुःखमयी घटना देखनेपर भी जैसे सुख दुःख कुछ नहीं होता, इसी प्रकार इन विषयोंको भी सुख दुःख कुछ नहीं होता] बुद्धि ही इस नाटककी नर्तकी है [क्योंकि नर्तकीकी अंगभंगी आदिकी भांति नाना प्रकारके विकार इसीमें होते हैं]। ताल आदिको धारण करनेवाली इन्द्रियां है [क्योंकि ये इन्द्रियाँ बुद्धिके विकारोंके अनुकूल व्यापार करने लगती हैं] यह साक्षी ही इन सबका अवभासक दीपक है [क्योंकि यही इन सबको प्रकाशित किया करता है।]

स्वस्थानसंस्थितो दीपः सर्वतो भासयेद् यथा ।
स्थिरस्थायी तथा साक्षी बहिरन्तः प्रकाशयेत् ॥१५॥

जैसे दीपक अपने स्थानपर ही रक्खा हुआ अपने चारों ओर [के सम्पूर्ण पदार्थोंको] प्रकाशित किया करता है, इसीप्रकार स्थिर रूपसे स्थायी यह साक्षी [विकारी न होकर ही] बाहर भीतर प्रकाश किया करता है।

बहिरन्तर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि ।
विषया बाह्यदेशस्था देहस्यान्तर हंकृतिः ॥१६॥

[अपूर्व 'अनन्तरमबाह्यम्' (बृ० ३-८-८) इत्यादि बृहदारण्यक श्रुतिके अनुसार साक्षीमें तो अन्दर और बाहरका कोई भी विभाग नहीं होता] यह सब बाहर अन्दरका विभाग देह [रूपी मानदण्ड] के कारण ही होता है। साक्षीमें यह विभाग सम्भव नहीं है। विषय तो शरीरसे बाहर रहते हैं। अहंकार शरीरके अन्दर होता है। [इसीसे अन्दर बाहर यह व्यवहार होनेलगा है। साक्षी आत्मामें अन्दर बाहर कहते नहीं बनता।]

अन्तःस्था धीः सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः ।
भास्यबुद्धिस्थचाञ्चल्यं साक्षिण्यारोप्यते वृथा ॥१७॥

शरीरके अन्दर बैठी हुई वह बुद्धि [रूपरसादिको ग्रहण करनेके लिये] इन्द्रियोंके साथ साथ [अथवा इन्द्रियोंके द्वारा] बार बार बाहर निकला करती है। बस बुद्धिकी इसी [बार बार बाहर निकलनेकी] चंचलताको [बुद्धिके भासक] साक्षीमें वृथा ही आरोपित करलिया जाता है। [उस साक्षीमें वास्तविक चंचलता नहीं है।]

गृहान्तरगतः स्वल्पो गवाक्षादातपोऽचलः ।
तत्र हस्ते नर्त्यमाने नृत्यतीवातपो यथा ॥१८॥
निजस्थानस्थितः साक्षी बहिरन्तर्गमागमौ ।
अकुर्वन् बुद्धिचाञ्चल्यात् करोतीव तथा तथा ॥१९॥

झरोखेमें होकर घरमें गया हुआ नन्हासा सूर्यप्रकाश, अचल होता है। [वह हिलता जुलता नहीं है] जैसे आतपके मध्यमें हाथ हिलाने पर वह आतप भी हिलनेसा लगता है ठीक इसीप्रकार साक्षी तो अपने ही स्थानमें [किंवा अपनी अचल मर्यादामें] बैठा हुआ है वह कभी बाहर अन्दर आना जाना न करता हुआ भी बुद्धिकी चंचलताके कारण, [अज्ञानियोंको] वैसा करता हुआ प्रतीत होनेलगता है।

न बाह्यो नान्तरः साक्षी बुद्धेर्देशौ हि तावुभौ।
बुद्ध्याद्यशेषसंशान्तौ यत्र भात्यस्ति तत्र सः ॥२०॥

[पहले श्लोकमें जो साक्षीको अपने स्थानपर स्थित बताया है उसका अभिप्राय सुनलो] साक्षी कभी बाह्य या आन्तर होता है यह हमें विवक्षित नहीं है। क्योंकि (तौ हि उभौ बुद्धेः देशौ हि) ये तो दोनों बुद्धिके देश कहाते हैं। (बुद्ध्याद्यशेषसंशान्तौ यत्र भाति अस्ति तत्र सः) बुद्धि तथा इन्द्रिय आदि सबकी प्रतीतिके शान्त होनेपर यह भाति अर्थात् यह प्रकाश, जहां [स्वतन्त्ररूपसे] जगमगाता रहता है, वहां इस साक्षीको समझो।

ब्रह्मको सर्वगत कहना भी अवास्तविक

देशः कोऽपि न भासेत यदि तर्ह्यस्त्वदेशभाक्।
सर्वदेशप्रक्लृप्त्यैव सर्वगत्वं न तु स्वतः ॥२१॥

यदि कहो [कि सम्पूर्ण व्यवहार बन्द होजानेपर तो] कोई भी देश भासा नहीं करता [फिर उसको उस देशमें कैसे पहचानें?] तो तुम उस को (अदेशभाक्) विना ही देश [स्थान] का समझ लो [भाव यह है कि देश आदिकी सब कल्पनाओंका अधिष्ठान यह आत्मा अपने लिये अपनेसे भिन्न किसी देशकी कुछ अपेक्षा नहीं करता।] शास्त्रमें जो उस को कहीं कहीं सर्वगत आदि कहा है, वह भी सर्वदेशकी कल्पनाके कारण

कहा है। वह साक्षी आत्मा स्वभावसे सर्वगत भी नहीं है [स्वभावसे तो वह अद्वितीय और असङ्ग है]

ब्रह्मके सर्वसाक्षित्वकी अवास्तविकता

अन्तर्बहिर्वा सर्वं वा यं देशं परिकल्पयेत् ।
बुद्धिस्तद्देशगः साक्षी, तथा वस्तुषु योजयेत् ॥२२॥

यह बुद्धि अन्दर या बाहर या जिस किसी भी देशकी कल्पना करलेती है उस देशका यह आत्मा 'साक्षी' कहाने लगता है [वास्तवमें तो सर्वगतपनकी भांति सर्वसाक्षिपन भी अवास्तविक स्थिति है] इसी प्रकार अन्य वस्तुओंमें भी साक्षीको समझ लेना चाहिए। [यह पिछली बात अगले श्लोकमें स्पष्ट की जारही है]

यद्यद् रूपादि कल्प्येत बुद्ध्या, तत्तत् प्रकाशयन् ।
तस्य तस्य भवेत् साक्षी, स्वतो वाग्बुद्ध्यगोचरः ॥२३॥

बुद्धिसे जिस जिस रूपादिकी कल्पना कीजाती है, उस उस [कल्पित पदार्थ] को प्रकाशित रखनेवाला यह आत्मा उस उसका 'साक्षी' कहानेलगता है [यदि तुम आत्माके वास्तव रूपको पूछो तो हम कहेंगे कि] वह स्वयं तो वाणी और बुद्धिका अविषय ही है [फिर उसे साक्षी भी कैसे कहें ?]

आत्मावशेष

कथं तादृङ् मया ग्राह्य इति चेन्मैव गृह्यताम् ।
सर्वग्रहोपसंशान्तौ स्वयमेवावशिष्यते ॥२४॥

यदि कहो कि मैं मुमुक्षु उस अवाङ्मनोगोचर साक्षीको कैसे ग्रहण करूं ? इसका उत्तर यही है कि उसे तुम ग्रहण ही मत करो। [तुम ग्रहण करनेके झगड़ेमें ही मत फंसो। क्योंकि आत्मा अग्राह्य है। उसका ग्रहणमें न आना हमें इष्ट है। आत्माकी अग्राह्यता वेदान्तका सिद्धान्त है।] सर्वग्रहके शान्त होजानेपर स्वयं आत्मा ही [सत्यरूपमें] शेष रहजाता है।

[आत्मासे भिन्न द्वैत संसारके मिथ्यात्वका निश्चय होजानेसे जब द्वैत प्रतीति शान्त होजाती है उस समय अपना आपाही सत्यरूपमें शेष रहा दीखने लगता है। इसीको 'विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम्' में परमात्मावशेषण कहा है। यही साक्षी है। यह अवाङ्मनोगोचर है]

न तत्र मानापेक्षास्ति स्वप्रकाशस्वरूपतः ।
तादृग्व्युत्पत्त्यपेक्षा चेच्छ्रुतिं पठ गुरोर्मुखात् ॥२५॥

सर्वग्रहकी शान्ति होजानेपर जो स्वात्मा शेषरहता है, उसके प्रत्यक्षकेलिए प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। क्योंकि वह स्वयं प्रकाश-स्वरूप है। वह आत्मा स्वयं प्रकाशस्वरूप है इससे उसे स्वस्फुरणकेलिये प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। यह जानना हो तो गुरुके मुखसे वेदान्तका अध्ययन करो। [जैसे जलते दीपकसे ही दूसरा दीपक जलता है। दीपचित्रसे दीपक नहीं जलता। इसीप्रकार अनुभवी ही दूसरेको अनुभवारूढ कर सकता है। ग्रन्थ ज्ञानीके मृत चित्र हैं। उन्हें गुरुमुखसे पढ़े बिना उनका रहस्य समझमें नहीं आता।]

यदि सर्वग्रहत्यागोऽशक्यस्तर्हि धियं व्रज ।
शरणं, तदधीनोऽन्तर्बहिर्वैषोऽनुभूयताम् ॥२६॥

यदि मन्दाधिकारी लोग सर्वग्रह [सर्वप्रतीति] का त्याग न कर सकते हों तो वे बुद्धिकी शरण लेलें। (बुद्ध्या अन्तः बहिः वा यत् यत् परिकल्प्यते तत्साक्षित्वेन तदधीनः एषः अन्तः बहिः वा अनुभूयताम्) बुद्धि अन्दर या बाहर जिस जिस पदार्थकी कल्पना करे उस उस पदार्थके साक्षी के रूपमें उसके अधीन इस परमात्माको अन्दर या बाहर जैसा जहां अवसर हो अनुभव करें [वे यह विचारें कि यह बुद्धि जिस जिस बाह्य या आभ्यन्तर पदार्थकी कल्पना करती है, यह परमात्मा उस उस पदार्थ का साक्षी होकर उसके अधीन सा रहता है।

इतिश्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां नाटकदीपप्रकरणम्

ब्रह्मानन्दे योगानन्दप्रकरणम् ११

इस प्रकरणमें योगसे निजानन्दका अनुभव करनेकी रीति वर्णित है

ब्रह्मानन्दं प्रवक्ष्यामि, ज्ञाते तस्मिन्नशेषतः ।
ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं हित्वा सुखायते ॥१॥

अब हम ब्रह्मरूप आनन्द किंवा ब्रह्मानन्द नामक ग्रन्थका वर्णन करेंगे। जब कोई उस प्रतिपाद्य आनन्दको तथा उस के प्रतिपादक ग्रन्थको जानलेता है तब वह ऐहिक और आमुष्मिक [पारलौकिक] दोनों अनर्थों को सम्पूर्णरूपसे छोड़कर सुखरूप ब्रह्म होजाता है। [उसको जो इस लोकके देह पुत्रादिमें 'मैं' और 'मेरेपन'का अभिमान करनेसे आध्यात्मिक आदि ताप होते थे, या परलोकमें जिन तापोंके मिलनेकी संभावना थी, वह उन सबको सम्पूर्णरूपसे छोड़कर सुखरूप ब्रह्मतत्व होजाता है। ब्रह्म तो इस प्रकरणका विषय है तथा अनिष्टनिवृत्ति और इष्टप्राप्ति इसके दो प्रयोजन हैं।]

ब्रह्मज्ञानसे अनिष्टहानि तथा इष्टलाभमें प्रमाण

ब्रह्मवित् परमाप्नोति, शोकं तरति चात्मवित् ।
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वानन्दी भवति नान्यथा ॥२॥

ब्रह्मदर्शी पर [उत्कृष्ट आनन्दरूपब्रह्म] को पा लेता है। आत्मज्ञानी [देशकाल वस्तु परिच्छेदहीन आत्माको जाननेवाला] शोक [अज्ञानमूलक संसारसमुद्र] को अतिक्रमण करजाता है। आत्मा रस [इस संसारका साररूप आनन्द] है। रसरूप [आनन्दरूप] ब्रह्म को [मैं ब्रह्म हूँ इस ज्ञानसे] पाकर ही आनन्दी [अपरिच्छिन्न निरतिशयसुखवाला] होता है। मनुष्य ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानको छोड़कर अन्य किसी भी उपायसे आनन्दी नहीं होसकता।

ब्रह्मविदाप्नोति परम् [तै २-१] श्रुतं ह्य व मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकं चात्मवित्। सोहं भगवः शोचामि। तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु [छा० ७-१-३] रसो वै सः। रसं ह्य वायं लब्धानन्दी भवति [तै० २-७] इन सब प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञानसे अनिष्टकी निवृत्ति और इष्टकी प्राप्ति होती है।

अन्वयव्यतिरेकसे अनर्थनिवृत्तिप्रदर्शन

प्रतिष्ठां विन्दते स्वस्मिन् यदा स्यादथ सोऽभयः।
कुरुतेऽस्मिन्नन्तरं चेदथ तस्य भयं भवेत् ॥३॥

जब मनुष्य अपने आपेमें प्रतिष्ठा पालेता है तब वह अभय हो जाता है। जब इसमें भेद करबैठता है फिर उसे भय लगने लगता है।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये ऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते ऽथ सोऽभयं गतो भवति [तै० २-७] जिस समय यह मुमुक्षु विद्वानोंके अनुभवमें आनेवाले इन्द्रियोंसे न दीखनेवाले, स्वरूप होनेके कारण अपना न कहा सकनेवाले, शब्दोंसे न कहे जानेवाले, किसीके आश्रयमें न रहनेवाले, अर्थात् अपनी ही महिमा में ठहरनेवाले, इस आत्मामें अभय अर्थात् भेदरहित होकर, प्रतिष्ठा अर्थात् अपनी ब्रह्मरूप स्थितिको, श्रवणादिके द्वारा उपार्जन करलेता है उसी समय भयरहित मोक्षरूपी अद्वितीय ब्रह्मको प्राप्त होजाता है। फिर आगे 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति [तै० २-७] इस श्रुतिमें कहा है कि जब वही मुमुक्षु उसी प्रत्यगभिन्नब्रह्ममें थोड़ासा भी [उपास्य उपासक आदि रूपी] भेद करता या देखने लगता है तब तुरन्त ही उस भेददर्शीको भय अर्थात् संसारप्रयुक्तदुःख होनेलगता है।

भेददर्शियोंके भयमें प्रमाण

वायुः सूर्यो वन्हिरिन्द्रो मृत्यु र्जन्मान्तरेन्तरम्।
कृत्वा धर्मं विजानन्तोऽप्यस्माद् भीत्या चरन्ति हि ॥४॥

भीषास्माद्वात: पवते [तै० २-८] इसमें कहा है कि [जगत्के नियामक कहानेवाले] वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र तथा मृत्यु ये [पांचों देवता] पिछले जन्मोंमें अपने इष्ट आपूर्त आदि सांसारिक धर्मको जानते और उसपर आचरण करते हुए भी केवल अन्तर करलेने [किंवा प्रत्यगात्मा और ब्रह्म तत्वको भिन्न समझलेने] के कारण उसी ब्रह्मके भयसे [अब वायु आदि जन्मोंमें] अपने अपने व्यापारों में ही सदा लगे रहते हैं [भयादस्याग्नि स्तपति भयात्तपति सूर्य: भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचम: जैसे तेलीका बैल डण्डेके डरसे अपने चक्कर पर घूमता रहता हो ।]

ब्रह्मानन्दको समझ जानेमात्रसे अनर्थवृत्ति और आनन्दलाभमें प्रमाण

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ।
एतमेव तपेन्नैषा चिन्ता कर्माग्निसंभृता ॥५॥

ब्रह्मके स्वरूपभूत आनन्दका साक्षात्कार करलेनेवाला पुरुष फिर किसी [संसारी व्याघ्रादि तथा पारलौकि भयहेतु पाप आदि] से भय नहीं करता । कर्मरूपी हृदयदाहक अग्निकी चिन्ता केवल इस ज्ञानीको ही नहीं तपाती [शेष तो सब प्राणी इसी कर्तव्याग्निकी ज्वालाओंसे कि मैंने पुण्य क्यों नहीं किया तथा पाप क्यों करलिया, झुलसते और जलते भुनते रहते हैं]।

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन [तै० २-८-६] ब्रह्मके स्वरूपभूत आनन्दको अपरोक्षरूपसे जानलेनेवाला पुरुष किसीसे भी नहीं डरता । न तो उसे ऐहिक व्याघ्रादिका डर रहता है और न वह पारलौकिक भय उत्पन्न करनेवाले पापादिसे भय मानता है । 'एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' में कहा है कि पुण्यपाप कर्मरूपी अग्निसे बनी हुई यह चिन्ता कि मैंने पुण्य क्यों नहीं किया और पाप क्यों करडाला बस एक इस तत्वज्ञानीको ही संतप्त नहीं करती । इस तत्वको न जाननेवाले लोग तो इस चिन्तासे सदा संतप्त रहते हैं ।

एवं विद्वान् कर्मणी द्वे हित्वात्मानं स्मरेत् सदा ।
कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणैवैष पश्यति ॥६॥

ऐसा जानलेवाला पुरुष दोनों [पुण्यपाप] कर्मोंको छोड़कर सदा आत्माको स्मरण रखता है और किये हुए कर्मों [पुण्यपापों] को आत्मरूप जाना करता है ।

'स य एवं विद्वानेतं आत्मानं स्पृणुते उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते' इस श्रुतिमें कहा है कि जो इस पुरुषमें और जो इस आदित्यमें है वह एक ही आत्मा है । जो कोई पुरुष इस रीतिसे आत्माको जान जाता है वह जब संसारमें प्रवृत्त होता है तब वह इन पुण्यपापोंको छोड़ कर इस ब्रह्माभिन्न प्रत्यगात्माको सदा प्रसन्न करता रहता किंवा स्मरण करता रहता है । [क्योंकि पुण्यपापोंको मिथ्या समझकर छोड़ देता है, इसकारण उसे उनकी चिन्ता नहीं रहती । फिर उसे उस चिन्तासे होने वाला ताप भी कैसे होगा ? तथा यह विद्वान् देहादिकी प्रवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यपाप कर्मोंको आत्मरूप देखता है । यों पुण्यपापकर्म आत्मा से अभिन्न होनेके कारण उसके तापक नहीं रहते ।

भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥७॥

उस परावरके देखलियेजानेपर इसकी हृदयग्रन्थि खुलजाती है, सब सन्देह मिटजाते हैं और सब कर्म नष्ट होजाते हैं ।

जिसके सामने 'पर' भी हिरण्यगर्भ आदिका पद 'अवर' अर्थात् निकृष्ट दीखने लगता है, जब किसीको उस 'परावर' परमात्माका साक्षात्कार होता है तब उस साक्षात्कारीकी अन्योन्याध्यासरूपी हृदय-ग्रन्थि—जिसमें बुद्धि और चिदात्मा दोनों रस्सीकी गाँठकी भांति हिलमिल रहे हैं—विदीर्ण होजाती है । फिर आत्मा देहादिसे भिन्न है या नहीं ? भिन्न होनेपर भी कर्तृत्व आदि धर्मवाला है या नहीं ? अकर्ता होनेपर

भी ब्रह्मसे भिन्न है या नहीं ? अभेद होनेपर भी उसके ज्ञानसे मुक्ति मिलेगी या नहीं ? इत्यादि समस्त संशय टूक टूट होजांते हैं [क्योंकि तत्वसाक्षात्कारके पश्चात् संशय या विपर्यय नहीं देखे जाते] फिर इस ज्ञानीके कर्म [संचित और आगामी कर्म] भी नष्ट होजाते हैं। क्योंकि उनका निदान अज्ञान शेष नहीं रहता ।

तमेव विद्वानत्येति मृत्युं, पन्था न चेतरः।
ज्ञात्वा देवं पाशहानिः क्षीणैः क्लेशैर्न जन्मभाक् ॥८॥

उसीको जाननेवाला जन्ममरणके चक्करसे छूटता है, मृत्युसंतरणका ज्ञानसे दूसरा कोई उपाय नहीं है। देवको जानकर ही फांसा खुल सकता है। क्लेशोंके नष्ट होजानेपर फिर जन्म लेना नहीं पड़ता।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (श्वे० ३-८) इस श्रुतिमें कहा है कि उस पूर्वोक्त परमात्माको जाननेवाला ही इस मृत्युरूपी संसारको अतिक्रमण करता है। अर्थात् आत्मज्ञानके अतिरिक्त मुक्तिका दूसरा समुच्चयरूप या केवल कर्मरूप कोई साधन [मोक्षोपाय] नहीं है। ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः। क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः (श्वे० १-११) इस श्रुतिमें कहा है कि जो कोई देव अर्थात् स्वप्रकाश ब्रह्मात्माको जान लेता है किंवा अपरोक्षरूपसे अनुभव करलेता है उसके काम क्रोध आदि सब पाश नष्ट होजाते हैं। रागादि क्लेश क्षीण होजानेपर फिर उसके जन्म और मृत्यु नहीं होते। क्योंकि नष्ट हुए रागादि अगला जन्म दिलानेवाले कर्मोंको उत्पन्न नहीं करसकते। यों जैसे इस आत्मज्ञानसे इस लोकके अनिष्ट नष्ट होते हैं, इसीप्रकार इससे परलोकके अनिष्ट भी मरजाते हैं।

दृढ अपरोक्षज्ञानीके इसी जन्ममें शोकसन्तरणमें प्रमाण

देवं मत्वा हर्षशोकौ जहात्यत्रैव धैर्यवान्।
नैनं कृताकृते पुण्यपापे तापयतः क्वचित् ॥९॥

धीर पुरुष देवको जानकर इसी जन्ममें और इसी लोकमें हर्ष शोक करना छोड़ देता है। किये और बिन किये पुण्य पाप फिर इसे कहीं कभी भी दुःखी नहीं करते।

'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (कठ० १-२-१२) इस श्रुतिमें कहा है कि धीर अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि साधनोंसे सम्पन्न पुरुष, चिदानन्दरूपी देवको जानकर, इसी जन्ममें हर्ष और शोक करना छोड़ देता है। नैनं कृताकृते तपतः इस वाक्यमें कहा है कि किया और बिन किया पुण्य तथा पाप इस ज्ञानीको तप्त नहीं करता। ताप एक प्रकारका चित्तविकार है। जब पुण्य किया जाता है तब हर्षरूपी विकार उत्पन्न होता है। जब नहीं कियाजाता तब विषादरूपी विकार उत्पन्न होता है। इसके विपरीत जब पापका आचरण न हो तब हर्ष होता है जब होजाय तब विषाद होता है। तत्वज्ञानीमें ये दोनों ही, दोनों प्रकारके विकारोंको उत्पन्न नहीं कर सकते। क्योंकि उस तत्वज्ञानी को अविक्रिय ब्रह्मरूपताका परिज्ञान होचुकता है। भाव यह है कि नव-ज्ञानियोंमें इष्टानिष्टकी प्राप्ति या परिहारके लिये प्रवृत्ति दीखती भी हो परन्तु जिन्हें दृढ अपरोक्षज्ञान होजाता है उन्हें फिर हर्ष शोक नहीं होते। वे फिर इष्टानिष्ट की प्राप्ति या परिहारका उद्योग छोड़ बैठते हैं।

इत्यादिश्रुतयो बह्व्यः पुराणैः स्मृतिभिः सह।
ब्रह्मज्ञानेऽनर्थहानि मानन्दं चाप्यघोषयन् ॥१०॥

ये ही नहीं, ऐसी बहुतसी श्रुतियें तथा पुराण, इस बातकी घोषणा कररहे हैं कि ब्रह्मज्ञानसे अनर्थकी हानि और आनन्दकी प्राप्ति होती है। इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति। तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्। निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते। सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति। क्षेत्रज्ञस्यात्मविज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता।

आनन्दके तीन प्रकार तथा ब्रह्मानन्दविवेचनकी प्रतिज्ञा

आनन्दस्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्यासुखं तथा।
विषयानन्द, इत्यादौ ब्रह्मानन्दो विविच्यते ॥११॥

आनन्द 'ब्रह्मानन्द' विद्यानन्द' और 'विषयानन्द' यों तीन प्रकार का जानना चाहिये। [इनमेंसे पिछले दोनों आनन्द भी क्योंकि ब्रह्मानन्द-मूलक होते हैं इसलिये] पहले [योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द नाम के तीनों अध्यायोंमें] ब्रह्मानन्दका विवेचन किया जारहा है।

भृगुः पुत्रः पितुः श्रुत्वा वरुणाद् ब्रह्मलक्षणम्।
अन्नप्राणमनोबुद्धींस्त्यक्त्वाऽऽनन्दं विजज्ञिवान् ॥१२॥

भृगु नामके पुत्रने अपने वरुण नामके पितासे ब्रह्मके लक्षण "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म "जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारेसे जीते हैं मरते समय जिसमें प्रविष्ट होजाते हैं, उसको जानो वही ब्रह्म है" को सुनकर इस लक्षणको अन्न, प्राण, मन और बुद्धि नामक कोशोंमें न पाकर उन्हें अब्रह्म निश्चय करके छोड़कर अन्तमें [आनन्दमें ब्रह्मका लक्षण मिलनेसे] आनन्दको ब्रह्म जान लिया था।

आनन्दादेव भूतानि जायन्ते तेन जीवनम्।
तेषां लयश्च तत्रातो ब्रह्मानन्दो न संशयः ॥१३॥

[उसने आनन्दमें ब्रह्मका लक्षण इस प्रकार पाया कि] (आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति) ग्राम्यधर्म [मैथुन] से होनेवाले आनन्दसे प्राणी उत्पन्न होते हैं। ये प्राणी [विषयभोगादिमूलक] आनन्दके सहारेसे ही जीवन धारण कररहे हैं। उन प्राणियोंका लय भी उसी आनन्दमें होता रहता है [सुषुप्तिके समय प्रतीत होनेवाला जो स्वरूपभूत आनन्द है उसी

में ये प्राणी लीन होजाते हैं। क्योंकि सुषुप्तिमें आनन्दकी अधिकताके अतिरिक्त और किसीका भी अनुभव नहीं होता इस कारण आनन्द नामकी जो वस्तु है वही ब्रह्म है [सबके अनुभवसे सिद्ध होनेके कारण आनन्दके ब्रह्म होनेमें सन्देह न करना चाहिये।]

भूतोत्पत्तेः पुरा भूमा त्रिपुटीद्वैतवर्जनात्।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो ॥१४॥

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा [छा० ७-२४-१] इस छान्दोग्य श्रुतिमें कहा है कि जब तक भूत [आकाश आदि और उनके कार्य जरायुज अण्डज आदि] की उत्पत्ति नहीं हुई थी उससे पहले त्रिपुटीरूपीद्वैत [ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय रूपी तीन आकारोंका नाम ही द्वैत है उस] के न रहनेसे, केवल एक भूमा नामका परमात्मा ही परमात्मा था [उस समय उसमें देशकाल और वस्तुकृत परिच्छेद नहीं था। क्योंकि वेदान्तोंका यह सिद्धान्त है कि] प्रलयकालमें आगे कही जानेवाली ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी नहीं रहती।

ज्ञाता आदिका स्वरूप

विज्ञानमय उत्पन्नो ज्ञाता, ज्ञानं मनोमयः।
ज्ञेयाः शब्दादयो, नैतत् त्रयमुत्पत्तितः पुरा ॥१५॥

उस भूमा परमात्मासे उत्पन्न हुआ बुद्ध्युपाधिक जीव विज्ञानमय 'ज्ञाता' कहाता है। मनमें प्रतिबिम्बित होकर मनोमय कहानेवाला वही चैतन्य 'ज्ञान' कहा जाता है। शब्द स्पर्श आदि 'ज्ञेय' तो प्रसिद्ध ही हैं। ये तीनों उत्पत्तिसे पहले नहीं थे। [उस समय ये कारणसे भिन्न नहीं थे।]

त्रयाभावे तु निर्द्वैतः पूर्ण एवानुभूयते।
समाधिसुप्तिमूर्छासु, पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा ॥१६॥

(यथा समाधिसुप्तिमूर्छासु त्रयाभावे निर्द्वैतः पूर्णः एव अनुभूयते) प्रकृत तात्पर्य यह है कि जैसे समाधि सुषुप्ति और मूर्छाके समय [ज्ञाता आदि] तीनोंके न रहनेपर उस निर्द्वैत पूर्ण भूमाका अनुभव

हुआ करता है। [समाधिमें विद्वान्‌को उस निर्द्वैतपूर्ण आत्माका अनुभव होता है। सुषुप्ति और मूर्छामें सर्वसाधारणको भी उस निर्द्वैतपूर्ण भूमाका अनुभव हुआ करता है] जैसे सुषुप्ति आदिके समय परिच्छेदक न रहनेपर आत्मामें पूर्णता आजाती है (तथा आत्मा सृष्टेः पुरा अपि त्रयाभावात् पूर्णः) इसीप्रकार वह आत्मा सृष्टि बननेके पहले भेदक [तीनों] के न रहनेसे पूर्ण रहता है।

भूमाकी सुखरूपता

यो भूमा स सुखं नाल्पे सुखं त्रेधा विभेदिनि ।
सनत्कुमारः प्राहैवं नारदायातिशोकिने ॥१७॥

'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति' [छा० ७-२४-१] प्रथम कहा हुआ 'भूमा' ही सुख [किंवा आनन्द] है। [भूमा और सुखमें कोई भेद नहीं है। जो सबसे महान है वही सुख है] [ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयके] तीन रूपोंमें खण्डित होजानेवाले अल्पमें सुख नहीं है। सनत्कुमारने अपनी अज्ञानमयी अवस्थापर अत्यधिक शोक करनेवाले नारदके प्रति यही बात कही थी।

सपुराणान् पञ्च वेदाञ्शास्त्राणि विविधानि च ।
ज्ञात्वाप्यनात्मवित्त्वेन नारदोऽतिशुशोच ह ॥१८॥

नारद चारों वेदों, पुराणों और विविध शास्त्रोंका पण्डित होकर भी, अनात्मज्ञानी होनेके कारण, बड़ा शोकमग्न रहाकरता था।

वेदाभ्यासात् पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता ।
पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभङ्गगर्वैश्च शोकिता ॥१९॥

[यद्यपि वेदादिको जाननेसे शोककी निवृत्ति होजानी चाहिये थी, परन्तु इन्हें जानकर भी नारदके अतिशोकी होनेका कारण यह था कि] वेदाभ्याससे पहले पहले तो उसे आध्यात्मिक आदि तीन ताप ही

शोको रखते थे । परन्तु अब उसे इन वेदोंका अभ्यास करना पड़ता है, इनके भूलनेका डर बना रहता है, पराजयकी शंका लगी रहती है, अपनेसे थोड़े विद्वान्को देखकर गर्व भी होता है । यों वेद पढ़नेके पश्चात् उसके शोकके बहुतसे कारण बढ़गये थे ।

सुखरूपब्रह्मका ज्ञान ही शोकनिवृत्तिका उपाय

सोहं विद्वन् प्रशोचामि शोकपारं नयात्र माम् ।
इत्युक्तः सुखमेवास्य पारमित्यभ्यधादृषिः ॥२०॥

[नारदने स्वयं अपने मुखसे यह कहा है कि] (सोहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु) हे विद्वन् ! वह मैं शोकमें फंसा हूँ । आप मुझे शोकसे पार करदीजिये । यों जब उसने शोककी निवृत्तिका उपाय बूझा तब सनत्कुमार ऋषिने [अपने जाने हुए] सुखरूप ब्रह्मको ही शोकनिवृत्तिके उपाय रूपमें बताया था । [उसने कहा था कि सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम् [छा० ७-२२-१] यदि शोकसे बचना हो तो सुखको जानलो कि सुख क्या तत्व है ? मनुष्य सुखको न समझकर ही सुखसे वंचित है । सुखको जानलेनेपर शोक करनेका प्रसंग नहीं आता। संसारी प्राणी सुखके सच्चे रूपको न समझनेके कारण ही उसको विषयों में खोजते हैं । यदि वे सुख तत्वको समझ जाँय तो उनकी सुखकी बाह्य मांग बन्द होजाय और वे कोटिजन्मसन्तरणीय शोकसागरको गोष्पदके समान एक क्षणमें पार कर सकें । यही उस ऋषिका अभिप्राय था]।

सांसारिक सुखोंकी दुःखरूपता

सुखं वैषयिकं शोकसहस्रेणावृतत्वतः ।
दुःखमेवेति मत्वाह नाल्पेऽस्ति सुखमित्यसौ ॥२१॥

सनत्कुमार मुनिने 'अल्पमें सुख न होनेकी बात यह मानकर कही थी कि वैषयिक [विषयों द्वारा मिले हुए] सुख [सुख नहीं होते किन्तु] सहस्रों शोकोंसे आच्छादित रहनेके कारण दुःख ही होते हैं ।

वैषयिक सुखरूपी मांसके टुकड़ेपर सहस्रों शोकरूपी गीधों और बाघोंके दांत लगे रहते हैं, वे उसपर सदा मंडराते रहते और उसे नोच नोचकर खाते रहते हैं। इस कारण वैषयिक सुखको सुख कहना मनुष्यकी सबसे बड़ी भूल है। वह सुखनामधारी एक दुःख ही है। वह ऐसा दुःख है जैसे किसीको खाजमें आनन्द आता हो। उसको सुखके वेशमें मनुष्य के सामने आनेवाला दुःख मानना चाहिये।

अद्वैतमें सुखाभावकी शंका

ननु द्वैते सुखं मा भूदद्वैतेऽप्यस्ति नो सुखम्।
अस्ति चेदुपलभ्येत तथा च त्रिपुटी भवेत् ॥२२॥

अच्छा यह तो मानलिया कि द्वैतमें सुख नहीं है। परन्तु हमें दीखता है कि अद्वैतमें भी सुख नहीं है। यदि अद्वैतमें सुख होता तो वह [विषयसुखादिकी भांति] उपलब्ध होना चाहिये था [उपलब्ध न होनेसे मानते हैं कि अद्वैतमें भी सुख नहीं है] यदि कोई कहे कि अद्वैतमें तो सुखकी उपलब्धि होती है तो उससे कहो कि फिर तो त्रिपुटी बनजायगी [और अद्वैत नहीं रह सकेगा। तब अनुभविता, अनुभव और अनुभाव्य ये तीन आकार मानने पड़ेंगे और अद्वैतका नाश हो जागया।]

अद्वैत सुखकाधिकरण नहीं होता

मास्त्वद्वैते सुखं, किन्तु सुखमद्वैतमेव हि।
किं मानमिति चेन्नास्ति मानाकांक्षा स्वयंप्रभे ॥२३॥

[सिद्धान्ती उत्तर देता है] अद्वैतमें सुख न सही, परन्तु अद्वैत ही सुख है [अद्वैत स्वयं ही सुख है]। यदि इस बातका प्रमाण बूझो तो यह तुम्हारा प्रमाणका प्रश्न ही नहीं बनता। क्योंकि स्वयंप्रकाश वस्तुमें प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती।

अद्वैतकी स्वप्रकाशतामें प्रमाण

स्वप्रभत्वे भवद्वाक्यं मानं यस्माद् भवानिदम् ।
अद्वैतमभ्युपेत्यास्मिन् सुखं नास्तीति भाषते ॥२४॥

अद्वैतकी स्वप्रकाशतामें भी प्रमाण बूझना चाहो तो हम कहेंगे कि उसमें तुम्हारा ही वाक्य प्रमाण है। क्योंकि तुम प्रमाणोंके विना अद्वैतको मानकर, केवल सुखपर आक्षेप करते हो कि अद्वैतमें सुख नहीं है। [इस कारण कहते हैं कि वह अद्वैततत्व--जिसे तुम 'मैं' कहते हो—स्वयंप्रकाश है।]

नाभ्युपैम्यहमद्वैतं त्वद्वचोनूद्य दूषणम् ।
वच्मीति चेत्तदा ब्रूहि किमासीद् द्वैततः पुराः ॥२५॥

[पूर्वपक्षी कहता है] मैं अद्वैतको माननेवाला नहीं हूँ। मैं तो तुम्हारे कथनका अनुवाद करके उसपर दूषण दे रहा हूं। [ऐसी अवस्था में मेरे शब्दोंसे अद्वैतकी सिद्धि करना अनुचित है] इसपर सिद्धान्ती कहता है कि अच्छा यह बताओ कि द्वैतसे पहले क्या था?

किमद्वैतमुत द्वैत मन्यो वा कोटिरन्तिमः ।
अप्रसिद्धो, न द्वितीयोऽनुत्पत्तेः, शिष्यतेऽग्रिमः ॥२६॥

बताओ द्वैतसे पहले अद्वैत था? द्वैत था? या कोई और कोटि थी? द्वैत और अद्वैतसे भिन्न कोई तीसरी कोटि प्रसिद्ध नहीं है। द्वैत से पहले द्वैत ही हो यह ठीक नहीं है। क्योंकि तब तक तो द्वैतकी उत्पत्ति नहीं हुई थी। इस कारण प्रथमपक्ष शेष रहजाता है। अर्थात् द्वैतकी उत्पत्तिसे प्रथम अद्वैत था यह सिद्ध होजाता है।

अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैव नानुभूत्येति चेद्वद ।
निर्दृष्टान्ता सदृष्टान्ता वा कोट्यन्तर मत्र नो ॥२७॥

यदि कहो कि अद्वैतकी सिद्धि युक्तिसे ही होती है, अनुभवसे अद्वैतका अनुमोदन नहीं होता। तो बताओ कि जो युक्ति अद्वैतको सिद्ध

करती है, वह कोई दृष्टान्त न देकर सिद्धकरती है या दृष्टान्त देकर सिद्ध करती है ? इन दोनों अवस्थाओंके अतिरिक्त तीसरी बात नहीं होसकती।

नानुभूति र्न दृष्टान्त इति युक्तिस्तु शोभते ।
सदृष्टान्तत्वपक्षे तु दृष्टान्तं वद मे मतम् ॥२८॥

[अद्वैतकी सिद्धि युक्तिसे ही होती है, अनुभवसे अद्वैतकी सिद्धि नहीं होती, कहनेवाला अनुभूतिका केवल निषेध कर रहा है, परन्तु दृष्टान्तके विना युक्ति कुछ सिद्ध नहीं कर सकती। फिर उसका यह कहना कि] विना दृष्टान्तके अद्वैत सिद्धि होजाती है उसके ही मुंहको शोभा देनेवाली बात है [विवेचक ऐसी बात नहीं मान सकते कि विना दृष्टान्त के भी कोई बात युक्तिसे सिद्ध होजाती हो] अब केवल सदृष्टान्तत्वपक्ष शेष रहजाता है [कि युक्ति दृष्टान्त देकर ही किसी अर्थको सिद्ध किया करती है] उसमें आपको ऐसा दृष्टान्त देना चाहिये जो हम दोनों वादियोंको सम्मत हो।

अद्वैतः प्रलयो द्वैतानुपलम्भेन सुप्तिवत् ।
इति चेत् सुप्तिरद्वैतेत्यत्र दृष्टान्तमीरय ॥२९॥

[पूर्ववादी कहता है कि अच्छा लो दृष्टान्त भी सुनो] प्रलय एक प्रकारका अद्वैत [द्वैतरहित अवस्था] है। क्योंकि उस समय द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती। जिस जिसमें द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती वह सब अद्वैत होता है जैसे सुप्ति। इसपर हमारा कहना है कि सुप्ति अद्वैत होती है इस बातको सिद्ध करनेके लिये भी तुम्हें अन्य दृष्टान्त देना पड़ेगा। [यदि तुम अपनी सुप्तिका दृष्टान्त दोगे तो उसे कोई जानता नहीं। वह दूसरेके प्रति असिद्ध है। इस कारण उसकी सिद्धिके लिये तुम्हें कोई और दृष्टान्त टटोलना पड़ेगा।]

दृष्टान्तः परसुप्तिश्चेदहो ते कौशलं महत् ।
यः स्वसुप्तिं न वेत्यस्य परसुप्तौ तु का कथा ॥३०॥

यदि तुम दूसरेकी सुप्तिका दृष्टान्त दो 'सुप्तिरद्वैता परसुप्तिवत्' तब यह तुम्हारी बड़ी [भद्दी] चतुराई है [क्योंकि तुम्हारे प्रति अप्रसिद्ध होनेके कारण परसुप्तिका दृष्टान्त नहीं देना चाहिये] भला जो तुम अपनी सुप्तिको भी नहीं जानते वह तुम दूसरेकी सुप्तिकी बातें क्यों करते हो ? [जिसे अपनी सुप्तिका ज्ञान नहीं है उसे परसुप्तिका भी ज्ञान नहीं होसकता ।]

निश्चेष्टत्वात् परः सुप्तो यथाहमिति चेत् तदा ।
उदाहर्तुः सुषुप्तेस्ते स्वप्रभत्वं भवेद् बलात् ॥३१॥

यदि अनुमानसे परसुप्तिको सिद्धकरना चाहो कि परः सुप्तः निश्चेष्टत्वात् अहमिव दूसरा सोयापड़ा है क्योंकि [इसके प्राण चलरहे हैं और] निश्चेष्ट पड़ा है जैसे कि मैं सोया करता हूं । इसपर हम कहेंगे कि बस तब सुषुप्तिका दृष्टान्त देनेवाले तेरी सुषुप्ति ही, तेरे न चाहनेपर भी स्वयंप्रकाश सिद्ध होजाती है । नहीं तो बताओ कि तुम अपनी सुप्तिको कैसे जानते हो ?]

नेन्द्रियाणि न दृष्टान्तस्तथाप्यङ्गीकरोषि ताम् ।
इदमेव स्वप्रभत्वं यद् भानं साधनैर्विना ॥३२॥

एक तो सुप्तिको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियें नहीं होतीं [वे उस समय अपने कारणमें विलीन होजाती हैं] दूसरे तुम्हारे पास कोई दृष्टान्त भी नहीं है फिर भी तुम उस सुप्तिको मान रहे हो । इसे देखकर यही कहना पड़ता है कि ज्ञानके साधनोंके विना भी प्रकाशित होना ही [सुषुप्तिकी] 'स्वयंप्रकाशता' है ।

स्तामद्वैतस्वप्रभत्वे, वद सुप्तौ सुखं कथम् ।
शृणु, दुःखं तदा नास्ति ततस्ते शिष्यते सुखम् ॥३३॥

[प्रश्न यह है कि] सुषुप्ति अद्वैत और स्वयंप्रकाश भले ही हो, परन्तु सुषुप्तिमें सुख है, यह कैसे मान लें ? इसका उत्तर है कि उस समय [सुखका विरोध करनेवाला] दुःख नहीं रहता, इस कारण सुख ही शेष

रहजाता है। [क्योंकि सुखदुःख, प्रकाश और अन्धकारके समान विरोधी वस्तु हैं। जब दुःख नहीं रहता तब सुख शेष रहजाता है। अन्धकारके न रहनेपर प्रकाश शेष रहजाता है।]

सुप्तिमें दुःख न होनेमें श्रुति और अनुभव

अन्धः सन्नप्यनन्धः स्याद्विद्धोऽविद्धोऽथ रोग्यपि ।
अरोगीति श्रुतिः प्राह, तच्च सर्वे जना विदुः ॥३४॥

तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वान्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवति उपतापी सन्ननुपतापी भवति [छ० ८-४-२] तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति [छ० ८-१०-३] यह श्रुति कहती है कि सुषुप्ति आजानेपर अन्धा अन्धा नहीं रहता, घायल घायल नहीं रहता, रोगी अरोगी होजाता है। [सुषुप्तिमें देहाभिमानके कारण उत्पन्न हुए दोष भाग जाते हैं] इस बातको सब लोग जानते हैं [कि जब रोगसे पीडित पुरुषको सुषुप्ति आजाती है तब उसे उसके दुःखका अनुभव नहीं होता।]

न दुःखाभावमात्रेण सुखं लोष्ठशिलादिषु ।
द्वयाभावस्य दृष्टत्वादितिचेद् विषमं वचः ॥३५॥

पूर्वपक्षी कहता है कि केवल दुःखके न होनेसे सुखकी कल्पना करना ठीक नहीं है। देखा जाता है कि ढेले और पत्थर आदिमें दोनों का अभाव होता है [उनमें जहां दुःख नहीं है, वहां उनमें सुख भी नहीं है] इसका उत्तर यह है कि तुम्हारा दृष्टान्त विषम है अर्थात् दार्ष्टान्तिक के अनुसार नहीं है।

मुखदैन्यविकासाभ्यां परदुःखसुखोहनम् ।
दैन्याद्यभावतो लोष्ठे दुःखाद्यूहो न संभवेत् ॥३६॥

दूसरेके दुःख और दूसरेके सुखकी ऊहना उसके मुखकी दीनता और उसके मुखके विकासको देखकर की जाती है [कहा जाता है कि

विषादी मुखवाला होनेसे यह दुःखी है और प्रसन्नमुखवाला होनेसे यह सुखी है । प्रकृत तात्पर्य यही हुआ कि] लोष्ठआदिमें दीनता या विकास आदि लिङ्ग नहीं पाये जाते, इसकारण उनमें दुःख सुखकी कल्पना नहीं हो सकती [यही कारण है कि लोष्ठ आदिमें यह भी नहीं कहा जासकता कि उनमें दुःखाभाव है। सुखदुःखकी भाषा प्राणी संसारसे सम्बन्ध रखती है ।]

स्वकीये सुखदुःखे तु नोहनीये ततस्तयोः ।
भावो वेद्योऽनुभूत्यैव, तदभावोऽपि नान्यतः ॥३७॥

क्योंकि [अनुभवसिद्ध होनेके कारण] अपने सुखदुःख ऊहना [कल्पना] के योग्य अर्थात् अनुमेय नहीं होते, इसकारण जैसे उन सुखदुःखों का सद्भाव अनुभूति [प्रत्यक्ष] से ही ज्ञात होता है, उसीप्रकार उन सुखदुःखका अभाव भी अनुमान आदिसे नहीं जानाजाता। उन सुख दुःखका अभाव भी प्रत्यक्ष अनुभवसे ही जाना जाता है [अपने और पराये सुख दुःखमें यही बड़ी विषमता है]

तथा सति स्वसुप्तौ च दुःखाभावाऽनुभूतिभिः ।
विरोधिदुःखराहित्यात् सुखं निर्विघ्नमिष्यताम् ॥३८॥

अपने सुखादिके अनुभवगम्य सिद्ध होचुकने पर अपनी सुषुप्ति का दुःखाभाव भी अनुभवसे सिद्ध होगया। जैसे जागरणके समय सुख का विरोधी दुःख बनारहता है, सुषुप्तिमें सुखका विरोधी वैसा दुःख नहीं रहता। इसकारण सुषुप्तिके समय निर्विघ्न [बाधरहित] सुख मान लेना चाहिये ।

सुप्तिमें सुखसिद्धिकी युक्ति

महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादिसाधनम् ।
कुतः संपाद्यते सुप्तौ सुखं चेत् तत्र नो भवेत् ॥३९॥

यदि उस सुषुप्तिमें सुख न होता तो बड़े भारी प्रयासोंसे कोमल शय्या आदि साधनोंका उपार्जन क्यों कियाजाता ?

दुःखनाशार्थमेवैतदिति चेद् रोगिणस्तथा ।
भवत्वरोगिण स्त्वेतत् सुखायैवेति निश्चिनु ॥४०॥

यदि कहो कि यह सब साधन-संग्रह दुःखनाशके लिये किया जाता है तो हम कहेंगे कि [दुःखनाशको इसका फल कहना ठीक नहीं । क्योंकि] दुःखनाशरूपी फल केवल रोगीको होसकता है [अरोगीके लिये क्या कहोगे ?] अरोगीके लिये तो इन साधनोंका सम्पादन सुखके लिये ही है ऐसा निश्चय करो ।

तर्हि साधनजन्यत्वात् सुखं वैषयिकं भवेत् ।
भवत्वेवात्र निद्रायाः पूर्वं शय्यासनादिजम् ॥४१॥

पूर्वपत्ती कहता है कि यदि सौषुप्त सुखको शय्यादि साधनजन्य मानो तो तुम्हें उसे वैषयिक सुख मानना होगा । [फिर तुम उस सुखको आत्मस्वरूप कैसे कहसकोगे ?] इसका उत्तर यह है कि निद्रा आनेसे पहले शय्या और आसनादिसे होनेवाला सुख वैषयिक सुख है यह हमें स्वीकार है ।

निद्रायां तु सुखं यत्तज्जन्यते केन हेतुना ।
सुखाभिमुखधीरादौ पश्चान्मज्जेत् परे सुखे ॥४२॥

परन्तु निद्रा आजानेपर जो सुख होता है बताओ कि वह किस साधनसे होता है ? [क्योंकि उस समय किसीको उन शय्या आदि साधनोंका ध्यान तक नहीं रहता] मनुष्य निद्रा आनेसे पहले ही पहले शय्या आदिसे मिलनेवाले सुखोंके अभिसुख बुद्धि करता है और निद्रा आजानेपर वही बुद्धि [विषयसुखमें से निकलकर] परमसुखमें जा डूबती है [उस समय जीवकी बुद्धि स्वरूपसुखमें जा विलीन होती है । यों निद्रासे पहला सुख विषयसुख है । निद्रा आजाने पर मिलनेवाला सुख स्वरूपसुख है ।]

जाग्रद्व्यावृत्तिभिः श्रान्तो विश्रम्याथ विरोधिनि ।
अपनीते स्वस्थचित्तोऽनुभवेद् विषये सुखम् ॥४३॥

[ऊपरकी बात तीन श्लोकोंमें विस्तारपूर्वक] यह जीव जागते समयके अनेक व्यापारोंसे थककर मृदुशय्या आदि पर विश्राम लेकर [दुःखदायी व्यापारोंसे मिलनेवाले] विरोधी दुःखोंके हटा दिए जाने पर स्वस्थचित्त होकर [मनके अव्याकुल होजानेपर] विषयों [शय्या आदि] से मिलनेवाले सुखका साक्षात्कार किया करता है ।

विषयानन्दके अनुभवमें भी श्रम

आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानन्दः प्रतिबिम्बति ।
अनुभूयैनमत्राऽपि त्रिपुट्या श्रान्तिमाप्नुयात् ॥४४॥

[विषयोंको उपार्जन करता दुःखी होकर जब उस दुःखको हटाने के लिए कोमल शय्यापर लिटता है, तब इसकी बुद्धि अन्तर्मुख होजाती है,] अन्तर्मुख हुई उस बुद्धिवृत्तिमें [सामने रक्खे हुए दर्पणकी भांति] स्वरूपभूत आनन्द प्रतिबिम्बित होता है। [इसीको 'विषयानन्द' कहते हैं] परन्तु वह जीव इस समय इस विषयानन्दको अनुभव करते हुए भी अनुभविता अनुभव और अनुभाव्यरूपी त्रैतसे श्रम पाता अर्थात् व्याकुल ही बना रहता है ।

सुषुप्तिमें जीवका ब्रह्मीभाव

तच्छ्रमस्यापनुत्यर्थं जीवो धावेत् परात्मनि ।
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेत् ॥४५॥

उसके पश्चात् वह जीव उस श्रम [व्याकुलता] को हटानेकेलिये परमात्मा अर्थात् आनन्दरूपी ब्रह्ममें दौड़ जाता है। वहाँ वह उस ब्रह्मके साथ एकता किंवा तादात्म्यको पाकर स्वयं भी सुषुप्तिके समयका ब्रह्मानन्द बन जाता है । [सता सोम्य तदा संपन्नो भवति छा० ६-८-१]

सौषुप्त आनन्दके दृष्टान्त

दृष्टान्ताः शकुनिः श्येनः कुमारश्च महानृपः ।
महाब्राह्मण इत्येते सुप्त्यानन्दे श्रुतीरिताः ॥४६॥

श्रुतिने सुप्त्यानन्दको सिद्ध करने तथा वहाँ सुख न होनेके सिद्धान्त को खण्डन करनेकेलिए शकुनि, श्येन, कुमार, महाराजा और महाब्राह्मण ये पाँच दृष्टान्त दिये हैं।

शकुनिः सूत्रबद्धः सन् दिक्षु व्याप्त्य विश्रमम् ।
अलब्ध्वा बन्धनस्थानं हस्तस्तम्भाद्युपाश्रयेत् ॥४७॥

सुषुप्तिमें जीवका परमात्मभाव

जीवोपाधिमनस्तद्वद् धर्माधर्मफलाप्तये ।
स्वप्ने जाग्रति च भ्रान्त्वा क्षीणे कर्मणि लीयते ॥४८॥

[स यथा शकुनिः सूत्रेण बद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतन मलब्ध्वा बन्धनमेवोपाश्रयते एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपाश्रयते । प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः [छा० ६–८–२] बालक खेलकेलिए सूत्रमें बुलबुल आदि पक्षियोंको बांधकर हाथ आदिपर बैठालेते हैं। उसको ध्यानमें रखकर इस श्रुतिमें कहा है कि] सूत्रसे बंधा पक्षी, इधर उधर कुछ उड़कर, वहाँ ठहरनेका आधार न पाकर, फिर अपने बन्धनस्थान हाथ आदिपर ही लौट आता है ॥४७॥ इसी प्रकार जीवकी उपाधि मन धर्माधर्म के [सुखदुःखरूपी] फलोंको अनुभव करनेकेलिए, स्वप्न और जाग्रत्में, जहां तहां भ्रमण करके, भोगदायी कर्म क्षीण होनेपर [अपने उपादान अज्ञानमें] विलीन होजाता है। [मनके लीन होजानेपर उस मनसे उपहित 'जीव' 'परमात्मा' ही होजाता है]

श्येनो वेगेन नीडैकलम्पटः शयितुं व्रजेत् ।
जीवः सुप्त्यै तथा धावेद् ब्रह्मानन्दैकलम्पटः ॥४९॥

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ स्वालयायैव ध्रियते एवमेवायं पुरुष एतस्मा आनन्दाय धावति । यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति' [बृ० ४-३-२२] इस श्रुतिमें कहा है कि जैसे आकाशमें सब ओर घूमता हुआ श्येन पक्षी [गगनमें घूमनेकी थकावटको हटानेके उद्देश्यसे] सोनेकेलिए केवल घोंसलेमें पहुँचनेका लोभी होकर झपटकर उसकी ओर जाता है, इसी प्रकार यह जीव [मन उपाधि चिदाभास] केवल ब्रह्मानन्दका लम्पट होकर सुषुप्तिकेलिए [हृदयाकाशमें] पहुँचता है ।

सुषुप्तकी आनन्दरूपताके दृष्टान्त

अतिबालः स्तनं पीत्वा मृदुशय्यागतो हसन् ।
रागद्वेषाद्यनुत्पत्तेरानन्दैकस्वभावभाक् ॥५०॥
महाराजः सार्वभौमः संतृप्तः सर्वभोगतः ।
मानुषानन्दसीमानं प्राप्यानन्दैकमूर्तिभाक् ॥५१॥
महाविप्रो ब्रह्मवेदी कृतकृत्यत्वलक्षणाम् ।
विद्यानन्दस्य परमां काष्ठां प्राप्यावतिष्ठते ॥५२॥

'स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते' [बृ० २-१-१६] जैसे स्तनपायी बालक [पेट भरकर] स्तन पीकर कोमल शय्यापर पड़ा पड़ा हंसता और [अपना पराया न पहचाननेके कारण] रागद्वेषसे रहित होकर सुखकी मूरत बना रहता है, या जैसे सार्वभौम महाराज [अशुद्धबुद्धि होनेपर भी] सब मानुषानन्दोंसे युक्त होनेके कारण, जब उसे किसी वस्तुकी चाह नहीं रहती, तब मानुषानन्दकी सीमापर पहुँचकर आनन्दकी मूर्ति दीखा करता है, या जैसे कोई महाब्राह्मण जिसे ब्रह्मका साक्षात्कार होचुका हो 'मैं कृतकृत्य होचुका' ऐसी विद्यानन्दकी सीमा [जीवन्मुक्ति]को पाकर परमानन्द स्वरूप होजाता है, ठीक इसीप्रकार सोया पुरुष भी आनन्दरूप होगया होता है ।

तीन दृष्टान्त होनेका तात्पर्य

मुग्धबुद्धातिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता ।
उदाहृतानामन्ये तु दुःखिनो न सुखात्मकाः ॥५३॥

मुग्ध, बुद्ध और अतिबुद्ध ये ही तीन लोकमें सुखी मानेजाते हैं [जिनको विवेक नहीं है, उनमें बालक सबसे सुखी, जिन्हें कुछ विवेक है, उनमें सार्वभौम राजा सर्वाधिक सुखी, जो अतिविवेकी है उनमें आत्मदर्शीको सर्वाधिक सुखी मानते हैं] इन तीनोंके अतिरिक्त और सब सदा रागद्वेषादिसंकुल रहनेके कारण दुःखी बने रहते हैं। वे सुखी कभी नहीं होते [इसीसे उन किसीका दृष्टान्त नहीं दिया है ।]

सुषुप्तकी ब्रह्मानन्दतत्परता

कुमारादिवदेवायं ब्रह्मानन्दैकतत्परः ।
स्त्रीपरिष्वक्तवद् वेद न बाह्यं नापि चान्तरम् ॥५४॥

प्रकृतमें यही कहना है कि यह सुषुप्त प्राणी स्तनपायी कुमार या महाराजा आदिके समान केवल ब्रह्मानन्दको भोगा करता है । तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम् (बृ० ४-३-२१) यह सुषुप्तप्राणी जैसे कोई कामी प्रियस्त्रीसे आलिङ्गित होकर अन्दर बाहर के विषयज्ञानसे शून्य होकर सुखकी मूर्ति होगया हो इसीप्रकार यह जीव सुषुप्तिके समय प्राज्ञ परमात्माके साथ एकताको प्राप्त हुआ बाह्य और आन्तर ज्ञानसे शून्य होजानेके कारण आनन्दरूप होगया होता है ।

बाह्य आन्तर शब्दके अर्थ

बाह्यं रथ्यादिकं वृत्तं, गृहकृत्यं यथान्तरम् ।
तथा जागरणं बाह्यं नाडीस्थः स्वप्न आन्तरः ॥५५॥

जैसे लोकमें गली कूचा आदि बाह्य तथा घरके काम आन्तर

कहाते हैं, इसीप्रकार जागरणको 'बाह्य' कहाजाता है तथा नाडीमें प्रतीत होनेवाला स्वप्नप्रपंच 'आन्तर' कहाता है।

सुषुप्तिमें जीवकी ब्रह्मता

पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात्।
सुप्तौ ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ॥५६॥

अत्र पिताऽपिता भवति [बृ० ४-३-२२] इत्यादि श्रुतिमें कहा है कि सुषुप्तिकाल आनेपर पिता पिता नहीं रहता। यों जीवत्वका वारण करदेनेसे सुप्तिके समय ब्रह्म ही रहजाता है जीव नहीं रहता। क्योंकि उस समय संसारिभावका कहीं पता नहीं चलता [सुषुप्तिमें जीवके आध्यासिक पितृत्व आदि धर्म नहीं रहते। जीवभावकी प्रतीतिके बन्द होजाने पर अर्थात् ही ब्रह्मभाव शेष रहजाता है।]

संसार देहाभिमानमूलक है

पितृत्वाद्यभिमानो यः सुखदुःखाकरः स हि।
तस्मिन्नपगते तीर्णः सर्वाञ्छोकान् भवत्ययम् ॥५७॥

तीर्णो हि तदा सर्वाञ्शोकान् हृदयस्य भवति [बृ० ४-३-२२] इस वाक्यमें बताया है कि पितापने आदिका अभिमान ही सुखदुःखका आकर है। जीव उस अभिमानके न रहनेपर सब शोकोंके पार पहुंचजाता है। [यह संसार देहाभिमानमूलक है। जब देहाभिमान नहीं रहता तब संसार भी नहीं रहता। तब देहाभिमानके भूलते ही सब प्रकारके शोक समाप्त होजाते हैं।]

सुषुप्तिमें प्राणीके सुखरूप होनेमें प्रमाण

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसावृतः।
सुखरूपमुपैतीति ब्रूते ह्याथर्वणी श्रुतिः ॥५८॥

ऊपरवाली आथर्वणी श्रुति कहती है कि सुषुप्तिकालमें इस सकल [जाग्रदादि] प्रपंचके [अपनी उपादान, तमःप्रधान प्रकृतिमें] विलीन हो

जानेपर उसी तमोमयी प्रकृतिसे ढका हुआ यह जीव सुखरूप [ब्रह्म] को प्राप्त होजाता है।

सुषुप्तिसुखमें अनुभव

सुखमस्वाप्समत्राहं न वै किंचिदवेदिषम् ।
इति सुप्ते सुखाज्ञाने परामृशति चोत्थितः ॥५६॥

सोकर उठा हुआ मनुष्य 'इस स्वाप समय मैं सुख पूर्वक सोया। इतने समय मैंने कुछ नहीं जाना' यों निद्राके समयके सुख और अज्ञान दोनोंका स्मरण, किया करता है। [इससे मानना पड़ता है कि सुप्तिमें सुख है।]

परामर्शोऽनुभूतेऽस्तीत्यासीदनुभवस्तदा ।
चिदात्मत्वात् स्वतो भाति सुखमज्ञानधीस्ततः ॥६०॥

क्योंकि परामर्श अनुभूत विषयका ही होता है [अनुभव न किये हुएका नहीं होसकता] इस कारण मानना पड़ता है कि उस समय सुप्ति में सुखका अनुभव था। वह सुख चेतनात्मक होनेसे स्वतः [सुखका अनुभव करानेवाले साधनोंके विना] प्रतीत [प्रकाशित या ज्ञात] होजाता है। इसी स्वयंप्रकाश सुखके सहारेसे [उसे ढकनेवाले] अज्ञानकी प्रतीति होती है।

ब्रह्म विज्ञान मानन्दमिति वाजसनेयिनः ।
पठन्त्यतः स्वप्रकाशं सुखं ब्रह्मैव नेतरत् ॥६१॥

क्योंकि वाजसनेयी शाखावाले 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' ब्रह्मको विज्ञान तथा आनन्द दो प्रकारका कहते हैं इस कारण जो स्वयंप्रकाश सुख [जहां कहीं जिस किसीको प्रतीत होरहा] है वह सब ब्रह्मतत्व है। वह और कुछ नहीं है। [यों सुषुप्तिके स्वयंप्रकाश सुखको भी ब्रह्मरूप ही मानना चाहिये]।

सुप्तिमें जीवको सुखानुभव नहीं किन्तु वह सुखरूप

यदज्ञानं तत्र लीनौ तौ विज्ञानमनोमयौ ।
तयोर्हि विलयावस्था निद्राऽज्ञानं च सैव हि ॥६२॥

['मैंने उस समय कुछ नहीं जाना' इस स्मरणकी अन्यथानुपपत्ति से हम जिस सौषुप्त अज्ञानको पहचानते हैं] उसी अज्ञानमें [प्रमाता और प्रमाण कहानेवाले] विज्ञानमय और मनोमय दोनों विलीन होजाते हैं। [वे अपने विज्ञानमयत्व आदि आकारको छोड़कर कारणरूपमें पहुंच जाते हैं। उस समय 'विज्ञानमय' और 'मनोमय' की विलयावस्था ही 'निद्रा' है [विज्ञानविरतिः सुप्तिः] उसी निद्राको विद्वान् लोग 'अज्ञान' भी कहते हैं [सोचकर देखनेसे ज्ञातहोता है कि नींद भी अज्ञान है।]

विलीनघृतवत् पश्चात् स्याद् विज्ञानमयो घनः ।
विलीनावस्थ आनन्दमयशब्देन कथ्यते ॥६३॥

जैसे [अग्निसंयोग आदिसे] पिघला हुआ घृत, पीछे शीतलवायु के संयोगसे गाढ़ा होजाता है, इसीप्रकार [जाग्रदादि के भोगदायी कर्मोंके क्षय होजानेके कारण] निद्रारूपसे विलीन हुआ अन्तःकरण [भोगदायी कर्मोंके वश, जागरण अवस्था आनेपर] विज्ञानरूपसे घन [गाढ़ा] हो जाता है [तव वह घनविज्ञान ही आत्माकी उपाधि होती है इस कारण तव आत्मा भी विज्ञानमय होजाता है।] वही जब पहले विलीन अवस्था में था [जब वह विलीन अवस्था उसकी उपाधि बनी हुई थी] तब उसीको 'आनन्दमय' कहाजाता था। अभिप्राय यह है कि सुप्तिमें अपनी विलयावस्थामें विज्ञानमयका स्वरूपनाश नहीं होता। तब वह विलयावस्थारूपी उपाधिवाले आनन्दमयरूपसे तो अनुभविता रहता है और विज्ञानशब्द वाच्य घनीभावरूपी उपाधिवाले रूपसे स्मर्ता बना रहता है।

विलीनावस्थावालेके आनन्दमय होनेका स्पष्टीकरण

सुप्तिपूर्वक्षणे बुद्धिवृत्तिर्या सुखबिम्बिता ।
सैव तद्बिम्बसहिता लीनानन्दमयस्ततः ॥६४॥

[विलीनावस्थावाला आनन्दमय होता है इस बातको अधिक स्पष्ट रीतिसे यों समझना चाहिये कि] सुप्ति से पहले क्षणमें जो अन्तर्मुख बुद्धिवृत्ति सुखसे प्रतिबिम्बित होती है तथा उसके पश्चात् जब वही वृत्ति उस प्रतिबिम्बको लिये ही लिये निद्रारूप से विलीन होजाती है तब वह 'आनन्दमय' कहाती है।

आनन्दमयको सुखानुभव

अन्तर्मुखो य आनन्दमयो ब्रह्मसुखं तदा।
भुङ्क्ते चिद्बिम्बयुक्ताभि रज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः ॥६५॥

वह जो अन्तर्मुख 'आनन्दमय' है वह चिदाभाससे युक्त, तथा अज्ञानसे उत्पन्न हुई वृत्तियोंके द्वारा ब्रह्मसुख किंवा स्वरूपभूत सुख को भोगता अर्थात् अनुभव किया करता है। [सुखप्रतिबिम्ब सहित अन्तर्मुख बुद्धिवृत्त्युत्पन्न संस्कारसहित अज्ञानरूप उपाधिवाला आनन्दमय तब सुषुप्ति कालमें ब्रह्मसुख अर्थात् स्वरूपभूत सुखको अनुभव किया करता है। उस समय उस सुखको अनुभव करनेके साधन उसकी सुखादिगोचर वृत्तियां होती हैं। वे वृत्तियां सत्वगुणके परिणाम होती हैं। उन वृत्तियों में चिदाभास रहता है और वे अज्ञानकी उत्पन्न की हुई होती हैं।]

अविद्यावृत्तियां बुद्धिवृत्तियोंके समान स्पष्ट नहीं होतीं

अज्ञानवृत्तयः सूक्ष्मा विस्पष्टा बुद्धिवृत्तयः।
इति वेदान्तसिद्धान्तपारगाः प्रवदन्ति हि ॥६६॥

[सुषुप्तिके समय जागरणकी भांति सुखके अनुभवकी स्पष्ट प्रतीति न होनेका कारण यह है कि] वे अज्ञानवृत्तियां बहुत सूक्ष्म होती हैं [अज्ञानवृत्तियां बुद्धिवृत्तियोंकी भांति स्पष्ट नहीं होतीं।] बुद्धिवृत्तियां बहुत स्पष्ट होती हैं। यह बात वेदान्तसिद्धान्तके पारङ्गत लोग बताते हैं।

अज्ञानवृत्तियोंका पता नहीं चलता कि वे कैसी कैसी हैं और कितनी हैं? जब उन अज्ञानवृत्तियोंसे बुद्धिवृत्तियें बनती हैं, तब हमको

ज्ञात होता है कि हमारे भीतर इतना कूड़ाकचरा भरापड़ा है। जब तक हमारा अज्ञान बुद्धिवृत्तियोंके रूपमें प्रकट नहीं होजाता तब तक हम अपने आपको बड़ा महात्मा समझ बैठते हैं। एकान्तमें जाकर साधन करनेसे यह एक बड़ी न्यूनता रहजाती है कि अज्ञानवृत्तियोंको बुद्धिवृत्ति बनने का अवसर नहीं मिलता और यों हमें अपने विषयमें मिथ्याज्ञान या मिथ्याभिमान होजाता है। समाजमें रहकर साधन करनेसे हमारे भीतरके अज्ञानकी बारबार बुद्धिवृत्ति बनती रहती है और हमें अपने अज्ञानका पता चलता रहता है। यों हम दुरभिमानसे भी बचते हैं और उस अज्ञानको हटानेमें भी तत्पर रहते हैं अर्थात् हमारे साधनकी परीक्षा नित्य होती रहती है। इस दृष्टिसे व्यवहारके साथ साथ साधन करना अधिक लाभदायक होता है। व्यवहारसे हटकर आत्मसाधन करनेवाले लोग प्रायः करके व्यवहारके झंझटमें स्थिरबुद्धि नहीं रहपाते। यों साधनका यह भाग बहुतोंको अधूरा रखदेता है।

आनन्दमयके ब्रह्मानन्दको सूक्ष्म अविद्यावृत्तियोंके भोगनेमें प्रमाण

माण्डूक्यतापनीयादिश्रुतिष्वेतदतिस्फुटम् ।
आनन्दमयभोक्तृत्वं ब्रह्मानन्दे च भोग्यता ॥६७॥

माण्डूक्य और तापनीय आदि श्रुतियोंमें 'आनन्दमय' का भोक्ता होना तथा 'ब्रह्मानन्द'का भोग्य होना अत्यन्त स्पष्ट है।

एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनतां गतः ।
आनन्दमय, आनन्दभुक् चेतोमयवृत्तिभिः ॥६८॥

सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः [माण्डूक्य ५] में कहा है कि सुषुप्तिका अभिमानी एकीभावको प्राप्त होकर प्रज्ञानघन बनकर आनन्दमय किंवा आनन्दप्रचुर होजाता है। वही आनन्दमय अपनी चेतोमय वृत्तियोंसे [जिनमें चैतन्यकी अधिकता रहती है, जो चैतन्यका प्रतिबिम्ब लिये होती हैं] आनन्दको भोगा करता है।

श्रुतिके एकीभूत शब्दका अर्थ

विज्ञानमयमुख्यैर्यो रूपैर्युक्तः पुराधुना ।
स लयेनैकतां प्राप्तो बहुतन्दुलपिष्टवत् ॥६९॥

जो आत्मा पहले [जागरणकालमें] विज्ञानमय आदि [स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमय स्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयः—विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुमय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय आदि] आकारविशेषों से युक्त होरहा था, वही अब सुषुप्तिकालमें लयके कारण [विज्ञान आदि उपाधियोंके विलीन होजाने के कारण] एकरूप या एकीभावको प्राप्त होता है। मानो बहुतसे चावलोंको पीसकर उनकी एक पिट्ठी बनाली गयी हो।

श्रुतिके प्रज्ञानघनशब्दका अर्थ

प्रज्ञानानि पुरा बुद्धिवृत्तयोऽथ घनोऽभवत् ।
घनत्वं हिमबिन्दूना मुदग्देशे यथा तथा ॥७०॥

पुरा अर्थात् पहले जाग्रदादिके समय घटादिको विषय करनेवाली प्रज्ञान नामकी जो बहुतसी बुद्धिवृत्तियां थीं, अब [सुषुप्तिकालके आ जानेपर जब कोई घटादि विषय नहीं रहते तब] उन सब वृत्तियोंका [मिलकर] एक घन [घनीभाव] होजाता है [अब उनका केवल एक चिद्रूप होजाता है] जैसे कि उत्तर दिशामें हिमकी बहुतसी बूंदोंका घनाकार पिण्ड होगया हो।

तद्घनत्वं साक्षिभावं दुःखाभावं प्रचक्षते ।
लौकिकास्तार्किका यावद्दुःखवृत्तिविलोपनात् ॥७१॥

वेदान्तोंकी साक्षिता कहानेवाली प्रज्ञानघनताको ही लौकिक [शास्त्र

संस्कारहीन] तथा तार्किक आदि लोग, दुःखाभाव कहते हैं। वे लोग इसे दुःखाभाव इसलिये कहते हैं क्योंकि उस समय समस्त दुःख वृत्तियोंका विलय होजाता है [वे लोग इसी बातको न समझकर उस प्रज्ञानघनताको ही दुःखाभाव समझ बैठते हैं]

श्रुतिके चेतोमुख शब्दका अर्थ

अज्ञानबिम्बिता चित् स्यान्मुखमानन्दभोजने ।
भुक्तं ब्रह्मसुखं त्यक्त्वा बहिर्यात्यथ कर्मणा ॥७२॥

[उस श्रुतिके चेतोमुख शब्दका अर्थ यह है कि] अज्ञानवृत्तिमें प्रतिबिम्बित चैतन्य सुषुप्तिकालके ब्रह्मानन्दको भोगने या उसका स्वाद लेनेका मुख [साधन] होता है। उसके पश्चात् वह कर्माधीनतासे उस भुज्यमान साक्षात् अनुभूत ब्रह्मानन्दको छोड़कर बाहर [दुःखालय जागरण में] आता है। क्योंकि इस जीवने अपने आपको पुण्यपापनामक कर्मपाश में बांध रक्खा है, इसकारण यह अभागा उस कर्मसे प्रेरित हुआ साक्षात् देखे हुए भी ब्रह्मानन्दको छोड़कर, बाहर निकल आता अर्थात् जाग पड़ता है]

जागरणके कर्मज होनेमें प्रमाण

कर्म जन्मान्तरेऽभूद् यत् तद्योगाद् बुध्यते पुनः ।
इति कैवल्यशाखायां कर्मजो बोध ईरितः ॥७३॥

पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात् स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः। इस कैवल्यशाखा में बोधको कर्मज कहा है कि यह प्राणी जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंसे फिर जागरणमें आता है। अर्थात् जागरण अवस्था बिना कारण नहीं आजाती किन्तु कर्मज है।

सुषुप्तिमें अनुभूत ब्रह्मानन्दका चिन्ह

कंचित्कालं प्रबुद्धस्य ब्रह्मानन्दस्य वासना ।
अनुगच्छेद् यतस्तूष्णीमास्ते निर्विषयः सुखी ॥७४॥

जाग जानेपर सुषुप्तिमें अनुभूत ब्रह्मानन्दके संस्कार चालू रहते हैं। यही वह गुप्त कारण है कि जिससे यह प्राणी [जागनेके प्रारम्भमें] बिना ही किसी विषयके सुखी होकर चुपचाप बैठा रहता है [इसीसे जानते हैं कि उसने सुषुप्तिमें ब्रह्मानन्दको भोगा था और अब भी वह उसके संस्कारोंसे सुखी होरहा है]

कर्मभिः प्रेरितः पश्चान्नानादुःखानि भावयन् ।
शनै र्विस्मरति ब्रह्मानन्दमेषोऽखिलो जनः ॥७५॥

[सदा मौन होकर न बैठे रहनेका कारण-] उसके पश्चात् कर्मोंसे प्रेरित हुए सब प्राणी संसारके नाना दुःखोंकी भावना करते करते धीरे धीरे [उस जगज्जीवन] ब्रह्मानन्दको भूलजाते हैं।

ब्रह्मानन्दके अविवाद्य होनेका अन्य कारण

प्रागूर्ध्वमपि निद्रायाः पक्षपातो दिने दिने ।
ब्रह्मानन्दे नृणां, तेन प्राज्ञोऽस्मिन् विवदेत कः ॥७६॥

सब मनुष्योंको प्रतिदिन नींदसे पहले और नींदके पीछे ब्रह्मानन्द में स्नेह बना रहता है [यही कारण है कि प्राणी निद्राके आदिमें कोमल शय्या आदिका सम्पादन करते हैं और निद्रा समाप्त होजानेपर उस ब्रह्मानन्दको न छोड़नेके कारण कुछ काल चुपचाप बैठे रहते हैं] ऐसी अवस्था में कौन समझदार इस आनन्दके विषयमें विवाद करेगा ?

शङ्का

ननु तूष्णीं स्थितौ ब्रह्मानन्दश्चेद् भाति, लौकिकाः ।
अलसाश्चरितार्थाः स्युः, शास्त्रेण गुरुणात्र किम् ॥७७॥

गुरुशुश्रूषा आदि प्रयासोंसे मिलनेवाला ब्रह्मानन्दानुभव यदि चुप बैठे रहनेमात्रसे किसीको मिल सकताहो तब तो लौकिक पामर लोग तथा आलसमें पड़े रहनेवाले लोग सब कृतार्थ होजाने चाहियें। फिर श्रवणादि परिश्रमकी क्या आवश्यकता रहेगी ?

गुरुशास्त्रके बिना ब्रह्मानन्दका ज्ञान असम्भव

बाढं, ब्रह्मेति विद्युश्चेत् कृतार्था स्तावतैव ते ।
गुरुशास्त्रे विनात्यन्तं गम्भीरं ब्रह्म वेत्ति कः ॥७८॥

यदि कोई उनमेंसे 'यह ब्रह्मानन्द है' ऐसा पहचान जाय तो वह अवश्य कृतार्थ होकर रहे। परन्तु गुरु और शास्त्रके बिना [मन वाणीसे अगम्य सर्वज्ञ सर्वान्तर सर्वात्मरूप] उस गम्भीर ब्रह्मको कौन किस उपाय से जान सकता है ?

जानाम्यहं त्वदुक्त्याद्य कुतो मे न कृतार्थता ।
शृण्वत्र त्वादृशो वृत्तं प्राज्ञम्मन्यस्य कस्यचित् ॥७९॥

यदि यह कहा जाय कि मैं तुम्हारे कहनेसे ब्रह्मानन्दको जान तो गया परन्तु मैं कृतार्थ क्यों नहीं होपाया ? इसके उत्तरमें अपने जैसे किसी प्राज्ञाभिमानीका वृत्तान्त सुन लीजिये।

चतुर्वेदविदे देयमिति शृण्वन्नवोचत ।
वेदाश्चत्वार इत्येवं वेद्मि मे दीयतां धनम् ॥८०॥

कोई तुम्हारे जैसा, 'चतुर्वेदज्ञको यह बहुतसा धन दे दो' सुनकर कह उठा कि वेद चार हैं यह तो मैं जानता ही हूँ [और यों मैं चतुर्वेदज्ञ होगया हूं,] इसकारण यह धन मुझे ही देदो।

संख्यामेवैष जानाति न तु वेदानशेषतः ।
यदि तर्हि त्वमप्येवं नाशेषं ब्रह्म वेत्सि हि ॥८१॥

यह तो संख्याको ही जानता है, यह वेदोंके स्वरूपको सम्पूर्ण रीतिसे नहीं जानता, ऐसा यदि तुम कहो तो हम कहेंगे कि तुम भी ऐसे ही सम्पूर्ण ब्रह्मको नहीं जानते।

अखण्डैकरसानन्दे मायातत्कार्यवर्जिते ।
अशेषत्वसशेषत्ववार्तावसर एव कः ॥८२॥

[शङ्का] जो अखण्ड एकरस आनन्द है, जिसमें माया और उसका कार्य कुछ नहीं है, उसमें सम्पूर्ण और अधूरेकी बातको अवसर कहां है ?

शब्दानेव पठस्याहो तेषामर्थं च पश्यसि ।
शब्दपाठेऽर्थबोधस्ते संपाद्यत्वेन शिष्यते ॥८३॥

[उत्तर] 'अखण्डैकरस' 'अद्वितीय' 'सच्चिदानन्दरूप' इत्यादि शब्द ही शब्द कहना जानते हो अथवा उनका जो स्वगतादिभेदशून्यतारूपी अनुभवमात्रगम्य गम्भीर अर्थ है उसे भी पहचानते हो ? मुखसे शब्दोंका उच्चारण करदेनेपर भी तुम्हें उनके अर्थका बोध [साक्षात्कार] करना शेष है ।

अर्थे व्याकरणाद् बुद्धे साक्षात्कारोऽवशिष्यते ।
स्यात् कृतार्थत्वधीर्यावत् तावद् गुरुमुपास्व भोः ॥८४॥

व्याकरण तथा वेद आदिसे परोक्षज्ञान करलेनेपर भी [संशयादिको हटाकर] साक्षात् करना शेष रहजाता है। जब तक तुम्हारी बुद्धि तुम्हें अपने कृतार्थ होनेका नीरव संदेश न सुनादे तब तक तुम गुरुकी उपासना करते रहो। [कृतार्थत्व बुद्धि उत्पन्न होनेपर ही ज्ञानकी सम्पूर्णता होती है ।]

आस्तमेतद् यत्र यत्र सुखं स्याद् विषयैर्विना ।
तत्र सर्वत्र विद्ध्येतां ब्रह्मानन्दस्य वासनाम् ॥८५॥

इस सबको यहीं छोड़कर अब प्रकृत बातपर आते हैं कि जहां जहां [तूष्णींभाव आदिके समय] विषयानुभवके बिना भी सुख होता हो वहां सर्वत्र इस ब्रह्मानन्दकी वासना या वासनानन्दको समझलो। [विषयानुभवके बिना मिलनेवाला सुख विषयजन्य न होने तथा सामान्य अहंकारसे आच्छादित होनेसे वासनानन्द कहाता है]

विषयानन्द

विषयेष्वपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति ।
अन्तर्मुखमनोवृत्तावानन्दः प्रतिबिम्बति ॥८६॥

विषयोंके मिल जानेपर भी उन विषयोंकी इच्छा शान्त होते ही अन्तर्मुख हुए मनमें आनन्द प्रतिबिम्बित हुआ करता है। [यही 'विषयानन्द' या संसारका सुख है।]

आनन्दकी त्रिविधता

ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब इति त्रयम् ।
अन्तरेण जगत्यस्मिन्नानन्दो नास्ति कश्चन ॥८७॥

'ब्रह्मानन्द' 'वासनानन्द' तथा प्रतिबिम्ब अर्थात् 'विषयानन्द' इन तीन आनन्दोंके विना जगत्में कोई आनन्द नहीं है।

'ब्रह्मानन्द' वह है जो सुषुप्तिमें स्वप्रकाशरूपसे भासा करता या जो वासनाहीन होनेकी अवस्थामें विना विषयका शांतिका सुख प्रतीत हुआ करता है, जिसे निर्व्याजसुख भी कहते हैं। 'वासनानन्द' वह है जो चुप बैठनेपर विषयानुभवके बिना प्रतीत हुआ करता है। विषयानन्द वह है जो अभिलषित विषयके मिलनेपर अन्तर्मुख हुए मनमें प्रतिबिम्बित होता है।

शंका—इसी प्रकरणके ११ श्लोकमें "आनन्दस्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्यासुखं तथा विषयानन्दः" इसप्रकार तीन प्रकारका आनन्द बताया है। यहां ब्रह्मानन्द वासनानन्द और आनन्दका प्रतिबिम्ब [विषयानन्द] यों नये तीन भेद करदिये। यह पूर्वोत्तरविरोध है। इसके अतिरिक्त इसी प्रकरणके 'यावद्यावदहंकारो' इस ६८ वें श्लोकमें तथा 'तादृक् पुमान्' इस १२१ वें श्लोकमें निजानन्द और मुख्यानन्दका वर्णन है। इससे अगले आत्मानन्द नामक प्रकरणमें 'मन्दप्रज्ञं तु जिज्ञासु मात्मानन्देन बोधयेत्' उससे भी भिन्न आत्मानन्दका वर्णन आया है। अद्वैतानन्दके

पहले श्लोकमें योगानन्द नामका भी एक अन्य भेद दीख रहा है। अद्वैतानन्दके १०५ श्लोकमें अद्वैतानन्द नामक एक नया ही भेद देख रहे हैं। ऐसी अवस्थामें "इन तीनों आनन्दोंके अतिरिक्त और कोई आनन्द नहीं है" यह कहना विरुद्ध प्रतीत होता है। उत्तर—अन्तःकरण वृत्तिरूप होनेके कारण विद्यानन्द भी विषयानन्दमें अन्तर्भूत होजाता है। तथा निजानन्द, मुख्यानन्द, आत्मानन्द, योगानन्द और अद्वैतानन्द नाम के सब आनन्द ब्रह्मानन्दसे भिन्न नहीं हैं। इसी प्रकरणके ६८वें श्लोकमें योगानन्दनामसे विवक्षित जिस योगगम्य निजानन्दका वर्णन है वह भी ब्रह्मानन्दसे अतिरिक्त तत्व नहीं है। क्योंकि इससे अगले १००वें श्लोकमें इस निजानन्दको ही ब्रह्मानन्द कहा है। इसके अतिरिक्त मुख्यानन्द भी ब्रह्मानन्द ही है। क्योंकि इससे अगले ८८ श्लोकमें जन्य होनेसे विषयानन्द तथा वासनानन्दको अमुख्य कहकर उत्पादकरूपसे कहे ब्रह्मानन्दको ही अगले १२१ वें श्लोकमें मुख्यानन्द कहा है। आत्मानन्द तथा अद्वैतानन्दको ब्रह्मानन्द यों समझना चाहिये कि अद्वैतानन्दनामके प्रथम प्रकरणमें योगानन्दरूप से विवक्षित ब्रह्मानन्दको ही योगानन्द नाम देकर उसे आत्मानन्द कहकर उसकी ब्रह्मताका प्रतिपादन किया है। इस कारण ब्रह्मानन्द वासनानन्द तथा विषयानन्द यह त्रैविध्य ठीक ही है।

१२ वें प्रकरणके प्रथम श्लोकमें निजानन्दको ब्रह्मानन्द तथा वासनानन्दसे पृथक् कहनेका कारण यह है कि ब्रह्मानन्दके एक होनेपर भी जगत्कारणतारूपी उपाधिसहित तथा जगत्कारणरूपी उपाधिसे रहित इन दो विवक्षाओंके कारण उसे भिन्न भिन्न रूपोंमें कहाजाता है। यही कारण है कि 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि' इस ब्रह्मानन्दके निरूपणावसर पर क्योंकि जगतकी कारणता बतानी है इससे वहांका ब्रह्मानन्द माया सहित ब्रह्मानन्द है। क्योंकि मायारहित वह जगतका कारण नहीं हो सकता। परन्तु जब 'यावद्यावदहंकार' इत्यादिमें निजानन्दनिरूपणका अवसर आता है तब क्योंकि कारणसहित अहंकारका विलय बताना पड़ता है इसलिये निजानन्द मायारहित तत्व है। यह बात विशेषरूपसे समझने

की है कि ब्रह्मानन्द जगद्रचनाकी संभावनाओंसे परिपूर्ण है परन्तु निजानन्द जगल्लयसे निरूपणीय होनेसे प्रपंचोपशम शान्त शिव अद्वैत आत्मा है।

ब्रह्मानन्द समस्त आनन्दोंका जनक

तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्ययम् ।

आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयंप्रभः ॥८८॥

यों आनंदके तीन प्रकारका सिद्ध होनेपर भी जो स्वयंप्रकाश आनंद 'विषयानन्द और वासनानन्द' दोनों आनन्दोंको उत्पन्न कियाकरता है उसीको ब्रह्मानन्द जानना चाहिये।

जागरणावस्थामें ब्रह्मानन्दज्ञानोपायकी प्रतिज्ञा

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः स्वप्रकाशचिदात्मके ।

ब्रह्मानन्दे सुप्तिकाले सिद्धे सत्यन्यदा शृणु ॥८९॥

श्रुतियुक्ति तथा अनुभव [सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति इत्यादि श्रुतियोंसे, 'मैं सुखपूर्वक सोया था' इत्यादि परामर्शके अन्य रीतिसे न होसकने वाली युक्तिसे तथा सुषुप्तिके अनुभव] से सुषुप्तिकालमें स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप ब्रह्मानंदके सिद्ध होनेपर अब जागरण कालमें भी ब्रह्मानंदको जाननेके उपाय सुनो।

जीवका निमित्तवश दो अवस्था पाना

य आनन्दमयः सुप्तौ स विज्ञानमयात्मताम् ।

गत्वा स्वप्नं प्रबोधं वा प्राप्नोति स्थानभेदतः ॥९०॥

सुषुप्तिकालमें जो ऊपर वर्णित [विलीनावस्थावाला] 'आनन्दमय' है, वह [विज्ञाननामक बुद्धिरूपी उपाधिके कारण] विज्ञानमय बनकर [वक्ष्यमाण] स्थानभेदके कारण [कर्मानुसार] स्वप्न या जागरणमें आजाता है।

जाग्रदाद्यवस्थाओंके दैहिक स्थान

नेत्रे जागरणं, कण्ठे स्वप्नः, सुप्तिर्हृदम्बुजे ।

आपादमस्तकं देहं व्याप्य जागर्ति चेतनः ॥९१॥

नेत्रमें 'जागरण' कण्ठमें 'स्वप्न' हृदयकमलमें 'सुषुप्ति' होती है। यह जीव केवल नेत्र नहीं किन्तु पैरसे मस्तकपर्यन्त देहको व्याप्त करके जागता है। यहां नेत्र समस्तदेहका उपलक्षण है [आत्माका स्वाभाविक स्थान हृदय है। परन्तु जब मनुष्यको अहंकार और ममता प्रेरित करते हैं तब उससे वहां नहीं रहाजाता। तब आत्मा का प्रतिबिम्ब विषयभोग-लिप्साके लिये मलिन होजाता है। तब जाग्रत अवस्थामें तो नेत्र, तथा स्वप्न अवस्थामें कण्ठ उस आत्माके निवास स्थान बनजाते हैं।]

चैतन्यकी देहव्याप्तिका परिणाम

देहतादात्म्यमापन्न स्तप्तायःपिण्डवत्ततः।
अहं मनुष्य इत्येवं निश्चित्यैवावतिष्ठते ॥६२॥

[देहको व्याप्त करनेकी रीति यह है कि] जैसे तपे हुए लोहपिण्डके साथ अग्निका तादात्म्य होजाता है इसी प्रकार क्योंकि वह [मनुष्य जातिवाले] देहके साथ तदात्म्यको प्राप्त होजाता है। इससे वह मनुष्य हूं' यह निःसन्दिग्ध निश्चय करबैठता है। [फिर उसे अपने मनुष्य होनेमें थोड़ा भी संशय नहीं रहता।]

देहतादात्म्याभिमानसे होनेवाली तीन अवस्थायें

उदासीनः, सुखी, दुःखी त्यवस्थात्रयमेत्यसौ।
सुखदुःखे कर्मकार्ये, त्वौदासीन्यं स्वभावतः ॥६३॥

यह जीव [देह तादात्म्याभिमानसे] उदासीन, या सुखी, या दुःखी इन तीन अवस्थाओंको प्राप्त होता है। इन तीनों [अवस्थाओं] में से सुख और दुःख ये दोनों कर्मसे जन्य हैं [सुखी या दुखीपन कर्मजन्य है] परन्तु औदासीन्य स्वभावसे होता है [कर्म बन्द होजानेपर उदासीनता स्वभावसे आती है। उसके लिये कर्मकी आवश्यकता नहीं होती।]

निमित्तभेदसे सुखदुःखके दो प्रकार

बाह्यभोगान्मनोराज्यात् सुखदुःखे द्विधा मते।
सुखदुःखान्तरालेषु भवेत् तूष्णीमवस्थितिः ॥६४॥

'बाह्य भोग' से तथा 'मनोराज्य' से दो दो प्रकारके सुख दुः होते हैं [एक बाह्य भोगोंसे मिलनेवाले सुखदुःख दूसरे मनोराज्य से मिलने वाले सुखदुःख] परन्तु सुखों और दुखोंके मध्यमें जब न तो सुख होता है और न दुःख तब चुप रहनेकी अवस्था आती है [वह उदासीन अवस्थाका समय होता है]।

जागरण अवस्थामें भी निजानन्दभानका सार्वजनिक अनुभव

न कापि चिन्ता मेऽस्त्यद्य सुखमास इति ब्रुवन् ।
औदासीन्ये निजानन्दभानं वक्त्यखिलो जनः ॥६५॥

सब मनुष्य, आज मुझे गृह आदिकी कोई चिन्ता नहीं, इसलिये आज मैं सुखपूर्वक बैठा हूं, यह कहते हुए दूसरे शब्दोंमें उदासीनताके समय स्वरूपानन्दकी स्फूर्तिको कहते होते हैं।

उदासीनताके समय प्रतीत होनेवाले इस निजानन्दके ब्रह्मानन्द न होकर वासनानन्द होनेका कारण

अहमस्मीत्यहंकारसामान्याच्छादितत्वतः ।
निजानन्दो न मुख्योऽयं, किन्त्वसौ तस्य वासना ॥६६॥

यह उपर्युक्त निजानन्द 'मैं हूं' ऐसे एक सामान्य [सूक्ष्म] अहंकार से आवृत रहने [इस आनन्दको भोगते समय अपने 'देवदत्तादि' का विचार न रहने किन्तु 'मैं हूं' ऐसा एक सामान्य [अस्पष्ट] अहंकार बने रहनेसे यह मुख्यानन्द नहीं है। किंतु उसकी वासना है इसीसे इसे वासनानन्द कहते हैं। मुख्यानन्दमें मैं हूं ऐसा अहंकार नहीं रहना चाहिये।]

मुख्यानन्दसे भिन्न वासनानन्द होनेका दृष्टान्त

नीरपूरितभाण्डस्य बाह्ये शैत्यं न तज्जलम् ।
किन्तु नीरगुणस्तेन नीरसत्त्वानुमीयते ॥६७॥

जलसे भरे हुए घड़ेके बाहरकी ओर प्रतीत होनेवाला शैत्य 'जल' नहीं है [क्योंकि उसमें द्रवपना नहीं पायाजाता।] वह शैत्य जलका गुण है। उस शैत्यसे जलके होनेका अनुमान भर हुआ करता है।

वासनानन्दसे मुख्यानन्दका अनुमान

यावद्यावदहङ्कारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः ।
तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टे र्निजानन्दोऽनुमीयते ॥६८॥

[प्रकृत बात यह हुई कि] निरोध समाधि [ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि] के अभ्याससे जिस अनुपातसे अहंकारका विस्मरण होताजायगा—जितनी जितनी अहम् आदि वृत्तियें विलीन होती जायंगी और योगीके चित्तमें सूक्ष्मता आतीजायगी] उतना ही उतना निजानन्द अनुभवमें आने [व्यक्त होने] लगेगा ऐसा अनुमानसे जानाजाता है—

हम जिन क्षणोंमें अहंकारका संकोच करनेके लिये बैठते हैं, उनमें पिछले पिछले क्षणोंमें, पहले पहले क्षणोंसे अधिक निजानन्द आविर्भूत होताजाता है। क्योंकि अहंकारका संकोच करनेवाले क्षणोंकी लम्बाई उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। अहंकारके विस्तारने निजानन्दको ढक रक्खा था। अब अहंकारका संकोच होनेसे वह निजानन्द उघड़ने [फैलने] लगता है। जैसे जैसे अहंकारका संकोच बढ़ने लगेगा तैसे तैसे निजानन्द भी बढ़ता जायगा।

साक्षात् होनेतक बुद्धिका सूक्ष्म होते जाना

सर्वात्मना विस्मृतः सन् सूक्ष्मतां परमां व्रजेत् ।
अलीनत्वान्न निद्रैषा ततो देहोऽपि नो पतेत् ॥६९॥

अहंकार पूर्णरूप से विस्मृत होजानेपर परम सूक्ष्म होजाता है [उस समय वृत्तियोंके विलीन होजानेपर भी] क्योंकि अन्तःकरणका स्वरूप विलीन नहीं होता, इसलिए उसे निद्रा नहीं कहसकते [निद्रा वह है जब बुद्धि कारण रूपमें पहुँच गई हो] अन्तःकरणके स्वरूपका विलय न होने रूपी कारणसे ही [समाधिकालमें] योगीका देह निद्राकी भांति गिर नहीं पड़ता [जहां सुषुप्ति आदिमें अहंकार लय होजाता है वहां देहपात

होता पायाजाता है। इससे समझ लेना चाहिये कि समाधिकालमें अन्तः-करणका स्वरूप विलीन नहीं हुआ।]

ब्रह्मानन्द

न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत् सुखम्।
स 'ब्रह्मानन्द' इत्याह भगवानर्जुनं प्रति ॥१००॥

गीताके छठे अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनके प्रति कहा है कि जिस समय द्वैतका भी भान न होता हो और नींद भी न आरही हो, उस समय जो सुख किसीको भासता हो, वही 'ब्रह्मानन्द' है।

गीतामें योगकी परम अवधि

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥१०१॥

मनुष्य धीर [धैर्ययुक्त] बुद्धिके सहारेको धीरे धीरे मनकी उपरतिकी साधना करे [मनको सहसा उपरति न करे]। जब मनको आत्म-संस्थ करचुके [जब मनको यह निश्चय कराचुके कि यह सब कुछ आत्मा है यह 'आत्मासे भिन्न कुछ नहीं है'] तब फिर कुछ न सोचे। [यह योगकी अन्तिम स्थिति है। इससे पहले पहले उपरतिकी -साधना करनी है।]

योगसंपादनमें प्रवृत्त योगी क्या करे

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥१०२॥

जो योगी ऐसी ऊंची अवस्थाको लाना चाहे वह पहले यह करे कि [स्वभावदोषसे] चंचल [एक विषयमें बंधकर कभी न रहनेसे] अस्थिर मन जिस जिस शब्दादिको संसारपरिभ्रमणका निमित्त बनाकर बाहर निकलता हो, उसे उस उस शब्दादिकी ओरसे रोक-रोकर [उसे उन उन शब्दादियोंके मिथ्यात्व आदि दोष दिखा दिखाकर, वैराग्यका

उपदेश दे देकर, वहांसे हटा हटाकर] आत्माके वशमें करता जाय। [योगाभ्यास करनेवाले पुरुषका मन उसके अभ्यासके प्रतापसे आत्मा में शान्त होजाता है।]

मनःशान्तिसे होनेवाली स्थिति

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥१०३॥

(शान्तरजसं प्रशान्तमनसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् एनं योगिनम् उत्तमं सुखम् उपैति) संसारकी मोहममता आदि क्लेश तथा रजोगुण शान्त होजानेवाले, इसी कारण विक्षेपशून्य होकर अत्यधिक शान्त होचुके मनवाले, ब्रह्मभूत अर्थात् 'यह सब ब्रह्म ही है' इस निश्चयके कारण जीवन्मुक्त होचुके हुए अकल्मष अर्थात् धर्माधर्म से छूट चुके हुए इस योगीको उत्तम [क्षय हो जाने या उससे अधिक किसी सुखके होनेके दोषसे हीन।] सुख मिलता है। [मनःशान्तिसे मनुष्यको कभी न घटनेवाला सबसे बड़ा सुख प्राप्त होता है]

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥१०४॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति, यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः ॥१०५॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥१०६॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥१०७॥

[ऊपरके तीन श्लोकोंके संक्षिप्त अर्थका गीतामें विस्तार] चित्त जिस समय योगसेवाके प्रतापसे सब विषयोंसे हटाया जाकर उपरामको

पालेता है तथा जिस समय समाधिभावनासे शुद्ध किये हुए अन्तःकरणसे आत्मा अर्थात् ज्योतिःस्वरूप परचैतन्यको पा पाकर [विषयोंमें नहीं किन्तु] अपने आपमें तुष्टि पाने लगता है ॥१०४॥ जिस समय आत्मामें स्थित यह योगी आत्यन्तिक [अनन्त] तथा बुद्धिग्राह्य [इन्द्रियनिरपेक्ष केवल बुद्धिसे गृहीत होनेवाले] अतीन्द्रिय [इन्द्रियोंकी पकड़में न आनेवाले किंवा विषयोंसे उत्पन्न न होनेवाले किसी अपूर्व] सुखको जानता अर्थात् अनुभव किया करता है तथा जिस आत्मामें स्थित हुआ यह योगी तत्वसे अर्थात् आत्मस्वरूपसे च्युत नहीं होता [उसे कभी नहीं भूलता] ॥१०५॥ जिस आत्माको पाकर दूसरे लाभोंको उससे अधिक लाभ मानना छोड़ चुकता है, जिस आत्मतत्वमें स्थित हुआ यह योगी बड़े भारी दुःखोंसे भी [शस्त्राघातआदि भयङ्कर घटनाओंसे भी – प्रह्लादके समान] विचलित नहीं होता ॥१०६॥ दुःखोंके संयोगोंका 'वियोग' करदेनेवाली आत्माकी इस अवस्थाविशेषको 'योग' जानो । इस [उपर्युक्त] 'योग' को निश्चय [अध्यवसाय] के साथ तथा मनमें किसी प्रकारका निर्वेद न आने देकर [कि हमें योग करते इतने दिन होगये अभीतक योग सिद्ध नहीं हुआ] करना चाहिए ॥१०७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥१०८॥

विगतकल्मष अर्थात् योगमें आनेवाले पापरूपी विघ्नोंको पारकर डालनेवाला यह योगी, सदा ऊपर कही रीतिसे आत्माका अनुसन्धान करता करता, बिना प्रयासके ब्रह्मसम्बन्धी [अविनश्वर सर्वातिशायी] सुख पर अधिकार जमालेता है ।

अनिर्वेदसे किया योगाभ्यास सफल

उत्सेक उदधे यद्वत् कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद् भवेदपरिखेदतः ॥१०९॥

कुशाग्रसे उठाई हुई एक एक छोटी छोटी बूंदसे समस्त समुद्रके उत्सेकमें अपेक्षित लम्बे धीरजके समान मनका निग्रह भी खिन्न न होने वाले अखण्ड धीरजसे ही सम्भव है। [समुद्रने एक टिट्टीभी के अण्डे बहा लिये थे। उसने अपने अण्डोंको निकालनेकेलिए समुद्रको सुखा-देनेका निश्चय किया। वह अपनी चोंचमें एक एक बूंद लाती थी और समुद्रसे बाहर डालजाती थी। उस टिट्टिभी में समुद्रको सुखा देनेका इतना लम्बा अखण्ड धीरज था। जिनमें इतना लम्बा अखण्ड धीरज होगा वे ही मनका निग्रह करसकेंगे। जो यह सोचते होंगे कि हमें प्रयत्न करते करते महीनों बीत गए अभी तक मनोनिग्रह नहीं होपाया ऐसे अधीर लोगोंको इस मार्गमें अवश्य निराश होना पड़ेगा।]

बृहद्रथस्य राजर्षेः शाकायन्यो मुनिः सुखम् ।
प्राह मैत्राख्यशाखायां समाध्युक्तिपुरःसरम् ॥११०॥

[गीतामें ही नहीं] मैत्रायणी शाखामें भी शाकायन्य नामके मुनि ने, [अपने शिष्य बने हुए] बृहद्रथ राजर्षिके प्रति ब्रह्मसुखका कथन समाधिका वर्णन करके ही किया है।

सकल कर्मक्षयसे संसार निवृत्ति

यथा निरिन्धनो वन्हिः स्वयोनावुपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥१११॥

[मैत्रायणीमें कहा है कि] जैसे निरिन्धन अर्थात् ईंधनको जला चुकनेवाली अग्नि अपने कारण [अग्नि महाभूत] में शान्त होजाती है [अपने लपट आदि विशेष आकारोंको छोड़कर केवल महाभूतात्मक तेजोमात्ररूपमें चली जाती है] ठीक इसीप्रकार यह चित्तभी वृत्तिक्षय [निरोध समाधिका अभ्यास करनेसे राजस आदि सब वृत्तियोंके नष्ट] होजाने पर अपनी योनि अर्थात् अपने कारण सत्वमात्रमें शान्त होजाता है [उस समय चित्त न रहकर सत्व ही सत्व शेष रहजाता है]

चित्तके सत्त्वमात्रावशेष रहनेका परिणाम

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यकामिनः ।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥११२॥

(सत्यकामिनः स्वयोनौ उपशान्तस्य इन्द्रियार्थविमूढस्य मनसः कर्मवशानुगाः अनृताः भवन्ति) उस समय सत्यकामी [जिसे सत्य आत्मा के अतिरिक्त और किसीकी भी कामना नहीं रहगयी है इसीकारण] अपने कारणमें शांत होबैठे हुए और इसीलिए इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंकी ओरसे अपना मुख मोड़लेनेवाले [बाह्य ऐन्द्रियकज्ञानसे शून्य होचुके हुए] संस्कारी मनकी दृष्टिमें कर्मके वशसे प्राप्त होनेवाले सुखादि तथा उनके साधन सबके सब अनृत बनजाते हैं [उनको यह समझ लिया जाता है कि ये मायिक होनेसे मिथ्या हैं। चित्त शान्त होनेपर जगत् मिथ्या होजाता है]

चित्तशोधसे संसारनिवृत्ति

चित्तमेव हि संसारस्तत् प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत् सनातनम् ॥११३॥

[यद्यपि यह ठीक है कि इस संसारका उपादान चित्त नहीं है यह संसार चित्तसे नहीं बना। परन्तु यह संसार चित्तके कारणसे ही भोग्य बनता है इस कारण कहते हैं कि] चित्त ही संसार है [यहां हि शब्द इस बातको सबके अनुभवमें आनेवाली बात कहनेकेलिये है। इसी कारण सुषुप्ति आदिके समय चित्तका विलय होजानेपर भोग नहीं पायाजाता] क्योंकि चित्तात्मक ही संसार है। इसकारण मनुष्य उस चित्तको [अभ्यास वैराग्य आदि] प्रयत्नसे शुद्ध करे। [चित्तके रज और तम हटाकर उसे एकाग्र करे।] जिस देहधारीका चित्त जिस [पुत्रादि] में पड़ा रहता है वह [देहधारी] तन्मय हुआ रहता है। [वह उस पुत्रादि की सफलता और विफलताको अपने आत्मामें आरोपित कर लिया करता है] यह एक सनातन अर्थात् अनादिसिद्ध रहस्य है। भाव

यह है कि आत्मा स्वभावसे शुद्ध है, परन्तु उसमें चित्तके सम्पर्कसे ही संसारीपना आगया है [ध्यायतीव लेलायतीव]। ऐसी अवस्थामें आत्मा को शोधनेकी आवश्यकता नहीं है किन्तु चित्तका शोध करनेसे ही संसार की निवृत्ति होती है।

कर्मक्षयसे संसारनिवृत्ति

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥११४॥

चित्तमें प्रसाद आजानेपर अर्थात् चित्तमें ब्रह्मतत्वका अनुसंधान करनेकी योग्यता आजानेपर मनुष्य शुभाशुभ सब कर्मोंका क्षय करडालता है [कर्मोंमेंसे अहंबुद्धिको हटालेता है]। तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते। उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत् [जैसे सरकण्डेकी रूई आगमें सहसा भड़भड़ा उठती है इसी प्रकार उसके सम्पूर्ण पाप सहसा नष्ट हो जाते हैं। इस श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिको बतानेकेलिये श्लोकमें 'हि' शब्द दिया है।] प्रसन्नचित्तवाला वह, आत्मा [अर्थात् स्वस्वरूप अद्वितीयानन्दरूप ब्रह्मतत्व] में स्थित होकर, ['वही मैं हूँ' इस निश्चयके कारण सम्पूर्ण दृश्योंको छोड़कर, चिन्मात्ररूपमें स्थित होकर] अविनाशी सुखको [जो कि उसीका स्वरूप है] पालेता है।

ज्ञानीकेलिये शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म त्याज्य हैं। पुण्य-कर्मसे सुख मिलता है। सुखसे प्रमाद बढ़ता है। प्रमादसे पापाचरण होता है। पापाचरणसे दुःख मिलता है। दुःखसे पश्चात्ताप होता है। पश्चात्तापसे पुण्यवासना उत्पन्न होती है। पुण्यवासनासे फिर पुण्यकर्म होता है। यों यह पुण्यपापका चक्कर अनन्तकालसे घूम रहा है। इस चक्करपर ध्यान रक्खें तो पुण्य भी पापकी भांति घातक है। इसीलिए वह भी त्याज्य है। मनुष्यको इन दोनोंको छोड़कर अक्षय सुखके मार्गपर

चलना है और विचारसे वास्तविकता से परिचित होकर कृतकृत्य होना है।

मुक्त होनेकी स्थिति

समासक्तं यथा चित्तं जन्तो॰ विषयगोचरे ।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात् तत् को न मुच्येत बन्धनात् ॥११५॥

जैसे प्राणीका चित्त विषयरूपी गोचरभूमिमें स्वभावसे रमा रहता है, वही चित्त यदि उसीप्रकार ब्रह्ममें आसक्त होजाय तो भला कौन इस संसारसे मुक्त न होजाय ?

मनके भेद

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंपर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ॥११६॥

मन शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकारका होता है। मन काम [क्रोधादि] के सम्पर्कसे अशुद्ध होजाता है। काम [क्रोधादि] रहित मन शुद्ध मन कहाने लगता है।

मन ही संसार तथा मोक्षका कारण

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥११७॥

मन ही बन्धन और मन ही मनुष्योंको मोक्ष दिलानेवाला है 'विषयासक्त' मन बंधवाता है। 'निर्विषय' मन मुक्ति दिलाता है।

अक्षय सुखप्राप्तिका निरूपण

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥११८॥

आत्मामें लगाये हुए तथा समाधिरूपी जलसे रजतमरूपी मल धोदिये हुए चित्तको [समाधिमें] जो आनन्द आता है, उस समय आने वाले उसका वर्णन वाणीसे नहीं किया जासकता [वह एक अलौकिक सुख है। वह मौनकी अलौकिक भाषामें ही समझा और कहा जासकता है] वह स्वरूपभूत सुख [गूंगेके गुड़के समान] केवल अन्तःकरणसे गृहीत हुआ करता है।

यद्यप्यसौ चिरं कालं समाधिर्दुर्लभो नृणाम्।
तथापि क्षणिको ब्रह्मानन्दं निश्चाययत्यसौ ॥११९॥

यद्यपि चिरकाल तक स्थिर रहनेवाली ऐसी समाधि मनुष्योंको दुर्लभ है, तो भी क्षणिक भी वह [समाधि] ब्रह्मानन्दका निश्चय करादेती है।

श्रद्धालुर्व्यसनी योऽत्र निश्चिनोत्येव सर्वथा।
निश्चिते तु सकृत् तस्मिन् विश्वसित्यन्यदाप्ययम् ॥१२०॥

जो इस समाधिका श्रद्धालु और व्यसनी होता है अर्थात जिसे समाधि सिद्ध करनेकी हठ पड़जाती है जो [इस क्षणिक समाधिमें आनन्द मिलनेका] पूर्ण निश्चय किये रहता है [उसे लम्बा प्रयास करते करते कभी कभी एकाध क्षणके लिये इस आनन्दकी झांकी मिलकर ही रहती है] फिर वह उस क्षणिक समाधिमें एक बार इस ब्रह्मानन्दका निश्चय होजानेपर समाधिभिन्न समयोंपर भी आनन्दके होनेका अडिग विश्वास बनाये रखता है।

तादृक् पुमानुदासीनकाले प्यानन्दवासनाम्।
उपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव तत्परः ॥१२१॥

श्रद्धादिपूर्वक एक बार भी ब्रह्मानन्दका निश्चय करलेनेवाला मनुष्य, उदासीनताके समय आनेवाली पूर्वोक्त आनन्दवासनाकी उपेक्षा

करके, उसे भी हटनेको कह कहकर तत्पर होकर मुख्यानन्दकी ही भावना किया करता है।

निजानन्दभावनाके दृष्टान्तका दार्ष्टान्तिकमें समन्वय

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥१२२॥
एवं तत्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्ति मागतः ।
तदेवास्वादयत्यन्तः बहि र्व्यवहरन्नपि ॥१२३॥

जैसे परपुरुषके संभोगके व्यसनवाली नारी घरके कामोंमें व्यग्र सी दीखनेपर भी, भीतर मनमें उसी परसङ्गके रसको चाखती रहती ॥१२॥ इसी प्रकार 'पर' तथा 'शुद्ध' आत्मतत्वमें [एक बार क्षणभरके लिये भी] विश्राम पालेनेवाला धीर पुरुष फिर वाहरले मनसे लोकव्यवहार करता हुआ भी मनमें उसी आत्मतत्वका आस्वाद लियाकरता है। [यों व्यवहार करते हुए भी धीरोंको आत्मभावना चलती रहती है।]

धीरका लक्षण

धीरत्वमक्षप्रावल्ये प्यानन्दास्वादवाञ्छया ।
तिरस्कृत्याखिलाक्षाणि तच्चिन्तायां प्रवर्तनम् ॥१२४॥

[इन्द्रियोंमें ऐसा सामर्थ्य है कि वे विषयोंके सामने पड़ते ही विषय अनुकूल हो तो प्राणीको विषयोंकी ओर आकृष्ट करलेती हैं] इस स्वभावके अनुसार इन्द्रियोंकी प्रबलता होनेपर भी आत्मसुखका आस्वाद लेनेकी इच्छासे, सारी इन्द्रियोंका तिरस्कार कर करके आनन्द चिन्ता अर्थात् आत्मानुसन्धानमें लगे रहना 'धीरपना' है।

विश्रन्तिका स्वरूप

भारवाही शिरोभारं मुक्त्वास्ते विश्रमं गतः ।
संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः ॥१२५॥

जैसे बोझ उठानेवाला पुरुष सिरके थकानेवाले बोझेको उतारकर

श्रमरहित होजाता है, इसीप्रकार संसारके व्यापारोंका परित्याग करदेनेपर, उत्पन्न होनेवाली इस बुद्धिको कि अब मेरा संसारभ्रमणजन्य कष्टदायी श्रम जाता रहा, विश्रम या 'विश्राम' कहाजाता है ।

विश्रान्तिं परमां प्राप्त स्त्वौदासीन्ये यथा तथा ।
सुखदुःखदशायां च तदानन्दैकतत्परः ॥१२६॥

ऊपर कही परमविश्रान्तिको पालेनेवाला पुरुष सांसारिक सम्पत्ति और विपत्तिकी दशामें भी उसीप्रकार निजानन्दका स्वाद लेनेमें तत्पर रहता है, जिसप्रकार उदासीनदशामें परमानन्दास्वाद लेनेमें लीन रहता है ।

धीरको निजानन्दानुसन्धानविरोधी सुखकी अनिच्छा

अग्निप्रवेशहेतौ धीः शृङ्गारे यादृशी तथा ।
धीरस्योदेति विषयेऽनुसन्धानविरोधिनि ॥१२७॥

जब सती होनेवाली स्त्रीकेलिये अग्निप्रवेशका कारण उपस्थित होजाने पर [जबकि शीघ्र देहत्यागकी बलवती दृढ इच्छा जागउठती है तब] शृङ्गारके विषयमें जैसी व्यर्थत्वबुद्धि उत्पन्न होजाती है [तब जैसे देहत्यागमें विघ्न डालनेवाले शृङ्गारकी कुछ अपेक्षा नहीं रहती] ठीक इसीप्रकार धीर [वैराग्यादिसाधनसम्पन्न विवेकी] की, ब्रह्मानुसन्धान विरोधी विषयसुखमें वैरस्यबुद्धि उत्पन्न होजाती है ।

भाव यह है कि विषयसुख, पुरुषको विषयसम्पादनके प्रयत्नमें इतना बहिर्मुख बना देता है कि वह फिर आत्मानुसन्धान कर ही नहीं सकता । इसकारण विवेकी लोग वैषयिक सुखकी इच्छा नहीं करते । भले ही संसारी लोग उसको अनुकूल समझकर उसके लिए मरते फिरें । मनुष्य यह जाने कि जैसे दुःख आत्मविचारका विरोधी है वैसे ही विषय-सुख भी आत्मविचारका विरोधी है ।

विवेकीकी बुद्धिका संसार और परमार्थ दोनों सुखोंका भोग

अविरोधिसुखे बुद्धिः स्वानन्दे च गमागमौ ।
कुर्वन्त्यास्ते क्रमादेषा काकाक्षिवदितस्ततः ॥१२८॥

योगीकी वह बुद्धि दायें बायें दोनों ओर आती जाती कव्वेकी आंखोंकी भांति कभी आत्मानन्दमें और कभी आत्मानन्दके अविरोधी सुखमें आना जाना करती रहती है।

एकैव दृष्टिः काकस्य वामदक्षिणनेत्रयोः ।
यात्यायात्येवमानन्दद्वये तत्वविदो मतिः ॥१२९॥

जैसे कव्वेकी एक ही आंख [पुतली] पर्यायसे बायीं और दायीं दोनों आंखोंमें गमागम करती रहती है। इसीप्रकार विवेकीकी बुद्धि दोनों [विषयानन्द तथा ब्रह्मानन्द] आनन्दोंमें जातीआती रहती है।

भुञ्जानो विषयानन्दं ब्रह्मानन्दं च तत्ववित् ।
द्विभाषाभिज्ञवद् विद्यादुभौ लौकिकवैदिकौ ॥१३०॥

तत्वज्ञानी 'विषयानन्द' और 'ब्रह्मानन्द' दोनों आनन्दोंको एक साथ भोगता हुआ, दुभाषियेके समान लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के आनन्दोंको जानाकरता है। [जैसे दुभाषिया दोनोंसे बात करके दोनों के मनकी जान लेता है इसीप्रकार तत्वज्ञानी भोग भी करता और ब्रह्मानन्दको भी जानता रहता है]

उद्वेगमें भी निजानन्द

दुःखप्राप्तौ न चोद्वेगो यथापूर्वं यतो द्विदृक् ।
गङ्गामग्नार्धकायस्य पुंसः शीतोष्णधीर्यथा ॥१३१॥

जिसप्रकार धूपके समय गङ्गाजलमें आधे डूबे शरीरवाले पुरुष को शीत तथा उष्ण दोनों बुद्धि एक समयमें हो जाती हैं, इसीप्रकार तत्वज्ञानीको दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर भी, पहली अज्ञानदशाकी भांति उद्वेग नहीं होता [क्योंकि उससमय उसका विवेक उसे सावधान करता या

ज्ञानोपदेश देता रहता है] वह दो दृष्टिवाला [लौकिक वैदिक दोनों व्यवहारोंका ज्ञाता] होजाता है [वह विपत्तिके पहाड़के टूट पड़नेपर भी वैदिक ब्रह्मानन्दको ध्यानमें ला लाकर आनन्दमग्न हुआ रहता है। जिस समय उसे संसारी दुःख होरहा होता है क्योंकि उसी समय उसे ब्रह्मानन्द भी आरहा होता है इसलिये वह उसको दुःखी नहीं होने देता]

इत्थं जागरणे तत्वविदो ब्रह्मसुखं सदा ।
भाति, तद्वासनाजन्ये स्वप्ने तद् भासते तथा ॥१३२॥

इसप्रकार तत्वज्ञानीको जागरणकालमें सदा ही [चाहे सुखानुभव होता हो, चाहे दुःखानुभव होरहा हो और चाहे वह उदासीन होकर चुप चाप बैठा हो] ब्रह्मानन्द प्रतीत होता रहता है। केवल जागरण कालमें ही नहीं किन्तु उसको जाग्रतकी वासनासे उत्पन्न होनेके कारण सुपनेमें भी जाग्रत अवस्थाकी भांति ब्रह्मसुख भासा करता है [उसे ब्रह्मानन्दके सुपने भी दीखने लगते हैं]

अविद्यावासनाप्यस्तीत्यतस्तद्वासनोत्थिते ।
स्वप्ने मूर्खवदेवैष सुखं दुःखं च वीक्षते ॥१३३॥

[यह नहीं कहा जासकता कि केवल आनन्दवासनासे सुपने आते हैं। सुपने अविद्यावासनासे भी आते हैं] क्योंकि अभी तक अविद्यावासना बनी हुई है इससे अविद्यावासनासे आनेवाले सुपनेमें ज्ञानीको भी मूर्खोंकी भांति सुख और दुःख देखने पड़जाते हैं।

ग्रन्थका विषय

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे ब्रह्मानन्दप्रकाशकम् ।
योगिप्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्नुदीरितम् ॥१३४॥

ब्रह्मानन्दनामके [पांच अध्यायके] ग्रन्थके इस प्रथमाध्यायमें, ब्रह्मानन्दको प्रकाशित करनेवाले योगीके अनुभवका वर्णन किया गया। [इसमें योगियोंके सुषुप्ति अवस्थामें, उदासीनकालमें, समाधिभावनाके

समय तथा सुख दुःखकी दशामें स्वयंप्रकाश ब्रह्मानन्दको प्रकाशित करने वाले अनुभवका वर्णन किया गया ।]

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां ब्रह्मानन्दे योगानन्दो नाम प्रथमोऽध्यायः ।

ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दप्रकरणम् १२

अब ब्रह्मानन्दके अन्तर्गत 'आत्मानन्द' नामक द्वितीय अध्यायका आरम्भ किया जारहा है । इस प्रकरणमें मूढ जिज्ञासुओंके लिये आत्मानन्द कहानेवाले त्वंपदार्थके विवेचनके द्वारा ब्रह्मानन्दके अनुभवकी पद्धति दिखाई जारही है ।

मूढके लिये आत्मानन्दानुभवका प्रश्न

नन्वेवं वासनानन्दाद् ब्रह्मानन्दादपीतरम् ।
वेत्तु योगी निजानन्दं मूढस्यात्रास्ति का गतिः ॥१॥

शिष्यने प्रश्न किया कि योगी लोग तो वासनानन्द और ब्रह्मानन्द से भिन्न निजानन्दको [इससे पहले योगानन्द नामके प्रकरणमें कहे अनुसार] जान सकेंगे । परन्तु इस आत्मानन्दमें [योगके अनधिकारी] मूढकी गति कैसे हो ?

मूढको विद्याधिकार नहीं

धर्माधर्मवशादेष जायतां म्रियतामपि ।
पुनः पुनर्देहलक्षैः किं नो दाक्षिण्यतो वद ॥२॥

[गुरुने उत्तर दिया कि] यह अति मूढ पुरुष [बीते हुए अनन्त कोटि जन्मोंमें किए हुए] पुण्य पापोंके बसमें आआकर अनेक प्रकारकी लाखों योनियोंमें जन्मता और मरता रहे । हमारी चतुराईसे क्या होना

है ? [अति मूढको ब्रह्मविद्याका अधिकार नहीं है । उसे बार बार जीने मरने दो । उस की चिन्ता मत करो ।]

अस्ति वोऽनुजिघृक्षुत्वाद्दाक्षिण्येन प्रयोजनम् ।
तर्हि ब्रूहि स मूढः किं जिज्ञासुर्वा पराङ्मुखः ॥३॥

(वः अनुजिघृक्षुत्वात् दाक्षिण्येन प्रयोजनम् अस्ति तर्हि ब्रूहि) यदि तुम अनुजिघृक्षु हो और तुम्हें उनपर कृपा करनी है तो बताओ कि [जिस मूढके लिये हमसे कुछ न कुछ गति पूछी जारही है] वह मूढ जिज्ञासु [विरक्त] है या पराङ्मुख [रागी] है ? [उसे संसारसे वैराग्य होगया है या संसारमें आसक्त है ?]

मन्दप्रज्ञ जिज्ञासुको आत्मानन्द समझाना चाहिये

उपास्तिं कर्म वा ब्रूयाद् विमुखाय यथोचितम् ।
मन्दप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानन्देन बोधयेत् ॥४॥

यदि वह विमुख [तत्वज्ञानसे बहिर्मुख रागी] है [तो उसको उसके रागके अनुकूल] कर्म या उपासनाका यथोचित उपदेश करदेना चाहिये । [यदि उस मूढको ब्रह्मलोकादिकी कामना है तो उसे उपास्ति बता देनी चाहिये और यदि वह स्वर्गका आनन्द लूटना चाहता है तो उसे कर्मका मार्ग बताना चाहिये] यदि वह मन्दप्रज्ञ जिज्ञासु है तो उसे आत्मानन्दकी विवेचनासे समझाना चाहिये । [उसके सामने आत्मानन्दकी विवेचना करनी चाहिये और उसे अज्ञाननिद्रासे जगालेना चाहिये] अतिविवेकीके लिये पहले अध्यायमें योगको ब्रह्मसाक्षात्कारका उपाय बताया जाचुका है ।

बोधयामास मैत्रेयीं याज्ञवल्क्यो निजप्रियाम् ।
न वा अरे पत्युरर्थे पतिः प्रिय इतीरयन् ॥५॥

याज्ञवल्क्य नामके ऋषिने मैत्रैयी नामकी अपनी पत्नीको 'न वा अरे पत्युः कामाय पति प्रियो भवति 'अरे पत्नीको पतिके लिये पति प्रिय

नहीं होता' इत्यादि शब्दोंसे इसी आत्मानन्दकी विवेचना करते करते आत्मबोध कराया था।

पतिर्जाया, पुत्रवित्ते, पशुब्राह्मणबाहुजाः।
लोका, देवा, वेदभूते, सर्वं चात्मार्थतः प्रियम् ॥६॥

पति, पत्नी, पुत्र, वित्त, पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव, वेद तथा भूत, ये सब भोग्य पदार्थ भोक्ता आत्माके [सम्बन्धी] लिये होनेसे ही प्यारे होजाते हैं, [स्वरूपसे नहीं।]

पत्याविच्छा यदा पत्न्यास्तदा प्रीतिं करोति सा।
क्षुदनुष्ठानरोगाद्यै स्तदा नेच्छति तत्पतिः ॥७॥

जब पत्नीको पतिकी इच्छा होती है, तब ही वह [पतिसे] प्रेम करती है। जिस समय उसका पति इच्छाको दबानेवाली भूख में, किसी अनुष्ठानमें या किसी रोगादिमें, फंसा होता है तब वह [उस पत्नीको] नहीं चाहता [न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवात्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति, इस कथनसे यह समझलो कि पत्नीका प्रेम एकपक्षीय प्रेम है। यह प्रेम अकेली पत्नीका स्वार्थ है।]

न पत्युरर्थे सा प्रीतिः स्वार्थ एव करोति ताम्।
पतिश्चात्मन एवार्थे न जायार्थे कदाचन ॥८॥

पत्नीका यह प्रेम पतिके लिये नहीं होता। किन्तु [वह पत्नी] उस प्रेमको अपने ही लिये करती है। [उधर पतिकी भी यही अवस्था है]। पति भी अपने ही प्रयोजनसे [पत्नीसे प्रेम करता है।] वह भी पत्नीके लिये [पत्नीसे प्रेम] कभी नहीं करता।

अन्योन्यप्रेरणेप्येवं स्वेच्छयैव प्रवर्तनम् ॥६॥

जब दोनों दोनोंकी प्रेरणासे एक साथ प्रेम करनेमें प्रवृत्त होते हैं [उस समय भी प्रीतिको उभयार्थ न मानना चाहिए क्योंकि] तब भी वे दोनों [अपनी अपनी कामनाको पूरा करनेकी] अपनी अपनी इच्छासे

ही प्रवृत्त हुआ करते हैं। [पत्नी अपनी कामना पूरी करनेकी इच्छासे पतिको प्रेम करनेकी प्रेरणा करती है और पति अपनी कामना पूरी करने की इच्छासे पत्नीको प्रेम करनेकी प्रेरणा किया करता है।]

एकपक्षीय इच्छासे प्रेमप्रवृत्तिका दृष्टान्त

श्मश्रुकण्टकवेधेन बाले रुदति तत्पिता ।
चुम्बत्येव, न सा प्रीति र्बालार्थे स्वार्थ एव सा ॥१०॥

पिताकी डाढ़ी मूंछके कांटोंके चुभनेसे बालकके रोनेपर भी उसका पिता उसे चूमता ही जाता है। पिताका यह प्रेम बालककी प्रीति नहीं है। पिताका यह प्रेम अपनी ही तुष्टिकेलिए जानना चाहिए।

निरिच्छमपि रत्नादिवित्तं यत्नेन पालयन् ।
प्रीतिं करोति सा स्वार्थे वित्तार्थत्वं न शङ्कितम् ॥११॥

[जो पति पत्नी तथा पुत्रादि चेतन पदार्थ हैं, उनकी प्रीतिमें स्वार्थ परार्थका सन्देह हो भी जाता हो, परन्तु जो पदार्थ अचेतन होनेके कारण कुछ भी इच्छा नहीं करते, जब हम उन पदार्थोंसे प्रीति करते हैं, तब परार्थताकी शङ्का सर्वथा नहीं रहती। यही बात 'न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति'में कही है।] इच्छाहीन रत्न आदि धनको यत्नसे पालता हुआ धनी उस धनपर जो प्रेम करता है वह उस धनीका प्रेम स्वार्थमूलक होता है। धनीके उस प्रेमको धनकेलिए किया हुआ प्रेम होनेकी शङ्का कोई नहीं करता।

अनिच्छति बलीवर्दे विवाहयिषते बलात् ।
प्रीतिः सा वणिगर्थैव बलीवर्दार्थता कुतः ॥१२॥

बैलके बोझ ढोना न चाहनेपर भी वणिक उससे बलपूर्वक बोझ ढुआना चाहता है। वहांकी वह भारवहनादिविषयक प्रीति वणिकका ही स्वार्थ होती है। वह प्रीति बैलकेलिये प्रेम कैसे है ?

ब्राह्मण्यं मेऽस्ति पूज्योऽहमिति तुष्यति पूजया ।
अचेतनाया जातेर्नो सन्तुष्टिः पुंस एव सा ॥१३॥

न वा अरे ब्रह्मणः कामाय 'मैं ब्राह्मण हूं इसीसे मैं पूजनीय हूँ' इसप्रकार ब्राह्मण्यनिमित्तक पूजासे जो सन्तोष होता है, वह अचेतन ब्राह्मणजातिको नहीं होता। वह [ब्राह्मणपनके अभिमानी] पुरुषको ही होता है।

क्षत्रियोहं तेन राज्यं करोमीत्यत्र राजता ।
न जाते, वैश्यजात्यादौ योजनायेदमीरितम् ॥१४॥

न वा अरे क्षत्रस्य 'मैं क्षत्रिय हूं, इसीसे मैं राज्य करता हूं' इससे जो राज्यभोगके कारण सुख होता है, वह क्षत्रियत्व जातिवाले पुरुषको ही होता है। क्षत्रियत्व जातिको उसका कुछ सुख नहीं होता [क्योंकि जाति जडपदार्थ है] वैश्यादि जातियोंमें भी इसीप्रकार समझनेकेलिए उपलक्षणरूपमें क्षत्रिय नाम लिया है [उनमें भी यही बात समझनी चाहिए]।

स्वर्गलोकब्रह्मलोकौ स्तां ममेत्यभिवाञ्छनम् ।
लोकयोर्नोपकाराय, स्वभोगायैव केवलम् ॥१५॥

'न वा अरे लोकानां कामाय' मुझे [कर्म या उपासनासे] 'स्वर्ग या ब्रह्मलोकादि प्राप्त होजाय' प्राणीको यह वाञ्छा लोकोंकी भलाईके लिए नहीं होती। यह केवल अपने भोगकेलिए होती है।

ईशविष्ण्वादयो देवाः पूज्यन्ते पापनुत्तये ।
न तन्निष्पापदेवार्थं, तत्तु स्वार्थं प्रयुज्यते ॥१६॥

ईश या विष्णु आदि देवता पापकी निवृत्तिकेलिए पूजे जाते हैं, वह पूजा उन निष्पाप देवताओंके लिए नहीं होती। वह तो पूजक अपने स्वार्थकेलिये करता है। [यों ईश्वरपूजा भी अपने स्वार्थकेलिए कीजाती है। ईश्वरपूजामें ईश्वरका कोई स्वार्थ नहीं होता।]

ऋगादयो ह्यधीयन्ते दुर्ब्राह्मण्यानवाप्तये ।
न तत् प्रसक्तं वेदेषु मनुष्येषु प्रसज्जते ॥१७॥

दुर्ब्राह्मण्य अर्थात् व्रात्यपनसे बचनेकेलिए ऋगादि वेदोंका अध्ययन किया जाता है। वेदोंमें व्रात्यपनकी संभावना नहीं होती। व्रात्यपन मनुष्योंमें प्रसक्त होता है [यों वेदोंका अध्ययन भी अपने स्वार्थकेलिए कियाजाता है।]

भूम्यादिपञ्चभूतानि स्थानतृट्पाकशोषणैः ।
हेतुभिश्चावकाशेन वाञ्छन्त्येषां न हेतवः ॥१८॥

सारे प्राणी किसी आधारस्थान केलिए भूमिको, प्यासनिवारण करनेकेलिए जलको, पाक और शोषण करनेकेलिए अग्नि और वायुको तथा अवकाशदान करनेके कारण आकाशको चाहते हैं। इन पृथिवी आदि भूतोंको स्थान आदिकी आवश्यकता नहीं होती। वे भूत स्थान आदि नहीं चाहते।

स्वामिभृत्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय वाञ्छति ।
तत्तत्कृतोपकारस्तु तस्य तस्य न विद्यते ॥१९॥

'न वा अरे सर्वस्य कामाय' स्वामी जो भृत्यको चाहता है, भृत्य जो स्वामीको चाहता है, सो सब अपने अपने [स्वार्थ] उपकारके लिए ही चाहता है। दूसरोंका किया हुआ उपकार [साधा हुआ स्वार्थ] दूसरोंको नहीं मिलता।

कोई भी किसी दूसरेकी भलाई करना नहीं चाहता। सब ही संसार स्वार्थी है। संसारके परोपकारी कहलानेवाले लोग भी स्वार्थी हैं। वे जब किसीको दुःखी देखते हैं तब उनके जीमें एक कांटासा चुभा करता है। वे हृदयमें चुभनेवाले अपने उस कांटेको निकालने ही के लिये परोपकार नामक काममें प्रवृत्त होते हैं। उनके जीका कांटा परोपकार किये बिना नहीं निकलता। यों परोपकारी लोग भी अन्ततः स्वार्थी हैं।

अनेक उदाहरणोंका तात्पर्य

सर्वव्यवहृतिष्वेवमनुसन्धातुमीदृशम् ।
उदाहरणबाहुल्यं, तेन स्वां वासयेन्मतिम् ॥२०॥

यों इच्छापूर्वक जितने व्यवहार होते हैं उन सब व्यवहारोंमें इसीप्रकार आत्मप्रीतिको समझ लेनेकेलिए [मैत्रेयी ब्राह्मणमें] पति पत्नी आदि बहुतसे उदाहरण दिये हैं। इसकारण विचारशील मनुष्य आत्म-बुद्धिकी वासना बनाया करे [सब पदार्थोंको आत्माका उपकारी [आत्मार्थ] समझकर, अपनी बुद्धिको आत्माको ही सबसे अधिक प्रिय जाननेवाली बनाले ।]

प्रीतिस्वरूपविषयक प्रश्न

अथ केयं भवेत् प्रीतिः श्रूयते या निजात्मनि ।
रागो वध्वादिविषये, श्रद्धा यागादिकर्मणि ।
भक्तिः स्याद् गुरुदेवादाविच्छा त्वप्राप्तवस्तुनि ॥२१॥

अब प्रश्न यह है कि यह जो निजात्मामें प्रीति सुनी जाती है उस प्रीतिका रूप क्या है ? क्या वह राग है ? श्रद्धा है ? भक्ति है ? या इच्छा है ? यदि वह राग हो तो वधू आदिमें ही हो [योग आदिमें नहीं] यदि वह श्रद्धा हो तो वह यागादिमें हो [वधू आदिमें न हो] यदि वह भक्ति हो तो वह गुरु आदिमें ही हो [दूसरोंमें न हो] यदि वह इच्छा हो तो वह अप्राप्त वस्तुमें ही हो [दूसरोंमें न हो]। [सब पदार्थ आत्माके शेष (अङ्ग) होनेसे ही प्रिय होते हैं परन्तु आत्मा प्रियतम होता है। प्रेमके स्वरूपको जाने बिना आत्माकी प्रियतमता समझमें नहीं आती। इसकारण इस श्लोकमें प्रेमके स्वरूपकी विवेचना बूझी है। प्रेम ऐसा होना चाहिए जो सब पदार्थोंपर लागू होसकता हो। यदि वह सब पदार्थों पर लागू न होता हो तो वह प्रेम नहीं है। प्रेमको सर्वविषयक सिद्ध करनेके लिए उसका ऐसा रूप बताना आवश्यक है जो सबमें पाया जासकता हो]

प्रीतिका स्वरूप

तर्ह्यस्तु सात्विकी वृत्तिः सुखमात्रानुवर्तिनी ।
प्राप्ते, नष्टेऽपि, सद्भावादिच्छातो व्यतिरिच्यते ॥२२॥

उसका उत्तर यह है कि [यदि वह प्रीति रागादिरूप नहीं है] आप उसे केवल सुखको विषय करनेवाली एक सात्विकवृत्ति मानलो। उस प्रीतिको सत्वगुणसे बनी अन्तःकरणकी वृत्ति समझलो। क्योंकि यह केवल सुखको विषय करनेवाली सात्विक वृत्तिरूपी प्रीति वस्तुके प्राप्त होने पर भी और वस्तुके नष्ट होजानेपर भी [अथवा वस्तुके अप्राप्त रहनेपर भी] उसके विषयमें बनी ही रहती है। इसकारण यह वृत्ति इच्छासे भिन्न है। [इच्छा केवल अप्राप्त सुखादिको अपना विषय बनाती है और यह वृत्ति प्राप्त नष्ट अप्राप्त सबको अपना विषय बनाती है]

सुखसाधनतोपाधे रन्नपानादयः प्रियाः ॥२३॥

आत्मानुकूल्या दन्नादिसमश्चे दमुनात्र कः ।
अनुकूलयितव्यः स्यान्नैकस्मिन् कर्मकर्तृता ॥२४॥

(यथा अन्नपानादयः सुखसाधनतोपाधेः प्रियाः दृष्टाः यदि तथा आत्मा अपि आनुकूल्यात् अन्नादिसमः चेत्) प्रश्न होता है कि जैसे अन्नपानादि सुखके साधन होनेरूपी उपाधिके कारण प्रिय देखे गए हैं इसीप्रकार यदि यह आत्मा भी अनुकूल किंवा प्रिय होनेके कारण अन्न-पानादिके समान सुखका साधन माना जाता हो (अमुना अत्र कः अनु-कूलयितव्यः स्यात्) तो आप इस शङ्काका क्या समाधान करोगे ? आप इसका क्या उत्तर दोगे कि इस सुखसाधन आत्मासे किसकी अनु-कूलता करनी है ? [ऐसा कोई नहीं दीखता कि जिसके अनुकूल इस आत्माको बनाया जाता हो। आत्मासे भिन्न कोई भोक्ता नहीं है। यदि कहो कि वह स्वयं अपने आपके अनुकूल होजायगा तो हम कहेंगे कि] (न एकस्मिन् कर्मकर्तृता) एक ही आत्मामें कर्मपना और कर्तापना

दोनों बात नहीं रहसकतीं। [वही आत्मा उपकार्य भी हो और वही उपकारक भी हो, यह दोनों विरुद्ध धर्म एक आत्मामें कैसे संभव हैं ?]

आत्मामें निरतिशय प्रेम

सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रमात्मा त्वतिप्रियः ।
सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी ॥२५॥

विषयजन्य सुखमें केवल साधारण प्रीति होती है [उनमें प्रगाढ प्रीति नहीं होती] इसके विपरीत आत्मा साधारण प्रिय नहीं होता किन्तु अत्यन्त प्रिय होता है [इस कारण आत्माको विषयजन्य सुखोंके समान मत मानो। जैसे विषयसुख भोक्ताके काम आता है, वैसे यह आत्मा किसी भोक्ताके उपयोगमें आनेवाला तत्व नहीं है] यह [विषयसुखोंमें रहनेवाली] प्रीति सुखमें व्यभिचार करजाती है ।[यह प्रीति पूर्वसुखोंको छोड़कर दूसरे सुखोंमें पहुँच जाती है। इस प्रीतिको एक सुखमें बंधकर बैठे रहना नहीं भाता] परन्तु आत्मामें रहनेवाली प्रीति उसमें कभी व्यभिचार नहीं करती [वह विषयान्तरमें कभी नहीं जाती। इसकारण आत्मप्रीतिको ही निरतिशय प्रीति कहसकते हैं।]

वैषयिकसुखगोचर प्रीतिका व्यभिचार

एकं त्यक्त्वान्यदादत्ते सुखं वैषयिकं सदा ।
नात्मा त्याज्यो न चादेयस्तस्मिन् व्यभिचरेत् कथम् ॥२६॥

विषयाभिलाषी मनुष्य सदा एक वैषयिक सुखको छोड़कर दूसरे को अपनालेता है। परन्तु आत्मा क्योंकि छोड़ने और ग्रहण करनेके योग्य नहीं है इस कारण यह प्रीति उसमें व्यभिचार कैसे करे ?

आत्माकी अनुपेक्षणीयता

हानादानविहीनेऽस्मिन्नुपेक्षा चेत् तृणादिवत् ।
उपेक्षितुः स्वरूपत्वान्नोपेक्ष्यत्वं निजात्मनः ॥२७॥

यदि त्याग और स्वीकारसे हीन इस आत्माकी तृण आदि तुच्छ

पदार्थोंकी भांति उपेक्षा करना चाहो, तो उपेक्षा करनेवालेका स्वरूप होने से अपने आत्माकी उपेक्षा भी नहीं कीजासकती [जो निजात्मा अर्थात अपना अविनाशी स्वरूप है, वह स्वरूप होनेके कारण अपनेसे भिन्न तृणादि विषयके समान, उपेक्षाका विषय नहीं होसकता ।]

आत्मघाती लोग देहको ही त्यागना चाहते हैं

रोगक्रोधाभिभूतानां मुमूर्षा वीक्ष्यते क्वचित् ।
ततो द्वेषाद् भवेत् त्याज्य आत्मेति यदि तन्न हि ॥२८॥

रोग, या क्रोधसे आक्रांतोंमें कहीं कहीं मरजानेकी इच्छा पायी जाती है। इस दृष्टान्तसे आत्मामें द्वेषकी सम्भावना होजाती है और द्वेष सम्भावनामें यह आत्मा भी सांप बिच्छूके समान द्वेषके कारण त्याज्य होजाता है ऐसी शंका करना ठीक नहीं [क्योंकि वह त्याग आत्मासे भिन्न देहका ही होसकता है । आत्माका त्याग कभी नहीं होसकता । यह अगले श्लोकमें कहा जारहा है ।]

त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य नात्मता त्यक्तुरेव सा ।
न त्यक्तुर्यस्ति स द्वेष स्त्याज्ये द्वेषे तु का क्षतिः ॥२९॥

त्याग करने योग्य देह आत्मा नहीं है । देहका त्याग करनेवाला [देहसे भिन्न] जीव ही 'आत्मा' कहाता है । प्रकृत तात्पर्य यह है कि वह द्वेष त्याग करनेवाले आत्मासे नहीं है (त्याज्ये देहादिपदार्थे द्वेषे स्वीकृते सति आत्मनः त्यागास्वीकारिणः मम का क्षतिः) यदि किसीको त्याज्य देहादि पदार्थोंमें द्वेष हो तो उससे देहादिको आत्मा स्वीकार न करने वाले मेरे सिद्धान्तमें क्या हानि होगी ?

युक्तिसे आत्मा प्रियतम

आत्मार्थत्वेन सर्वस्य प्रीतेश्चात्मा ह्यतिप्रियः ।
सिद्धो, यथा पुत्रमित्रात् पुत्रः प्रियतरस्तथा ॥३०॥

क्योंकि जब [सुख और सुखके साधन पति-पत्नी आदि] सबकी

प्रीति आत्मार्थ प्रीति है [क्योंकि सब आत्माके उपकारक होनेकी अवस्था में ही प्रिय होते हैं] इससे आत्मा ही अतिप्रिय सिद्ध होता है। लोकमें भी देखाजाता है कि पिताको पुत्रके मित्रसे [जिसपर कि हमारा प्रेम पुत्रके द्वारा होता है] पुत्र [व्यवधानरहित प्रेमका पात्र होनेके कारण] अधिक प्यारा लगता है [इसी प्रकार अपने सम्बन्धी होनेके कारण प्रेमके पात्र बने पदार्थोंकी अपेक्षा वह आत्मा ही अधिक प्यारा है।]

आत्मविषयक निरतिशय प्रेममें स्वानुभव

मा न भूवमहं किन्तु भूयासं सर्वदेत्यसौ ।
आशीः सर्वस्य दृष्टेति प्रत्यक्षा प्रीतिरात्मनि ॥३१॥

अपने अनुभवसे भी पूछ लो कि 'मेरा कभी असत्व न हो, किन्तु मैं सदा बना रहूं' सब प्राणी ऐसी प्रार्थना करते पाये जाते हैं। इससे आत्मामें निरतिशय प्रीति प्रत्यक्ष सिद्ध होजाती है।

इत्यादिभिस्त्रिभिः प्रीतौ सिद्धायामेवमात्मनि ।
पुत्रभार्यादिशेषत्वमात्मनः कैश्चिदीरितम् ॥३२॥

यों [अनुभव युक्ति और श्रुति] इन तीनों प्रमाणोंसे प्रथम कही हुई रीतिसे, आत्मामें निरतिशेय प्रेम सिद्ध हो चुकनेपर भी [श्रुत्यादिके रहस्योंको न समझने वाले] कुछ लोगोंने आत्माको भी पुत्रभार्यादिका शेष (उपकारक) कहा है।

एतद्विवक्षया पुत्रे मुख्यात्मत्वं श्रुतीरितम् ।
आत्मा वै पुत्रनामेति तच्चोपनिषदि स्फुटम् ॥३३॥

वे कहते हैं 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इत्यादि श्रुतिमें इसी भावसे पुत्रको मुख्य आत्मा कहा है। पुत्रके मुख्य आत्मा होनेकी बात ऐतरेय आदि उपनिषदोंमें स्पष्ट है।

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते ।
अथास्येतर आत्मायं कृतकृत्यः प्रमीयते ॥३४॥

उनमें कहा है—इस पिताका यह [पुत्ररूप] आत्मा [जो पहले पुरुषके देहमें गर्भरूपसे रहता है, जिसको बड़े प्रेमसे पालनीय कहाजाता है] पुण्य कर्मोंकेलिए, पितासे अपना प्रतिनिधि बनाकर, छोड़ाजाता है। उसके पश्चात् इस पिताका दूसरा वृद्धत्वसे आक्रान्त पितृरूप आत्मा अपने संसारी काम पूरे करके मरजाता है। ['स पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो जायते' में यह प्रसङ्ग आया है।]

सत्यप्यात्मनि लोकोऽस्ति नापुत्रस्यात एव हि ।
अनुशिष्टं पुत्रमेव लोक्यमाहुर्मनीषिणः ॥३५॥

आत्माके अर्थात् अपने आपेके होनेपर भी पुत्रहीन पिताको परलोक नहीं मिलता 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ति' इसीसे [पुत्रके मुख्यात्मा होनेसे] मनीषी लोग शिक्षित [त्वं ब्रह्म इत्यादि शिक्षा पाये हुए] पुत्रको ही लोक्य [परलोकका साधन] बताते हैं [अनुशिष्टं पुत्रं लोक्यमाहुः]

मनुष्यलोको जय्यः स्यात् पुत्रेणैवेतरेण नो ।
मुमूर्षुर्मन्त्रयेत् पुत्रं त्वं ब्रह्मेत्यादिमन्त्रकैः ॥३६॥

'सोयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा' (बृ० १-५-१६) मनुष्यलोक केवल पुत्रसे जीता जासकता है। अर्थात् मनुष्यलोकका सुख केवल पुत्रसे सम्पादित होसकता है। दूसरे किसी [कर्म आदि साधन] से [मनुष्यलोकके सुखका उपार्जन] नहीं होसकता [देखते हैं कि पुत्रहीन लोगोंको अपने सुखके साधन धन सम्पत्ति आदिको देख देखकर भी निर्वेद होता है] मुमूर्षु पिता [मरते समय] 'त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञः त्वं लोकः' इत्यादि तीन मन्त्रोंके द्वारा पुत्रका अनुशासन करे ऐसा विधान भी पाया जाता है।

इत्यादिश्रुतयः प्राहुः पुत्रभार्यादिशेषताम् ।
लौकिका अपि पुत्रस्य प्राधान्यमनुमन्वते ॥३७॥

इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतियोंने आत्माको पुत्र भार्या आदिका शेष कहा

है। इसके अतिरिक्त लौकिक लोग भी पुत्रकी प्रधानता मानते हैं। [यह सिद्धान्त श्रौत होनेके साथ साथ लोकप्रसिद्ध भी है।]

स्वस्मिन् मृतेऽपि पुत्रादिर्जीवेद् वित्तादिना यथा ।
तथैव यत्नं कुरुते मुख्याः पुत्रादयस्ततः ॥३८॥

देखा जाता है कि यह प्राणी अपने मरजानेपर भी पुत्र आदि [पत्नी आदि] वित्त आदिसे [क्षेत्र आदि सम्पत्तिके द्वारा] जीते रहें, वैसा यत्न किया करता है। इससे सिद्ध होता है कि पुत्र भार्या आदि मुख्य हैं [क्योंकि प्राणी प्रयास सह सहकर भी पुत्रादिके जीवनका उपाय करता है, इसीसे समझते हैं कि पुत्रादि प्रधान हैं और आत्मा गौण या उनका शेष है।]

बाढमेतावता नात्मा शेषो भवति कस्यचित् ।
गौणमिथ्यामुख्यभेदैरात्मायं भवति त्रिधा ॥३९॥

इसका समाधान यह है कि उक्त रीतिसे कहीं कहीं पुत्रादि मुख्य प्रतीत तो होते हैं। परन्तु केवल इतनीसी बातसे यह आत्मा किसीका शेष नहीं बनजाता क्योंकि यह आत्मा गौण, मिथ्या तथा मुख्य इन तीन भेदोंसे तीन प्रकारका होता है। [गौणात्मा, मिथ्यात्मा और मुख्यात्मा से आत्माके तीन ज्ञातव्य भेद हैं। सो जिस जिस व्यवहारमें, जिस जिस प्रकारकी आत्मता विवक्षित होती है, उस उस व्यवहारमें उस उस आत्मा की प्रधानता मानी जाती है।]

गौणात्मा

देवदत्तस्तु सिंहोऽयमित्यैक्यं गौणमेतयोः ।
भेदस्य भासमानत्वात् पुत्रादेरात्मता तथा ॥४०॥

जिसप्रकार यह देवदत्त तो सिंह है इस वाक्यमें इन दोनोंके भेदके स्पष्ट प्रतीत होते रहनेसे इनकी एकता गौण होती है, इसीप्रकार भेदके प्रत्यक्ष प्रतीत होतेरहनेके कारण पुत्रादि भी गौण आत्मा माने जासकते हैं। [मुख्य नहीं]

मिथ्या आत्मा

भेदोस्ति पंचकोशेषु साक्षिणो न तु भात्यसौ ।
मिथ्यात्मतातः कोशानां, स्थाणोश्चौरात्मता यथा ॥४१॥

यद्यपि आनन्दमयादि पांचों कोषोंमें साक्षीसे भेद है, परन्तु यह भेद विद्यमान होनेपर भी किसीको नहीं भासता। इसकारण ये कोश इसीप्रकार मिथ्या आत्मा हैं, जैसे [चोरसे भिन्न] स्थाणुकी चोररूपता मिथ्या होती है [ऐसे ही ये पांच कोष भी मिथ्या आत्मा कहाते हैं।]

मुख्यात्मा

न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः ।
सर्वान्तरत्वात् तस्यैव मुख्यमात्मत्वमिष्यते ॥४२॥

अप्रतियोगी होनेके कारण, साक्षीका किसीसे भी भेद न तो है और न प्रतीत होता है। सर्वान्तर होनेके कारण उस साक्षीको ही मुख्यात्मा मानाजाता है।

जैसे पुत्र या देह आदिका प्रतियोगी स्वयं होता है इसप्रकार स्वयं का कोई भी सच्चा प्रतियोगी नहीं होता, [क्योंकि देहादि सब पदार्थ आरोपित हैं] इस कारण साक्षीरूप इस आत्माका, पुत्रादि गौण आत्माओंकी भांति, न तो किसीसे भेद प्रतीत होता है और न देहादि मिथ्या आत्माओंकी भांति उसका किसीसे भेद है। देह या पुत्रादि जितने भी मिथ्यात्मा या गौणात्मा हैं, उन सबसे आन्तर होनेके कारण इस साक्षीको ही मुख्यात्मा माना जाता है।

सत्येवं व्यवहारेषु येषु यस्यात्मतोचिता ।
तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्यान्यस्य शेषता ॥४३॥

इसप्रकार आत्माके तीन प्रकारका होनेपर भी जिन [लौकिक पालनपोषणादि तथा वैदिक ब्रह्मात्मत्वानुसन्धान आदि] व्यवहारोंमें जिस [पुत्रादि, देहादि या साक्षी] को आत्मा होना चाहिये, उन

व्यवहारोंमें वही आत्मा शेषी [प्रधान] होता है। उन व्यवहारोंमें उससे भिन्न और दोनों प्रकारके आत्मा 'शेष' किंवा 'गौण' होजाते हैं।

आत्माके तीन प्रकारका होनेपर भी पालनव्यापारमें पुत्र 'मुख्यात्मा' पोषणके समय देह 'मुख्यात्मा' तथा ब्रह्मात्मत्वका अनुसन्धान करते समय साक्षी 'मुख्यात्मा' समझा जाता है। जब इनमेंसे किसी एकको 'मुख्यात्मा' माना जाता है उस समय वही एक शेषी किंवा मुख्य होता है। उस समय उससे भिन्न सब शेष अथवा अमुख्य होजाते हैं।

गौणात्माकी प्रधानताका स्थल

मुमूर्षो गृहरक्षादौ गौणात्मैवोपयुज्यते।
न मुख्यात्मा न मिथ्यात्मा पुत्रः शेषी भवत्यतः ॥४४॥

मुमूर्षु मनुष्य गृहरक्षादि कामोंमें गौणात्माका ही उपयोग कर सकता है। मुख्यात्मा या मिथ्यात्माका नहीं। इस कारण ऐसे कामोंमें पुत्र शेषी होता है।

मरनेवालेके घरकी रक्षा आदि कामोंमें पुत्र या भार्या आदि गौणात्माओंका ही उपयोग हो सकता है। क्योंकि वे ही उसके पश्चात् जीवित रहते हैं। अविकारी होनेके कारण मुख्य आत्मा अर्थात् साक्षी का घरकी रक्षामें कुछ उपयोग नहीं होसकता। मिथ्या आत्मा [देह] तो मरनेको सन्नद्ध बैठा है। उससे भी घरकी रक्षा नहीं होसकती। इस कारण ऐसे काममें पुत्र ही 'शेषी' किंवा 'मुख्यात्मा' होसकता है।

अध्येता वन्हिरित्यत्र सन्नप्यग्निर्न गृह्यते।
अयोग्यत्वेन, योग्यत्वाद् वटुरेवात्र गृह्यते ॥

'यह पढ़नेवाला अग्नि है, इस वाक्यमें अग्नि पढ़नेके अयोग्य होनेके कारण वहां विद्यमान होनेपर भी नहीं लिया जाता, किन्तु योग्य होनेके कारण अग्नि शब्दसे पढ़नेके योग्य तीव्र बुद्धिवाले बालक का ग्रहण किया जाता है [इस दृष्टान्तके अनुसार ही, अपने मरनेके

पश्चात् घरकी रक्षा आदि व्यापारके लिये, अपने होनेपर भी अपनेको त्यागकर पुत्रको ही 'आत्मा' स्वीकार कियाजाता है ।]

मिथ्यात्माकी प्रधानताका स्थल

कृशोऽहं पुष्टि माप्स्यामीत्यादौ देहात्मतोचिता ।
न पुत्रं विनियुङ्क्तेऽत्र पुष्टिहेत्वन्नभक्षणे ॥४६॥

'मैं अब कृश होगया, अब मैं [घी दूध खाकर] पुष्ट होजाऊंगा' इत्यादि [लौकिक] व्यवहारोंमें [जो देह अपनी पुष्टिके लिये पुष्टिकारक अन्न खा सकता है उस] देहको ही 'आत्मा' समझना उचित है । कोई भी [अपने शरीरकी पुष्टिको लक्ष्य बनाकर] पुष्टिजनक अन्नभक्षणमें पुत्रको नहीं लगाता [किन्तु स्वयं अपने देहको ही लगाता है । ऐसे स्थलोंमें मिथ्या आत्मा यह देह ही प्रधान होसकता है । मुख्यात्मा को तो कुछ खिलाया नहीं जासकता । गौणात्माको खिलानेसे अपने शरीर में पुष्टि नहीं आती ।]

तपसा स्वर्ग मेष्यामीत्यादौ कर्त्रात्मतो चिता ।
अनपेक्ष्य वपुर्भोगं चरेत् कृच्छ्रादिकं ततः ॥४७॥

'तपसे स्वर्ग पाऊंगा' इत्यादि व्यवहारोंमें कर्ता [विज्ञानमय] का ही आत्मा होना उचित है [इस व्यवहारमें देहादिको आत्मा मानें तो काम नहीं चलता । क्योंकि देह तो यहीं जलकर भस्म होजाना है] यही कारण है कि देहके भोगोंको लात मारकर कृच्छ्र चन्द्रायण आदि व्रत किये जाते हैं (इन कृच्छ्रादिसे कर्ता कहानेवाले विज्ञानमयका ही उपकार होता है । क्योंकि यही विज्ञानमय लोकान्तरगमन आदि कियाकरता है ।]

मोक्ष्येऽहमित्यत्र युक्तं चिदात्मत्वं तदा पुमान् ।
तद्वेत्ति गुरुशास्त्राभ्यां न तु किंचिच्चिकीर्षति ॥४८॥

'मुझे शमदमादिसम्पादन करके मुक्ति पानी है' इस विचारमें चेतनतत्वका ही आत्मा होना उचित है । क्योंकि तब यह [अधिकारी]

पुरुष गुरु [आचार्योपदेश] तथा शास्त्र [वाक्यार्थ] के विचारसे जन्य अपरोक्षज्ञानसे [चिदात्मतत्व] को जानलेता है [कि मैं कर्ता भोक्ता आदि कुछ नहीं हूं। मैं तो सच्चिदानन्द ब्रह्मतत्व हूं] यह पुरुष अपने इस रूप को जान चुकनेके पश्चात् कुछ भी करना नहीं चाहता। [सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव]

त्रिविध आत्माओंकी विशेष विशेष व्यवहारोंमें प्रधानता

विप्रक्षत्रादयो यद्वद् बृहस्पतिसवादिषु ।
व्यवस्थितास्तथा गौणमिथ्यामुख्या यथोचितम् ॥४६॥

जिसप्रकार बृहस्पति सवादियोंमें विप्र क्षत्रिय आदि पृथक् पृथक् व्यवस्थित हैं [जैसे बृहस्पतिसवमें ब्राह्मणका ही अधिकार है क्षत्रिय वैश्योंका नहीं। राजसूय क्षत्रिय ही कर सकता है ब्राह्मण वैश्य नहीं। वैश्यस्तोम वैश्यको ही करना चाहिये ब्राह्मण क्षत्रियको नहीं] इसीप्रकार 'गौण' 'मिथ्या' या 'मुख्य' तीनों प्रकारके आत्मा यथायोग्य अपने अपने व्यवहारोंमें प्रधानरूपसे व्यवस्थित हैं।

तत्रतत्रोचिते प्रीति रात्मन्येवातिशायिनी ।
अनात्मनि तु तच्छेषे प्रीति रन्यत्र नोभयम् ॥५०॥

जिस जिस व्यवहारमें जो जो आत्मा उचित होता है, उस उस व्यवहारमें उस उचित आत्मा [अथवा यों कहो कि उपयोगी होनेसे प्रधान बने हुए उस आत्मा] में ही अतिशय प्रेम अधिक होता है। अनात्मपदार्थमें तो आत्माके शेषमें प्रेममात्र पायाजाता है, [उसमें निरतिशय प्रेम नहीं होता] जो पदार्थ न तो आत्मा हो और न आत्माका शेष [उपकारक, अङ्ग] हो उसमें दोनों प्रकारका प्रेम [अतिशय प्रेम और साधरण प्रेम] नहीं पायाजाता।

उपेक्ष्यं द्वेष्यमित्यन्यद् द्वेधा, मार्गतृणादिकम् ।
उपेक्ष्यं, व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यमेवं चतुर्विधम् ॥५१॥

पहले श्लोकमें कहे अन्य [आत्मा और आत्मशेषसे भिन्न पदार्थ] 'उपेदय' और 'द्वेष्य' भेदसे दो प्रकारके होते हैं। उनमेंसे मार्गमें पड़े हुए तिनकेआदि उपेदय [उपेक्षा करनेयोग्य] होते हैं तथा [अपनेको हानि पहुँचानेवाले] व्याघ्र या सर्प आदि 'द्वेष्य' होते हैं। यों संसारके पदार्थ चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं।

संसारके पदार्थों के आत्मा शेष उपेक्ष्य और द्वेष्य चार विभाग

आत्मा, शेष, उपेक्ष्यं च द्वेष्यं चेति चतुर्ष्वपि ।
न व्यक्तिनियमः किन्तु तत्तत्कार्यात् तथा तथा ॥५२॥

(१) आत्मा (२) आत्माका शेष (३) उपेदय तथा (४) द्वेष्य [ये चार श्रेणी संसारके पदार्थोंकी हैं] इन चारोंमें भी 'यही प्रियतम है' 'यही प्रिय है' 'यही उपेदय है' और 'यही द्वेष्य हैं' ऐसा कोई नियम नहीं है। किन्तु उन उन [उपकारादि] कामोंके कारण ये वैसे वैसे होजाया करते हैं [ये चारों अपना अपना रूप बदलते रहते हैं। कभी प्रिय द्वेष्य होजाते हैं और द्वेष्य प्रिय बनजाते हैं इत्यादि]

स्याद् व्याघ्रः संमुखो द्वेष्यो ह्युपेक्ष्यस्तु पराङ्मुखः ।
लालनादनुकूलश्चेद् विनोदायेति शेषताम् ॥५३॥

सामनेसे [खानेको] आनेवाला व्याघ्र 'द्वेष्य' होता है। लौटकर दूसरी ओर निकला जाता हुआ वही 'उपेदय' होता है। वही व्याघ्र यदि लालनसे अपने अनुकूल बनालिया जाय तो विनोदकी वस्तु होजाता है, यों द्वेष्यनामसे प्रसिद्ध व्याघ्र भी अपना उपकारक होकर अपना 'प्रिय' या 'शेष' होजाता है।

व्यक्तीनां नियमो मा भूल्लक्षणात्तु व्यवस्थितिः ।
आनुकूल्यं प्रातिकूल्यं द्वयाभावश्च लक्षणम् ॥५४॥

यद्यपि 'प्रिय' 'अप्रिय' या 'उपेदय' आदि नामकी कोई एक नियत वस्तु नहीं होती, फिर भी लक्षणके कारण व्यवहारकी व्यवस्था होजाती

है। अनुकूलता प्रतिकूलता तथा दोनोंका अभाव उनके लक्षण हैं। अनुकूलता प्रियका लक्षण है, प्रतिकूलता द्वेष्यका लक्षण है तथा अनुकूल और प्रतिकूल कुछ न होना उपेक्ष्यका लक्षण है।

आत्मा प्रेयान्, प्रियः शेषो, द्वेषोपेक्षे तदन्ययोः।
इति व्यवस्थितो लोको याज्ञवल्क्यमतं च तत् ॥५५॥

[संक्षेप यही है कि] आत्मा [प्रत्यग्भूत आनन्द] 'प्रेयान्' कहाता है। शेष [अर्थात् आत्माके भोगके साधन बने हुए पदार्थ] 'प्रिय' कहाते हैं। उनसे [आत्मा और आत्माके शेषसे] भिन्न पदार्थोंमें या तो द्वेष या उपेक्षा होती है। उनमें से किसी [व्याघ्र आदि] से द्वेष और किसी [मार्गतृण आदि] की उपेक्षाकी जाती है। यों [चार विभागोंके में] लोक की व्यवस्था है [इन चार विभागोंके अतिरिक्त और किसीप्रकार के पदार्थ नहीं होते] हमने आत्मा आदिकी जो प्रियतमता आदि बतायी है वह याज्ञवल्क्यको भी सम्मत है [देखो बृहदारण्यक मैत्रेयीब्राह्मण]

अन्यत्रापि श्रुतिः प्राह पुत्राद् वित्तात् तथान्यतः।
सर्वस्मादान्तरं तत्त्वं तदेतत् प्रेय इष्यताम् ॥५६॥

केवल मैत्रेयी ब्राह्मणमें नहीं, किन्तु पुरुषविध ब्राह्मणमें भी आत्मा को प्रियतम कहा है—तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादान्तरतरं यदयमात्मा। यह आत्मा पुत्रसे, धनधान्यसे और सब कुछसे, आन्तर पदार्थ है। इसकारण इसे प्रेय [प्रियतम] मानलेना चाहिये।

विचारदृष्टिका स्वरूप

श्रौत्या विचारदृष्ट्यायं साक्ष्येवात्मा न चेतरः।
कोशान् पंच विविच्यान्तर्वस्तुदृष्टि र्विचारणा ॥५७॥

श्रौती विचारदृष्टि करें तो यह अकेला साक्षी तत्त्व ही 'आत्मा' कहासकता है। इससे भिन्न पुत्रादि आत्मा नहीं है। [तैत्तिरीय श्रुतिमें बताये प्रकारसे] अन्नमय आदि पांच कोशोंको आत्मासे पृथक् करके

अन्तर्दृष्टि करलेना उन सबके अन्दर छिपी हुई आत्मवस्तुसे विचारकी आखें भिड़ा देना 'विचारणा' कहाती है।

अन्तःस्थित आत्मवस्तुके दर्शन अर्थात् आत्मविचारका प्रकार

जागरस्वप्नसुप्तीना मागमापायभासनम् ।
यतो भवत्यसावात्मा स्वप्रकाशचिदात्मकः ॥५८॥

[आने जानेवाली] 'जागरण' 'स्वप्न' तथा 'सुषुप्ति' अवस्थाओंसे अगलीके आने और पिछलीके चले जानेकी प्रतीति जिस नित्य चैतन्य रूप साक्षीसे होती रहती है वह स्वप्रकाशचिद्रूप पदार्थ 'आत्मा' है।

शेषाः प्राणादिवित्तान्ता आसन्नास्तारतम्यतः ।
प्रीतिस्तथा तारतम्यात् तेषु सर्वेषु वीक्ष्यते ॥५९॥

शेष [अर्थात् उस साक्षीसे भिन्न] प्राणसे लेकर वित्तपर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं [जिनको आगे बताया जारहा है] न्यूनाधिक भावसे आत्मा के समीपवर्ती हैं। वे जिस अनुपातसे आत्माके समीपवर्ती हैं उसी अनुपातसे उन सब (प्राणादियों) में [सबकी] प्रीति देखी जाती है।

प्रेमके तारतम्यका अनुभव

वित्तात् पुत्रः, पुत्रात् पिण्डः, पिण्डात् तथेन्द्रियम् ।
इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणः, प्राणादात्मा प्रियः परः ॥६०॥

धनसे पुत्र प्यारा होता है। पुत्रकी अपेक्षा शरीरपर अधिक प्यार होता है। शरीरसे इन्द्रियें अधिक प्यारी होती हैं। इन्द्रियोंसे प्राण प्यारे हैं। परन्तु आत्मा प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है।

सब प्राणी पुत्रकी विपत्तिको हटानेके लिये धनको व्यय करडालते हैं। पुत्रपर विपत्ति आनेपर धनका आदर नहीं करते। परन्तु अपने देह की रक्षाके लिये पुत्रों तकको छोड़ दियाजाता है। इन्द्रियोंका बचानेके लिये लाठी डण्डोंकी मारसे देहको पिटवाना स्वीकार करना पड़ता है और इन्द्रियोंको बचायाजाता है। मरनेका प्रसङ्ग आपड़े तो इन्द्रियोंका

छेदन भी सहन कियाजाता है और प्राणोंको बचा लियाजाता है। आत्मकल्याण दीखता हो तो प्राणोंका परित्याग करते हुए 'गर्व' और 'हर्ष' दोनों पाये जाते हैं। यों जो जो पदार्थ आत्माके जितना जितना अधिक निकट है, वह उतना ही उतना अधिक प्रिय है। इस बातका अनुमोदन सबका अनुभव कररहा है। परन्तु यह अविचारकी महिमा है कि आत्माकी सर्वाधिक प्रियताकी ओर पामर पुरुषोंका ध्यान नहीं जाता। वहां तक केवल विद्वानोंका अनुभव पहुँचता है।

एवं स्थिते विवादोऽत्र प्रतिबुद्धविमूढयोः।
श्रुत्योदाहारि तत्रात्मा प्रेयानित्येव निर्णयः ॥६१॥

यों आत्माकी प्रियतमता प्रमाणसे सिद्ध होजानेपर भी श्रुतिने ज्ञानी और अज्ञानीकी विप्रतिपत्तिको हटानेके लिये उन दोनोंके विवाद [विप्रतिपत्ति] का वर्णन करदिया है और यही निर्णय किया है कि आत्मा प्रियतम है।

ज्ञानी अज्ञानीका विवाद

साक्ष्येव दृश्यादन्यस्मात् प्रेयानित्याह तत्ववित्।
प्रेयान् पुत्रादिरेवेमं भोक्तुं साक्षीति मूढधीः ॥६२॥

यह साक्षी ही 'अन्य सब दृश्य पदार्थोंसे अधिक प्रिय है' ऐसा तत्वज्ञानी कहता है। मूढबुद्धिका कहना है कि प्रियतम तो पुत्रादि ही हैं। यह साक्षी आत्मा तो इन [प्रियतम पुत्रादि] को भोगनेके लिये इस संसारमें उतरा है।

आत्मनोऽन्यं प्रियं ब्रूते शिष्यश्च प्रतिवाद्यपि।
तस्योत्तरं वचो बोधशापौ कुर्यात् तयोः क्रमात् ॥६३॥

आत्मासे भिन्नको प्रिय कहनेवाले दो होसकते हैं—एक 'शिष्य' दूसरा 'प्रतिवादी'। शिष्यके लिये यह उत्तर है कि उसे आत्मबोध करायाजाय [और उसके अनुभवसे ही आत्माकी प्रियताको कहलायाजाय]

प्रतिवादीके लिये यह उत्तर है कि उसे शाप दियाजाय—उसे भय अर्थात् इस मन्तव्यसे होनेवाली हानि दिखायी जाय [जैसा कि आगे ६६ श्लोक में दिखाया गया है।]

प्रियं त्वां रोत्स्यतीत्येवमुत्तरं वक्ति तत्ववित् ।
स्वोक्तप्रियस्य दुष्टत्वं शिष्यो वेत्ति विवेकतः ॥६४॥

[तत्वज्ञानी पुरुष शिष्य और प्रतिवादी दोनोंको एक उत्तर देता है कि] हे शिष्य! या हे प्रतिवादिन् तेरा माना हुआ [पुत्रादिरूपी] प्रिय [जब नष्ट होने लगेगा तब वह] तुम्हें [दोनोंको] रुलायेगा। [रोकलेगा, अपने मोहपाशमें बांधकर बैठालेगा, बन्धनमें डाललेगा, वह तुम्हारा जीवनव्यापी पाश बनजायगा।] शिष्य जब इस उत्तरको सुनता है तब अपने प्रेमपात्र पुत्रादिके दोषोंका अगले चार श्लोकोंमें कही रीति से दोष विचार कर उनकी सदोषताको पहचान जाता है।

प्रिय समझे हुए पदार्थोंके दोषविचारकी पद्धति

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।
लब्धोऽपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥६५॥
जातस्य ग्रहरोगादिः कुमारस्य च मूर्खता ।
उपनीतेऽप्यविद्यत्व मनुद्वाहश्च पण्डिते ॥६६॥
यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः ।
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा ॥६७॥

प्रिय पदार्थोंके दोषोंका विचार करनेकी रीति यह है कि अनुत्पन्न पुत्र मातापिताको बड़ा क्लेश देता रहता है। पुत्रकी आशा भी होगई हो परन्तु गर्भपात होजाय तब और भी क्लेश होता है। प्रसवकाल में पुत्र माताको अकथनीय दुःख देता है। उत्पन्न होनेपर ग्रहपीडा या रोगोंका आक्रमण होजानेपर मातापिताको बड़े कष्टोंका सामना करनापड़ता है। कुमारावस्थामें यदि वह विद्या न पढ़नेलगे तो भी माँ बाप दुःखी रहते

हैं। उपनयन [विद्याशालाप्रवेश] होजानेपर यदि विद्या प्राप्त न करसके तो भी दुःखका कारण बनजाता है। पण्डित होकर यदि उसका विवाह न होसके तो माँ बापके कष्टका अन्त मत पूछो। युवा होकर यदि परस्त्रीगमनादि दुराचार करनेलगे तो मां बाप मुंह दिखाने योग्य नहीं रहते। सन्तानवाला होकर यदि वह दरिद्र रहे तो भी वे उससे चिन्तित रहते हैं। धनी होकर यदि वह भरे यौवन में मरजाय तब तो मातापिताकी आंखोंके सामने अंधेरा होजाता है। यों मातापिताकी कष्टकथाका कहीं अन्त नहीं होपाता। [एकके पश्चात् दूसरे दुःख संसारकी मोहमायामें फंसनेवालोंको खा डालनेके लिये मुंह खोले खड़े रहते हैं।]

एवं विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा, निजात्मनि ।
निश्चित्य परमां प्रीतिं, वीक्षते तमहर्निशम् ॥६८॥

इसप्रकार पुत्र, स्त्री आदि समस्त प्रिय प्रतीत होनेवाले पदार्थोंके दोषोंको भलीप्रकार जानकर, उनमें प्रेम करना छोड़कर, अपने आत्मा में ही परमप्रेमका निश्चय करके, दिनरात उसी [आत्मा] का अनुसन्धान किया करता है।

प्रतिवादीको शाप

आग्रहाद् ब्रह्मविद्वेषादपि पक्षमुञ्चतः ।
वादिनो नरकः प्रोक्तो दोषश्च बहुयोनिषु ॥६९॥

आग्रहसे [कि मैं पुत्रादिकी प्रियताको कभी नहीं छोड़ सकता] तथा ब्रह्मविद्वेषसे [कि मैं इसके कहे हुए ब्रह्मकी धज्जी उड़ाडालूंगा] अपने [पुत्रादिको प्रिय माननेरूपी] पक्षको न छोड़नेवाले प्रतिवादीको एक तो नरक मिलता है दूसरे उसे अनेक योनियोंमें दोष अर्थात् कष्ट देखने पड़ते हैं [उसे अनेक तिर्यगादिजन्मोंमें कभी इष्टका वियोग होगा और कभी अनिष्टकी प्राप्ति होगी। ज्ञानी लोग यही शाप दिया करते हैं। उनके अपने प्रतिवादीसे 'प्रियं त्वां रोत्स्यति' कहनेका यही अभिप्राय होता है।]

ब्रह्मविद् ब्रह्मरूपत्वादीश्वर स्तेन वर्णितम् ।
यद्यत् तत्तत् तथैव स्यात् तच्छिष्यप्रतिवादिनोः ॥७०॥

[ईश्वरो ह तथैव स्यात् बृ० १-४-८ इस वाक्यमें कहागया है कि] अपने ब्रह्मत्वका अनुभव करनेवाला ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूप होजानेके कारण ईश्वरपद पाचुका । अब वह अपने शिष्यादिके प्रति जो [भली या बुरी] बात कहेगा, उस ज्ञानीके शिष्य और प्रतिवादी दोनोंको उसका कहा हुआ इष्ट या अनिष्ट अवश्य प्राप्त होगा । [ज्ञानीका कहा हुआ एक ही वाक्य शिष्यकेलिये उपदेश और वादीकेलिये शापरूप होजाता है]

यस्तु साक्षिणमात्मानं सेवते प्रियमुत्तमम् ।
तस्य प्रेयानसावात्मा न नश्यति कदाचन ॥७१॥

'आत्मानमेव प्रियमुपासीत, स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति' [बृ० १-४-८] जो [शिष्य] आत्माको निरतिशय प्रेमका पात्र समझकर सदा आत्माकी सेवा करेगा [सदा आत्मस्मरण रखने लगेगा] उसका प्रिय मानाहुआ यह आत्मा, वैसे कभी नष्ट नहीं होगा, जैसे प्रतिवादीका मानाहुआ प्रिय नष्ट होजाता है [किन्तु वह सदानन्दरूप होकर भासने लगेगा]

परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्दरूपता ।
सुखवृद्धिः प्रीतिवृद्धौ सार्वभौमादिषु श्रुता ॥७२॥

[सिद्ध होचुका कि] यह आत्मा निरतिशय प्रेमका विषय होनेसे परमानन्दरूप है । [तैत्तिरीय और बृहदारण्यक श्रुतियोंमें बताया है कि] चक्रवर्ती राजासे लेकर [हिरण्यगर्भपर्यन्त] पदोंमें जहां जहां प्रीतिकी वृद्धि होती है, वहां वहां सुखकी भी वृद्धि होती है । [यों जब प्रीतिकी निरतिशयता समझमें आसकती है तब आनन्दकी निरतिशयता भी समझी जासकती है । राजाको अपने उपकरणों (साधनों) में प्रीति अधिक होती है तो उसे सुख भी अधिक होता है]

चैतन्यवत् सुखं चास्य स्वभावश्चेच्चिदात्मनः ।
धीवृत्तिष्वनुवर्तेत सर्वास्वपि चितिर्यथा ॥७३॥

शङ्का होती है कि यदि चैतन्यके समान सुख या आनन्द भी चिदात्माका स्वभाव होता, तो जैसे सब बुद्धिवृत्तियोंमें चैतन्यकी अनुवृत्ति होती है वैसे सब बुद्धिवृत्तियोंमें आनन्दकी भी अनुवृत्ति होनी चाहिये थी ।

मैव मुष्णप्रकाशात्मा दीपस्तस्य प्रभा गृहे ।
व्याप्नोति नोष्णता तद्वच्चितेरेवानुवर्तनम् ॥७४॥

यह शङ्का न करनी चाहिये । दृष्टान्तमें देखलो कि दीपके दो स्वरूप हैं एक उष्ण दूसरा प्रकाश । जब घरमें दीपक जलता है तब उसकी प्रभा तो घरको व्याप्त करलेती है परन्तु उसकी उष्णता व्याप्त नहीं करती । ठीक इसीप्रकार बुद्धिवृत्तियोंमें चैतन्यकी तो अनुवृत्ति होजाती है परन्तु आनन्दकी अनुवृत्ति नहीं होती ।

गन्धरूपरसस्पर्शेष्वपि सत्सु यथा पृथक् ।
एकाक्षेणैक एवार्थो गृह्यते नेतरस्तथा ॥७५॥

किसी एक द्रव्यमें गन्ध, रूप, रस और स्पर्श सब रहते हैं, परन्तु इनमेंसे एक इन्द्रिय एक ही गुणको ग्रहण करती है, दूसरेको नहीं । ठीक इसीप्रकार लोगोंको चैतन्य और आनन्द इन दोनोंमेंसे, केवल चैतन्यका भास होता है, आनन्दका नहीं ।

चिदानन्दौ नैव भिन्नौ गन्धाद्यास्तु विलक्षणाः ।
इति चेत् , तदभेदोऽपि साक्षिण्यन्यत्र वा वद ॥७६॥

यदि कहा जाय कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें बड़ी विषमता है । क्योंकि चित् और आनन्द भिन्न नहीं हैं, परन्तु गन्धादि तो परस्पर भिन्न भिन्न हैं, तो उत्तर देनेसे पहले यह बताओ कि चित् और आनन्दका जो

अभेद है वह साक्षी आत्मस्वरूपमें है ? या कहीं अन्यत्र [उसकी उपाधि कहानेवाली वृत्तियोंमें] है ? [पूछनेका तात्पर्य यह है कि चिदानन्दका जो अभेद है वह स्वाभाविक है या औपाधिक है ?]

आद्ये गन्धादयोऽप्येवमभिन्नाः पुष्पवर्तिनः ।
अक्षभेदेन तद्भेदे वृत्तिभेदात् तयोर्भिदा ॥७७॥

चित् और आनन्दके साक्षीमें भेद नहीं है, इस आद्यपक्षमें (पुष्पवर्तिनः गन्धादयः अपि एवमभिन्नाः) पुष्पमें रहनेवाले गन्धादि भी इसीप्रकार (चिदानन्दों के समान) परस्पर भेदरहित हैं [क्योंकि उसमेंसे एकको छोड़कर एकको नहीं लाया जासकता]। (अक्षभेदेन तद्भेदे) अब यदि भेदको औपाधिक मानें, [गन्धादिको ग्रहण करने वाली घ्रणादि इन्द्रियोंके भेदसे ही, उन गन्धादिमें भी भेद मानलें] तब तो ठीक उसीप्रकार वृत्तिभेदके कारण [क्रमानुसार चित् और आनन्दको अभिव्यक्त करनेवाली राजस और सात्विक वृत्तियोंके भिन्न भिन्न होनेसे] उन चिदानन्दोंका भी औपाधिक भेद हो ही जायगा ।

सात्विकवृत्तिमें चिदानन्दकी एकता दीखनेका क्षेत्र

सत्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं तद्वृत्तेर्निर्मलत्वतः ।
रजोवृत्तेस्तु मालिन्यात् सुखांशोऽत्र तिरस्कृतः ॥७८॥

जब पुण्यकर्मोंके प्रतापसे बुद्धिवृत्तिका सात्विक परिणाम होता है तब चित और आनन्दकी एकता भासने लगती है। क्योंकि वृत्तियें निर्मल होती हैं। रजोवृत्तियोंके मलिन होनेके कारण इनमें सुख-भाग दीखना बन्द होजाता है। [तब भूलसे यह समझा जाता है कि कि हम चित् ही चित हैं सुख हममें नहीं है। सुख तो हमें कहींसे लाना या पाना होगा।]

विद्यमान सुखांशके तिरस्कारका दृष्टान्त

तिन्तिणीफल मत्यम्लं लवणेन युतं यदा ।
तदाम्लस्य तिरस्कारा दीषदम्लं यथा तथा ॥७९॥

जैसे इमलीका फल बहुत खट्टा होता है, जब उसमें लवण मिला दियाजाता है तब उसकी खटाई छिपजाती है या बहुत न्यून होजाती है। इसीप्रकार रजोवृत्तियोंमें भी आनन्दका तिरोभाव होजाता है।

रहस्य प्रश्न

ननु प्रियतमत्वेन परमानन्दतात्मनि।
विवेक्तुं शक्यतामेवं विना योगेन किं भवेत् ॥८०॥

प्रश्न है कि जिस रीतिसे ऊपर समझाया गया है, उस रीतिसे परमप्रेमका स्थान होनेके कारण आत्माकी परमानन्दताका विवेक हो भी सकता हो, तो भी ऐसे थोथे विवेकसे क्या होना है? मुक्तिके साधन योगके बिना क्या होगा? [क्योंकि मुक्तिका साधन अपरोक्षज्ञान योगसे ही होता है।]

रहस्यमय उत्तर

यद्योगेन तदेवेति वदामो, ज्ञानसिद्धये।
योगः प्रोक्तो, विवेकेन ज्ञानं किं नोपजायते ॥८१॥

जो योगसे होना है, वही इस विवेकसे हाथ आजायगा [जैसे योग अपरोक्षज्ञानका कारण है वैसे विवेकसे भी अपरोक्षज्ञान होता है] योगानन्दनामक पहले अध्यायमें जैसे अपरोक्षज्ञानकी सिद्धिके लिये योग बताया है क्या इसी प्रकार [इस अध्यायमें दिखाये हुए गौण आदि आत्माओंके विवेकके द्वारा पांच कोषोंके] विवेकसे ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है?

योग तथा विवेकके ज्ञानस्वरूप होनेका प्रमाण

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
इति स्मृतं फलैकत्वं योगिनां च विवेकिनाम् ॥८२॥

[गीता स्मृतिमें कहा भी है कि] सांख्य [आत्मानात्मविवेकी] लोग जिस [मोक्षरूप] स्थानको पालेते हैं उसको योगी लोग भी पालेते

हैं। यों गीतामें योगी और विवेकी दोनोंके फलोंकी एकता बतायी है [ज्ञानके द्वारा मोक्षरूपी एक ही फलका दोनोंके हाथ लगना कहा है।]

असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः।
इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः॥८३॥

किसी 'अधिकारीके लिये तो योग असाध्य होता है और किन्हींको ज्ञानका निश्चय होना असाध्य होता है। यों अधिकारियोंकी विचित्रताका विचारकर भगवानने 'ज्ञान' और 'योग' दोनों मार्ग कहे हैं।

योगे कोतिशयस्तेऽत्र ज्ञानमुक्तं समं द्वयोः।
रागद्वेषाद्यभावश्च तुल्यो योगिविवेकिनोः॥८४॥

आपके योगमें इस विवेकसे कौनसी उल्लेखयोग्य विशेषता है? [अर्थात् कोई नहीं] देखलो कि 'विवेक' और 'योग' दोनोंका ज्ञानरूपी समान फल कहा है। योगी तथा विवेकी दोनोंमें रागद्वेषादिका अभाव भी तुल्य बताया है। जैसे योगी लोग रागद्वेषसे रहित बताये हैं वैसे विवेकी लोग भी रागद्वेषसे हीन बताये हैं। [आयासहीन विवेकसे आयासयुक्त योगकी विशेषता पूछी गई है।]

न प्रीति विंषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानतः।
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रातिकूल्यमपश्यतः॥८५॥

आत्मा ही एकमात्र प्रियतम पदार्थ है यह ज्ञात होजानेवाले विवेकीको फिर विषयोंमें प्रीति नहीं रहती। यही कारण है कि फिर उसे किन्हीं विषयोंमें राग [किन्हीं विषयोंको अनुकूल मानना] और किन्हीं विषयोंसे द्वेष क्यों रहे?। क्योंकि उसे प्रातिकूल्य दीखना बन्द होचुका है।

देहादेः प्रतिकूलेषु द्वेषस्तुल्यो द्वयोरपि।
द्वेषं कुर्वन्न योगी चेदविवेक्यपि तादृशः॥८६॥

जैसे विवेकी लोग देहादिके प्रतिकूल पदार्थोंसे द्वेष करते हैं, वैसे योगी भी करते हैं। यदि कहो कि [प्रतिकूल बिच्छू सांप आदिसे] द्वेष करनेवालेको हम योगी नहीं मानते, तो हम कहेंगे कि वैसे द्वेषीको हम विवेकी भी कब कहते हैं? [वैसा द्वेष करनेवाला विवेकवान् भी नहीं माना जासकता]

द्वैतस्य प्रतिभानं तु व्यवहारे द्वयोः समम् ।
समाधौ नेति चेत् तद्वन्नाद्वैतत्वविवेकिनः ॥८७॥

जैसे व्यवहारकालमें योगीको द्वैतका प्रतिभान होता रहता है, वैसे विवेकीको भी हुआ करता है। यदि कहो कि योगीको समाधि करते समय द्वैतका भान नहीं होता, [यही योगीमें विवेकीसे विशेषता है] तो हम कहेंगे कि उसीप्रकार विवेकीको भी जब वह अद्वैत आत्मतत्वका विवेक करने बैठता है, तब द्वैतका प्रतिभान नहीं रहता।

विवक्ष्यते तदस्माभि रद्वैतानन्दनामके ।
अध्याये हि तृतीयेऽतः सर्वमप्यतिमङ्गलम् ॥८८॥

जैसे विवेकीको द्वैतका भान नहीं रहता सो हम अद्वैतानन्द नामके [अगले] तीसरे अध्यायमें कहेंगे। यों सब कुछ मङ्गल ही मङ्गल है।

सदा पश्यन्निजानन्द मपश्यन्निखिलं जगत् ।
अर्थाद् योगीति चेत् तर्हि संतुष्टो वर्धतां भवान् ॥८९॥

सदा निजानन्दको देखता हुआ तथा इस सम्पूर्ण जगत्को न देखता हुआ तो अर्थात् (एक प्रकारसे) योगी ही हो गया, ऐसा यदि तुम कहो तो अच्छा तुम ऐसे ही सन्तुष्ट होजाओ और वृद्धि पाओ। [हम कब कहते हैं कि मनुष्यको उपासना करनी ही चाहिये। ब्रह्मज्ञानसे बढ़ कर और क्या है?]

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे मन्दानुग्रहसिद्धये ।
द्वितीयाध्याय एतस्मिन्नात्मानन्दो विवेचितः ॥९०॥

ब्रह्मानन्द नामके पंचाध्यायी ग्रन्थके इस द्वितीयाध्यायमें मन्दाधिकारी पर अनुग्रह करनेकेलिये 'आत्मानन्द' का विवेचन किया गया।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

ब्रह्मानन्दे अद्वैतानन्दप्रकरणम् १३

इस प्रकरणमें जगन्मिथ्यात्वचिन्तासे अद्वैतानन्दकी प्राप्तिका वर्णन किया जारहा है—

योगानन्दः पुरोक्तो यः स आत्मानन्द इष्यताम्।
कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति चेच्छृणु ॥१॥

जिसको पहले 'योगानन्द' कहा है उसीको 'आत्मानन्द' समझलो [इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है] यह सद्वितीय आत्मानन्द ब्रह्मानन्द कैसे होसकता है सो अगले ग्रन्थसे सुनो।

प्रथमाध्यायमें 'ब्रह्मानन्द' 'विद्यानन्द' तथा 'विषयानन्द' इन तीन ही प्रकारका आनन्द बताया। द्वितीयाध्यायमें उन तीनों आनन्दोंसे अधिक एक और आत्मानन्दका वर्णन कर डाला। यह विरोधसा प्रतीत होता है। उसका यह अभिप्राय लेना चाहिये कि जिसे प्रथमाध्यायमें योगानन्द कहा था उसीको आत्मानन्द समझो। उन दोनोंमें कोई भी भेद नहीं है। योगके द्वारा साक्षात्कार होनेके कारण उसी ब्रह्मानन्दको योगानन्द भी कह देते हैं। जब इस योगरूपी उपाधिकी विवक्षा नहीं रहती तब उसे सीधे शब्दोंमें ब्रह्मानन्द या निजानन्द कहने लगते हैं। इसीप्रकार गौण आत्मा कौन है? मिथ्या आत्मा कौनसे हैं? मुख्य आत्मा किसे कहते हैं? इस आत्मविवेचनके पश्चात् जिस आनन्दकी प्राप्ति होती है उसे 'आत्मानन्द' कहा है। वास्तवमें योगानन्द और आत्मानन्द एक ही बात है। वह आनन्द जिसके द्वारा प्रकट होता है, उसीके नामसे उसका नाम

रखलिया जाता है। फिर प्रश्न यह होता है कि जिस आत्मानन्दका वर्णन होचुका है, वह तो सद्वितीय है। उस आत्मानन्दके साथ तो, उसके सजातीय पुत्र स्त्री आदि गौण आत्मा, देहादि मिथ्या आत्मा तथा उसके विजातीय आकाशादि पदार्थ विद्यमान हैं, फिर ऐसे आत्मानन्दको ब्रह्मानन्द कैसे मान लें? इसका उत्तर अगले श्लोकमें दिया है।

आकाशादिस्वदेहान्तं तैत्तिरीयश्रुतीरितम्।
जगन्नास्त्यन्यदानन्दादद्वैतब्रह्मता ततः॥२॥

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः (तै० २-१) इस तैत्तिरीय श्रुतिमें जिस आकाशादिस्वदेहपर्यन्त जगत्का वर्णन आया है, [जिसके होनेसे द्वैतकी शङ्का पैदा होती है] वह सब आनन्द [जगत्के कारण आनन्द] से पृथक् कुछ नहीं है। यही कारण है कि [उस सबके रहनेपर भी] वह आत्मानन्द अद्वितीय ब्रह्मरूप ही है। [माना कि आत्मानन्दमें आकाश आदि देहपर्यन्त जगत् भासता है परन्तु तुम इस जगत्के कारण द्वैतकी शङ्का मतकरो। यह सब मूलमें अद्वैत ब्रह्मतत्त्व है।]

आनन्दसे जगदुत्पत्ति

आनन्दादेव तज्जातं तिष्ठत्यानन्द एव तत्।
आनन्द एव लीनं चेत्युक्तानन्दात् कथं पृथक्॥३॥

[आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते (तै० ३-६) इस श्रुतिमें कहा है कि] यह जगत् आनन्दसे ही उत्पन्न हुआ है [समागम होनेपर जब माता पिताको आनन्द आता है तब यह जगत् उत्पन्न होता है] वह आनन्दमें ही निवास करता है [आनन्दके बिना इसका ठहरा रहना असम्भव होता है। इस आनन्दसे निराश होजानेपर प्राणी कुएमें डूबकर या विष आदि खाकर मरजाता है] वह अन्तमें भी आनन्दमें ही लीन होता पायाजाता है। जब श्रुति स्वयं यह बात कह रही है तो यह जगत् अपने कारण उक्त आनन्दसे पृथक् कैसे है ?

कुलालाद् घट उत्पन्नो भिन्नश्चेति न शंक्यताम् ।
मृद्वदेष उपादानं, निमित्तं न कुलालवत् ॥४॥

कुम्हारसे घट उत्पन्न हुआ है और वह उससे भिन्न भी है, ऐसी शङ्का न करो। क्योंकि यह आत्मानन्द [घड़ेका] मिट्टीके समान [इस जगका] उपादान कारण है। यह [आत्मानन्द] घड़ेका कुम्हारकी भांति [इस जगत्का] केवल निमित्त कारण नहीं है। [यह तो जालेका मकड़ी की नाईं निमित्त और उपादान दोनों है।]

स्थितिर्लयश्च कुम्भस्य कुलाले स्तो न हि क्वचित् ।
दृष्टौ तौ मृदि, तद्वत् स्यादुपादानं तयोः श्रुतेः ॥५॥

कुम्भके स्थिति और लय, कुम्हारमें कहीं नहीं होते [इसकारण कुम्हार कुम्भका उपादान नहीं होता] घड़ेकी स्थिति और लय उसके उपादान मिट्टीमें होते हुए प्रत्यक्ष देखेगये हैं। ठीक उसीप्रकार जगत्की स्थिति तथा लयका उपादान यह आनन्द है। 'आनन्दाद्ध्येव' इस श्रुतिने स्वयं अपने मुखसे जगत्की स्थिति और लयको आनन्दमें होता माना है।

उपादानं त्रिधा भिन्नं, विवर्ति, परिणामि च ।
आरम्भकं च, तत्रान्त्यौ न निरंशेऽवकाशिनौ ॥६॥

उपादान तीन प्रकारका होता है—एक 'विवर्ती' दूसरा 'परिणामी' तीसरा 'आरम्भक'। निरवयव वस्तुमें इनमें से आरम्भ और परिणाम दोनों पक्षोंका अवसर नहीं है।

आरम्भवादका स्वरूप

आरम्भवादिनोऽन्यस्मादन्यस्योत्पत्तिमूचिरे ।
तन्तोः पटस्य निष्पत्तेर्भिन्नौ तन्तुपटौ खलु ॥७॥

आरम्भवादी [वैशेषिक नैयायिक आदि] कहते हैं कि अन्य [कार्यसे सर्वथा भिन्न रहनेवाले कारण] से अन्य [अर्थात् कार्य नामकी]

वस्तु उत्पन्न हुआ करती है [जो उससे सर्वथा भिन्न होती है] वे कहते हैं कि तन्तुसे वस्त्रकी उत्पत्ति दीखती है। यों विरुद्ध परिणाम तथा विरुद्ध अर्थक्रियाकारी होनेसे वे तन्तु और वस्त्र परस्पर भिन्न भिन्न हैं। पटका काम तन्तुओंसे नहीं होता।

परिणामका स्वरूप

अवस्थान्तरतापत्ति रेकस्य परिणामिता ।
स्यात् क्षीरं दधि, मृत् कुम्भः, सुवर्णं कुण्डलं यथा ॥८॥

एक वस्तुका [पहली अवस्थाको छोड़कर] दूसरी अवस्था में चला जाना 'परिणामिता' कहाती है। जैसे दूध दही होजाता है, मिट्टी घड़ा बन जाती है, सोना वाली होजाता है।

विवर्तका लक्षण

अवस्थान्तरभानं तु विवर्तो रज्जुसर्पवत् ।
निरंशेऽप्यस्त्यसौ, व्योम्नि तलमालिन्यकल्पनात् ॥९॥

रज्जुसर्पके तुल्य अवस्थान्तरका भान होनेलगना विवर्त कहाता है [अपनी पूर्वावस्था भी न छूटे और दूसरी नवीन अवस्थाका भान भी होने लगे इसे 'विवर्त' कहते हैं।] रज्जुसर्प इसका उदाहरण है [रज्जु रूपसे विद्यमान पदार्थ ही दूसरे सर्परूपसे भी भासने लगता है। यद्यपि हमने रज्जुसर्प यह सावयवपदार्थका दृष्टान्त दिया है परन्तु] आकाशके स्वरूपसे अनभिज्ञ लोगोंकी आकाशमें तल [पट्ट, पटड़ा, विस्तृत दिक्कटाह] और मालिन्य [नीलवर्णता] की कल्पना [आरोप] पायी जानेसे यह विवर्त निरवयव पदार्थोंमें भी होता है ऐसा मानना पड़ता है।

ततो निरंश आनन्दे विवर्तो जगदिष्यताम् ।
मायाशक्तिः कल्पिका स्यादैन्द्रजालिकशक्तिवत् ॥१०॥

ऊपरके दृष्टान्तसे निरंशमें भी विवर्तके संभव होनेसे इस जगत्को निरवयव आनन्दमें विवर्त [कल्पित] मानलेना चाहिये। [कल्पना करने वालेकी ढूंढ हो तो] ऐन्द्रजालिककी शक्तिके समान मायाशक्तिको

कल्पना करनेवाली मानलो। [जबकि ऐन्द्रजालिकमें रहनेवाली मणि-मन्त्रादिरूपी छोटीसी मायाशक्ति गन्धर्वनगर आदिकी कल्पना करडालती है तब ब्रह्ममें रहनेवाली मायाशक्तिके जगत्कल्पना करनेमें आश्चर्य क्या है ?].

शक्तिः शक्तात् पृथङ् नास्ति तद्वद् दृष्टे, र्न चाभिदा ।
प्रतिबन्धस्य दृष्टत्वाच्छक्त्यभावे तु कस्य सः ॥११॥

एकतो शक्ति शक्तिवालेसे पृथक् नहीं है । क्योंकि ऐसा [शक्तिका शक्तसे भिन्न न होना अर्थात् अग्नि आदिके स्वरूपसे शक्तिकी पृथक् उपलब्धिका न होना] देखाजाता है । दूसरे—शक्तिका शक्तिवालेसे अभेद भी नहीं है । क्योंकि [अकेली] शक्तिका प्रतिबन्ध देखनेमें आता है [इससे शक्तिका स्वरूपातिरिक्त होना दीखता है] यदि शक्ति [शक्तिमान अग्नि आदिसे पृथक्] कोई भिन्न वस्तु नहीं है तो बताओ कि यह प्रतिबन्ध किस वस्तुका हुआ ?

प्रश्न यह है कि आनन्दात्मासे भिन्न मायाको मानें तो द्वैत मानना पड़ता है । इसकाउत्तर यह है कि वह माया अनिर्वचनीय होनेसे अनृत है । इसीसे द्वैत नहीं बनता । देखते हैं कि लौकिक अग्नि आदिकी शक्तियोंको भी भिन्न या अभिन्न कुछ नहीं कहा जासकता । क्योंकि अग्नि आदिकी शक्ति अग्नि आदिके स्वरूपसे भिन्न नहीं होती । इसलिये नहीं होती कि वह अग्नि आदिके स्वरूपसे पृथक नहीं दीखती । शक्ति और शक्तिमान्का अभेद भी नहीं माना जासकता । क्योंकि मणिमन्त्रादिसे शक्तिका प्रतिबन्ध होता पायाजाता है । इस कारण शक्ति अग्नि आदि के स्वरूपसे भिन्न भी माननी पड़ती है । यदि अग्न्यादिसे भिन्न शक्ति न मानोगे तो बताना होगा कि वह प्रतिबन्ध किसका होता है ?

शक्तेः कार्यानुमेयत्वादकार्ये प्रतिबन्धनम् ।
ज्वलतोग्नेरदाहे स्यान्मन्त्रादिप्रतिबन्धता ॥१२॥

[शक्ति अतीन्द्रिय है वह किसीको आंखोंसे नहीं दीखती] शक्ति का केवल कार्यसे अनुमान करसकते हैं। फिर जब कारण होनेपर भी कार्य न होता हो तो तब प्रतिबन्धको मानना पड़ता है। देखते हैं कि जब आग जल रही हो और उससे दाह न होता हो तब यह मानना होता है कि मन्त्रादिने शक्तिका प्रतिबन्ध करदिया है।

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां मुनयोऽविदन्।
परास्य शक्तिं विविधा क्रियाज्ञानबलात्मिका ॥१३॥

[ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् (श्वे० १–३) इस श्रुतिमें कहा गया है कि] जब कारणवादोंकी न्यूनताओं का ममन करनेवाले मुनिलोग जगत्के कारणको जाननेकी इच्छासे, ध्यान योगमें बैठे, तब उन्होंने देव [अर्थात् स्वयंप्रकाशरूप] आत्मा अर्थात् प्रत्यगभिन्न ब्रह्मकी मायारूपी उस शक्तिको पहचाना अर्थात् साक्षात् किया जो [शक्ति] अपने गुणों [अर्थात् अपने कार्य स्थूलसूक्ष्म शरीरों] के कारण अदृश्य अवस्थामें रह रही है [ये शरीर उस मायाशक्तिका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होने देरहे हैं। यद्यपि मायाशक्ति सर्वत्र काम कर रही है परन्तु शरीरोंसे भरमाया प्राणी अपनेको तथा दूसरोंको कर्ता माननेके भ्रममें पड़कर मायाशक्तिकी लीलाको नहीं समझपाता ? 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे० ६–८) इसमें] इस ब्रह्मकी जगत्को बनानेवाली पराशक्ति, नाना प्रकारकी सुनी गयी है। वह मायाशक्ति कहीं क्रियारूप कहीं ज्ञानरूप और कहीं बलरूप अर्थात् इच्छारूप होती है। पहले वह शक्ति ज्ञानरूप होजाती है तब मनुष्यको किसी पदार्थके अनुकूल प्रतिकूल आदिका ज्ञान होता है। फिर वही शक्ति इच्छारूप होजाती है तब मनुष्यको कुछ पाने या त्यागने की इच्छा होजाती है। फिर वही शक्ति क्रिया या कर्मरूप होजाती है तब मनुष्य हान या ग्रहण रूपी कर्म करने लगता है। यों मायाशक्ति तीन रूप धारण करती पाई जाती है।

इति वेदवचः प्राह, वसिष्ठश्च तथाब्रवीत् ।
सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम् ॥१४॥

मायाके विषय में उपर्युक्त बात श्रुतियोंने भी कही है तथा [वसिष्ठमुनिने अपने योगवाशिष्ठ नामक ग्रन्थमें] भी इस मायाशक्ति की विचित्रताका वर्णन किया है । [उसका कुछ भाग यहां २८ श्लोक तक उद्धृत किया जारहा है] वे कहते हैं कि "वह ब्रह्म सर्वशक्तियुक्त भी है और वह नित्यपूर्ण और अद्वितीय भी है [यों उन्होंने क्रमानुसार ब्रह्म के सोपाधिक और निरूपाधिक दोनों रूपोंका कथन करदिया है ।]

ययोल्लसति शक्त्यासौ प्रकाशमधिगच्छति ।
चिच्छक्ति र्ब्रह्मणो राम शरीरेषूपलभ्यते ॥१५॥

योगवासिष्ठमें कहा है:—वह परब्रह्म, जब जब, जिस जिस, माया शक्तिके कारण उल्लास किंवा विकास या विवर्तको प्राप्त होजाता है, तब तब, वह वह शक्ति [हमपर] प्रकट होजाती है [इसका यह अभिप्राय हुआ कि जब वह शक्ति प्रकट नहीं भी होती तब भी यह जगत् अप्रकट दशामें ब्रह्ममें रहता है] हे राम ! तुम देखलो कि देवतिर्यङ् मनुष्यादि शरीरोंमें ब्रह्मकी वही चिच्छक्ति देखी जारही है । [उसी महाशक्तिके क्षुद्रकण ही नाना शरीरोंकी चेतनाके रूपमें जब तब प्रकट होतेरहते हैं ।]

स्पन्दशक्तिश्च वातेषु दार्ढ्यशक्ति स्तथोपले ।
द्रवशक्तिस्तथाऽम्भःसु दाहशक्तिस्तथानले ॥१६॥
शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनि ।

वायुमें उसकी स्पन्द [चलनकारण] शक्ति प्रकट होती है । पत्थरमें उसकी दार्ढ्य शक्ति अभिव्यक्त होती है । जलोंमें उसीकी द्रवशक्ति प्रकट दशामें आजाती है । अग्निमें उसीकी दाहशक्ति आजाती है । आकाशमें उसकी शून्यशक्ति पायीजाती है । विनाशी पदार्थोंमें उसकी नाशशक्तिको खेलती हुई देख सकते हैं ।

यथाण्डेऽन्तर्महासर्पो जगदस्ति तथात्मनि ॥१७॥

[कहांतक कहें] जैसे महासर्प सांपके छोटेसे अण्डेके भीतर [अनभिव्यक्त दशामें छिपा पड़ा] रहता है, इसीप्रकार यह जगत् आत्मा में अनभिव्यक्त दशामें भी बना रहता है ।

फलपत्रलतापुष्पशाखाविटपमूलवान् ।
ननु बीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥१८॥

जैसे फल, फूल, पत्ते, लता, शाखा, टहनी और मूल वाला पेड़ एक [छोटेसे] बीजमें [सूक्ष्मरूपमें छिपा] रहता है इसीप्रकार यह विचित्र जगत् ब्रह्ममूलमें [अनभिव्यक्त अवस्थामें भी बना] रहता है ।

क्वचित् काश्चित् कदाचिच्च तस्मादुद्यन्ति शक्तयः ।
देशकालविचित्रत्वात् क्ष्मातलादिव शालयः ॥१९॥

भूमिमें पड़े हुए देशकालके विविध संयोगोंको पा पाकर भूमि तलमें से उग उठनेवाले बीजोंके समान देश और कालके विचित्र होनेके कारण कहीं किसी देशमें और किसी कालमें कोई कोई शक्ति अभिव्यक्त होजाती हैं [सब शक्तियें एकस्थान और एककालमें उदित नहीं होतीं । देखते हैं कि भूमिमें बहुतसे बीज पड़े रहते हैं परन्तु वे सब एक साथ उदित नहीं होते । किन्तु किसीदेश और किसीकाल [ऋतु] में कोई कोई बीज अंकुरको उत्पन्न करते हैं ।]

जगत्कल्पक मनका रूप

स आत्मा सर्वगो राम ! नित्योदितमहावपुः ।
यन्मनाङ् मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥२०॥

हे राम ! सर्वत्र विद्यमान नित्यप्रकाशमान तथा देश कालादिकी मर्यादामें कभी न आनेवाले स्वरूपवाला वह आत्मा जिस समय [आत्मबोध करानेवाली कि मैं कुछ हूँ] मनन शक्तिको [जो कि मायाका ही परिणामरूप है] धारण करलेता है, उससमय उसे 'मन' कहते हैं ।

आदौ मनस्तदनु बन्धविमोक्षदृष्टी
पश्चात् प्रपंचरचना भुवनाभिधाना ।
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठा-
माख्यायिका सुभगबालजनोदितेव ॥२१॥

पहले [मनन शक्तिका उल्लास होनेपर] मन [उत्पन्न] होता है । उसके पश्चात् बन्ध और मोक्षकी कल्पना जाग उठती है । इसके अनन्तर [बन्धनके अन्तर्गत ही] पर्वत, नगर, नदीसमुद्रादि प्रपंचकी रचना— जिसको भुवन भी कहते हैं, होजाती हैं । इसप्रकार की यह जगत्की अवस्था है जो प्राणियोंके जीमें जम गई है [जो कल्पित होनेपर भी सच्चीसी प्रतीत होने लगी है] जैसे कहानी सुननेके प्रेमी बच्चे कथाको सच्ची मान कर सुनते हैं, इसीप्रकार यह जगत् [अविचारित रूपसे] मानाजाने लगा है ।

बालस्य हि विनोदाय धात्री वक्ति शुभां कथाम् ।
क्वचित् सन्ति महाबाहो राजपुत्रास्त्रयः शुभाः ॥२२॥
द्वौ न जातौ तथैकस्तु गर्भ एव न च स्थितः ।
वसन्ति ते धर्मयुक्ता अत्यन्तासति पत्तने ॥२३॥
स्वकीयाच्छून्यनगरान्निर्गत्य विमलाशयाः ।
गच्छन्तो गगने वृक्षान् ददृशुः फलशालिनः ॥२४॥
भविष्यन्नगरे तत्र राजपुत्रास्त्रयोऽपि ते ।
सुखमद्य स्थिताः पुत्र ! मृगयाव्यवहारिणः ॥२५॥
धात्र्येति कथिता राम ! बालकाख्यायिका शुभा ।
निश्चयं स ययौ बालो निर्विचारणया धिया ॥२६॥

हे महाबाहु राम ! बालकोंको बहलानेके लिए धायी एक बड़ी मनोहर कहानी कहा करती है कि किसी देशमें तीन बड़े सुन्दर राजकुमार

रहते हैं। उनमेंसे दो अभीतक उत्पन्न नहीं हुए। एक तो उनमेंसे अभी तक गर्भमें ही नहीं आया। वे तीनों बड़े धर्मपूर्वक एक अत्यन्त असत् नगरमें रहते हैं। एक बार वे तीनों उदार राजकुमार अपने शून्य नगरमें से निकलकर जारहे थे कि उन्होंने आकाशमें फलोंसे लदे हुए बहुतसे वृक्ष देखे। आजकल वे तीनों राजपुत्र भविष्यत् नगरमें आखेट करते करते आनन्दपूर्वक रहरहे हैं। हे राम! धायीने यह एक बिना सिर पैरकी मनोहर बाल कहानी कही थी। वह भोला बच्चा अपनी विचारकी अनभ्यासिनी [भोली] बुद्धिसे इसे ठीक मान बैठा।

इयं संसाररचना विचारोज्झितचेतसाम् ।
बालकाख्यायिकेवेत्थमवस्थितिमुपागता ॥२७॥

ठीक इसीप्रकार इस संसाररचनाकी अवस्था है [विचार कर देखें तो कहीं भी इसकी शृङ्खला नहीं जुड़ती। यह खोदते खोदते रेतकी भीत की भांति विचार करते करते तितरबितर होजाती है] परन्तु जिनके चित्तको विचार करना नहीं आता उनके लिए यह संसाररचना बालकोंकी कहानीकी भांति सच्ची बनी बैठी है।

इत्यादिभिरुपाख्यानैर्मायाशक्तेश्च विस्तरम् ।
वसिष्ठः कथयामास सैव शक्तिर्निरूप्यते ॥२८॥

वशिष्ठने इत्यादि उपाख्यानोंके द्वारा मायाशक्तिका विस्तृत निरूपण किया है। अब उसी मायाशक्तिका निरूपण किया जारहा है:—

कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा ।
स्फोटाङ्गारौ दृश्यमानौ शक्तिस्तत्रानुमीयते ॥२९॥

यह मायाशक्ति अपने कार्य [जगत्] और अपने आश्रय [ब्रह्म] दोनोंसे विलक्षण [विपरीत स्वभाववाली] है। दृष्टान्तमें देखलो कि वन्हिकी शक्तिका कार्य स्फोट [विदारण] तथा शक्तिका आश्रय अङ्गार प्रत्यक्ष दीखा करते हैं। शक्तिका अनुमान [कार्यको देखकर] कियाजाता

है। [इसकारण वह शक्ति उन दोनों (कार्य और आश्रय अथवा स्फोट और अंगार) से विलक्षण होती है।]

पृथुबुध्नोदराकारो घटः कार्योऽत्र मृत्तिका ।
शब्दादिभिः पञ्चगुणैर्युक्ता शक्तिस्त्वतद्द्विधा ॥३०॥

मिट्टीकी शक्तिके विषयमें भी यही बात समझलो—मोटे और गोल पेटवाला घट मिट्टीकी शक्तिका कार्य है। [उस कार्यका आश्रय] मिट्टी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामके पाँच गुणोंवाली है। परन्तु शक्ति इन दोनोंसे विलक्षण है [उसका न तो कोई आकार है और न उसमें कोई गुण है।]

न पृथ्वादि नशब्दादिः शक्तावस्तु यथा तथा ।
अत एव ह्यचिन्त्यैषा न निर्वचनमर्हति ॥३१॥

कार्यके धर्म मुटापा आदि [आकार] तथा आश्रयके धर्म शब्दादि [गुण] कोई शक्तिमें नहीं पाये जाते। इस कारण वह विलक्षण वस्तु है। वह कार्य और आश्रयसे विलक्षण होनेके कारण अचिन्त्य है [उसका चिन्तन नहीं किया जासकता] उसका भेद अभेद या अचिन्त्यत्वादि किसी भी रूपसे निर्वचन नहीं होसकता।

कार्योत्पत्तेः पुरा शक्तिर्निगूढा मृद्यवस्थिता ।
कुलालादिसहायेन विकाराकारतां व्रजेत् ॥३२॥

[मिट्टीकी] शक्ति [घटादि] कार्यकी उत्पत्तिसे पहले तो मिट्टीमें छिपीपड़ी थी [इसकारण प्रकट नहीं होरही थी] जब उस शक्तिको कुलाल दण्ड चक्र आदिकी सहायता मिली तब वह [मथनादिसे मक्खन आदिके समान] विकार [कार्य] के आकारकी होगई अर्थात् अभिव्यक्त होगई।

पृथुत्वादिविकारान्तं स्पर्शादिं चापि मृत्तिकाम् ।
एकीकृत्य घटं प्राहुः विचारविकला जनाः ॥३३॥

परन्तु जो लोग विचारही करना नहीं जानते, वे पृथुत्वादिरूपी कार्यको तथा शब्दस्पर्शादिगुणवाली मिट्टीरूपी कारणको, अपने अविचारसे एक [वस्तु] बनाकर उसे 'घट' कहनेलगते हैं। [यदि वे लोग विचार करें तो उन्हें मोटा और गोलरूप अलग दिखाई दे तथा स्पर्शादिरूपी मिट्टी अलग दीखने लगे और घट नामकी कोई वस्तु वहां न रहे। तात्पर्य यह है कि भेदप्रतीति करानेवाले विचारके न होनेसे उन्हें कार्यकरणका भेद नहीं भासता।]

कुलालव्यापृतेः पूर्वो यावानंशः स नो घटः ।
पश्चात्तु पृथुबुध्नादिमत्त्वे युक्ता हि कुम्भता ॥३४॥

[घटव्यवहारके अविचारमूलक होनेका कारण यह है कि] कुलालके व्यापारसे पहले जितना [मिट्टी का] भाग है, वह घट नहीं है। कुलालके मिट्टीपर कुछ व्यापार करलेने के पश्चात् उसके मोटे गोल आदि आकारवाली वस्तु बनजानेपर उसे 'घट' कहना ठीक होता है।

स घटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात् ।
नाप्यभिन्नः पुरा पिण्डदशायामनवेक्षणात् ॥३५॥

(घटः वियोगे सति अनीक्षणात् मृदः न भिद्यते) वह घड़ा न तो मिट्टीसे भिन्न है। क्योंकि उसे मिट्टीसे पृथक् करके नहीं देखा जासकता और न वह घड़ा मिट्टीसे अभिन्न है, क्योंकि पहले जब पिण्डदशा थी तब वह दीखता नहीं था। [यों वह घड़ा पारमार्थिक पदार्थ नहीं है, उसे अनिर्वचनीय शक्तिने बनाकर खड़ा किया है।]

अतोऽनिर्वचनीयोऽयं शक्तिवत् तेन शक्तिजः ।
अव्यक्तत्वे शक्तिरुक्ता, व्यक्तत्वे घटनामभृत् ॥३६॥

इसकारण घट शक्तिके समान अनिर्वचनीय है, इसीसे कहते हैं कि यह (घट) शक्तिज है अर्थात् शक्तिसे उत्पन्न हुआ है। [कभी 'शक्ति' और कभी 'घट' कहनेका कारण यह है कि] जबतक अव्यक्त अवस्था

रहती है, तबतक उसे 'शक्ति' कहते हैं। जब व्यक्तावस्था आजाती है तब उसका नाम 'घट' पड़जाता है।

ऐन्द्रजालिकनिष्ठापि माया न व्यज्यते पुरा।
पश्चाद् गन्धर्वसेनादिरूपेण व्यक्तिमाप्नुयात् ॥३७॥

ऐन्द्रजालिकमें रहनेवाली माया भी [मणिमन्त्रादिका प्रयोग करने से पहले] पहले व्यक्त नहीं होती। परन्तु पीछेसे वह गन्धर्वसेना आदि के रूपसे प्रकट होजाती है [माया पहले अप्रकट रहती है और पीछेसे प्रकट होती है।]

एवं मायामयत्वेन विकारस्यानृतात्मताम्।
विकाराधारमृद्वस्तुसत्यत्वं चाब्रवीच्छ्रुतिः ॥३८॥

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छ० ६-४-१) इस श्रुतिने इसी सब विचारको लेकर मायामय [अर्थात् मायाका कार्य] होनेसे, विकार [अर्थात् कार्यों] को तो अनृत [मिथ्या] कहा है तथा [घटादि] विकारोंके आधार मिट्टीकी सत्यताका वर्णन किया है।

वाङ्निष्पाद्यं नाममात्रं विकारो, नास्य सत्यता।
स्पर्शादिगुणयुक्ता तु सत्या केवलमृत्तिका ॥३९॥

इस श्रुतिने कहा है कि ये जितने कार्य दीखरहे हैं ये सब वाणी से बोलेजाने वाले नाम ही नाम हैं। ये [घटादिकार्य] सत्य नहीं हैं (नामके अतिरिक्त इनका पारमार्थिक रूप कुछ नहीं हैं) [इन घटादि कार्योंका आधार बनी हुई] स्पर्श आदि गुणवाली मिट्टी केवल सत्य पदार्थ है।

व्यक्ताव्यक्ते तदाधार इति त्रिष्वाद्ययोर्द्वयोः।
पर्यायः कालभेदेन, तृतीयस्त्वनुगच्छति ॥४०॥

'व्यक्त', 'अव्यक्त' तथा 'इन दोनोंका आधार' [घट आदि कार्य 'व्यक्त' कहाते हैं। इन कार्योंकी कारणशक्ति 'अव्यक्त' कही जाती है।

कार्य और शक्ति इन दोनोंका 'आधार' मिट्टी होती है] इन तीनोंमें पहले दोनों [कार्य तथा शक्ति] का कालभेदसे पर्याय [क्रम] रहता है। [कभी कार्य होता है और कभी शक्ति रहती है। शक्ति और कार्य ये दोनों कादाचित्क हैं। इसीसे ये मिथ्या या अनृत हैं]। किन्तु इन दोनोंका आधार तीसरा पदार्थ जो मिट्टी आदि है वह दोनोंमें अनुगत रहता है [मिट्टी कार्यावस्था और शक्तिकाल दोनोंमें रहती है। यों त्रिकालस्थायी होनेसे वही सत्य तत्व है]

विकारोंके असत्य होनेके तीन कारण

निस्तत्त्वं भासमानं च व्यक्तमुत्पत्तिनाशभाक् ।
तदुत्पत्तौ तस्य नाम वाचा निष्पाद्यते नृभिः ॥४१॥

व्यक्त [कहानेवाले घटादि] पदार्थ निस्तत्व [अर्थात् स्वरूपसे असत्] होते हुए भी भासा करते हैं। ये [व्यक्त कहानेवाले घटादि पदार्थ] उत्पत्ति और विनाशवालेसे लगा करते हैं। उत्पन्न होजानेपर मनुष्य [अपने व्यवहारकेलिये] शब्दोंमें इनका नाम रखलेते हैं। [तब मनुष्य इन्हें वाणीके रक्खे हुए नामवाला मानने लगते हैं। इन्हीं तीन कारणोंसे इन विकारों (कार्यों) को 'असत्य' कहाजाता है।]

व्यक्ते नष्टेऽपि नामैतन्नृवक्त्रेष्वनुवर्तते ।
तेन नाम्ना निरूप्यत्वाद् व्यक्तं तद्रूपमुच्यते ॥४२॥

व्यक्त [कार्य] पदार्थके नष्ट होजानेपर भी उनका यह [उन कार्यों से अभिन्न] नाम, नामलेनेवाले मनुष्योंकी जिह्वापर चढ़ा रहजाता है। अब वह व्यक्त [कार्य] पदार्थ उस वाणीसे लियेजानेवाले केवल उस नामसे निरूपणीय [व्यवह्रियमाण] रहजानेके कारण [अब उसके व्यवहारका कोई साधन नहीं रहजानेसे] वह कार्य तद्रूप [अर्थात् नामके ही रूपवाला किंवा नामात्मक] कहलानेलगता है।

भाव यह है कि विवादास्पद घट घटशब्दरूप है। क्योंकि उस

घटपदार्थका व्यवहार भी ठीक इसीप्रकार घटशब्दसे होता है जिसप्रकार घट इस शब्दका व्यवहार घटशब्दसे होता है। यों व्यक्तपदार्थ नामात्मक होते हैं।

निस्तत्त्वत्वाद् विनाशित्वाद् वाचारम्भणनामतः।
व्यक्तस्य न तु तद् रूपं सत्यं किञ्चन्मृदादिवत् ॥४३॥

व्यक्त [घटादिकार्यों] का [मोटा गोल आदि] जो रूप [या आकार] हमें दीखता है वह रूप [सत्य मिट्टीके समान] सत्य नहीं हैं। क्योंकि वह रूप निस्तत्व है [उसका वास्तवरूप कुछ नहीं है] विनाशी है [वह मिट्टीके रहते ही रहते नष्ट होजाता है] तथा वह रूप वाणीसे कहा हुआ एक शब्दमात्र है [यदि यह रूप [आकार] असत्य न होता तो जैसे मिट्टी आदि निस्तत्व नहीं है, विनाशी नहीं है, या केवल नाममात्र नहीं हैं ऐसे यह भी होता ।]

व्यक्तकाले ततः पूर्वमूर्ध्वमप्येकरूपभाक्।
सतत्वमविनाशं च सत्यं मृद्वस्तु कथ्यते ॥४४॥

मिट्टीनामक पदार्थ व्यक्त पदार्थकी स्थितिके समय, उससे पूर्व [व्यक्त पदार्थकी उत्पत्तिसे पहले] तथा [व्यक्तके नष्ट होजानेके] पश्चात् भी [तीनों कालोंमें] एकरूप रहनेके कारण, सतत्व [अर्थात् वास्तवरूप वाला] तथा अविनाश अर्थात् विकारके साथ नष्ट न होनेवाला सत्य-पदार्थ कहाजाता है।

व्यक्तं घटो विकारश्चेत्येतै र्नामभिरीरितः।
अर्थश्चेदनृतः कस्मान्न मृद्बोधे निवर्तते ॥४५॥

शङ्का—यदि व्यक्त, या घट, या विकार इन तीनों नामों [शब्दों] से कहा हुआ कार्य नामका पदार्थ अनृत है [यदि वह कारणसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है] तो यह बताओ कि मिट्टीरूपी कारणका ज्ञान होजाने पर उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होजाती ?

निवृत्त एव, यस्मात् ते तत्सत्यत्वमतिर्गता ।
ईदृङ्निवृत्तिरेवात्र बोधजा, नत्वभासनम् ॥४६॥

इसका उत्तर यह है कि ज्ञान होजानेपर उसकी निवृत्ति तो होगई। क्योंकि अब तुम्हारी उस घटादिके सत्य होनेकी बुद्धि जाती रही। यहां [इन सोपाधिक भ्रमस्थलोंमें] बोधसे ऐसी ही निवृत्ति मानीगई है [कि इनकी सत्यत्वबुद्धि जाती रहे। सोपाधिक भ्रमस्थलोंमें] वास्तविकताका ज्ञान होजानेपर भी स्वरूपकी प्रतीति बन्द नहीं हुआ करती [रज्जु सर्पादि के निरुपाधि भ्रमस्थलोंमें तो सर्पादिरूपका भानहोना बन्द होजाता है।]

पुमानधोमुखो नीरे भातोऽप्यस्ति न वस्तुतः ।
तटस्थमर्त्यवत् तस्मिन्नैवास्था कस्यचित् क्वचित् ॥४७॥

[सोपाधिभ्रमका दृष्टान्त] जलमें नीचेको मुख किया हुआ दीखने वाला भी मनुष्य वस्तुतः नहीं होता। क्योंकि ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी उस छायापुरुषको, किनारे पर खड़े हुए पुरुषकी भांति कभी कहीं सत्य नहीं मानता। [वह समझलेता है कि जलरूपी उपाधिके कारण ऐसा प्रतीत होरहा है। जबतक जलरूपी उपाधि बनी है तबतक ऐसी मिथ्या प्रतीति होती ही रहेगी। इसीप्रकार सर्वकारण आत्मतत्वका ज्ञान होजाने पर, विवेकी पुरुष इस जगतको मिथ्या मानलेता है। उसके पश्चात् फिर जब उसे यह जगत् भासता है तब वह इसे इन्द्रियोपाधिकभ्रम समझ समझकर टालता या उपेक्षापक्षमें फेंकता रहता है। वह जानलेता है कि जबतक ये इन्द्रियें बनी हैं, तबतक ऐसी जगद्भासात्मक प्रतीति होती रहेगी। वह फिर इस जगद्भासको सत्य मानकर कोई व्यवहार नहीं करता। सोपाधिकभ्रमों की यह स्थिति होती है।]

ईदृग्बोधे पुमर्थत्वं मतमद्वैतवादिनाम् ।
मद्रूपस्यापरित्यागाद् विवर्तत्वं घटे स्थितम् ॥४८॥

ऐसा बोध होजानेमें ही अद्वैतवादी पुरुषार्थ मानता है। [अद्वैत-

वादमें आत्मानन्दसे भिन्न सबको मिथ्या समझलेनेपर ही अद्वितीय आनन्दकी अभिव्यक्ति होनारूपी पुरुषार्थ सिद्ध होता है ।] जब तक मनुष्यकी सांसारिक पदार्थोंके सत्य होनेकी वासना नहीं हटती तब तक अद्वितीयआनन्द प्रकट नहीं होता । क्योंकि घटकी मिट्टीने, घट बनजाने पर भी, अपने मृद्रूपका परित्याग नहीं किया, इसकारण यह घट मिट्टीका विवर्त है । [यही कारण है कि मिट्टीका ज्ञान होजानेपर घटके सत्यत्वकी बुद्धि निवृत्त होजाती है । सत्यत्वबुद्धि हटादेना ही पुरुषार्थ है । अप्रतीति पुरुषार्थ नहीं है ।]

परिणामे पूर्वरूपं त्यजेत् तत् क्षीररूपवत् ।
मृत्सुवर्णे निवर्तेते घटकुण्डलयो र्न हि ॥४९॥

[घटको मिट्टीका परिणाम नहीं मानसकते क्योंकि जिन दुग्धादि में] परिणाम मानाजाता है, उनमें पूर्व क्षीरादिरूपका त्याग पायाजाता है [इससे घट मिट्टीका परिणाम नहीं है क्योंकि वह अपने मृद्रूपी पूर्वरूपको नहीं छोड़ता । परिणाममें क्षीररूपके समान पूर्वरूप छोड़दिया जाता है] । घट और कुण्डल बनजानेपर उनमेंसे उनके उपादान कारण मिट्टी और सुवर्ण, निवृत्त नहीं होजाते । [यह बात लोकमें प्रसिद्ध है । इससे घट और कुण्डल, मिट्टी और सुवर्णके विवर्त हैं परिणाम नहीं ।]

घटे भग्ने न मृद्भावः कपालानामवेक्षणात् ।
मैवं चूर्णेऽस्ति मृद्रूपं स्वर्णरूपं त्वतिस्फुटम् ॥५०॥

[यदि कहो कि] घटके टूटजानेपर मृद्भाव नहीं होता । क्योंकि घटके फूटजानेपर तो कपाल देखे जाते तो हम कहेंगे कि यह कथन ठीक नहीं । क्योंकि चूरा होजानेपर जबकि कपाल भी नहीं रहते तब मिट्टीको देखा जासकता है । [इसकारण घटको मिट्टीका विवर्त माननापड़ता है ।] सोनेमें तो यह आक्षेप चल भी नहीं सकता क्योंकि कुण्डल आदिके टूट जानेपर भी सोनेका स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट दीखता रहता है ।

क्षीरादौ परिणामोस्तु पुनस्तद्भाववर्जनात् ।
एतावता मृदादीनां दृष्टान्तत्वं न हीयते ॥५१॥

जब दूधका दही बनजाता है तब फिर वह लौटकर दूध नहीं बन सकता, इसकारण क्षीरादिमें परिणाम मानना पड़ता है परन्तु इतनेमात्रसे [क्षीरादिके परिणामी होनेसे] मिट्टी आदिके विवर्तका दृष्टान्त होनेमें कुछ नहीं बिगड़ता । भाव यह है कि पूर्वरूपको छोड़कर दूसरी अवस्थाको प्राप्त होनेके कारण दुग्धादि केवल परिणामी ही परिणामी हैं । क्योंकि मिट्टी और सुवर्ण अवस्थान्तरको भी पालेते हैं और अपने पूर्वरूपको भी नहीं छोड़ते इसकारण वे 'परिणामी' भी हैं और विवर्त भी है] ।

आरम्भवादिनः कार्ये मृदो द्वैगुण्यमापतेत् ।
रूपस्पर्शादयः प्रोक्ताः कार्यकारणयोः पृथक् ॥५२॥

['परिणाम' और 'विवर्त' दोनों बात मानलेनेपर भी मिट्टी आदि को आरम्भक कारण नहीं मानाजासकता । क्योंकि] आरम्भवादी [नैयायिक आदि] के मतमें [घट आदि] कार्योंमें मिट्टी आदि कारणद्रव्योंको दुगना दुगना होना चाहिये । [उनके मतमें कार्याकारसे रहनेवाली और कारणाकारसे रहनेवाली दो मिट्टी होनी चाहियें । फिर उन दोनों मिट्टियों में गुरुत्वादि भी दुगने दुगने होने चाहियें] क्योंकि आरम्भवादी लोग कार्यके रूपस्पर्शादि अलग मानते हैं और कारणके रूपस्पर्शादिको अलग बताते हैं । [वे कार्यकारणका भेद माननेवाले हैं । इस दोषके कारण हमें आरम्भवाद सर्वथा अमाननीय है ।]

मृत् सुवर्णमयश्चेति दृष्टान्तत्रयमारुणिः ।
प्राहातो वासयेत् कार्यानृतत्वं सर्ववस्तुषु ॥५३॥

'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन' यहांसे लेकर 'कार्ष्णायसमित्येव सत्यम्' तक छान्दोग्य उपनिषत् में उद्दालक नामवाले अरुणपुत्रने कार्योंके अनृत होनेमें 'मिट्टी' 'सुवर्ण' और 'लोहा' ये तीन दृष्टान्त दिये हैं । कई दृष्टान्त

देनेका भाव यही है कि क्योंकि बहुतसे मिट्टी आदि पदार्थोंमें कार्योंका अनृत होना पाया जारहा है इसलिये साधकलोग भूत भौतिक समस्त पदार्थोंमें कार्योंके मिथ्यापनकी वासना किया करें।

कारणज्ञानतः कार्यविज्ञानं चापि सोऽवदत् ।
सत्यज्ञानेऽनृतज्ञानं कथमत्रोपपद्यते ॥५४॥

छान्दोग्यमें उसी आरुणिने 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६-१-४) इत्यादि वाक्योंमें कारण [मिट्टी आदि] के ज्ञानसे [घटादि सब] कार्योंका ज्ञान होजाता है ऐसा कहा है। इस पर प्रश्न यह होता है कि सत्य पदार्थका ज्ञान होजानेपर, [उससे विलक्षण जो घटादि] अनृत पदार्थ [हैं उन] का ज्ञान कैसे होसकता है ? यह हमें समझाओ।

समृत्कस्य विकारस्य कार्यता लोकदृष्टितः ।
वास्तवोऽत्र मृदंशोऽस्य बोधः कारणबोधतः ॥५५॥
अनृतांशो न बोद्धव्य स्तद्बोधानुपयोगतः ।
तत्वज्ञानं पुमर्थं स्या न्नानृतांशावबोधनम् ॥५६॥

लोकमें मिट्टी सहित घटादि विकार [आरोपित पदार्थ] को कार्य कहते हैं [अकेले घटादिको नहीं]। सो इस कार्यमें जो सच्चा मृद्भाग है इस सत्यांशका ज्ञान कारणके ज्ञानसे हो ही जाता है ॥५५॥ शेष रहा हुआ जो मिथ्या भाग है, वह ज्ञातव्य नहीं है। क्योंकि उसके ज्ञानका कुछ उपयोग नहीं है। जो तत्व [वस्तु तत्व] है [जिस वस्तुकी बाधा नहीं होती, उस वस्तुका ज्ञान किसीको हो, तो उससे जाननेवालेका कुछ प्रयोजन सिद्ध होसकता है] इसीसे तत्वज्ञानको पुरुषार्थ माना गया है। अनृतभाग किंवा विकारको जाननेका कुछ प्रयोजन नहीं होता।

तर्हि कारणविज्ञानात् कार्यज्ञानमितीरिते ।
मृद्बोधान्मृत्तिका बुद्धे त्युक्तं स्यात् कोऽत्र विस्मयः ॥५७॥

पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि 'कारण [मिट्टी आदि] के ज्ञानसे कार्यका [कार्यके मिट्टी आदि सत्यभागका] ज्ञान होजाता है' यह कहकर तुमने दूसरे शब्दोंमें यही बात [लौट फेरकर] कही कि मिट्टीके बोधसे मिट्टीका बोध होजाता है। फिर बताओ कि तुमने विस्मय करनेवाली नई बात कौनसी कही ? [यह तुम्हारा केवल शाब्दिक चमत्कार हुआ आर्थिक नहीं।]

सत्यं कार्येषु वस्त्वंशः कारणात्मेति जानतः ।
विस्मयो मास्त्विहाज्ञास्य विस्मयः केन वार्यते ॥५८॥

इसका उत्तर यह है कि कार्य घटादियोंमें जो वास्तव अंश है, वह कारणस्वरूप है, ऐसा जो लोग जानते हैं, उन लोगोंको विस्मय भले ही न हो। परन्तु जो अज्ञ हैं, [जिन्हें तत्वज्ञान नहीं है] उनको इस बात से जो विस्मय होता है, उसे कौन हटा सकता है ?

आरम्भी, परिणामी च, लौकिकश्चैककारणे ।
ज्ञाते सर्वमतिं श्रुत्वा, प्राप्नुवन्त्येव विस्मयम् ॥५९॥

आरम्भी [जो समवायी असमवायी और निमित्त कारणोंसे भिन्न कार्यकी उत्पत्ति मानते हैं] परिणामी [जो पूर्वरूप त्यागकर रूपान्तरकी प्राप्तिरूपी परिणामको मानते हैं] तथा लौकिक [जो इन दोनों प्रक्रियाओं को नहीं जानते केवल लोकव्यवहारमें लिपटे पड़े हैं] जब ये तीनों यह सुनते हैं कि एक कारणके परिज्ञानसे अनेक कार्योंका ज्ञान होजाता है तब इन तीनोंको बड़ा विस्मय होता है। [उनकी दृष्टिमें यह एक बड़े अचम्भेकी बात है कि एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान होजाता है।]

अद्वैतेऽभिमुखीकर्तुमेवात्र कस्य बाधतः ।
सर्वबोधः श्रुतौ, नैव नानात्वस्य विवक्षया ॥६०॥

छान्दोग्यश्रुतिमें जो एक कारणके विज्ञानसे सब कार्योंका ज्ञान होना कहा है उसमें कार्योंके नानात्वकी विवक्षा नहीं है। उसका यह

भाव नहीं है कि पाठकोंको कार्योंकी अनेकताका परिज्ञान कराया जाय, किन्तु उनका अभिप्राय केवल इतना है कि अद्वैतज्ञानकी ओर अधिकारियोंको अभिमुख करदिया जाय [इस महाफलका लालच दिखा कर उन्हें अद्वैतज्ञानकी ओर आकृष्ट कियाजाय यही उनका अभिप्राय है]

एकमृत्पिण्डविज्ञानात् सर्वमृन्मयधीर्यथा ।
तथैकब्रह्मबोधेन जगद्बुद्धिर्विभाव्यताम् ॥६१॥

प्रकृत तात्पर्य यह हुआ कि जैसे घटादि पदार्थोंकी उपादान एक मिट्टीके पिण्डको जान लेनेसे, मिट्टीके बने घटादि सब पदार्थोंका बोध होजाता है, इसी प्रकार यह भी जानलो कि सबके उपादान एक ब्रह्मको जानलेनेपर, उसीसे बने हुए इस सकल जगत्का बोध भी होजाता है। [यह बात 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मत मविज्ञातं विज्ञातम् इत्यादि मन्त्रोंमें कही है ।]

ब्रह्म तथा जगतका लक्षण

सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म, नामरूपात्मकं जगत् ।
तापनीये श्रुतं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥६२॥

ब्रह्मतत्व सत्‌चित्‌आनन्दस्वरूप है और यह जगत् नामरूपात्मक है 'ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दमात्रम्' इत्यादि उत्तरतापनीय उपनिषद्‌में ब्रह्मको सच्चिदानन्दस्वरूप बताया है ।

सद्रूपमारुणिः प्राह, प्रज्ञानं ब्रह्म बह्वृचः ।
सनत्कुमार आनन्दमेवमन्यत्र गम्यताम् ॥६३॥

अरुणके पुत्र उद्दालक मुनिने 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि छान्दोग्य श्रुतिमें ब्रह्मको 'सद्रूप' कहा है । बह्वृच शाखावालोंने ऐतरेय उपनिषद्‌में 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत० ५-१) इत्यादिमें ब्रह्मको 'ज्ञानरूप' कहा है । छान्दोग्य श्रुतिमें सनत्कुमारने नारदके प्रति 'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छा० ७-२२) इत्यादि वाक्योंके द्वारा भूमाशब्द वाच्य

ब्रह्मको 'आनन्दरूप' बताया है । इसीप्रकार अन्यत्र भी समझलो । [तैत्तिरीय आदि श्रुतियोंमें भी 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ६-६) इत्यादि वाक्योंके द्वारा ब्रह्मके इन तीनों स्वरूपोंका जहां तहां वर्णन आता है ।]

विचित्य सर्वरूपाणि कृत्वा नामानि तिष्ठति ।
अहं व्याकरवाणीमे नामरूपे इति श्रुतेः ॥६४॥

सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते । तथा अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि [छा० ६-३-२) इन श्रुतियोंमें जगतके स्रष्टव्य नामरूपोंको भी दिखायागया है [जैसे सच्चिदानन्दतत्वके होनेमें श्रुति प्रमाण है वैसे ही नाम और रूपको बतानेवाली भी श्रुतियें हैं यही इस श्लोकका भाव है ।]

अव्याकृतं पुरा सृष्टेरूर्ध्वं व्याक्रियते द्विधा ।
अचिन्त्यशक्तिर्मायैषा ब्रह्मण्यव्याकृताभिधा ॥६५॥

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृत मासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौनामाय-मिदं रूप इति (बृ० १-४-७) इस श्रुतिमें कहा गया है कि सृष्टिसे पहले यह सब जगत् अव्याकृत था [तब इसका नाम और रूप अप्रकट दशामें था] सृष्टि बनचुकनेपर यह जगत् दो प्रकारसे [वाच्य वाचक भावसे] व्यक्त होगया है । तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् (बृ० १-४-७) इस वाक्य के अव्याकृत शब्दसे ब्रह्ममें रहनेवाली यह अचिन्त्यशक्ति माया लीगयी है [इस श्रुतिका अव्याकृत शब्द इस मायाको ही कहरहा है]।

अविक्रियब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा ।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥६६॥

['तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रिते' इस श्रुतिखण्डका भाव इस श्लोक में दिखाया गया है] अव्याकृत नामकी वही माया, अविकारी ब्रह्ममें रहती ही रहती अनेक रूपसे परिणामको प्राप्त होती जाती है [यह भूत

भौतिक सब प्रपंच उसी अव्याकृत नामवाली मायाका विकार या परिणाम है] मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् इस श्रुतिमें कहा है कि पूर्वोक्त 'माया' को प्रकृति अर्थात् उपादानकारण जानना चाहिये । माया का आश्रय होनेके कारण जो 'मायी' कहाता है उसको महेश्वर अर्थात् मायाका नियामक मानलो । [माया और मायी सर्वथा भिन्न भिन्न प्रकार के हैं यह श्लोकके तु शब्दसे प्रकट होरहा है ।

आद्यो विकार आकाशः सोऽस्ति भात्यपि च प्रियः ।

अवकाशस्तस्य रूपं तन्मिथ्या न तु तत् त्रयम् ॥६७॥

मायोपहित ब्रह्मका सबसे पहला विकार [कार्य] आकाश है । वह 'अस्ति' 'भाति' और 'प्रिय' रूप [किंवा सच्चिदानन्दस्वरूप] है । अवकाश उसका अपना निजी स्वरूप है । उसका जो यह निजीरूप है यही मिथ्या है । वे पहले कहे हुए तीनों रूप मिथ्या नहीं हैं ।

न व्यक्तेः पूर्वमस्त्येव, न पश्चाच्चापि नाशतः ।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा ॥६८॥

आकाशका जो वह अवकाश नामका चौथा रूप है वह न तो आकाशके व्यक्त होनेसे पहले था और न नाश होजानेके पश्चात् रहेगा । [इस कारण वह मिथ्या है] विचारकर देखलो कि जो वस्तु आदि और अन्तमें नहीं रहती वह मध्यमें भी नहीं होती । [उत्पत्ति और विनाशके मध्यमें प्रतीत होनेवाला यह अवकाश असत् पदार्थ है ।]

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येवेत्याह कृष्णोऽर्जुनं प्रति ॥६९॥

कृष्ण भगवान्ने अर्जुनके प्रति भी यही कहा है कि ये भूत पहले भी अव्यक्त थे । हे भारत ! ये मध्यममें कुछ कालके लिये व्यक्त होगये हैं अन्तमें जाकर ये फिर अव्यक्तमें लीन होनेवाले हैं ।

मृद्वत् ते सच्चिदानन्दा अनुगच्छन्ति सर्वदा ।
निराकाशे सदादीना मनुभूति निजात्मनि ॥७०॥

जैसे मिट्टी घटादि कार्योंमें तीनों कालोंमें अनुगत रहती है, इसी प्रकार वे सच्चिदानन्द नामके तीनों रूप, सदा [सब पदार्थोंमें] अनुगत रहते हैं। जब आकाश नहीं रहता [जब आकाशको भूल जाते हैं] तब भी इन सच्चिदानन्द धर्मोंका अनुभव अपने आत्मामें होता रहता है।

अवकाशे विस्मृतेऽथ तत्र किं भाति ते वद ।
शून्यमेवेति चेदस्तु नाम तादृग् विभाति हि ॥७१॥

[उसीका स्पष्टीकरण] बताओ कि जब तुम अवकाशको भूल जाते हो तब तुम्हें क्या भान होता है ? यदि कहो कि शून्यका भान होता है तो हम कहेंगे कि अच्छा यही सही। तुम उसका नाम शून्य रखलो। वैसे तो अवकाशाभाव रूपसे प्रतीत होनेवाली वह कोई वस्तु प्रतीत तो होती ही है।

तादृक्त्वादेव तत्सत्व मौदासीन्येन तत् सुखम् ।
आनुकूल्यप्रातिकूल्यहीनं यत्तन्निजं सुखम् ॥७२॥

[शून्य भासता है ऐसा तुम कहते हो] तादृक्पनेके कारण अर्थात् उपर्युक्त रूपसे प्रतीत होनेके कारण ही उसकी सत्ता सिद्ध होती है [उसका स्वरूप मानना ही पड़ता है] उस समय उदासीनावस्था होनेके कारण वह तत्व निजसुख है। जो अनुकूल भी न हो और प्रतिकूल भी न हो वही निजसुख होता है।

आनुकूल्ये हर्षधीः स्यात् प्रातिकूल्ये तु दुःखधीः ।
द्वयाभावे निजानन्दो, निजदुःखं न तु क्वचित् ॥७३॥

आनुकूल्य हो तो हर्ष होता, प्रातिकूल्य जानपड़े तो दुःख होता है। जब आनुकूल्य या प्रातिकूल्य कुछ प्रतीत न हो तब 'निजानन्द' भासने

लगता है। निजानन्द की भांति निजदुःख भी होता होगा ऐसी शंका मत करो। क्योंकि दुःखमें निजपना कहीं देखा नहीं जाता।

निजानन्दे स्थिरे हर्षशोकयो व्यत्ययः क्षणात् ।
मनसः क्षणिकत्वेन तयोर्मानसतेष्यताम् ॥७४॥

[जबकि यह निजानन्द स्थिर है और यह सदानन्दरूप है इसलिये मनुष्यको सदा हर्ष ही हर्ष रहना चाहिये था। शोक कदापि न होना चाहिये था। परन्तु] इस स्थिर निजानन्दमें भी जो कि क्षण क्षणमें हर्ष शोकका व्यत्यय होता रहता है वह [उस नित्य निजानन्दको ग्रहण करने वाले] मनके क्षणिक होनेसे होता रहता है [मनके क्षणिक होनेसे उससे गृहीत होनेवाले हर्ष और शोक भी क्षणिक हैं। ये हर्ष तथा शोक क्षणिक होनेके कारण मानस जानने चाहियें]

आकाशेऽप्येवमानन्दः सत्ताभाने तु सम्मते ।
वाय्वादिदेहपर्यन्तं वस्तुष्वेवं विभाव्यताम् ॥७५॥

जैसे आत्मामें आनन्द रहता है इसीप्रकार आकाशमें भी आनन्द रहता है। [परन्तु आकाशके उसी आनन्दकी प्रतीति अवकाशके विस्मरण होजानेपर निजात्मामें होती है। यह बात यहांतक सिद्ध कीगयी] आकाशमें 'सत्ता' तथा 'भान' [भी रहते हैं परन्तु उसका प्रतिपादन हम नहीं करते हैं, क्योंकि वे दोनों] तुम्हें भी सम्मत हैं। जिसप्रकार आकाश में सच्चिदानन्द धर्म रहते हैं इसीप्रकार वायुसे लेकर शरीरपर्यन्त पदार्थों में भी उनके रहने रहनेकी विभावना करलेनी चाहिये [कि उनमें भी सच्चिदानन्द धर्म हैं।]

गतिस्पर्शौ वायुरूपं वन्हे र्दाहप्रकाशने ।
जलस्य द्रवता भूमेः काठिन्यं चेति निर्णयः ॥७६॥

[सच्चिदानन्द धर्म तो सबमें हैं] परन्तु गति तथा स्पर्श वायुका

निजरूप हैं। अग्निके निजरूप दाह तथा प्रकाश हैं। जलका निजरूप द्रवत्व है। भूमिका निजरूप कठिनता है। यह सर्वसम्मत निर्णय है।

असाधारण आकार ओषध्यन्नवपुष्यपि ।
एवं विभाव्यं मनसा तत्तद्रूपं यथोचितम् ॥७७॥

ओषधि अन्न तथा शरीरोंमें भी इन उनका असाधारण आकार होता है। अपने मनसे उन उनके उचित रूपोंकी भी विभावना करलेनी चाहिये।

अनेकधा विभिन्नेषु नामरूपेषु चैकधा ।
तिष्ठन्ति सच्चिदानन्दा विसंवादो न कस्यचित् ॥७८॥

यद्यपि सब वस्तुओंमें नामरूप भिन्न भिन्न होते हैं, परन्तु सच्चिदानन्द नामके धर्म सबमें एकरूप होते हैं। इसमें किसी भी विवेकीको विसंवाद नहीं है।

निस्तत्वे नामरूपे द्वे जन्मनाशयुते च ते ।
बुद्ध्या ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत् ॥७९॥

[इन दीख पड़नेवाले नामरूपोंकी गति हमसे पूछो तो हम कहेंगे कि] ये दोनों नामरूप 'निस्तत्व' [कल्पित] हैं। क्योंकि इनके जन्म और नाश [बार बार] होते रहते हैं। जैसे समुद्रमें बुलबुलोंको देखते हो, इसीप्रकार इन नामरूपोंको बुद्धिके सहारे ब्रह्मतत्वमें देखा करो।

सच्चिदानन्दरूपेऽस्मिन् पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते ।
स्वयमेवावजानाति नामरूपे शनैः शनैः ॥८०॥

जब कोई अधिकारी इस पूर्ण सच्चिदानन्दब्रह्मको [बुद्धिसे] देख पाता है [बुद्धिका उड़ान मारकर इसेसर्वत्र सर्वरूप देख आता है] तब फिर वह धीरे धीरे नामरूपोंकी अवज्ञा करने लगता है [उसे फिर यह सब पसारा नहीं भाता किन्तु उसे कारण तत्व प्यारा लगनेलगता है]

यावद् यावदवज्ञा स्यात् तावत्तावत् तदीक्षणम् ।
यावद् यावद् वीक्ष्यते तत् तावत्तावदुभे त्यजेत् ॥८१॥

जितनी जितनी [नामरूपोंकी] अवज्ञा होती जाती है उतना ही उतना ब्रह्मका दर्शन होनेलगता है। जितना जितना वह ब्रह्मतत्त्व दीखने लगता है उतना ही उतना वे दोनों [नामरूप] छूटनेलगते हैं [नामरूपकी अवज्ञासे ब्रह्मदर्शन बढ़ता है और ब्रह्मदर्शनसे नामरूपमें से आस्था हटती है। श्लोकका भाव यह है कि ब्रह्मज्ञानकी दृढताकेलिये द्वैतकी अवज्ञा करना भी कर्तव्य है]

द्वैतावज्ञा तथा ब्रह्माभ्यासका फल जीवन्मुक्ति

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायामयं पुमान् ।
जीवन्नेव भवेन्मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा ॥८२॥

इन दोनों [द्वैतावज्ञा और ब्रह्मदर्शन] के अभ्यासोंसे इस अधिकारीकी विद्याके स्थिर होजानेपर यह पुरुष जीते ही जाते मुक्त होजाता है। उसका शरीर [इन्द्रिय तथा मन प्रारब्धके अनुसार] जैसे तैसे जीवित रहता है। [उससे (शरीरके भिन्न भिन्न प्रारब्धोंसे) उसकी मुक्तिमें बाधा नहीं होती]

ब्रह्माभ्यासका स्वरूप

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥८३॥

ब्रह्मका ही चिन्तन, ब्रह्मका ही कथन, एक दूसरेको ब्रह्मतत्वको ही समझाना और ब्रह्मनिष्ठ होकर रहना, इसीको ज्ञानी लोग 'ब्रह्माभ्यास' समझते हैं।

वासनानेककालीना दीर्घकालं निरन्तरम् ।
सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते ॥८४॥

हृदयमें घुसबैठी हुई अनादिकालकी वासनायें [जो अपने आत्मा

को भुलाकर सदासे द्वैतका प्रतिभास कराररही हैं] दीर्घकालतक निरन्तर और श्रद्धापूर्वक ज्ञानाभ्यास करनेपर पूर्णरूपसे विनष्ट होजाती हैं।

मृच्छक्तिवद् ब्रह्मशक्ति रनेकाननृतान् सृजेत्।
यद्वा जीवगता निद्रा स्वप्नश्चात्र निदर्शनम् ॥८५॥

घट शराव आदि अनेक अनृत पदार्थोंको बना डालनेवाली मृच्छक्तिके समान ब्रह्मकी शक्ति अनेक अनृतों [कार्यों] को बना डालती है। ब्रह्मकी जगत्सर्जनकारिणी मायाशक्तिके दूसरे निःसन्दिग्ध उदाहरण जीवकी निद्रा तथा उसमें दीखनेवाले सुप्ने हैं। [जैसे जीवकी निद्राशक्ति अनेक सुप्नोंको उत्पन्न करदेती है, इसीप्रकार ब्रह्मकी मायाशक्ति अनेक कार्योंका सर्जन करडालती है।]

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुर्घटस्वप्नकारिणी।
ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी ॥८६॥

जैसे यह जीवकी निद्राशक्ति दुर्घट वस्तुओंको बना देती है, इसीप्रकार ब्रह्ममें रहनेवाली यह माया नामकी शक्ति 'सृष्टि' 'स्थिति' तथा 'प्रलय' करडालती है।

निद्राकी दुर्घटकारिता

स्वप्ने वियद्गतिं पश्येत् स्वमूर्धच्छेदनं यथा।
मुहूर्ते वत्सरौघं च मृतपुत्रादिकं पुनः ॥८७॥

[निद्राकी दुर्घटकारिता देखो कि] सुपनेमें कभी अपने आपको आकाशमें उड़ानमारता देखता है, कभी अपने सिरकटनेकी बातको प्रत्यक्ष देखता है, कभी क्षणमात्रमें सैंकड़ों वर्ष बीते देखता है। कभी फिर मरे हुए पुत्रादिको देखने लगता है।

इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा।
यथा यथेक्ष्यते यद्यत् तत्तद् युक्तं तथा तथा ॥८८॥

'सुपनेके पदार्थोंमें यह ठीक है' और 'यह ठीक नहीं है' ऐसी

व्यवस्था नहीं होसकती। वहां तो जो जो जैसा जैसा दीखता है वह वह वैसा ही वैसा ठीक होता है।

ईदृशो महिमा दृष्टो निद्राशक्तेर्यदा तदा।
मायाशक्ते रचिन्त्योऽयं महिमेति किमद्भुतम् ॥८९॥

जबकि जीवकी निद्राशक्तिकी भी ऐसी महिमा देखी गई है [जब कि वह भी अपनेमें तर्कशास्त्रको नहीं चलने देती] तब फिर ब्रह्मकी माया शक्तिकी महिमा अचिन्त्य हो तो इसमें आश्चर्य क्यों करते हो?

ब्रह्मनिष्ठा अप्रयतमाना, मायाके जगत कारण होनेका दृष्टान्त

शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत्।
ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान् कल्पयत्यसौ ॥९०॥

जब पुरुष सोया पड़ा हो [कोई प्रयत्न न करता हो] तो भी उसकी निद्रा अनेक प्रकारके स्वप्नोंको उत्पन्न करती रहती है, इसीप्रकार निर्विकार [स्वयं कुछ प्रयत्न न करनेवाले] ब्रह्ममें रहनेवाली यह माया भी इस नाना जगत्को कल्पित करती रहती है।

मायाके सृष्टपदार्थ

खानिलाग्निजलोर्व्यण्डलोकप्राणिशिलादिकाः।
विकाराः, प्राणिधीष्वन्तश्चिच्छाया प्रतिबिम्बता ॥९१॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, अण्ड, लोक, प्राणी तथा शिला आदि मायाके बनाये पदार्थ हैं। प्राणियोंकी बुद्धियोंमें [इतनी विशेषता है कि उनमें] चैतन्यकी छाया प्रतिबिम्बित होगई है, [इस कारण वे चेतन होगये हैं। जिनमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब नहीं पड़पाया वे जड रह गये हैं।]

चेतनाचेतनेष्वेषु सच्चिदानन्दलक्षणम्।
समानं ब्रह्म, भिद्येते नामरूपे पृथक् पृथक् ॥९२॥

इन चेतन और अचेतन समस्त पदार्थोंमें सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म

समान होता है। उन जडचेतन पदार्थोंके केवल 'नाम' और 'रूप' भिन्न होते हैं। [चेतन और अचेतनका भेद चिद्रूप ब्रह्मका किया हुआ नहीं है क्योंकि ब्रह्मतत्व चेतन और अचेतन सबमें है और सबका उपादान है।]

ब्रह्मण्येते नामरूपे पटे चित्रमिव स्थिते।
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दधीर्भवेत् ॥९३॥

पट [रूपी आधार] पर बने हुए चित्रके समान ये नाम और रूप दोनों ब्रह्मतत्वमें कल्पित हैं। [वह ब्रह्मतत्व सब कुछकी कल्पनाका आधार होनेसे सर्वगत है] नामरूप दोनों ही की उपेक्षा करके सच्चिदानन्द बुद्धि उत्पन्न होती है। [यदि कोई उस सर्वगत सर्वाधिष्ठान ब्रह्मतत्व को जानना चाहे, तो यह कल्पित नामरूपोंकी उपेक्षा करे। जब कल्पित-नामरूप छूट जायंगे तब अधिष्ठान ब्रह्मका दर्शन होगा। फिर अभ्यासी को अकल्पित सच्चिदानन्दतत्व दीखेगा। उस अकल्पिततत्वको कल्पित नामरूपोंने ढक रक्खा है। साधकोंका काम यह है कि वे अकल्पित ब्रह्मतत्वसे इस कल्पित संसारको फिर ढकदें। इसीको 'जगत्को ईश्वरतत्व से ढकना' भी कहते हैं। यही बात ईशावास्यके पहले मन्त्रमें कही है]।

जलस्थेऽधोमुखे स्वस्य देहे दृष्टेऽप्युपेक्ष्य तम्।
तीरस्थ एव देहे स्वे तात्पर्यं स्याद् यथा तथा ॥९४॥

(यथा स्वे जलस्थे अधोमुखे देहे दृष्टे अपि तम् उपेक्ष्य तीरस्थे एव स्वदेहे तात्पर्यं स्यात् तथा) जैसे अपने देहके जलमें प्रतिबिम्बित होकर अधोमुख दीखनेपर भी उस देहकी अधोमुखताका विश्वास न करके उससे सर्वथा विपरीत खड़े हुए स्वदेहमें तात्पर्य अर्थात् ममत्व बुद्धि होती है, इसीप्रकार [जब तुम जगत्के दीखनेवाले नाम रूपोंका विश्वास करना छोड़ दोगे अर्थात् इन दृश्यमान नामरूपोंको इन्द्रियोपाधिक भ्रम मानकर इनपरसे अपनी आस्था हटा लोगे और अपने स्वरूप पर ही आस्था बढ़ाओगे तब सच्चिदानन्दतत्वके दर्शन होंगे।]

सहस्रशो मनोराज्ये वर्तमाने सदैव तत् ।
सर्वैरुपेक्ष्यते यद्वदुपेक्षा नामरूपयोः ॥९५॥

जैसे सहस्रों मनोराज्योंके होनेपर भी सब उनकी सदैव उपेक्षा करदेते हैं, इसीप्रकार विवेकी लोग सहस्रों प्रकारसे दीखनेवाले इन नाम रूपोंकी उपेक्षा किया करें ।

क्षणे क्षणे मनोराज्यं भवत्येवान्यथान्यथा ।
गतं गतं पुनर्नास्ति व्यवहारो बहिस्तथा ॥९६॥

जिस प्रकार मनोराज्य क्षण क्षणमें औरका और होता रहता [परिवर्तित होता रहता] है, जो मनोराज्य बीतजाता है वह फिर लौटकर नहीं आता, इसीप्रकार यह व्यवहार भी [क्षण क्षणमें बदलता रहता है और जो बीतजाता है वह फिर लौटकर नहीं आता ।]

न बाल्यं यौवने लभ्यं यौवनं स्थाविरे तथा ।
मृतः पिता पुनर्नास्ति नायात्येव गतं दिनम् ॥९७॥

यौवनमें बचपन [ढूंढे भी] नहीं मिलता । यही अवस्था बुढ़ापेमें युवापनकी होजाती है । बीता दिन फिर लौटकर आता ही नहीं ।

द्वैतकी क्षणिकताका उपसंहार

मनोराज्याद् विशेषः कः क्षणध्वंसिनि लौकिके ।
अतोऽस्मिन् भासमानेऽपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत् ।९८॥

[इस सबका तात्पर्य यही है कि] सोचकर देखो कि क्षणध्वंसी लौकिक पदार्थोंमें मनोराज्यसे क्या विशेषता है? इसलिये [क्षणिक होनेके कारण] हम कहते हैं कि लौकिक पदार्थोंके भासनेपर भी उनको सत्य समझना छोड़ो ।

लौकिक पदार्थों की उपेक्षाका लाभ

उपेक्षिते लौकिके धीर्निर्विघ्ना ब्रह्मचिन्तने ।
नटवत् कृत्रिमास्थायां निर्वहत्येव लौकिकम् ॥९९॥

लौकिक पदार्थोंकी उपेक्षा करदेने पर [ब्रह्म चिन्तनका विघ्न जाता रहता है और] बुद्धि ब्रह्मज्ञानमें निर्विघ्न लगजाती है [यदि पूछो कि फिर ज्ञानी लोगोंका व्यवहार कैसे चलता है तो सुनो] जैसे नट लोग नाटक करते समय बनावटी आस्थासे अपने कामका निभाव करते हैं, इसीप्रकार ज्ञानी लौकिक कामोंको बनावटी आस्थासे निभाया करता है।

प्रवहत्यपि नीरेऽधः स्थिरा प्रौढशिला यथा ।
नामरूपान्यथात्वेऽपि कूटस्थं ब्रह्म नान्यथा ॥१००॥

जिसप्रकार पानीके ऊपर बहते रहनेपर भी उस पानीके नीचे पड़ी हुई भारी शिला स्थिर रहती है, हिलती जुलती नहीं, इसीप्रकार नामरूपमें परिवर्तन होते रहनेपर भी [बुद्धिके संसरण करते रहनेपर भी] कूटस्थ ब्रह्म [उस बुद्धिका साक्षी निर्विकार ज्ञानी आत्मा] कभी अन्यथा [विकारी] नहीं होता। [ज्ञानीलोग संसारके साथ नहीं बहते] उनमें व्यवहारमें भी विकार नहीं आता। उनकी बुद्धि जब व्यवहारमें लगी रहती है तब भी उनका साक्षी आत्मा निर्विकार रहता है। उन्हें व्यवहारके समय भी अपने आत्माकी निर्विकारताका ध्यान बना रहता है। यही बात इस दृष्टान्तसे दिखाई है।

निश्छिद्रे दर्पणे भाति वस्तुगर्भं बृहद् वियत् ।
सच्चिद्घने तथा नानाजगद्गर्भमिदं वियत् ॥१०१॥

दर्पणमें कोई भी छिद्र [अवकाश] नहीं होता [जहां कि कोई भी वस्तु समासके] परन्तु दर्पणमें ऐसा प्रतीत हुआ करता है मानो उसके भीतर अगणित वस्तुओंसे भरा हुआ आकाश घुसा बैठा हो। ठीक इसी प्रकार नाना जगत्से परिपूर्ण यह आकाश भी उस सच्चिद्घन अखण्ड ब्रह्म में [व्यर्थ ही या न होनेपर भी] प्रतीत होरहा है।

अदृष्ट्वा दर्पणं नैव तदन्तस्थेक्षणं तथा ।
अमत्वा सच्चिदानन्दं नामरूपमतिः कुतः ॥१०२॥

जैसे पहले दर्पणको विना देखे उसके अन्दरकी वस्तु नहीं दीखती। इसीप्रकार पहले सच्चिदानन्द तत्वकी प्रतीति [दर्शन] हुएबिना नामरूपात्मक जगत्की प्रतीति कैसे होसकती है ? [जैसे दर्पणके भीतरकी वस्तुको देखनेसे पहले दर्पणका दीखलेना आवश्यक है इसीप्रकार नामरूप (जगत) का परिज्ञान होनेसे पहले सच्चिदानन्दतत्वकी प्रतीतिका होलेना अनिवार्य है। सच्चिदानन्द भासके विना जगद्भास हो ही नहीं सकता। इसके भास से ही जगद्भास होता है। तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति]

निर्विषय ब्रह्मबुद्धि [प्रतीति] का उपाय

प्रथमं सच्चिदानन्दे भासमानेऽथ तावता ।
बुद्धिं नियम्य नैवोर्ध्वं धारयेन्नामरूपयोः ॥१०३॥

नामरूपात्मक बुद्धिसे पहले सच्चिदानन्दतत्वका अर्थात् अपने स्वरूपका भास प्रत्येकको हुआ करता है। ब्रह्माभ्यासी मनुष्य यहीं [सच्चिदानन्दप्रतीति या स्वरूपप्रतीतिमें ही] बुद्धिको रोक रक्खे [अर्थात् सच्चिदानन्दमात्रका ग्रहण करनेमें लगा रहे] उसके पश्चात् बुद्धिमें घुसने वाले नामरूपोंमें बुद्धिको न लगने दे [इसप्रकारका अभ्यास बढ़ानेसे निर्विषय ब्रह्मप्रतीति होने लगेगी।]

हमको सच्चिदानन्दकी प्रतीतिके साथ नामरूपकी भी प्रतीति होती हैं। हमें अकेले सच्चिदानन्दकी प्रतीति होनेलगे इसका हम क्या उपाय करें ? यही बात इस श्लोकमें बतायी है।

एवं च निर्जगद् ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
अद्वैतानन्द एतस्मिन् विश्राम्यन्तु जनाश्चिरम ॥१०४॥

इसप्रकार निर्जगत् कियाहुआ वह ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप हो जायगा [तब उसकी नामरूपधारी कालिमा धुल जायगी।] और यही 'अद्वैतानन्द' होगा। मुमुक्षुलोग जो जितनी देर लेसके इस 'अद्वैतानन्द' में विश्राम ले।

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयोऽध्याय ईरितः ।
अद्वैतानन्द एव स्याज्जगन्मिथ्यात्वचिन्तया ॥१०५॥

ब्रह्मानन्द नामके ग्रन्थमें तृतीयाध्याय समाप्त हुआ। जगत्के मिथ्यात्वकी चिन्ता करनेसे मनकी जो स्थिति उत्पन्न होती है वही 'अद्वैतानन्द' कहाता है।

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां ब्रह्मानन्दे
अद्वैतानन्दो नाम तृतीयोऽध्यायः

ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दप्रकरणम् १४

इस प्रकरणमें योग आत्मविवेक तथा द्वैतमिथ्यात्वचिन्तासे ब्रह्मानन्द-दर्शीको होनेवाले ज्ञानानन्दका निरूपण किया जारहा है—

योगेनात्मविवेकेन द्वैतमिथ्यात्वचिन्तया ।
ब्रह्मानन्दं पश्यतोऽथ विद्यानन्दो निरूप्यते ॥१॥

इस प्रकरणमें [क्रमानुसार पहले तीन (११-१२-१३) अध्यायोंमें वर्णित] योगसे आत्मविवेकसे या द्वैतके मिथ्यापनकी चिन्तासे, ब्रह्मानन्द के साक्षात् दर्शन करनेवाले ज्ञानयोगीको मिलनेवाले ज्ञानानन्दका निरूपण किया जा रहा है — .

विद्यानन्दका स्वरूप

विषयानन्दवद् विद्यानन्दो धीवृत्तिरूपकः ।
दुःखाभावादिरूपेण प्रोक्त एष चतुर्विधः ॥२॥

विद्यानन्द विषयानन्दके समान बुद्धिवृत्तिरूप है [जैसे विषयानन्द एक प्रकारकी बुद्धिवृत्ति है, इसीप्रकार यह 'विद्यानन्द' भी एकप्रकार की बुद्धिवृत्ति है] यह विद्यानन्द दुःखाभाव आदि रूपोंसे चार प्रकारका कहा है।

विद्यानन्दके चार प्रकार

दुःखाभावश्च कामाप्तिः कृतकृत्योहमित्यसौ ।
प्राप्तप्राप्योहमित्येव चातुर्विध्यमुदाहृतम् ॥३॥

(१) मुझे कोई दुःख नहीं, (२) मेरी सब कामनायें पूर्ण होगईं, (३) मैं कृतकृत्य होगया, (४) मुझे जो पाना था सो प्राप्त होगया, यों 'विद्यानन्द' चार प्रकारका कहा जाता है ।

निवर्तनीय दुःखके दो भेद

ऐहिकं चामुष्मिकं चेत्येवं दुःखं द्विधेरितम् ।
निवृत्तिमैहिकस्याह बृहदारण्यकं वचः ॥४॥

दुःख दो प्रकारका होता है—एक इस लोकका दूसरा परलोकका । बृहदारण्यकका [अगला] श्लोक ऐहिक [इस लोकके] दुःखकी निवृत्तिको कहरहा है ।

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् ? कस्य कामाय ? शरीरमनुसंज्वरेत् ॥५॥

यदि कोई पुरुष आत्माको जानजाय कि 'यह तत्व मैं हूँ' तो बताओ फिर वह किस वस्तुकी चाहनाको लेकर और किसके लिए इस शरीरके पीछे [इसके दुःखसे] दुःखी होता फिरे ? [जब वह आत्माको पहचानेगा तब उसे पता चलेगा कि इस संसारमें उसके आत्मासे भिन्न कोई वस्तु नहीं है । इसलिये यहां मेरी कमनीय कोई वस्तु नहीं है । इस लिए वह कुछ भी चाहना छोड़देगा । जब उसे ज्ञात होगा कि आत्मा ऐसा असंग तत्व है कि उसको किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है तब वह किसीकेलिए कुछ न चाहेगा ।]

आत्माका द्वैविध्य और जीवका लक्षण

जीवात्मा परमात्मा चेत्यात्मा द्विविध ईरितः ।
चित्तादात्म्यात् त्रिभिर्देहैर्जीवः सन् भोक्तृतां व्रजेत् ॥६॥

'जीवात्मा' और 'परमात्मा' इन दो प्रकारका आत्मा कहाजाता है। आत्मा 'स्थूल' ['सूक्ष्म' तथा 'कारण' नामके] तीन शरीरोंके साथ चैतन्यका तादात्म्य [तादात्म्यभ्रम] होजानेपर ही जीव बनकर भोक्ता बनजाता है। वह भोक्ता ही 'जीव' कहाने लगता है।

परमात्माका लक्षण

परात्मा सच्चिदानन्दस्तादात्म्यं नामरूपयोः ।
गत्वा भोग्यत्वमापन्न स्तद्विवेके तु नोभयम् ॥७॥

सच्चिदानन्दरूप परमात्मा [क्योंकि नामरूपकी कल्पनाका अधिष्ठान है इसलिए] नामरूपके साथ तादात्म्यको पाकर भोग्यभावको पागया है। उसका उन तीनों शरीरोंसे तथा इस नामरूपात्मक जगत्से विवेक [भेदज्ञान] होजानेपर न तो 'भोक्ता' रूप [जीव] ही रहता है और न 'भोग्य' रूप [संसार] ही शेष रहता है।

भोग्यमिच्छन् भोक्तुरर्थे शरीरमनुसंज्वरेत् ।
ज्वरास्त्रिषु शरीरेषु स्थिता, न त्वात्मनो ज्वराः ॥८॥

प्राणी 'भोक्ता' केलिये किसी 'भोग्य' पदार्थको चाहता हुआ ही शरीरकेसाथ [अनिवार्य रूपसे] दुखी हुआ करता है। ज्वर तीनों शरीरों में रहते हैं। आत्मतत्त्वको ज्वर कभी नहीं होते।

तीन शरीरोंके तीन ज्वर

व्याधयो धातुवैषम्ये स्थूलदेहे स्थिता ज्वराः ।
कामक्रोधादयः सूक्ष्मे, द्वयोर्बीजं तु कारणे ॥९॥

'वात' 'पित्त' 'कफ' नामके धातुओंमें विषमता आ जानेपर उत्पन्न होनेवाली व्याधियें स्थूल शरीरमें उत्पन्न होनेवाले 'ज्वर' हैं। काम क्रोध आदि विकार सूक्ष्म शरीरके 'ज्वर' हैं। परन्तु दोनों प्रकारके ज्वरोंका जो बीज कारण अज्ञान है वही कारणशरीरमें रहनेवाला ज्वर है।

अद्वैतानन्दमार्गेण परात्मनि विवेचिते ।
अपश्यन् वास्तवं भोग्यं किं नामेच्छेत् परात्मवित् ॥१०॥

अद्वैतानन्द [नामके १३ वें प्रकरण] में कहे हुए प्रकारसे [माया के कार्य नामरूपमेंसे सच्चिदानन्दस्वरूप] परमात्मतत्वका विवेक करलेने पर [उस आत्मतत्वको इस सब नामरूपात्मक जगत्से पृथक् पहचान लेने पर] किसी वास्तव भोग्यको न देखता हुआ [इस प्रपञ्चको मिथ्या मानकर] परात्माका ज्ञाता बनजानेपर बताओ कि कौनसे भोग्यकी इच्छा करे ?

जीवमें ज्वरसंबन्धकी अवास्तविकता

आत्मानन्दोक्तरीत्यास्मिन् जीवात्मन्यवधारिते ।
भोक्ता नैवास्ति कोऽप्यत्र, शरीरे तु ज्वरः कुतः ॥११॥

आत्मानन्द [नामके १२ वें अध्याय] में बतायी हुई रीतिसे जीवात्माके [असंग कूटस्थ चैतन्य] स्वरूपका निश्चय करलेनेपर जब इस संसारमें कोई भोक्ता [या कामयिता] नहीं रहा, जब भोक्तृभाव विचारकी आंचमें जलगया] तब इस अहं बुद्धिसे न अपनाये हुए जड शरीरमें ज्वर कैसे होगा ?

आत्मामें आमुष्मिक ज्वरोंका अभाव

पुण्यपापद्वये चिन्ता दुःखमामुष्मिकं भवेत् ।
प्रथमाध्याय एवोक्तं चिन्ता नैनं तपेदिति ॥१२॥

पुण्य या पाप करनेकी चिन्ता पारलौकिक दुःख है । प्रथमाध्याय में [११ वें प्रकरणमें] बताया जाचुका है कि इस ज्ञानीको पुण्यपापकी चिन्ता तप्त नहीं करती ।

यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नपामश्लेषणं तथा ।
वेदनादूर्ध्व मागामिकर्मणोऽश्लेषणं बुधे ॥१३॥

जैसे इस कमलके पत्तेमें पानीका संपर्क नहीं होता इसी प्रकार

आत्मज्ञान होजानेके पश्चात् इस ज्ञानीमें आगामी कर्मोंका सम्बन्ध नहीं होपाता। [अर्थात् उसे आगामी कर्मोंकी चिन्ता नहीं रहती। यही बात 'तद्यथा पुष्करपर्णे' इत्यादि श्रुतिमें कही है।]

आत्मज्ञानीको संचितकर्मविषयक चिन्ता नहीं रहती

इषीकातृणतूलस्य वन्हिदाहः क्षणाद् यथा ।
तथा संचितकर्मास्य दग्धं भवति वेदनात् ॥१४॥

तद्यथेषीकतूल मग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते (छा० ५—४-३) इस श्रुतिमें कहा है कि जैसे सरकण्डे या कांसकी रुई, आगमें एक क्षणमें जल जाती है, इसीप्रकार ज्ञानीके [करोड़ों कल्पोंसे] संचित कर्म ज्ञान [रूपी अग्निके माहात्म्य] से [तत्क्षण] दग्ध होजाते हैं। [यों उसे संचित कर्मोंकी भी चिन्ता नहीं रहती कि मेरे इन कर्मोंका क्या बनेगा ?]

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥१५॥

गीतामें भी कहा है कि हे अर्जुन ! जिसप्रकार प्रदीप अग्नि ईंधनोंको राख बनादेती है, इसीप्रकार [सुलगी हुई] ज्ञानाग्नि तीनों प्रकार के कर्मों [क्रियमाण आगामी और संचित] को भस्मसात् करदेती है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१६॥

गीतामें यह भी कहा है कि जिस ज्ञानीको अहंकारयुक्त भाव नहीं रहता, [कि यह मैं करता हूं मैं करनेवाला हूं] जिस ज्ञानीकी बुद्धि संसारमें लिप्त नहीं होती, वह यदि इन सब लोकोंको मार भी दे, तो भी वह मारनेवाला नहीं होता और वह इस कर्मसे बन्धनमें भी नहीं आता।

मातापित्रोर्वधः स्तेयं भ्रूणहत्यान्यदीदृशम् ।
न मुक्तिं नाशयेत् पापं मुखकान्तिर्न नश्यति ॥१७॥

यही बात 'न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं चन चकृषो मुखान्नीलं वेति' इस कौषीतकी उपनिषत्में यों कही है कि माता पिताका वध, चोरी, गर्भपात या और ऐसा अन्य कोई पापकर्म [ज्ञानीकी] मुक्तिको नहीं रोक सकता। ऐसे ऐसे महाभयंकर पापों से भी ज्ञानीके मुखकी कान्ति फीकी नहीं पड़ती।

दुःखाभाववदेवास्य सर्वकामाप्तिरीरिता ।
सर्वान् कामानसावाप्त्वा ह्यमृतोऽभवदित्यतः ॥१८॥

जैसे श्रुतिने ज्ञानीके दुःखाभावका वर्णन किया उसीप्रकार श्रुतिने ज्ञानीकी सब कामनाओंकी प्राप्ति भी बतायी। ऐतरेय श्रुतिने बताया है कि यह ज्ञानी सब कामनाओंको पाकर अमर होचुका।

जक्षन् क्रीडन् रतिं प्राप्तः स्त्रीभिर्यानैस्तथेतरैः ।
शरीरं न स्मरेत्, प्राणः कर्मणा जीवयेदमुम् ॥१९॥

[जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा' इत्यादि छान्दोग्यमें तो यहांतक कहा है कि] ज्ञानी मनुष्य खाता, खेलता, स्त्रियोंसे रमण करता, सवारियोंपर बैठता तथा और भोग्य पदार्थोंको भोगता हुआ भी इस शरीरको भूला रहता है। [उसे यह भान तक नहीं रहता कि यह शरीर क्या कर रहा है? वह निरन्तर आत्मसागरमें डूबा रहता है] उस समय उसका प्राण प्रारब्धकर्मोंके सहारेसे उसको जीवित रखता रहता है। [जब उस शरीरके प्रारब्धकर्म समाप्त होजाते हैं तब वह शरीर तुरन्त गिरजाता है]।

सर्वान् कामान् सहाप्नोति नान्यवज्जन्म कर्मभिः ।
वर्तन्ते श्रोत्रिये भोगा युगपत् क्रमवर्जिताः ॥२०॥

तैत्तिरीय श्रुतिमें कहा है कि ज्ञानीलोग संसारकी सम्पूर्ण कामनाओंको एकसाथ पालेते हैं। उनका दूसरोंके समान कर्मोंसे जन्म नहीं होता [जैसे दूसरे अज्ञानीलोग कर्मोंको करके जन्मपरम्परामें फंसे

रहते हैं, वैसे इन [दिखावटी] कर्मोंसे ज्ञानीको जन्म लेना नहीं पड़ता। जैसे अज्ञानीलोग क्रमानुसार भोगोंको भोगा करते हैं श्रोत्रियको वैसे भोग नहीं होता] श्रोत्रियको तो सब भोग एकसाथ बिना क्रमके होते हैं। [यह विषय इसी प्रकरणके ३४ श्लोकमें जाकर स्पष्ट होगया है।]

युवा रूपी च विद्यावान् नीरोगो दृढचित्तवान्।
सैन्योपेतः सर्वपृथ्वीं वित्तपूर्णां प्रपालयन् ॥२१॥
सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नस्तृप्तभूमिपः।
यमानन्दमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते ॥२२॥

युवा हो, रूपवान् हो, विद्यावान् हो, नीरोग हो, स्थिरचित्त हो, सेनावाला हो, धनधान्यसे पूर्ण सकल पृथिवीका शासन कर रहा हो, संक्षेपमें यों कहना चाहिये कि मनुष्योंको जितने भोग प्राप्त होसकते हैं वे सब उसे प्राप्त हों, ऐसे तृप्त भूपतिको जो आनन्द मिलसकता है, ब्रह्मज्ञानी पुरुष भी उसी आनन्दको लूटा करता है [तैत्तिरीय और बृहदारण्यक उपनिषदोंमें यह बात कही है।]

मर्त्यभोगे द्वयोर्नास्ति कामस्तृप्तिरतः समा।
भोगान्निष्कामतैकस्य परस्यापि विवेकतः ॥२३॥

[प्रश्न यह है कि सार्वभौम राजाको विषयोंकी प्राप्ति होती है, श्रोत्रियको कोई विषय प्राप्त नहीं होता। फिर भी इन दोनोंका आनन्द, एकसा कैसे होता है ? इसीका उत्तर इस श्लोकमें दिया है] सार्वभौम राजा और श्रोत्रिय दोनोंको मर्त्यभोगोंकी इच्छा नहीं रहती, इसकारण दोनोंको तृप्ति तो एकसी ही होती है। भेद इतना है कि सार्वभौम राजा भोगसे निष्काम हुआ है और श्रोत्रिय विवेकके प्रतापसे निष्काम है।

श्रोत्रियत्वाद् वेदशास्त्रैर्भोगदोषानवेक्षते।
राजा बृहद्रथो दोषांस्तान् गाथाभिरुदाहरत् ॥२४॥

देहदोषांश्चित्तदोषान् भोग्यदोषाननेकशः ।

श्रोत्रिय श्रोत्रिय होनेके कारण, वेदशास्त्रोंके द्वारा, भोगोंके दोषों को देखता रहता है [इस कारण वह विवेकके प्रतापसे निष्काम होजाता है] बृहद्रथ राजाने मैत्रायणी शाखामें गाथाओंके द्वारा विषयके दोषोंका वर्णन किया हैं। उसमें उसने देह, चित्त तथा भोग्यके दोषों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है।]

शुना वान्ते पायसे नो कामस्तद्वद्विवेकिनः ॥२५॥

जैसे कुत्तेकी वमन की हुइ खीरको खानेका विचार कोई नहीं करता, इसीप्रकार विवेकी पुरुषको दोषयुक्त भोगोंकी कामना नहीं होती।

निःस्पृह विवेकी सबसे ऊंचा

निष्कामत्वे समेऽप्यत्र राज्ञः साधनसंचये ।
दुःखमासीद् भाविनाशादतिभीरनुवर्तते ॥२६॥

[श्रोत्रियकी महिमा सार्वभौम राजोंसे ऊंची है] यद्यपि श्रोत्रिय और राजा दोनों समान रूपसे निष्काम हुए प्रतीत होते हैं, परन्तु राजा को साधनोंको इकट्ठा करनेमें पहले भी [पर्याप्त] दुःख हुआ था भविष्य में भी उसको ये सब भोग नष्ट हो जायंगे इस विचारके आनेपर बड़ा भय बना रहता है।

नोभयं श्रोत्रियस्यात स्तदानन्दोऽधिकोऽन्यतः ।
गन्धर्वानन्द आशास्ति राज्ञो, नास्ति विवेकिनः ॥२७॥

श्रोत्रियको ये दोनों [दुःख और भय] नहीं होते—[न तो उसे साधनसंचय करनेका दुःख होता है और न उसे आगामीमें उनके नाश होनेका डर रहता है]। इसकारण श्रोत्रियका आनन्द सार्वभौम राजासे अधिक है। [श्रोत्रियमें एक और भी अधिकता है कि] राजा अपनेसे ऊपरले गन्धर्वानन्दके पानेकी आशा रखता है। विवेकीको ऐसी कोई दुराशा नहीं है।

मर्त्यगन्धर्व

अस्मिन् कल्पे मनुष्यः सन् पुण्यपाकविशेषतः ।
गन्धर्वत्वं समापन्नो मर्त्यगन्धर्व उच्यते ॥२८॥

इस कल्पमें पहले मनुष्य था, किन्तु किसी पुण्यके फलसे उसे गन्धर्वभाव मिलगया हो तो उसको 'मर्त्यगन्धर्व' कहते हैं ।

देवगन्धर्व

पूर्वकल्पे कृतात् पुण्यात् कल्पादावेव चेद् भवेत् ।
गन्धर्वत्वं तादृशोऽत्र देवगन्धर्व उच्यते ॥२९॥

जो पूर्व कल्पमें किये हुए पुण्योंसे कल्पके प्रारम्भमें ही गन्धर्व बन जाते हैं उनको 'देवगन्धर्व' कहा जाता है ।

चिरवासी पितर आजानदेवता तथा कर्मदेवता

अग्निष्वात्तादयो लोके पितरश्चिरवासिनः ।
कल्पादावेव देवत्वं गता आजानदेवताः ॥३०॥
अस्मिन् कल्पेऽश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत्पदम् ।
अवाप्याजानदेवैर्याः पूज्यास्ताः कर्मदेवताः ॥३१॥

'अग्निष्वात्ता' आदिको लोकमें 'चिरवासीपितर' माना जाता है । जो कल्पके प्रारम्भमें ही देव बन गये थे वे 'आजान देवता' कहे जाते हैं ॥३०॥ जो इसी कल्पमें अश्वमेध आदि कर्म करके महापदको पाकर आजानदेवोंके भी पूज्य होजाते हैं वे 'कर्मदेवता' होते हैं ।

यमाग्निमुख्या देवाः स्युर्ज्ञाताविन्द्रबृहस्पती ।
प्रजापतिर्विराट् प्रोक्तो ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः ॥३२॥

यम अग्नि आदि 'देवता' कहाते हैं । इन्द्र और बृहस्पति तो प्रसिद्ध ही हैं । प्रजापतिको विराट् कहते हैं । ब्रह्मा सूत्रात्मा मानागया है ।

सार्वभौमादिसूत्रान्ता उत्तरोत्तरकामिनः ।
अवाङ्मनसगम्योऽयमात्मानन्दस्ततः परः ॥३३॥

सार्वभौम राजासे लेकर सूत्रात्मा तक सबके सब अपनेसे ऊपर वाले पदकी कामना किया करते हैं। परन्तु यह आत्मानन्द मन और वाणीसे अगम्य होनेसे इन सबसे ऊंचा है [क्योंकि विवेकी पुरुषको किसी वस्तुकी कामना नहीं रहती, इससे उसका पद सबसे ऊंचा है।]

सार्वभौमादि आनन्द आत्मानन्दके सामने तुच्छ

तैस्तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु श्रोत्रियो यतः।
निःस्पृहस्तेन सर्वेषा मानन्दाः सन्ति तस्य ते ॥३४॥

क्योंकि श्रोत्रिय पुरुष उन उनके कमनीय सब सुखोंकी ओरसे निःस्पृह है इससे उन सबको मिलकर जितना आनन्द आता है उतना अकेले श्रोत्रिय को [निःस्पृह होनेमात्रसे] मिलजाता है।

वे लोग जब उन उन कामनाओंको पूरा करके कुछ कालके लिये अपने आपको निःस्पृह करलेते हैं तब आनन्दी होते हैं। यों उनकी निःस्पृहता उन उन कामनाओंके अधीन होती है। उन्हें उन उन कामनाओं के पूरा हुए विना आनन्द नहीं मिल सकता। इसके विपरीत विवेकीको कुछ कामना नहीं होती। वह सदा निःस्पृह बना रहता है, यों वह सदा आनन्द लूटाकरता है। इसी कारण विवेकीका यह पद सबसे ऊंचा मानागया है। मनुने भी कहा है 'यस्त्वेतान् प्राप्नुयात् सर्वान् यस्त्वेतान् केवलांस्त्यजेत्। प्रापणात् सर्वकामनां परित्यागो विशिष्यते'। जो इन सब को पाले और जो इनको केवल छोड़दे, सब कामनाओंको पानेसे त्यागकी [मानस त्यागकी] महिमा बहुत अधिक है।

सर्वकामाप्तिका दूसरा प्रकार

सर्वकामाप्तिरेषोक्ता, यद्वा साक्षिचिदात्मना।
स्वदेहवत् सर्वदेहेष्वपि भोगानवेक्षते ॥३५॥

यहां तक ज्ञानीकी सर्वकामप्राप्तिकी बात प्रतिपादितकी गयी। अब ज्ञानीकी सर्वकामाप्तिकी बातको दूसरी रीतिसे कहा जाता है कि जैसे

मनुष्य अपने देहमें [आनन्दकार बुद्धिका साक्षी होकर] आनन्दी होता है, इसीप्रकार यह ज्ञानी सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंमें भोगे जानेवाले सब भोगोंका साक्षी होकर उन सबके भोगोंको अकेला देखने अर्थात् भोगने लगता है। इस रीतिसे भी ज्ञानीको 'सर्वकामाप्ति' होजाती।

लोगोंको परमानन्द न मिलनेका कारण

अज्ञस्याप्येतदस्त्येव न तु तृप्तिरबोधतः।
यो वेद सोऽश्नुते सर्वान् कामानित्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥३६॥

यदि यह कहा जाय कि इस रीतिसे तो अज्ञानीको भी 'सर्वकामावाप्ति' होती है–वह भी तो सबका साक्षी होता है। उसका उत्तर यहहै कि हां, अज्ञानीको भी 'सर्वकामावाप्ति' होती तो है परन्तु ज्ञान न होनेके कारण उससे उस [बिचारे] की तृप्ति नहीं होती [मैं सब बुद्धियोंका साक्षी हूँ ऐसा ज्ञान अज्ञानीको नहीं होता और इसीसे वह उस तृप्ति [परमानन्द प्राप्तिसे] वंचित रहजाता है] यही बात तैत्तिरीय श्रुतिमें बहुत स्पष्ट शब्दों में कही है कि जो इस तत्वको जानता है उसीकी सब कामनायें पूरी होती हैं। [न जाननेवाले इस तत्वको न जाननेसे ही इस महालाभसे वञ्चित रहजाते हैं। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वा कामान् (तै० ब्र० १) जो जानता है वही पाता है।

सर्वकामप्राप्तिका तीसरा प्रकार

यद्वा सर्वात्मतां स्वस्य साम्ना गायति सर्वदा।
अहमन्नं तथान्नादश्चेति साम ह्यधीयते ॥३७॥

ज्ञानीकी 'सर्वकामावाप्ति' का तीसरा भी एक प्रकार है कि वह ज्ञानी अपनी सर्वात्मकता [सर्वरूपता] को सामके मन्त्रोंके द्वारा सदा यों गाया करता है। [वह प्रत्येक वस्तुको अपना आत्मा समझता है] वह जानजाता है कि मैं ही अन्न हूं और मैं ही अन्नको खानेवाला भी हूं। सामवेदमें कहा है कि अहमन्नमहमन्नमहमन्नमहमन्नादोहमन्नादोहम

न्नादः । (तै० ३-१०) ऊपरके ३५ वे श्लोकमें साक्षिभावसे सर्वकामप्राप्ति का वर्णन किया है इस श्लोकमें सर्वात्मभावसे सर्वकामप्राप्तिका प्रतिपादन किया है ।

ज्ञानीकी प्राप्तप्राप्यता

दुःखाभावश्च कामाप्तिरुभे ह्येवं निरूपते ।
कृतकृत्यत्वमन्यच्च प्राप्तप्राप्यत्वमीक्ष्यताम् ॥३८॥

यहांतक 'दुःखाभाव' और 'कामाप्ति' दोनोंका निरूपण होचुका। अब आगे 'कृतकृत्यता' तथा 'प्राप्तप्राप्यता' को समझो कि इनका क्या तात्पर्य है ?

उभयं तृप्तिदीपे हि सम्यगस्माभिरीरितम् ।
त एवात्रानुसन्धेयाः श्लोका बुद्धिविशुद्धये ॥३९॥

हमने कृतकृत्यता और प्राप्तप्राप्यता दोनोंका निरूपण तृप्तिदीप नामके प्रकरणमें भलेप्रकार करदिया है, तो भी बुद्धिके शुद्धिकेलिये वही श्लोक यहां भी ध्यानमें लाने चाहियें ।

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ।
बहुकृत्यं पुरास्याभूत् तत् सर्वमधुना कृतम् ॥४०॥

पहले [जब तक यह अज्ञानी था तब तक इष्टकी प्राप्ति और अनिष्ट के परिहारकेलिये] इसलोक और परलोकके कामोंको सिद्ध करनेकेलिये तथा मुक्तिको पानेकेलिये इसको बहुत कुछ करना [शेष] था, परन्तु अब [आत्मज्ञान होजानेपर, सांसारिक फलकी इच्छा न रहनेसे] इसने वह सब कुछ कर (सा) डाला ।

तदेतत् कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।
अनुसन्दधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥४१॥

यह ज्ञानी आत्माकी कृतकृत्यताका विरोध करनेवाली बातोंके

साथ साथ ['कि मैं भी कभी ऐसा था'] अपनी कृतकृत्यताको स्मृतिमें ला लाकर नीचे लिखे प्रकारसे तृप्ति भोगा करता है :—

दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ।
परमानन्दपूर्णोहं संसरामि किमिच्छया ॥४२॥
अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥४३॥

अज्ञानी होनेसे दुःखी लोग पुत्र स्त्री आदिकी चाहमें फंसकर, संसाररूपी झाड़में उलझे पड़ेरहें [मैं भी कभी ऐसा उलझापड़ा था] परन्तु यह बताओ कि अब परमानन्दसे परिपूर्ण मैं भला कौनसी इच्छा से इस संसाररूपी चक्करपर चढ़कर घूमता रहूं ? ॥४२॥ परलोक यात्रा चाहनेवाले लोग [अपने भ्रमको पूरा करनेकेलिये] भले ही सकाम कर्म किया करें। परन्तु यह बताओ कि सर्वलोकस्वरूप होचुका हुआ मैं भला अब किस कर्मको किस लिये और कैसे करूं ? ॥४३॥

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥४४॥

जो इस कामके अधिकारी हैं वे चाहे शास्त्रोंपर टीकायें लिखें या वेदोंको पढ़ायें, परन्तु मेरा इन कामोंमें कोई अधिकार नहीं है। क्योंकि मैं अपने अक्रियस्वरूपको जान चुका।

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ।
द्रष्टारश्चेत् कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥४५॥

नींद, भिक्षा, स्नान तथा शौचकी न तो मुझे कुछ आवश्यकता है और न मैं यह सब कुछ करता ही हूँ [यह सब यह शरीर किया करता है] फिर भी यदि देखने वाले लोग इन सबको मुझमें मानते हैं तो माना करें। दूसरोंके मानलेनेसे मुझमें क्या परिवर्तन होजायगा ? तृप्तिदीपके २५८ वें श्लोकमें इसकी विस्तृत व्याख्या कीगई है।

गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवन्हिना ।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥४६॥

जैसे दूसरोंकी अग्नि मानली हुई गुञ्जा सचमुच जलानेनहींलगती, इसीप्रकार मैं आत्मा दूसरोंके माने हुए संसारधर्मोंको प्राप्त नहीं होता। [मनुष्य स्वयं माने हुए संसारबन्धनसे ही बन्धनमें आता है]

शृण्वन्त्वज्ञाततत्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥४७॥

जिनको तत्वका परिज्ञान आजतक नहीं होपाया, वे इस तत्वका श्रवण करें। परन्तु इस तत्वको अच्छे प्रकार जानता हुआ मैं अब इस का श्रवण क्यों करूं ? जिनको अभी तक इस तत्वमें कोई संशय हो वे इस तत्वका मनन करें। परन्तु संशयरहित होचुकनेवाला मैं अब इसका मनन नहीं करूंगा।

विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्यये ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥४८॥
अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥४९॥

जिसे अभी तक विपरीत ज्ञान होरहा है उसका निदिध्यासन करना ठीक है, परन्तु विपर्यय न रहनेपर अब ध्यान कैसे लगे और किसमें लगे ? मुझे अब कभी इस देहके आत्मा होनेका विपरीत ज्ञान नहीं होता ॥४८॥ मैं जो अब भी कभी कभी यह कहदेता हूं कि मैं मनुष्य हूं ? यह व्यवहार तो अनादिकालसे मनमें बसी हुई वासनाओंके प्रतापसे होता रहता है [इसका अब यह अर्थ नहीं है कि मैं अभी तक अपनेको मनुष्य व्यक्ति मान रहा हूँ। जबसे मुझे समष्टि आत्माके दर्शन हुए हैं तबसे मेरा व्यक्तिगत अस्तित्व अश्रद्धेय बनचुका है।]

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद् ध्यानसहस्रतः ॥५०॥

यह व्यवहार प्रारब्ध कर्मोंका क्षय होजानेपर स्वयं बन्द होजायगा। यह व्यवहार कर्मोंके क्षीण न होजाने तक सहस्र ध्यान करनेपर भी शान्त नहीं होता। तृप्तिदीपके २६३वें श्लोकमें विस्तारपूर्वक व्याख्या कीगयी है।

विरलत्वं व्यवहृते रिष्टं चेद् ध्यानमस्तु ते ।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् ध्यायाम्यहं कुतः ॥५१॥

यदि तुम व्यवहारको विरल [कम] करना चाहते हो तो तुम्हारे लिये ध्यान करना ठीक है। परन्तु व्यवहारको अबाधक देखता हुआ मैं भला अब ध्यान क्यों करूं? [मुझे अब उसकी क्या आवश्यकता है?]

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद् विकारिणः ॥५२॥

क्योंकि मुझे कोई विक्षेप नहीं होता इसीसे मुझे समाधि भी नहीं होती। विक्षेप या समाधि दोनों विकारी मनको होते हैं।

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥५३॥

जो मैं नित्यानुभव रूप हूँ, उसे मेरा मुझसे पृथक् अनुभव क्या होगा? मुझे अब यह निश्चय होगया कि जो करना था सो करडाला और जो पाना था सो पाचुका।

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा ।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ५४॥

मुझ अकर्ता तथा अलेपका लौकिक या शास्त्रीय या और किसी प्रकारका व्यवहार जैसा मेरा प्रारब्ध हो चलता रहे।

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः ॥५५॥

या फिर कृतकृत्य भी मैं लोकपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे [उनको उनका मार्ग दिखानेकेलिये] शास्त्रीय मार्गसे ही आचरण करता हूं। इससे भी मेरी क्या हानि है ?

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥५६॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥५७॥

यह शरीर देवार्चन, स्नान, शौच तथा भिक्षा आदि कार्योंको किया करे। यह वाणी उच्च ध्वनिसे तार या ओंकारको जपती रहे या वेदान्तोंका पाठ करती रहे। यह बुद्धि चाहे विष्णुका ध्यान करे, या ब्रह्मानन्दमें विलीन होजाय। परन्तु मैं इनमेंसे कुछ करता या करवाता नहीं हूं। मैं केवल साक्षी हूं।

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥५८॥

यह साधक पहले कृतकृत्यतासे तृप्त फिर प्राप्तप्राप्यतासे और अधिक तृप्त होता हुआ मन ही मन निरन्तर निम्न विचार किया करता है—

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि ।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥५९॥

मैं धन्य हूं। क्योंकि मैं अपने नित्य आत्माको ठीक ठीक समझ गया। मैं धन्य हूं क्योंकि अब मुझे ब्रह्मानन्द स्पष्ट दीखने लगा।

धन्योहं धन्योहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
धन्योहं धन्योहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥६०॥

मैं धन्य हूं क्योंकि आज मैं किसी भी सांसारिक दुःखको नहीं देख रहा हूं। मैं धन्य हूं क्योंकि मेरा अज्ञान न जाने कहां भागगया।

धन्योहं धन्योहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ।
धन्योहं धन्योहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥६१॥

मैं धन्य हूं मेरा कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहा। मैं धन्य हूं क्योंकि जो कुछ मुझे पाना था वह सब कुछ आज सिद्ध होगया।

धन्योहं धन्योहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
धन्योहं धन्योहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥६२॥

मैं धन्य हूँ। संसारमें आज मेरे समान तृप्त कौन है ? मैं और अधिक कहां तक कहता जाऊं, बस मैं यही कहता हूँ कि मैं धन्य हूँ और अनन्त बार धन्य हूं।

अहो पुण्य महो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।
अस्य पुण्यस्य संपत्ते रहो वयमहो वयम् ॥६३॥

ओहो ! आज मेरे कोटि जन्मोंके पुण्योंके ढेरने फलरूप धारण किया है। आज मैं इस संपत्तिके कारण कृतकृत्यताकी भूलमें पड़ा झोटे ले रहा हूं।

अहो शास्त्र महो शास्त्र महो गुरु रहो गुरुः ।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥६४॥

आज मुझे जिन शास्त्रों, जिन अध्यात्मदर्शी गुरुओं, जिन ज्ञानों और जिन आनन्दोंके कारण यह धन्य अवस्था हाथ लगी, उन सबको अनेक अनेक बार साधुवाद और धन्यवाद [वे सबके सब आज मुझे मेरा परमपद देकर समुत्तीर्ण होगये। मैं उनकी महिमा गानेकेलिये शब्द कहांसे लाऊं ?]

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे चतुर्थोऽध्याय ईरितः ।
विद्यानन्द स्तदुत्पत्तिपर्यन्तोऽभ्यास इष्यताम् ॥६५॥

ब्रह्मानन्द नामके ग्रन्थमें 'विद्यानन्द' नामका चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ। जबतक इस प्रकारके विद्यानन्दकी उत्पत्ति न होजाय तब तक ब्रह्माभ्यासियोंको ब्रह्माभ्यास करना है [उक्त विद्यानन्दका उद्भूत होजाना ही ब्रह्माभ्यासकी पूर्णताका चिन्ह है। विद्यानन्द उत्पन्न होजानेपर ब्रह्माभ्यास अपने आप छूटजाता है]

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां ब्रह्मानन्दे
विद्यानन्दो नाम चतुर्थोऽध्यायः

ब्रह्मानन्दे विषयानन्दप्रकरणम् १५

विषयानन्दके ब्रह्मानन्दके ही एक अंश होनेसे ब्रह्मानन्दको समझनेमें विषयानन्दका उपयोग कैसे होसकता है सो इस प्रकरणमें बताया जारहा है :—

अध्यायका प्रतिपाद्य विषय

अथात्र विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशरूपभाक् ।
निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ ॥१॥

अब इस ग्रन्थमें ब्रह्मानन्दके ही एकभाग 'विषयानन्द' का निरूपण कररहे हैं। क्योंकि वह ब्रह्मज्ञानको समझनेमें उपयोगी है। श्रुतिने इस विषयानन्दको ब्रह्मानन्दका एकभाग कहा है।

एषोऽस्य परमानन्दो योऽखण्डैकरसात्मकः ।
अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुञ्जते ॥२॥

श्रुतिने कहा है कि जो कि अखण्ड और एकरस आनन्द है यही

उस ब्रह्मका परमानन्द है। ये सम्पूर्ण भूत इसी परमानन्दकी छोटीसी मात्रा [बूंद, बिन्दु] को भोग रहे हैं।

ब्रह्मानन्दकी उपाधिभूत अन्तःकरणकी वृत्तियोंका विभाग

शान्ता घोरास्तथा मूढा मनसो वृत्तयस्त्रिधा ।
वैराग्यं क्षान्तिरौदार्य मित्याद्याः शान्तवृत्तयः ॥३॥
तृष्णा स्नेहो रागलोभावित्याद्या घोरवृत्तयः ।
संमोहो भयमित्याद्याः कथिता मूढवृत्तयः ॥४॥

मनकी शान्त [सात्विक] घोर [राजस] तथा मूढ [तामस] ये तीन प्रकारकी वृत्तियां होती हैं। वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि 'शान्त' वृत्तियां हैं। तृष्णा, स्नेह, राग तथा लोभ आदि 'घोर' वृत्तियां हैं। संमोह तथा भय आदि 'मूढ' वृत्तियां कहीगयी हैं।

वृत्तियोंमें ब्रह्मकी चिद्रूपता का भान

वृत्तिष्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता ।
प्रतिबिम्बति, शान्तासु सुखं च प्रतिबिम्बति ॥५॥

ऊपर कही हुई इन सब वृत्तियोंमें ब्रह्मकी केवल चित्स्वभावता प्रतिबिम्बित होरही है। शान्त वृत्तियोंमें इतनी विशेषता होती है कि उनमें चेतनताके साथ साथ सुख [आनन्द] भी प्रतिबिम्बित होता है।

उपाधिसंपर्कसे नानत्व आनेमें श्रुतिप्रमाण

रूपं रूपं बभूवासौ प्रतिरूप इति श्रुतिः ।
उपमा सूर्यकेत्यादि सूत्रयामास सूत्रकृत् ॥६॥

'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इस श्रुतिमें कहा है कि यह आत्मा सृष्टि के प्रत्येक रूपके अनुरूप होगया है। "अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्" (ब्रह्मसू० ३-२-१८) इस सूत्रमें व्यासने भी यही बात कही है। [जैसे यह ज्योतिर्मय सूर्य स्वयं एक है परन्तु जलपात्रोंके भेदसे भेदयुक्त जलोंके

अनुसार अनेक होजाता है इसीप्रकार अजन्मा यह आत्मदेव स्वयंप्रकाश और एक ही है परन्तु मायारूपी उपाधिसे शरीरोंके अनुसार होकर भिन्न [अनेक] सा होजाता है]।

उपाधिसंपर्कसे नानात्व आनेमें श्रुति प्रमाण

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥७॥

श्रुति कहती है कि सब भूतोंमें एक ही भूतात्मा व्यवस्थित है। वह [ज्ञानीको] एक रूपमें और [अज्ञानीको] जलके चांदकी नाईं अनेक रूपमें दीख रहा है ।

निरवयव ब्रह्मस्वरूपकी आंशिक और समस्त प्रतीतियोंके लिये दृष्टान्त

जले प्रविष्टश्चन्द्रोऽयमस्पष्टः कलुषे जले ।
विस्पष्टो निर्मले, तद्वद् द्वेधा ब्रह्मापि वृत्तिषु ॥८॥

[निरवयव ब्रह्म कहीं चिन्मात्ररूपसे प्रतीत हो और कहीं चैतन्य और आनन्द दोनोंका भान हो, यह विभाग कैसे ठीक होगा ? इस बातका उत्तर यह है कि] यह चन्द्रमा मैले जलमें प्रविष्ट होनेपर अस्पष्ट दीखने लगता है, परन्तु निर्मल जलमें स्पष्ट दीखता है। ठीक इसीप्रकार ब्रह्मतत्व भी शुद्ध और अशुद्ध वृत्तियोंमें दो प्रकारका होजाता है ।

घोरमूढासु मालिन्यात् सुखांशश्च तिरोहितः ।
ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिम्बनम् ॥९॥

[ऊपरकी बातको विस्तारसे यों समझो कि] मलिनताके कारण घोर और मूढ वृत्तियोंमें ब्रह्मका सुखभाग ढका हुआ रहता है। क्योंकि उन वृत्तियोंमें थोड़ीसी निर्मलता होती है इस कारण उनमें केवल चिदंशका प्रतिबिम्ब हुआ रहता है ।

घोरमूढवृत्तियोंमें आनन्दका प्रतिबम्ब नहीं होता

यद्यपि निर्मले नीरे वन्हे रौष्ण्यस्य संक्रमः ।
न प्रकाशस्य, तद्वत् स्याच्चिन्मात्रोद्भूतिरेव च ॥१०॥

अथवा दूसरे दृष्टान्तसे इस बातको यों समझो कि निर्मल जलमें अग्निकी उष्णता तो पहुँच जाती है परन्तु उसमें अग्निका प्रकाश नहीं पहुंचपाता। इसीप्रकार घोर और मूढ वृत्तियोंमें चिदंश पहुंचपाता है [परन्तु उसमें 'सुखांश'का संक्रमण नहीं होपाता]।

शान्त वृत्तियोंमें चिदानन्दकी प्रतीतिका दृष्टान्त

काष्ठे त्वौष्ण्यप्रकाशौ द्वावुद्भवं गच्छतो यथा ।
शान्तासु सुखचैतन्ये तथैवोद्भूतिमाप्नुतः ॥११॥

जैसे काष्ठमें उष्णता और प्रकाश दोनों उद्भूत होजाते हैं, इसी प्रकार शान्तवृत्तियोंमें 'सुख' और 'चैतन्य' दोनों उद्भूत होजाते हैं।

वृत्तिव्यवस्थाको पहचाननेका कारण

वस्तुस्वभावमाश्रित्य व्यवस्था तूभयोः समा ।
अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम् ॥१२॥

वस्तुका जैसा स्वभाव हो उसके अनुसार व्यवस्था मानना दोनों पक्षोंमें समान है। क्योंकि नियामककी कल्पना अनुभवके अनुसार ही की जाती है।

वृत्तिविषयक सार्वजनिक अनुभव

न घोरासु न मूढासु सुखानुभव ईक्ष्यते ।
शान्तास्वपि क्वचित् कश्चित् सुखानुभव ईक्ष्यताम् ॥१३॥

न तो घोर अवस्थाओंमें सुखानुभव होता है और न मूढ अवस्थाओं में होता है। शान्तवृत्तियोंमें यद्यपि सुखानुभव होता है परन्तु उनमें भी किसी किसीमें सुखकी अधिकता पायी जाती है।

गृहक्षेत्रादिविषये यदा कामो भवेत् तदा ।
राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात् तत्र नो सुखम् ॥१४॥

जब घर या खेत आदिकी कामना किसीपर आरूढ होती है तब

कामावस्थामें उसे सुख नहीं होसकता। क्योंकि वह राजसकाम घोर होता है। [वह सुखको उद्भूत नहीं होने देता।]

सिद्ध्येन्नवेत्यस्ति दुःखमसिद्धौ तद् विवर्धते ।
प्रतिबन्धे भवेत् क्रोधो द्वेषो वा प्रतिकूलतः ॥१५॥

जब यह विचार आता है कि यह मेरा काम सिद्ध होगा या नहीं ? तब दुःख होनेलगता है। जब काम सिद्ध नहीं होता तब दुःख बढ़ने लगता है। जब कोई उस काममें प्रतिबन्ध डालता है तब क्रोध आता है। जब कामनाके प्रतिकूल बात देखनी पड़ती है तब उससे द्वेष होता है।

अशक्यश्चेत् प्रतीकारो विषादः स्यात् स तामसः ।
क्रोधादिषु महद् दुःखं सुखशङ्कापि दूरतः ॥१६॥

जब उसका कुछ प्रतिकार नहीं होसकता उस समय जो विषाद होता है वह तामस होता है [उसमें भी सुख नहीं होता]। क्रोधादियोंमें तो स्पष्ट ही बड़ा दुःख देखाजाता है। वहां सुखकी थोड़ी भी संभावना नहीं होती।

काम्यलाभे हर्षवृत्तिः शान्ता तत्र महत् सुखम् ।
भोगे महत्तरं, लाभप्रसक्तावीषदेव हि ॥१७॥
महत्तमं विरक्तौ तु विद्यानन्दे तदीरितम् ।
एवं क्षान्तौ तथौदार्ये क्रोधलोभनिवारणात् ॥१८॥

जब किसीको काम्यपदार्थका लाभ होता है उस समय जो शान्त हर्षवृत्ति उत्पन्न होती है उसमें बड़ा सुख होता है। जब उस काम्यपदार्थ को भोगाजाता है तब और बड़ा सुख होता है। लाभकी आशा होनेपर थोड़ा सुख होता है। वैराग्यमें बड़ेसे बड़ा सुख होता है। यह बात विद्यानन्द नामके प्रकरणमें कही है। इसीप्रकार क्षमा और उदारताके समय बड़ा सुख होता है। क्योंकि क्षमा और उदारता क्रमसे क्रोध और लोभ का निवारण करदेती हैं।

यद्यत् सुखं भवेत् तत्तद् ब्रह्मैव प्रतिबिम्बनात् ।
वृत्तिष्वन्तर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम् ॥१६॥

यों जहाँ कहीं जो कुछ सुख होता है, वह सब ब्रह्मका प्रतिबिम्ब होनेके कारण ब्रह्मतत्व ही है। [जब जब इष्ट भोगके प्राप्त होजानेपर इस प्राणीकी वृत्ति अन्तमुख होती है तब] वह ब्रह्म उस अन्तर्मुखवृत्तिमें निर्विघ्नताके साथ [बेरोकटोक] प्रतिबिम्बित होजाता है [तब ही उस प्राणीको सुख होता है। जब जब मनुष्य इष्टभोग्यकी प्राप्तिसे अन्तर्मुख होता है तब तब इसे सुख होता है। क्योंकि उस समय उसकी अन्तर्मुख वृत्तिमें आनन्दरूप प्रतिबिम्बित होजाता है। यह इसलिये कहा जारहा है कि बाहरी संसारमें सुख नहीं है। सुख मनुष्यका स्वरूप है। अज्ञानी मनुष्य विषयानन्दके द्वारा स्वरूपसुखको भोगता है और सुखके इस रहस्यको न समझनेके कारण आत्मभक्त न होकर विषयभक्त होजाता है।]

सर्वत्र ब्रह्मस्वरूपानुभूति करानेकेलिये ब्रह्मस्वरूपनिरूपण

सत्ता चितिः सुखं चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः ।
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद् द्वयम् ॥२०॥

[सर्वत्र ब्रह्मस्वरूपानुभूति करानेकेलिये ब्रह्मस्वरूपनिरूपण] 'सत्ता' 'चैतन्य' तथा 'आनन्द' ये तीन ब्रह्मके स्वभाव हैं। मिट्टी और पत्थर आदिमें ब्रह्मकी सत्ता ही सत्ता व्यक्त होती है। उनमें चैतन्य और सुख दोनों व्यक्त नहीं होते।

मिश्रब्रह्म

सत्ता चितिर्द्वयं व्यक्तं धीवृत्त्योर्घोरमूढयोः ।
शान्तवृत्तौ त्रयं व्यक्तं, मिश्रं ब्रह्मेत्थमीरितम् ॥२१॥

घोर और मूढ बुद्धि वृत्तियोंमें [ब्रह्मके] 'सत्ता' और 'चैतन्य' नामके दो स्वभाव व्यक्त रहते हैं। शान्तवृत्तियोंमें [ब्रह्मके] सत्ता चैतन्य तथा आनन्द ये तीनों स्वभाव व्यक्त होते हैं। इसप्रकार मिश्र [प्रपंचसहित] ब्रह्मका निरूपण कियागया।

अमिश्र ब्रह्मके ज्ञानका उपाय

अमिश्रं ज्ञानयोगाभ्यां, तौ च पूर्वमुदीरितौ ।
आद्येऽध्याये योगचिन्ता ज्ञानमध्याययोर्द्वयोः ॥२२॥

यदि कोई चाहे तो वह उस मिश्रब्रह्मको ज्ञान और योगकी चलनी में छानकर अमिश्र [अर्थात् प्रपंचसे रहित] कर सकता है। उन ज्ञान-योगोंका वर्णन पहले करदिया गया है। ब्रह्मानन्दके पहले ११ वें अध्यायमें योगका चिन्तन किया गया है। ब्रह्मानन्दके पिछले दो अध्यायों १२, १३ में ज्ञानका वर्णन है।

मायाका स्वरूप, तथा शान्तादि वृत्तियोंमें ब्रह्मके मिश्र होनेका कारण

असत्ता जाड्यदुःखे द्वे मायारूपं त्रयं त्विदम् ।
असत्ता नरशृङ्गादौ जाड्यं काष्ठशिलादिषु ॥२३॥
घोरमूढधियोर्दुःखमेवं माया विजृम्भिता ।
शान्तादिबुद्धिवृत्त्यैक्यान्मिश्रं ब्रह्मेति कीर्तितम् ॥२४॥

'असत्ता' 'जडता' और 'दुःख' ये तीन मायाके स्वरूप हैं। तीनों मेंसे 'असत्ता' मनुष्यके सींगोंमें होती है, 'जडता', काष्ठ और शिला आदिमें है ॥२३॥ घोर और मूढ वृत्तियोंमें दुःख है। इसप्रकार संसारमें सर्वत्र मायाका प्रतिभास होरहा है। यहांतक बुद्धिकी शान्त आदि वृत्तियों के साथ एकता होजानेके कारण उन उन वृत्तियोंमें मिश्रित ब्रह्मका कीर्तन हुआ।

ब्रह्मध्यानार्थ मिश्र ब्रह्मका उपपादन

एवं स्थितेऽत्र यो ब्रह्म ध्यातुमिच्छेत् पुमानसौ ।
नृशृङ्गादिमुपेक्षेत शिष्टं ध्यायेद् यथायथम् ॥२५॥

यह सब कुछ हमने इसलिये कहा है कि जो पुरुष ब्रह्मतत्त्वका ध्यान करना चाहे, वह एकतो नृशृंगादिके समान मिथ्या पदार्थोंकी उपेक्षा

करके [जो तत्व शेष रहजाता है, उस] शेष रहे हुए [अमिश्र ब्रह्मतत्व] का ध्यान यथायोग्य रीतिसे किया करे ।

कहां कैसे ध्यान करे?

शिलादौ नामरूपे द्वे त्यक्त्वा सन्मात्रचिन्तनम् ।
त्यक्त्वा दुःखं घोरमूढधियोः सच्चिद्विचिन्तनम् ॥२६॥
शान्तासु सच्चिदानन्दांस्त्रीनप्येवं विचिन्तयेत् ।
कनिष्ठमध्यमोत्कृष्टास्तिस्रश्चिन्ताः क्रमादिमाः ॥२७॥

जब मनुष्यको शिला आदि दीखें और उसका ध्यान ब्रह्मतत्व तक न पहुँचनेदें तब शिला आदिके रूपोंको छोड़कर सन्मात्रका चिन्तन किया करे । जब घोर मूढ बुद्धियोंका ध्यान आवे और वे ब्रह्मध्यानका विघ्न बनें तब उनमेंसे दुःख भागको छोड़कर ब्रह्मके सच्चिद्रूपका चिन्तन किया करे ॥२६॥ जब सात्विक शान्त वृत्तियोंका ध्यान आवे और वे ब्रह्मध्यान का विघ्न बनें तब सत्-चित् तथा आनन्द इन तीनोंको इसी प्रकार ध्यान किया करे । ये ऊपर कही तीनों चिन्तायें क्रमानुसार कनिष्ठ मध्यम और उत्कृष्ट चिन्ता कहाती हैं । [ये तीनों चिन्तायें एकसमान नहीं हैं]।

निर्गुणब्रह्मध्यानके अधिकारीको मिश्रब्रह्म ध्यानका अधिकार

मन्दस्य व्यवहारेऽपि मिश्रब्रह्मणि चिन्तनम् ।
उत्कृष्टं वक्तुमेवात्र विषयानन्द ईरितः ॥२८॥

[जिन मन्द लोगोंको निर्गुण ब्रह्मका ध्यान करनेका अधिकार नहीं है, उन] मन्द लोगोंके लिये व्यवहारकालमें भी मिश्र [सोपाधिक] ब्रह्मके चिन्तनको ही उत्कृष्ट उपायके रूपमें बतानेके लिये हमने विषयानन्द का निरूपण किया है ।

अवृत्तिक ध्यान

औदासीन्ये तु धीवृत्तेः शैथिल्यादुत्तमोत्तमम् ।
चिन्तनं, वासनानन्दे ध्यानमुक्तं चतुर्विधम् ॥२९॥

उदासीनावस्थामें जब कि धीवृत्ति शिथिल होती है तब [बिना वृत्तिका] सर्वोत्तम चिन्तन [ध्यान] होजाता है। यों वासनानन्दमें ध्यान चार प्रकारका होगया।

उदासीनताके आ जानेपर बुद्धिवृत्तिके शिथिल [लुप्त] होजानेके कारण यह बिनावृत्तिका ध्यान सब ध्यानोंसे ऊंची श्रेणीका है। इस विषयानन्द नामके प्रकरणमें यहां तक चार प्रकारका ध्यान बताया जा चुका। तीन प्रकारका सवृत्तिक ध्यान ऊपरके श्लोकोंमें बताया गया। इस श्लोकमें चौथे अवृत्तिक ध्यानका वर्णन है। जडमें सत्ताका ध्यान, मूढमें सत्ता और चैतन्यका ध्यान, सात्विकमें सत्ता चित् तथा आनन्दका ध्यान यों तीन प्रकारका सवृत्तिक ध्यान है।

अवृत्तिक ध्यान ध्यानका अवान्तरभेद नहीं है

न ध्यानं ज्ञानयोगाभ्यां ब्रह्मविद्यैव सा खलु ।
ध्यानेनैकाग्र्यमापन्ने चित्ते विद्या स्थिरीभवेत् ॥३०॥

इस ब्रह्मानन्द नामके ग्रन्थमें ज्ञान और योगके द्वारा जिस ध्यान को बताया है वह कोई ध्यान नहीं। वह साक्षात् ब्रह्मविद्या ही है। ध्यान करते करते चित्तके एकाग्र होजानेपर यह ब्रह्मविद्या स्थिर होजाती है।

विद्यायां सच्चिदानन्दा अखण्डैकरसात्मताम् ।
प्राप्य भान्ति न भेदेन भेदकोपाधिवर्जनात् ॥३१॥

विद्या [ज्ञान, साक्षात्कार] होजानेपर सत् चित् आनन्द तीनों अखण्ड एकरस होकर दीखने लगते हैं। फिर ये तीनों पृथक् पृथक् नहीं रहते। क्योंकि उस समय भेदक उपाधियां हट चुकती हैं।

भेदक उपाधि तथा उनके परिहार

शान्ता घोराः शिलाद्याश्च भेदकोपाधयो मताः ।
योगाद् विवेकतो वैषामुपाधीनामपाकृतिः ॥३२॥

शान्त घोर वृत्तियां तथा शिला आदि पदार्थ भेदक उपाधियें मानी गयी हैं। इन उपाधियोंका परिहार या तो 'योग' से होसकता है या फिर 'विवेक' [ज्ञान] से इनका परिहार किया जा सकता है।

सबका सार

निरुपाधिब्रह्मतत्वे भासमाने स्वयंप्रभे ।
अद्वैते त्रिपुटी नास्ति भूमानन्दोऽत उच्यते ॥३३॥

इस सबका निचोड़ यही है कि उपाधिरहित स्वयंप्रकाश ब्रह्मके भासने लगनेपर यह दीखने वाली त्रिपुटी नहीं रहती। उस समय त्रिपुटी को सिद्ध करनेवाला प्रमाण न रहनेसे उसे 'भूमानन्द' कहाजाता है।

ग्रन्थोपसंहार

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे पंचमोध्याय ईरितः ।
विषयानन्द एतेन द्वारेणान्तःप्रविश्यताम् ॥३४॥

ब्रह्मानन्द नामके ग्रन्थमें विषयानन्द नामका पांचवां अध्याय समाप्त हुआ। मन्दाधिकारी लोग इसीको द्वार बनाकर आत्ममन्दिरमें घुसें।

प्रीयाद्धरिर्हरोऽनेन ब्रह्मानन्देन सर्वदा ।
पायाच्च प्राणिनः सर्वान् स्वाश्रिताञ्छुद्धमानसान् ॥३५॥

इस ब्रह्मानन्द नामकी पुस्तकसे हरि और हर प्रसन्न होजांय। [अपना प्रसन्न रूप दिखानेपर उतारू होजांय] तथा शुद्ध मनवाले स्वाश्रित सब प्राणियोंका पालन करें [उन्हें इस संसारसागरसे पार तारदें]

इति श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां ब्रह्मानन्दे
विषयानन्दो नाम पञ्चमोध्यायः समाप्तः

[पञ्चदशी समाप्ता]



ॐ

पञ्चदशीके समस्त प्रकरणोंके भावपूर्ण संक्षेप

श्लोकोंको पढ़नेसे पूर्व इन संक्षेपोंको पढ़नेसे प्रकरणका भाव समझनेमें बहुत सहायता मिलेगी।



ॐ

तत्त्वविवेकका संक्षेप १

जिन्हें जिस बातकी आवश्यकता हो और जो उसे ग्रहण करनेमें समर्थ भी हों, वे उसके 'अधिकारी' कहाते हैं। जो जिस बातके अधिकारी नहीं होते, वे यदि उस बातको सुनें भी तो वे उसे न समझनेके कारण उससे कुछ लाभ नहीं उठा सकते। जिनके चित्त रागादिदोषोंसे रहित होचुके हों, जिन्हें संसारकी सच्ची स्थितिका पूर्ण परिज्ञान होचुका हो, जिनपर मायाका मोहकप्रभाव पड़ना बन्द होगया हो, जिनका ज्ञाननेत्र खुलना चाहता हो, वसन्त ऋतुके आनेपर सर्वतः अंकुरित वृक्षोंके समान ज्ञानाङ्कुर जिनके भीतरसे अंकुरित होना चाहता हो, संक्षेपमें यों कहो कि जो नित्यानित्य वस्तुओंको पहचानचुके हों, इसी कारण जिन्होंने इस लोक और परलोकके भोगोंसे मुंह मोड़ लिया हो, जिनकी इन्द्रियाँ निगृहीत होगयी हों, जिनके मनके पांवमें शमकी भारी शृङ्खला पड़गयी हो, जो इस शृङ्खलाको अपना सौभाग्य मानते हों, जिनकेलिये अब केवल एक मुक्तिका द्वार खुला रहगया हो, उन लोगोंको सरलतासे तत्त्वज्ञान करानेकेलिये इस प्रकरणका निर्माण कियागया है। वे ही इसे पढ़नेके अधिकारी हैं। इससे उनको तत्व अर्थात् इस समस्त संसारके अनारोपित रूपकी पहचान होजायगी कि वह कौनसा है?

तत्त्वज्ञानियों का कहना है कि शास्त्रमें ब्रह्मका जो सच्चिदानन्द स्वरूप बताया है ठीक वही लक्षण इस जीवमें भी पाया जाता है। पहले 'सत्ता' को देखें-सब कहते हैं कि 'मैं हूं' अर्थात् मेरी सत्ता है [मैं सत् हूं] मैं त्रिकालमें रहनेवाला पदार्थ हूं। अब ज्ञानके विषयमें विचार करें—जागरणकालमें हमें शब्दस्पर्शादिके अनगिनत ज्ञान होते हैं। उन

ज्ञानोंमें, ज्ञानके विषय, शब्द या स्पर्श आदि, भले ही पृथक् पृथक् होते जायं, परन्तु उन सब विषयोंको प्रकाशित करनेवाला 'ज्ञान' सदा एकरूप रहता है। इस ज्ञानमें जो कि भेद प्रतीत होने लगा है, वह शब्दस्पर्शादि उपाधियोंके कारण है। जागरण और स्वप्नके ज्ञानोंका विचार भी इसी प्रक्रियासे करना चाहिये। जागरण और स्वप्न भले ही भिन्न भिन्न होते जायं, परन्तु उभयवर्ती सूत्ररूप ज्ञान अखण्ड बना रहता है। सोते समय जो हमें अज्ञानका ज्ञान रहता है, वह ज्ञान भी एक अखण्ड तत्व है। कहनेका तात्पर्य यही है कि अवस्थापर अवस्था, दिनपर दिन, मासपर मास, वर्षपर वर्ष, युगपर युग और कल्पपर कल्प बीत गये और बीतते चले जायेंगे; परन्तु यह ज्ञानदेव लुहारके ऐरनके समान, वैसेके वैसे स्वयंप्रकाश बनकर डट रहे हैं और डटे रहेंगे। इस ज्ञानदेवने इस त्रिभुवनको व्याप्त कररक्खा है। यदि अपने मनको लाखों कोस दूर भेजें या उसे अनन्त कोटि सूर्योंका चक्कर लगानेका आदेश दें, तो भी ये ज्ञानदेव वहां पहले से बैठे पाये जायेंगे। ये महाशय ज्ञानदेव सृष्टि बननेसे पहले भी थे और इसके नष्ट होजानेके पश्चात् भी रहेंगे। ये न हों तो उन दोनों अवस्थाओंको कोई कैसे जानें? ये व्यापक (देश और कालमें व्यापक) ज्ञान ही आत्मा है। आइये अब इनकी परमानन्दरूपता पर भी थोड़ा विचार करें। प्रत्येक प्राणी अपनेको ऐसा आशीष देता पायाजाता है कि मैं सदा बना रहूं। ऐसी आशंसाका गुप्त कारण आत्मा की सामान्य आनन्दरूपता नहीं है, किन्तु ऐसी सर्वहृदयेश्वरी अभिलाषा का मुख्यकारण आत्माकी परमानन्दरूपता है। इस आत्मप्रेमको परमानन्द-रूप यों कहाजाता है कि यह प्रेम अपने स्वार्थसे तो दूसरोंमें भी होजाता है, परन्तु दूसरोंके स्वार्थसे अपनेमें प्रेम होनेकी बात कहीं नहीं देखी गई।

यों जो (सत् चित् आनन्द) लक्षण ब्रह्ममें बताये जाते हैं वे सब इस आत्मामें भी पाये जाते हैं। ब्रह्मविद्याके आचार्य तथा वेदान्त शास्त्र जिसको अधिकारी देखते हैं, उससे यह महावार्ता कहते हैं कि ओ दिङ्मूढ

प्राणी ! आत्मा और ब्रह्म ये दो पदार्थ नहीं हैं। ये एक वस्तुके दो नाम हैं।

इस प्रसङ्गमें ज्ञातव्य बात यह है कि ऊपर आत्माकी जिस परमानन्दरूपताका वर्णन किया है, वह ऐसी विचित्र परिस्थितिमें फंस गई है कि वह ज्ञात भी रहती है और अज्ञात भी बनी रहती है। आत्माकी यह परमानन्दरूपता अविद्याके प्रतापसे अंशतः छिप गई है। आत्माकी इस परमानन्दरूपताको अंशतः छिपालेनेवाली अविद्याके ही 'माया' और 'अविद्या' नामके दो बड़े भेद हैं। इन्हीं दोनोंसे ईश्वर, प्राज्ञ, आकाश आदि पांच भूत, पांच ज्ञानेन्द्रियें, मन, बुद्धि, पांच कर्मेन्द्रियें, पांच प्रकार के प्राण, ये सब कुछ उत्पन्न होते हैं। इनसे फिर तैजस और हिरण्यगर्भ का जन्म होता है। फिर इन पांचों भूतोंको स्थूल रूपमें लानेकेलिये इनका मिश्रण किया जाता है, जिसे 'पंचीकरण' कहते हैं। उन पंचीकृत भूतोंसे ब्रह्माण्ड भुवन तथा अनेक प्रकारके स्थूल शरीरोंकी उत्पत्ति होती है। सम्पूर्ण प्राणियोंके कारण और सूक्ष्म शरीर एकसमान होते हैं केवल स्थूल शरीरोंमें भिन्नता रहती है। 'वैश्वानर' और 'विश्व' की कल्पना भी इन ही स्थूलशरीरोंके आधारसे की जाती है। विश्व कहानेवाले इन देवता पशु पक्षी और मनुष्यादियोंको, भीतर वाले गुप्ततत्त्वका ज्ञान सर्वथा नहीं है। जैसे कौतुक देखनेवाले बालक द्वारोंपर आ खड़े होते हैं, उसी प्रकार ये अपने अज्ञानके कारण सदा ज्ञानेन्द्रियद्वारोंपर खड़े रहते हैं और कर्मेन्द्रियरूपी मजदूरोंसे कुछ उलट पुलट कराया करते हैं। इनके अज्ञानको कहांतक कहा जाय, ये ऐसे चक्करमें फंसे हैं, ये ऐसे भंवरमें पड़े हैं कि इनका निस्तार होना कठिन होगया है।

ये कर्म करते हैं इसलिये कि कुछ भोग करेंगे। ये भोगते हैं इसलिये कि कुछ कर्म करेंगे। इनको कर्म करनेके कारण उस कर्मका फल भोगना आवश्यक होजाता है। भोगकर जब इन्हें कुछ क्षुद्र सुख हाथ लगजाता है तब ये दुगने उत्साहसे फिर-फिर कर्मजालमें फंसते हैं। यों

कर्मसे भोग और भोगसे कर्मकी उत्पत्ति निरन्तर होती रहती है। इनके हाथ इन कर्म और भोगोंका पार नहीं आता। इनके मनमें कभी यह प्रश्न नहीं उठता कि क्या हम सदा इस कर्म और भोगकी शृङ्खलामें ही जकड़े रहेंगे या कभी हमको इससे छुट्टी भी मिलेगी ? ये विना द्वारके घरमें बन्द किये अन्धोंकी भांति जन्मजन्मान्तरोंमें चक्कर लगाते रहते हैं। इन्हें कभी सुखके दर्शन नहीं होते। इनकी अवस्था नदीमें बहते हुए उन कीड़ों की सी होती है जो एक भंवरसे निकलकर दूसरेमें फंस जाते हैं, उसमेंसे निकलकर तीसरे में जा गिरते हैं। जब कभी किसीके कोटि पुण्योंका उदय होता है तब उसे संसारके गहन तत्व के पारखी गुरुके दर्शन मिलते हैं और उसके मनमें उसके सामने आत्माके रहस्यमय जीवनको खोल कर रखदेनेकी भावना उत्पन्न होती है।

संसारमें जलके अथाह समुद्र भरे पड़े हैं परन्तु चातककेलिये मेघ के द्वारा आया हुआ जल ही पेय होता है। इसी प्रकार आत्मतत्त्व इस संसारमें अनन्त रूपसे परिपूर्ण है, परन्तु वह प्रत्यक्षदर्शी मार्गदर्शक गुरु के द्वारा ही हमारा उपयोगी होता है। गायके शरीरमें रहनेवाला घी उसके शरीरको पुष्ट नहीं करता। जब उसको दुहकर बिलोकर फिर उस गायको खिलाते हैं तब उससे उसीके शरीरकी पुष्टि होती है। इसीप्रकार जो हमारे हृदयका मथन करके हमारा आत्मसर्पि निकालकर हमें खिला सके, वैसे गुरुकी आवश्यकता रहती है।

आचार्यके उपदेशसे पांच कोशोंमें छिपे हुए आत्माकी सम्भावना मनमें दृढतापूर्वक बैठ जाती है। जब यह आत्मा पांचों कोशोंसे छिप जाता है तब आत्मविस्मरण होकर इसे संसारमें फंसना पड़ता है।

जैसे मूंजमेंसे तुलीको निकाल लेते हैं इसीप्रकार जब धीरलोग आचार्योंकी बताई युक्तिसे इन तीनों शरीरोंमें रमे हुए आत्मतत्त्वका उद्धार करचुकते हैं, तब उस उद्धृत आत्मामें वे लक्षण स्पष्ट दीखनेलगते हैं जो ब्रह्ममें बताये गये हैं। तब लक्षणकी एकताको देखकर साधकको

कहना पड़ता है कि मैं परब्रह्मतत्व हूँ। इतने लेखसे पर और अपर आत्मा की एकताकी सम्भावना पाठकोंके हृदयमें बैठ गई होगी। तत्वमसि आदि महावाक्य इसी एकताकी साक्षी देनेकेलिये हैं। जब अधिकारी लोग इन वाक्योंको विधिपूर्वक सुनते हैं तब इनसे उन्हें अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म की दिव्य सूचना मिलती है।

जब श्रवण और मननके प्रतापसे इस परमार्थकी विचिकित्सायें भाग जाती हैं और इसी परमार्थमें चित्तको ठहराकर, तैलकी धाराके समान एकाकार वृत्तिका प्रवाह बहा दिया जाता है, तब इसे 'निदिध्यासन' कहाजाता है। जब इस निदिध्यासनकी परिपाकावस्था आती है तब उसके माहात्म्यका क्या वर्णन करें। तब ध्याता और ध्यान दोनों खोये जाते हैं। उस समयके ध्येयैकगोचर चित्तकी अलौकिक अवस्थाको ऐसा समझो जैसा वायुरहित प्रदेशमें जलता हुआ या चित्रमें खींचा हुआ कोई दीपक हो। जब किसीके चित्तकी ऐसी अवस्था होजाय तब उसे समझलेना चाहिये कि मुझे 'समाधि' होनेलगी। इस समाधिका महाद्भुत प्रताप यह है कि अनादिकालसे इकट्ठे अनन्त कर्मोंके कूड़े इस समाधिसे जलकर नष्ट होजाते हैं। शुद्ध धर्मकी वृद्धि होनेलगती है, जिससे कार्यसहित अविद्याको मारभगानेवाला साक्षात्कार आधमकता है। जब इस समाधिको करते करते सम्पूर्ण वासनाजाल विनष्ट होचुके हों, जब पुण्य पाप नामके कर्मोंके ढेरका समूल उन्मूलन होचुका हो, तब कहीं जाकर 'तत्वमसि' आदि वाक्योंका सच्चा अर्थ समझमें आता है। ऐसी उदार अवस्थाके आनेसे पहले पहले हमें जो कि आत्मविषयक ज्ञान होता है उसे परोक्षज्ञान समझना चाहिए। परन्तु यह जो अपरोक्षज्ञान है यह जब किसीको होता है तब उसका संसारका कारण मूलाज्ञान भी जलभुन कर राख होजाता है।

जब कोई ऐसा तत्वविवेक करलेगा और अपने मनको इसी लक्ष्य की महादीक्षा देदेगा, तब उसे अपरोक्षज्ञान होकर रहेगा। उसका संसार-

बन्धन टूट फूटकर शतधा विदीर्ण होजायगा। फिर उसे परमपदको पानेमें क्षणभरका भी विलम्ब न होगा। चाहो तो उसे यह भी कह सकते हो कि वह सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म होजायगा।

गम्भीर सूचना

जो तत्त्व है अर्थात् जो अनारोपित [अकल्पित] वस्तु है इस प्रकरणमें उसका दिग्दर्शन करायागया है। इस प्रकरणका गम्भीर अभिप्राय यह है कि एक स्थानपर दो अकल्पित पदार्थ नहीं रहसकते। यह एक सर्वमान्य नियम है कि एक स्थानपर अकल्पित पदार्थ एक ही ठहर सकता है। जहां एक अकल्पित [सच्ची] रस्सी पड़ी है, वहां ही दूसरा अकल्पित [सच्चा] सांप भी हो यह नहीं होसकता। हां, यह तो होसकता है कि जहाँपर सच्ची रस्सी हो वहींपर कल्पित सांप भी रह रहा हो। सच्चे और कल्पितका एकसाथ होना भ्रमस्थलमें प्रत्यक्ष देखते हैं। हमको जहां-जहां कल्पित पदार्थ प्रतीत हुआ करते हैं वहां-वहां यद्यपि उनका तत्त्व अर्थात् उनका अनारोपित स्वरूप उनके साथ रहता है परन्तु वह उस समय छिपसा जाता है। यदि हम उस पदार्थके तत्त्वको जान लेते हैं तो कल्पित पदार्थ, सुपनेके पदार्थोंकी भांति, क्षणभरमें अदृश्य [गुम] होजाते हैं। इसीप्रकार यह समझें कि इस संसारका भी जो तत्व है, अर्थात् जो इस संसारका अनारोपितस्वरूप है वह एक है और वह छिपसा रहा है। वह 'सत्य' 'ज्ञान' और 'परमानन्द' स्वरूप है। परन्तु इस तत्त्वके ऊपर जो अनेक प्रकारके आरोप होगये हैं, इस तत्त्वके आधारसे जो कि अनेक कल्पित देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा अन्य भूत भौतिक पदार्थ प्रतीत होनेलगे हैं, उन्होंने हमारा सारा ध्यान अपनी ओर खींच लिया है और अब हमें सर्वत्र 'असत्य' 'अज्ञान' और दुःखोंके ढेर ही ढेर दिखाई पड़ रहे हैं। जैसे रस्सीका साँप, सारा ध्यान अपनी ओर खींचकर रस्सीको प्रतीत नहीं होने देता, इसीप्रकार इन कल्पित पदार्थोंने तत्त्वकी प्रतीतिको रोक दिया है और स्वयं हमारे सामने आकर खड़े

होगये हैं। जैसे सांपको देखकर भय और कम्प आदि होजाते हैं, इसी प्रकार अब इन देहादि पदार्थोंको देखनेसे जन्म मरण आदिका चक्र चल पड़ा है। हम अभागे प्राणी जन्मनेकेलिये मरते हैं और मरनेकेलिये जन्म लेते हैं। भोगके लिये कर्म करते हैं और कर्म करनेकेलिये भोगते हैं। यों हम अज्ञानोपहत होकर मूर्ख बालकोंकी भांति इस चक्रको निरन्तर घुमाते जाते हैं। जब पुण्यपरिपाकसे किसी तत्वके पारखीसे भेंट होती है और वह कृपा करता है तब साधकको कल्पित पदार्थोंकी पहचान होती है, अकल्पित सच्चिदानन्द वस्तुपर दृष्टि जाती है और संसरण बन्द होजाता है। कारुणिक आचार्य तत्व (अकल्पित पदार्थ) का स्वरूप बता देते हैं। तब उसपर साधकका मनन प्रारम्भ होजाता है और मनन करते करते, निःसन्दिग्ध होजानेपर, चित्त उसी तत्वमें रमजाता है। इस तत्वमें रमते रमते, जब मनकी अवस्था, चित्र खिंचे हुए दीपककी सी शान्त होजाय, तब यही समाधि अवस्था है। इस समाधिके हाथ लगनेपर, कर्मोंके ढेरमें आग लगजाती है और संसारबन्धन गलजाता है। इस अवस्थामें परमपदको साधकके पास आना ही पड़ता है।

दर्पण ठोस होता है, उसके भीतर तिल धरनेको भी कहीं स्थान नहीं होता, परन्तु उसीके भीतर, अनेक पदार्थोंको अपने पेटमें लिये हुए, लम्बा चौड़ा आकाश व्यर्थ ही दीखा करता है। इसीप्रकार, वह सच्चिदानन्द तत्व, सर्वत्र ठसाठस भरा पड़ा है, यह शिलाकी नाईं ठोस है, इसमें थोड़ासा भी कहीं कोई छिद्र नहीं है, कि इसमें कहीं कोई तिनका तक समासके। परन्तु इस दुर्घटकारिणी मायाके प्रतापसे, अनन्त वस्तुओंको अपने पेटमें लिये हुए यह सारा जगत्, इसी निश्छिद्र सच्चिदानन्द महादर्पणमें भ्रमसे प्रतीत होरहा है। जैसे हम दर्पणके भीतर अनन्त आकाशको देखते हुए भी दर्पणकी निर्मलताको जानते रहते हैं और उस दर्शनपर विश्वास नहीं करते, इसीप्रकार सच्चिदानन्दके भीतर अनन्त जगत्को देखते हुए भी यदि हमारे मनपर उसकी निर्मलता अपना प्रभाव

डाल चुकी हो, यदि हमारे मनपर इस सच्चिदानन्दरूपी जलके चार छींटे आपड़ें हों और मनको इस तत्वकी महादीक्षा मिलगई हो, मन इसी तत्व में रमगया हो और उसका बाह्यदर्शनपरसे विश्वास (आस्था) उठगया हो तो समझिये कि अतत्व (आरोपित) वस्तु हट गयीं और तत्व (अनारोपित) वस्तु हाथ लगगयी। इस तत्वको पकड़ादेना तत्वविवेक नाम के प्रकरणका उद्देश्य है।

पंचभूतविवेकका संक्षेप २

पञ्चभूतविवेक प्रकरणमें बताया है कि जिसप्रकार वर्षा ऋतुमें पर्वतसे उत्पन्न होनेवाले तिनके पर्वतको ढक लेते हैं, इसीप्रकार ये पांच-भूत जिस (सत् अद्वैत तत्व) से उत्पन्न हुए हैं इन्होंने उसे ही छिपा डाला है। अब साधकोंका यह कर्त्तव्य होगया है कि वे इन पांचों भूतोंका विश्लेषण करके, छिपे हुए उस तत्वको पहचानें। पहचाननेकी रीति यह है कि हम ग्यारह इन्द्रियोंसे युक्तियोंसे और शास्त्रोंसे जिस पसारेको देख रहे हैं वह पसारा सृष्टि बननेसे पहले नहीं था। तब एक सत् ही सत् था। वह सत् क्योंकि निरवयव तत्व है इस कारण तब पेड़में पत्र पुष्प और फलादियोंसे होनेवाले स्वगतभेद की नाई यह भेदमय पसारा नहीं था। एक पेड़का दूसरे पेड़से जैसे सजातीयभेद होता है वैसे सजातीयभेद भी तब नहीं था। एक पेड़का विजातीय पत्थर आदिसे जैसे भेद होता है वैसा विजातीय भेद भी तब नहीं था। यों तब स्वगत सजातीय और विजातीय भेदसे हीन एक तत्व था। कई लोगोंको यह एक तत्वकी बात बड़ी असह्य प्रतीत होती है। जैसे समुद्रमें डूबनेसे स्थलचारी का दम घुटता है, इसीप्रकार अखण्ड एकरस तत्वको सुनकर और मनके प्रचारकेलिये अवकाश न पाकर, कुछ लोग वहांकी गम्भीर शान्तिसे घबरा उठते हैं। जैसे दूषित वायुमें रहनेके अभ्यासी सुगन्ध वायुसे नाक सको-

ड़ते हैं और घबराते हैं इसीप्रकार बहुव्याकुलचित्तोंको अनन्त शान्तिदायक अखण्ड एकरस तत्व भयानक दीखता है। जैसे बालक सूने जङ्गलमें डरता है इसीप्रकार कई लोगोंको अखण्ड तत्वसे भय लगता है। परन्तु वहां उनके डरनेका कोई उचित कारण नहीं होता। जब कोई समाधि करता है और जब उसके निश्चित्त होजानेकी गम्भीर अवस्था आती है जब उसमें तूष्णींभावका उदय होता है, तब साधकको अखण्ड सद्वस्तुका स्पष्ट अनुभव होता है। 'उस समय कुछ नहीं रहता' ऐसा विचार ठीक नहीं है, क्योंकि शून्य (कुछ नहीं) को जाननेवाला जो कोई तत्व है उसको 'कुछ नहीं' कहना अनुचित है। शून्यको शून्यका ज्ञान नहीं होता। जब हम निर्मनस्क होते हैं, उस निर्मनस्क अवस्थाका जो साक्षी है, वही तत्त्व सत् पदार्थ है। इस सत्में इस पसारेको फैलानेकी शक्ति कभी गुप्त और कभी प्रकट रहती है। वह शक्ति न तो असत् है, क्योंकि प्रतीत होती है और न सत् है, क्योंकि वह सदा नहीं रहती। क्योंकि उसकी बाधा हो जाती है इस कारण उस शक्तिसे द्वैत नहीं बनता। देवदत्तमें देवदत्तकी शक्ति भी रहती है, परन्तु शक्ति और देवदत्तको दो नहीं गिना जाता। ये दोनों मिलकर एक गिने जाते हैं। इसीप्रकार ब्रह्म और उसकी शक्ति दो तत्व नहीं गिने जाते। कहनेका तात्पर्य यह है कि शक्तिके कारण द्वैत नहीं होता। जैसे शक्तिके कारण द्वैत नहीं होता, ठीक इसीप्रकार शक्ति के स्थूल कार्यों (पृथिव्यादि) से भी द्वैतकी शंका न करनी चाहिये। उस शक्तिसे, सबसे प्रथम आकाश उत्पन्न हुआ। उसमें सत्ता सत्से आई। सत्का आकाश बनगया। 'आकाशकी सत्ता' ऐसा कहना तात्विक भूल है। यह सत्ता वायु आदि अगले भूतोंमें भी गई है। आकाश उनमें नहीं गया, इसी कारण कहते हैं कि आकाश और सत्ता भिन्न भिन्न तत्त्व हैं। आकाशमें से सत्ताको पृथक् करलो फिर बताओ आकाशका क्या रूप रहगया? वह सत्से भिन्न होनेके कारण निश्चय ही असत् है। असत होनेपर भी प्रतीत होरहा है, यही मायाका चमत्कार है। आकाश कभी सत् नही होसकता और सद्वस्तुमें कहीं थोड़ासा भी स्थान नहीं है कि

उसके भीतर आकाशादि अन्य पदार्थ समा सकें। इसीलिये जब तत्व-ज्ञानीकी दृष्टि आकाशपर पड़ेगी, तब वह उसे निस्तत्व समझेगा और जब सद्वस्तुपर उसका ध्यान जायगा तब वह उसे निश्छिद्र किंवा निरन्तर समझेगा और कहेगा कि इसमें कहीं कुछ नहीं है। यों जब प्रत्येक भूत और प्रत्येक भौतिक पदार्थकी असत्तापर वार वार विचार चलेगा, तब अद्वैतके सत्य होनेकी बात दृढतर होती जायगी। परन्तु ध्यान रहे कि इस असत्यवासनाका प्रभाव व्यवहारपर कुछ नहीं पड़ेगा। वह तो पहले जैसा चलता जायगा। व्यवहारको बन्द करदेनेका विचार भूल है। होना यह चाहिये कि जो व्यवहार अबतक अपने संकीर्ण दृष्टिकोणसे चलरहा था वही अब व्यापक जगदात्माके दृष्टिकोणसे अर्थात् सर्वात्मभावकी उदार दृष्टिसे चलना चाहिये। इस ज्ञानसे पदार्थोंका स्वरूप परिवर्तन नहीं होता। यह ज्ञान केवल दृष्टिकोण बदलता है। अवश्य ही ज्ञानीके व्यवहार में कुछ ऐसा चमत्कार आजाना चाहिये कि उसका व्यवहार आकर्षक हो, सदय हो, आदर्श हो, अनुकरणीय हो तथा लोकहितमें बाधा न डालता हो। ऐसा जिसका व्यवहार हो वही ज्ञानी है। उस ज्ञानीकी जिस परिमाणसे द्वैतकी अवज्ञा (अनादर) दृढ होगी उसी परिमाणसे अद्वैतमें बुद्धि ठहरेगी। जब यह बुद्धि ठहर चुकेगी और जब संसारसमुद्रकी कुलंकष लहरें भी इस अद्वैतबुद्धिरूपी तटको तोड़ फोड़ न सकेंगी तब यह पुरुष 'जीवन्मुक्त' कहाने लगेगा। जब पांचों भूत या पांचों भूतोंसे बना हुआ कोई भी पदार्थ दीखे तब ही उसके सत्य तत्वपर दृष्टि पड़ने लगे और उसीमें जमने लगे तो यही 'द्वैतावज्ञा' है। यही 'अद्वैतबुद्धि' कही जाती है और उसे ही 'ब्राह्मीस्थिति' कहते हैं। यदि कोई आसुरी प्रवृत्तिके लोगोंके द्वारा मौतकी घटना उपस्थित करदी जानेपर भी ब्राह्मी-स्थितिसे डिगना स्वीकार न करे तो उसे ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त समझो। विमुक्त को ही मुक्ति मिलती है। यदि किसीको मरते समय एक क्षण भरके लिये भी अर्थात् जीवन भरमें एक क्षण भी ऐसी उदार स्थिति हाथ लगजाय

तो उसकी मुक्ति अवश्यम्भाविनी है। फिर जो बड़भागी बचपनसे इस शुभ स्थितिमें जमने लगा हो, उसके विषयमें क्या पूछते हो? क्योंकि मरते समय जो भ्रान्ति नष्ट हुई है वह भ्रान्ति फिर कभी लौटकर न आयेगी। मृत्यु इस लोक और परलोककी मध्यसीमा है। उस सीमापर जिसकी भ्रान्ति नष्ट होजायगी दूसरे शब्दोंमें उसकी परलोकयात्राकी पूंजी जलभुनकर राख होजायगी। जिस पुरुषकी उपर्युक्त प्रकारकी द्वैतावज्ञा स्थित होगई हो, जिसे ब्राह्मीस्थितिकी प्राप्ति होचुकी हो, वह महामना खाटपर सड़कर, भूमिपर लोटकर, पूर्ण स्वस्थ रहकर या मूर्च्छावस्थामें प्राणोंको त्याग दे, उसे फिर भ्रान्ति कभी न होगी। मूर्च्छा आदिके कारण तत्वका विचार न कर सकने पर भी ज्ञानीका ज्ञान नष्ट नहीं होजाता। क्या भला कहीं पढ़ा लिखा मानव नींद आजानेसे कुपढ़ा होजाता है? जिस महाविद्याको प्रमाणोंने बड़े परिश्रमसे जगाया है, वह विद्या अब कभी नष्ट होनेवाली नहीं है। क्योंकि वेदान्तोंसे प्रबल कोई प्रमाण नहीं है। वेदान्तोंके बताये जिस अद्वैतका पूर्ण अनुमोदन साधकके अनुभवने करदिया है उस अद्वैतकी बाधा करनेको दूसरा प्रमाण कहांसे आयेगा? अनुभवसे बड़ा कोई प्रमाण नहीं होता। इसप्रकार सत् जो अद्वैत है और अनृत जो द्वैत है, इन दोनोंको हिलामिला कर जो एक मिश्रण बनालिया गया है, जब इस मिश्रणको सर्वथा अलगा दिया जाय, जब इन दोनोंको अलग अलग समझ लिया जाय, तो निर्वाणपद किसीके रोके रुक नहीं सकता। सारांश यही हुआ कि पञ्चभूतविवेक करनेपर जिस वेदान्तसिद्ध अद्वैतका ज्ञान होगा, उसकी बाधा अन्तकालमें भी न होसकेगी और विदेहमुक्ति मिलकर रहेगी।

———

पञ्चकोशविवेकका संक्षेप ३

पञ्चकोशविवेक नामके तीसरे प्रकरणमें बताया गया है कि देह, देहसे अन्दर प्राण, प्राणसे अन्दर मन, मनसे अन्दर कर्ता [विज्ञान], कर्तासे अन्दर भोक्ता [आनन्दमय] यह एक परम्परा है। यह परम्परा आत्माके छिपनेकी 'गुहा' है। इस गुहामें जो ब्रह्मतत्व छिपसा गया है, उसे हम तब जान सकते हैं, जब पहले इन ऊपरके पाँचों कोशोंका विवेक करलें अर्थात् इन्हें पहचानलें। इसलिये आइये अब नारियलके छिलकों की भांति उन पांचों कोशोंको छीलकर फेंक दें और गुहाहित ब्रह्मतत्वका दर्शन करें—

जहाँ ये अन्न, प्राण, मन, बुद्धि और आनन्द नामके कोश, आत्मतत्वको ढके बैठे हैं, प्रकट नहीं होने देरहे हैं, वहाँ सौभाग्यसे ये उसका दर्शन करानेके साधन और स्थान दोनों हैं। ये दो विरुद्ध काम करते हैं। ये बन्ध भी करते हैं और मोक्ष भी दिलाते हैं। जैसे नारियल का छिलका नारियलको ढके रहता है, इसीप्रकार वह नारियलको पानेका स्थान भी है। जिन पाँच कोशोंने आत्मतत्वपर परदा डाला है, उस तत्वके दर्शन भी उन्हींके भीतर होते हैं। यदि ये पाँचकोश न होते तो किसीको आत्मतत्वका ध्यान तक न आता। उस ब्रह्मतत्वके दर्शनकी रीति यह सोचना है कि देहसे लेकर आनन्दपर्यन्त जो पदार्थ दीख रहे हैं, वे सब आत्मा नहीं है। किन्तु इन सबको देखनेवाला, स्वयं कभी न दीखनेवाला जो तत्व है, वही आत्मा है। आत्माके न दीखनेका यह कारण नहीं है कि आत्मा नामका कोई पदार्थ नहीं है, किन्तु उसके न दीखनेका कारण यह है कि वह स्वयं दीखनारूप है। जैसे गुड़को मीठा नहीं किया जासकता, इसीप्रकार आत्माको देखा नहीं जासकता। यों चाहे वह आत्मतत्व किसीके अनुभवमें न आता हो, परन्तु उसकी ज्ञान-

रूपतामें लेशमात्र भी ठेस नहीं लगती। जिस मूढको सबको जाननेवाले उस ज्ञानका किसी भी प्रकार अनुभव न होता हो, उस मिट्टीके ढेलेको कौन समझा सकेगा ? जो मन्द पुरुष ज्ञानको नहीं समझ रहा, उसको ज्ञात [ज्ञानके विषयों] का अनुभव भी कैसे होसकेगा ? "मेरे मुंहमें जीभ नहीं है" यह बात जितनी अयुक्त है, उतनी ही अयुक्त यह बात भी है कि मैं ज्ञानको नहीं जानता। विचारो कि मनुष्यको कभी घड़ेका ज्ञान, कभी वस्त्रका ज्ञान और कभी रूपादि विषयोंका ज्ञान होता है। अपने योगयुक्तमनसे ज्ञानके विषय इन घड़े आदि पदार्थोंकी उपेक्षा [अनादर] कर दो। जो ज्ञान या चैतन्य इन घटादि सब पदार्थोंमें, मालामें सूत्रकी भांति, शान्तभावसे अनुगत होकर विराज रहा है, जब उस शान्त ज्ञान तक दृष्टि पहुँच जाय तब समझो कि यह ज्ञान ही ब्रह्म [ब्रह्मतत्व] है। यह तत्व स्वयंप्रकाश भी है। यह तत्व इस सब पसारेके दीखनेसे पहले दीखता है। जब यह आत्मा 'देखनेकी इच्छा' नामकी अनुमति दे देता है, तब यह पसारा पीछेसे दीखने लगता है। बात तो यहाँ तक है कि यह पसारा उसके ही दीखनेसे दीखता है। जब यह आत्मा स्वयं किसीको नहीं दीखता [जैसा कि सुषुप्तिमें होता है] तब यह पसारा भी दीख नहीं सकता। इस पसारेका दीखना सवा सोलह आने इस आत्माके दीखनेके अधीन है। यों इस सारे जगत्का साक्षी जो ज्ञानरूप आत्मा है वह शुद्ध अवस्थामें तब ही दीख सकेगा जब इन पांचों कोशोंका पूर्णतया परित्याग करदिया जायगा। अर्थात् जब इन पांचों कोशोंको आत्मा समझना छोड़ दिया जायगा। इन सब कोशोंको चमकानेवाला जो ज्ञान नामका प्रकाश है, वही सबका स्वरूप है।

जब अविचारपूर्ण दृष्टिके रहते ही रहते दीखपड़नेवाले देहादियोंको अनात्मा समझ लिया जायगा, तब विचारकके सामने आत्मतत्व स्वयमेव आखड़ा होगा। उस समय उसको चाहो तो 'कुछ नहीं' कह दो या 'आत्मा' कह दो या कुछ मत कहो। आत्मतत्व का वर्णन करनेमें

अध्यात्मशास्त्रने इसी भावसे 'नेति नेति' की निराली भाषाका उपयोग किया है। साम्प्रदायवाले इस प्रकरणमें एक गाथा कहा करते हैं—कोई स्त्री किसी मेलेमें अपने पुरुषसे बिछड़ गयी थी। राज-पुरुषोंने सारे मेलेको घेरकर एक द्वारमेंसे निकाला और द्वार पर खड़ी की हुई स्त्रीसे बूझते गये कि क्या यह तुम्हारा पुरुष है? वह सबका निषेध करती गयी 'कि यह मेरा पुरुष नहीं है।' परन्तु जब उसका पुरुष आया, तब वह कुछ न बोली किन्तु चुपचाप खड़ी रह गयी। उसने कुछ न बोलकर ही उन्हें अपने पुरुषको बता दिया। इसीप्रकार जितना कुछ निषेध किया जासकता है, उस सबका निषेध कर देनेपर, जो तत्व शेष रहजाता है, वही आत्मा या आपा है। यही 'नेति नेति' का सरल भाव है। यों यह तत्व सत्य पदार्थ है यह सिद्ध होचुका। इसकी ज्ञानरूपता भी सिद्ध की जा चुकी। यही तत्व अनन्त भी है—औरोंका तो कहना क्या, यदि सबसे तीव्र गतिवाली कल्पनाको सहस्रों वर्ष तक देश और कालके विस्तृत क्षेत्र में दौड़ाते जांय, फिर जहाँ हम पहुंच सकेंगे, यह ज्ञान वहाँ भी और उससे आगे भी रहता है। यों इसमें देश और कालकी कोई मर्यादा या इति नहीं है। यह ज्ञान सर्वरूप भी है—जैसे पदार्थोंको दिखानेवाला सूर्यका प्रकाश पदार्थोंके आकारका होजाता है, या जैसे पदार्थोंके अन्दर रहनेवाले पांच भूत पदार्थोंके आकारके होजाते हैं, इसीप्रकार यह ज्ञान सब पदार्थोंके रूपका [घटके पास जाकर घटाकार और पटके पास जाकर पटाकार इत्यादि] होजाता है। यह ज्ञान सब पदार्थोंका आत्मा है। इसलिये है कि यह उनके अन्दर बैठा बैठा उन सबको दिखाता रहता है। यों यह तत्व प्रत्येक दृष्टिसे अनन्त है। यह एक ही तत्व कभी 'ईश्वर' होजाता है और कभी 'जीव' बनजाता है। जब हमारे ध्यानमें जगत्‌की निर्माणशक्ति आती है तब यही तत्व हमें ईश्वररूपमें स्मरण आता है। जब हमारा ध्यान पांचभौतिक शरीरकी ओर जाता है, तब यही तत्व हमें जीव प्रतीत होने लगता है। तात्पर्य यह है कि हमें जो जो उपाधियां

दीखती हैं यह तत्व उन सबके साथ अठखेलियां करता पाया जाता है— यह उन सबमें रमा हुआ रहता है। परन्तु जब हम न तो सृष्टिको देखें और न शरीरोंका ध्यान करें, तब हमारे सामने केवल अनन्त व्यापक चेतनाका अखण्ड साम्राज्य आकर खड़ा होजाता है। तब योगीके अवाक् रहजानेकी ऊंचीसे ऊंची अवस्था आती है। ईश्वर और जीव दोनों अपनी अपनी उपाधिके कारणसे हैं। ये दोनों उपाधियुक्त चेतना हैं। जो महापुरुष इन उपाधियुक्त चेतनाओं को छोड़कर निरुपाधि चेतनासे आंख भिड़ादे, जिस साधकका यह त्राटक कभी खण्डित न हो, जो साधक बड़े बड़े साम्राज्योंको चलाता हुआ भी इस व्यापक चेतनाको न भूले, जिस महापुरुषके अन्तस्तलमें यह बात बैठ जाय कि इस ईश्वरभाव और जीवभावका जन्म तब होता है जब हम शक्तियों और कोशोंकी ओरको ध्यान देते हैं, यदि हम इन दोनोंकी ओर अपना ध्यान बंटाना छोड़ दें तो फिर ब्रह्मभाव ही शेष रहजाय। वह ऐसा ज्ञान पाते ही पूर्णरूपसे ब्रह्म होजाता है। वह अपनी उपाधियोंको तोड़ फोड़कर अपने व्यापक रूपको पालेता है। वेदान्तसम्प्रदायमें बताये हुए चारों साधनोंसे युक्त जिन अधिकारियोंने उपर्युक्त प्रकारसे पाँचों कोशोंका विवेक करके, उस गुहाहित ब्रह्मका साक्षात्कार करलिया है वे ब्रह्मतत्व होगये हैं। '*न जायते म्रियते वा विपश्चित्*' ऐसे ज्ञानी पुरुषका फिर मरना जीना छूट जाता है। क्योंकि ब्रह्मका जन्म नहीं होता। कहना होगा कि ऐसे मनुष्यने विवेकके द्वारा अपने अमर ब्रह्मभावको जगालिया।

———

द्वैतविवेकका संक्षेप ४

द्वैतविवेक नामके चौथे प्रकरणमें बताया गया है कि द्वैत दो प्रकारका होता है। एक ईश्वरका द्वैत, दूसरा जीवका द्वैत। इन्द्रियोंसे दीख पड़नेवाला संसार ईश्वरका बनाया हुआ द्वैतसंसार है। इस द्वैत संसारके विषयमें जीवोंके अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार भिन्न भिन्न प्रकारके मनोविचार बनते हैं। ये ही भिन्न भिन्न मनोविचार जीवका बनाया हुआ द्वैत है। दूसरे शब्दोंमें जीव ईश्वरनिर्मित जगतके साथ व्यवहार न करके अपने मनोमयजगतके साथ ही व्यवहार करता है। ईश्वर जिन पदार्थोंको बनाता है वह उनका स्वरूप बनाता है। वे पदार्थ ईश्वरके बनादेनेमात्रसे जीवोंके उपभोग्य नहीं होजाते। वे हम जीवोंके उपयोगके तब होते हैं जब हमें उनके विषयमें कुछ ज्ञान होता है, जब हम उनका ध्यान करने लगते हैं, जब हम उन्हें सुखदायी या दुःखदायी मान बैठते हैं तथा जब हम उनको पाने या छोड़नेका कोई कर्म (उद्योग) करने लगते हैं। यही कारण है कि ईश्वरकी सृष्टिके अनन्त पदार्थोंमेंसे केवल वे थोड़ेसे पदार्थ हमारे भोगमें आते हैं जिनका हम ध्यान करते हैं या जो हमारे मनमें बसजाते हैं, या हम जिनके पाने या छोड़नेका उद्योग किया करते हैं। यों इस जगतको ईश्वर तो बनाता और जीव अपने ज्ञान तथा कर्मके द्वारा इसे भोगता है। जब ईश्वर मायावृत्ति नामका संकल्प करता है तब यह जगत् उत्पन्न होता है। अत्यन्त बहिर्मुख होनेके कारण हम लोगोंका संकल्पबल नष्टप्राय होचुका है। संकल्पबलका उदाहरण कच्छपी और मत्स्यादि हैं। ये प्राणी अपने बच्चोंको केवल संकल्पके बलसे पालते हैं। जो काम दूसरे प्राणी अपने बच्चोंको दूध पिलाकर निकालते हैं वही काम ये प्राणी अपने संकल्पसे करलेते हैं। संयम करते करते संयमी लोगोंके संकल्पमें फिर कर्मकी

शक्ति आजाती है। संकल्पबलके बढ़नेका परिणाम अन्तमें मनुष्यको ब्रह्मत्वमें पहुंचाना है। मध्यमें प्रकृतिवशीकार आदि अवान्तर चिन्ह भी देखे जाते हैं। कर्ममें संकल्पमेंसे ही बल आता है। तत्वज्ञानीके कर्म और संकल्प दोनों स्थानोंमें बल रहता है। ईश्वरको कर्म करना नहीं पड़ता। उसको केवल संकल्प करना पड़ता है। कर्म अपने आप होजाता है। ईश्वर संकल्पसे सृष्टि बनालेता है। सुपनेमें जीव भी सांकल्पिक सृष्टि बनाता है। जब जीवात्मा इस ईश्वरोत्पादित जगत्के विषयमें अपने मनोवृत्ति नामके संकल्प दौड़ाता है, तब यह जगत् उसके भोगका साधन बनता है, नहीं तो नहीं बनता। ईश्वर मणिको एक ही प्रकारका बनाता है, परन्तु जिसको वह मिलती है, वह हर्ष करता है। जिसे वह नहीं मिलती, वह पछताता है। कुछ ऐसे भी होते हैं जिन्हें न तो पानेका हर्ष होता है और न नमिलनेका पछतावा होता है। यों एक मणिमें तीन मानसिक आकार सिद्ध हुए—एक 'प्रिय' दूसरा 'अप्रिय' तीसरा 'उपेक्ष्य'। ये तीनों आकार जीवोंकी भिन्न-भिन्न बुद्धियोंके अनुसार होते हैं। इन आकारोंके बनानेमें ईश्वरका हाथ नहीं होता। देखते हैं कि सम्बन्धियों के भेदसे एक ही स्त्रीपिण्ड दादी, माता, पत्नी, पुत्री, पौत्री आदि अनेक रूपोंमें होजाता है। वह जो ईश्वरनिर्मित मांसमय स्त्रीपिण्ड है, वह अवश्य एक प्रकारका रहता है. परन्तु मनोमयी स्त्रियां एकमें अनेक होजाती हैं। इसीलिये होजाती हैं कि भोक्ताओंके मन अर्थात् भावनायें भिन्न-भिन्न होती हैं। भ्रम, मनोराज्य और स्मृतिके समय हमारे व्यवहार मनोमय पदार्थोंसे होते हैं। इन अवस्थाओंमें ईश्वरका बनाया पदार्थ नहीं होता। इन अवस्थाओंमें व्यवहारभूमिमें केवल मनोमय पदार्थ होता है। बात तो यहाँ तक है कि जाग्रत्कालमें भी मनोमय पदार्थोंसे ही व्यवहार होते हैं। परन्तु जाग्रत् समयके मनोमय पदार्थोंको अत्यन्त सावधानीसे देखें तब ही वे समझमें आते हैं। जाग्रत्में ईश्वरीय जगत्से आच्छादित रहनेसे उनकी ओर सर्वसाधारणका ध्यान नहीं जाता। बात यह है कि जब हमारा मन किसी पदार्थको देखता है, तब वह उसी

पदार्थके रूपका होजाता है। आँख मीचकर ध्यान करते ही वही रूप हमारे मनमें दीखा करता है। यों जब हम जागरणके समय किसी पदार्थ को देखते हैं तब वहां दोहरे पदार्थ होते हैं—एक भौतिक दूसरी मानसिक। जैसे एक मिट्टीका घड़ा दूसरा मनका घड़ा। हम मिट्टीके घड़ेको प्रमाणोंसे जानलेते हैं। परन्तु हमारा मनोमय घड़ा प्रमाणोंसे नहीं दीखता। वह साक्षी आत्मासे प्रकाशित हुआ करता है। हमको बन्धनमें डालनेवाली वस्तु 'मनोमय' ही होती है। मनोमयवस्तु हो तो हमें सुख दुःख होते हैं, यदि न हो तो नहीं होते। जब बाह्य पदार्थ नहीं होते, तब भी सुपने आदिमें जीवको मनोमय पदार्थोंसे सुख-दुःख होते हैं। सुपने की मनोमयी स्त्रीके संगसे मनुष्यका वीर्यपात होता पाया जाता है। समाधि, सुषुप्ति या मूर्छाकालमें जीवोंको बाह्यपदार्थोंके बने रहनेपर भी मनोमय पदार्थोंके न होनेसे सुख-दुःख नहीं होते। पुत्र दूरदेश गया हो और वह जीता हो तब उसका पिता वंचकके कहनेसे उसे मरा समझकर रोदेता है। क्योंकि उसका मनोमय पदार्थ मरगया है। इसके विपरीत पुत्र मर भी गया हो परन्तु उसका समाचार न मिला हो तब नहीं रोता। क्योंकि उसका मनोमय पदार्थ जीवित है। यों यह स्पष्ट है कि मानस जगत् ही बन्धन करनेवाला है।

इस मानसद्वैतको नष्ट करनेके दो उपाय हैं एक 'योग' दूसरा 'ज्ञान'। योगमें मनोनिरोध करना पड़ता है, उससे यद्यपि मानससंसार बनना रुक जाता है, तथापि वह बीजरूपमें रहजाता है। जब भी मनोनिरोध करना छोड़दिया जाता है, तुरन्त मानसद्वैत आखड़ा होता है और वह अवश्य बन्धन करता है। मानसद्वैतको सदाकेलिये नष्ट करदेने वाला उपाय, ब्रह्मतत्वका—अपने व्यापक आत्मतत्वका—ज्ञान ही है। ईश्वरका द्वैत आंखोंके सामने खड़ा भी रहे परन्तु उसको मिथ्या (बाधित होजाने वाला) समझ लेनेसे ही पारमार्थिक अद्वैतका ज्ञान होता है। जब मनुष्यको पारमार्थिक अद्वैतका ज्ञान होता है तब मानससंसारका

बनना सदाकेलिये रुकजाता है। मानससंसारका बनना रुकजाना ही अद्वैतबोधकी वास्तविकताका पुष्ट चिन्ह है। मानससंसारकी रचनाका बन्द होजाना ही बन्धनजालका कटजाना और मुक्तिका पाजाना है।

जब प्रलय होजाता है--जब अद्वैतज्ञान करानेवाले गुरु या शास्त्र नहीं रहते, जब अद्वैतज्ञानका विरोध करनेवाला द्वैत भी नहीं रहता—तब अद्वितीय तत्व समझमें नहीं आसकता। अद्वैततत्व तब ही समझमें आता है जब इसका विरोधी द्वैत सामने दिखाई देता हो। यदि द्वैत दिखाई न देता हो तो हमारे पास अद्वैत जैसे गहन तत्वको जाननेका कोई साधन नहीं रहता। यों यह स्पष्ट दीख रहा है कि ईश्वरका निर्मित द्वैत अद्वैतज्ञानका बाधक नहीं है प्रत्युत साधक है। यह ईश्वर की रचनाचातुरी है कि उसने इस द्वैतसंसारको अद्वैतबोधका एक उत्तम उपाय बनालिया है। देखते हैं कि यह संसार अद्वैतबोधका द्वार बनकर ही धन्य होता है। सत्य संकल्प ईश्वरके बनाये हुए द्वैतको हटादेना हम अल्पशक्ति जीवोंके बसका काम नहीं है। कोई कोई मूढ साधक यह मनाया करते हैं कि स्त्री बच्चे मर जाँय तो मैं छूट जाऊं। उनको यह समझना चाहिये कि ईश्वरके संकल्पसे उत्पन्न हुए स्त्री बच्चे तब मरेंगे जब ईश्वरका संकल्प पूरा होगा। इन निष्फल संकल्पोंसे क्या होना है? ईश्वरने सारे संसारकी भांति स्त्री बच्चोंको भी अद्वैतबोधके उपायके रूपमें संसारमें उतारा है। ईश्वरके इस रचनाचातुर्यसे लाभ न उठाना मनुष्यकी बुद्धिहीनता है। इस सम्बन्धमें करनेकी बात केवल इतनी है कि तुम उनको अपना मानना छोड़दो। तुम्हारा इनसे जो मानस सम्बन्ध है तुम उसीसे बंध रहे हो। उसे न हटाकर, ईश्वरकी वस्तुको बिगाड़नेकी इच्छा उपहासास्पद इच्छा है। तुम्हें ईश्वरके द्वैतके रहते ही रहते अपना अद्वैत मार्ग प्रशस्त करलेना है। इसलिये कि यह रचा ही इस प्रयोजनसे गया है। इससे द्वेष करना ठीक नहीं है। जितना मानसद्वैतसे राग करना बन्धनकारक है ईश्वरके द्वैतसे द्वेष करना भी उतना ही बन्धनकारक है।

जीवके द्वैतके दो भेद हैं—एक शास्त्रीय दूसरा अशास्त्रीय। आत्मा और ब्रह्मका विचार शास्त्रीय मानस द्वैत (जगत्) है। इस द्वैतको तत्वज्ञान हो चुकनेके अनन्तर छोड़देना है। अशास्त्रीय द्वैतके दो भेद हैं—एक काम क्रोध आदि, दूसरा मनोराज्य। ये दोनों रहेंगे तो तत्वज्ञान नहीं होगा। यदि किसी प्रकार तात्कालिक उपाय करदेनेसे ज्ञान हो भी जायगा तो वह नहीं ठहरेगा। बात यह है कि तत्वज्ञानके पश्चात् मनुष्यमें जीवन्मुक्तिकी अवस्था अवश्य आनी चाहिये। तत्वज्ञानीमें गीतावाली दैवीसंपत्ति अवश्य आनी चाहिए। जो पुरुष काम क्रोधादिके झंझटोंमें उलझा पड़ा है, उसका ज्ञान 'ज्ञान' नहीं है। वह मुक्तिरूप फलको देनेवाला नहीं है। वह कोरा (वन्ध्य) ज्ञान है। ज्ञान होजाय और काम क्रोध आदि न छोड़े गये हों, ज्ञान होगया हो और व्यवहारमें शुद्धि न आयी हो, ज्ञान होगया हो और ज्ञानीका व्यवहार यह न कहने लगा हो कि इसके व्यवहारमें देहात्मवाद काम नहीं कर रहा, तो वह ज्ञान ऐसा ही निरर्थक है जैसे कि औषधसेवन करके पथ्यसेवन न किया जाय। जिसके मनसे विषयसुखकी लालसा न मिटी हो उसको लाख ज्ञान होजाय तो भी उसकी जन्मपरम्परा टूटनेवाली नहीं है। जो ज्ञानी होकर भी कामादिको नहीं छोड़ता उसका पतन निश्चित है। कारण यह है कि अज्ञानी लोग जिस ईश्वर तत्वसे डरकर या कर्मगतिसे भय मानकर पाप-कर्मसे बचते हैं इसके मनसे वह भय तो जातारहता है। ऐसा ज्ञानी अवश्य पतित होता है। ज्ञान होनेसे पहले मनोदोष अज्ञानीको दुःख देते हैं, ऐसे कोरे ज्ञानीकी लोकमें निन्दा भी होने लगती है। यों इस शुष्क ज्ञानसे तो वह अज्ञान ही अच्छा था। ज्ञानित्व संसारका एक गम्भीर उत्तरदायित्व है। तत्वज्ञानका इतना तो दृष्टफल होना ही चाहिये कि तत्वज्ञानीका व्यवहार उसका रहन-सहन, उसकी बातचीत, सबमें अलौकिकपना हो, और उसके व्यवहारसे उसकी पूजा हो, लोग उसको श्रद्धासे देखें और ज्ञानपर भी श्रद्धा रक्खें। कामादिके साथ ही साथ, सब दोषोंके मूल मनोराज्यको भी, बन्द करदेना चाहिये। मनोराज्यको जीतनेके

लिये निर्विकल्पसमाधि करनी चाहिए। सविकल्पसमाधि करनेसे निर्विकल्पसमाधि होने लगेगी। जिसको तत्वका ज्ञान होजाय, जो एकान्तवास करता हो अर्थात् हृदयमें अधिकता से रहने लगा हो, जिसके बुद्धिदोष नष्ट होगये हों वह, लम्बे प्रणवोंको बोलकर मनोराज्य जीते।

जब मनोराज्यपर विजय मिलजाती है तब साधकके वृत्तिशून्य मनकी अवस्था गूंगे पुरुषकी सी होजाती है। जैसे गूंगा कुछ नहीं बोलता इसीप्रकार उसके मनमें वृत्तियोंका उत्पन्न होना रुकजाता है और वह गूंगा पड़ जाता है। यदि मनुष्य 'दृश्य नहीं है' इस ज्ञानरूपी झाड़ू को पकड़ ले, और मनरूपी मन्दिरमें से, दृश्यरूपी कूड़ेको निकालकर, फेंक दे तो निरतिशय मोक्षसुख अन्दरसे उमड़ पड़े। जब कामादि अवस्थायें नष्ट हो जाती हैं, और जब वासनाओंसे शून्य गम्भीर मौनावस्थाका प्रादुर्भाव होता है, तब इस दशासे उत्तम दशा और कोई नहीं है। जिन लोगोंने ऐसा परमपद पालिया हो, उनको भी कभी कभी भोगदायी कर्मोंके प्रभावसे विक्षेप होता है। परन्तु उनके अभ्यासकी प्रबलता उस विक्षेपको ठहरने नहीं देती। उनकी बुद्धि फिर तुरन्त समाहित होजाती है। हाँ जिन महापुरुषोंका विक्षेपहोना सर्वथा बन्द होगया हो, उनको ब्रह्मज्ञानी कहना भी ठीक नहीं है। अध्यात्मविद्याके पारंगत मुनि लोगोंका कहना है कि वे तो साक्षात् ब्रह्मतत्व सर्वव्यापक आत्मतत्व होचुके हैं।

भाषा इन लोगोंकी स्थितिका वर्णन करनेमें गूंगी लंगड़ी और असमर्थ होकर चुप होजाती है। जब कोई प्राणी जीवके बनाये हुए द्वैतको सम्पूर्ण रूपसे छोड़ चुकेगा, तब ही उसे जीवन्मुक्तिकी ऊंची अवस्था प्राप्त होसकेगी, हमने इसी विचारको लेकर ईश्वरके बनाये हुए द्वैतसे, जीवके बनाये हुए द्वैतको, मुमुक्षु लोगोंके सुभीतेकेलिये, छांटकर रखदिया है। आइये हम ईश्वरके द्वैतके साथ खेलें और अपने द्वैतके साथ ज्ञानियों जैसा व्यवहार करें।



महावाक्यविवेकका संक्षेप ५

जैसे 'महाश्रोत्रिय' 'महाराजा' 'महायात्रा' 'महाप्रस्थान' 'महाज्ञानी' आदि शब्द हैं वैसा ही यह 'महावाक्य' शब्द है। इसका एक यह भी अर्थ है कि संसारमें इससे बड़ा, इससे व्यापक अर्थवाला कोई अन्य वाक्य नहीं है। दूसरा अर्थ यह है कि इसके पश्चात् दूसरा वाक्य बोलना नहीं पड़ता या बोलने की आवश्यकता नहीं रहती। जो प्राणी दिनरात बहिर्मुख बने रहते हैं, जो प्राणी आठोंपहर इन्द्रियद्वारोंपर डटे रहते है, जब कोई उनमेंसे किसी नाटकके नटों, या पालतू तोते मैनाओं के समान इन महावाक्योंको बोल उठे तो हम उसकी बात नहीं कहते। हम केवल उन महामनामुनियोंकी ओर संकेतकरना चाहते हैं, जिनके हृदयधाममें धधकती हुई ज्ञानाग्निकी ज्वालामें सृष्टिके पदार्थोंकी स्वाधीन सत्ता सरकण्डेकी रूईके समान भड़भड़ाकर भस्म होचुकी हो। वे जब अपने एकान्त हृदयमन्दिरके मौनप्रदेशमें बैठकर इन वाक्योंको बोलते हैं और जब उनके हृदय-प्रदेशमें सदाकेलिये सन्नाटा छाजाता है, जिसके पश्चात् एक भी अन्वर्थवाक्य ऐसा सुनाई नहीं पड़ सकता जो उनके उस गम्भीर सन्नाटेको भङ्ग करसकता हो, तब इन वाक्योंको 'महावाक्य' कहना बड़े गौरवकी बात प्रतीत होती है।

यह प्रकरण आगमप्रधान है। इसमें कुतर्क और व्यर्थ विवादको कोई अवकाश नहीं है। इसमें जिन महावाक्योंका उल्लेख है वे सब प्राणियोंके भीतर गुप्तभावसे रहनेवाले 'पूर्ण अहं' या अद्वैत आत्माका वर्णन करनेवाले हैं। बात यह है कि क्षुद्र अहंने जीवात्माओंको संकुचित कररक्खा है। जब मनुष्यका क्षुद्र अहं विचारकी आंचसे जलजाता है तब ही पूर्ण अहं प्रत्यक्ष दर्शन देता है यदि क्षुद्र अहं न हटे तो पूर्ण अहं

दर्शन ही नहीं देता। क्षुद्र अहंका अस्तित्व इसी लिये है कि इसे हटाओ तो पूर्ण अहं दर्शन दे। ईश्वरके रचनाकौशलसे क्षुद्र अहंका हटना ही पूर्ण अहंका दर्शन होना होगया है। जैसे आंखका पलक खुलते ही अनन्त आकाश आंखोंके सामने आखड़ा होता है इसीप्रकार क्षुद्र अहंको हटाते ही अनन्त आत्मतत्व साधकको दीखने लगता है। ये उपनिषदोंके महावाक्य उसी पुण्यकीर्ति अवस्थाकी ओर संकेत कर रहे हैं। जितने वेदादि सच्छास्त्र हैं वे इसी पूर्ण अहंकी ध्वनि हैं। ऐसी ईश्वरीय ध्वनि मननमें गहरे उतरे हुए लोगोंको ही सुनाई पड़ा करती है। इन ईश्वरीय ध्वनियोंके ही कारण वेदोंको 'अपौरुषेय' कहाजाता है। वेदोंको कोई पुरुष नहीं बनाता किन्तु ये वेद शुद्ध मनसे सुननेकी बात हैं। इसीलिये वेदोंको ऋषियोंके द्वारा प्रकट होना बताया जाता है। इस प्रकरणमें जिन 'महावाक्यों' का वर्णन है उनकी मृतप्राय ध्वनियें जनसाधारणके हृदयोंमें भी सुनाई तो पड़ती हैं, परन्तु वे अपने क्षुद्र अहंकारके परवश होनेके कारण इन ध्वनियोंको अनसुनी करदेते हैं। देखते हैं कि समस्त प्राणी अपने मनमें अपने आपको बड़ेसे बड़ा और अच्छेसे अच्छा मानते हैं। सबको अपना आपा सर्वगुणसम्पन्न और सबसे अच्छा, प्रतीत होता है। सब अवसर पाते ही अपनी बड़ाई बघारनेसे नहीं चूकते। परन्तु सर्वसाधारणको ऐसी सर्वहृदयेश्वरी महत्ताके गुप्त कारण का पता नहीं होता। इसी गुप्त महत्ताको मानवमनमें सोया हुआ 'अहं ब्रह्मास्मि' कहाजाता है। मनुष्यके भीतर निःशब्द भाषामें 'अहं ब्रह्मास्मि' की अखण्डरटना चल रही है। उसीसे यह प्राणी अपनेको सर्वोत्तम समझता है। हमारे रोम रोममें 'अहं ब्रह्मास्मि' यह महामन्त्र समाया हुआ है। मौतने सारे संसारको अपने जबाड़ेमें दबा रक्खा है परन्तु उस मौतको भी निगलजानेवाला यह भीतरका 'अहं ब्रह्मास्मि' कभी मरना नहीं जानता। परन्तु इस भीतरवाले 'अहं ब्रह्मास्मि'को इस मांस की चादरने लपेट रक्खा है। इससे अब हमें क्षुद्र देहाभिमानके रूपमें

इस 'अहं ब्रह्मास्मि' की निर्बल ध्वनि कभी कभी सुनाई पड़ती है। अब इस ध्वनिमें ब्राह्मतेज नहीं रहगया है। हमें अन्दरके इस 'अहं ब्रह्मास्मि' को—सोये पड़े हुए इस ओम्‌को—धीरतापूर्वक जगाना है। जब यह पूरा पूरा जाग उठेगा और जब यह जागकर इस मांसकी चादरको फाड़ कर फेंक देगा, तब यह देहाभिमानको, किंवा क्षुद्र अहंकारको जलाकर राख करदेगा। यही 'अहं ब्रह्मास्मि' देहाभिमानके जलनेका बहाना पाकर फिर ब्रह्माण्डभरमें फैलेगा और इस अनन्त ब्रह्माण्डपर फिर दुबारा अपना एकछत्र आधिपत्य जमालेगा। जब मनुष्यके मनमें ऐसी दिव्य अवस्था आ चुकेगी तब ही मनुष्यको 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्योंके बोलनेका सच्चा अधिकार प्राप्त होगा। नहीं तो कोरे शाब्दिक [शास्त्रीय] ज्ञानसे कुछ होना जाना नहीं है। गुड़ कहनेमात्रसे किसीका मुंह मीठा नहीं होता, राम राम रटनेसे तोता मुनि नहीं होजाता। जब ऐसी दिव्य अवस्था आती है तब शान्तिका अनन्त समुद्र उमड़ पड़ता है। तब शोक भय दीनता आदि नहीं ठहर पाते। जिन लोगोंके पवित्र मानसमें इस प्रकारके अपौरुषेय महावाक्य सुनाई पड़ने लगते हैं, जिनके हृदयमें पूर्णताकी अठपहरी गुंजार रहने लगती है, वे ही मुनि हैं, वे ही जीवन्मुक्त हैं, उनको ही विदेहमुक्ति मिलेगी। जिस वाणीके पीछे अनुभवका बल नहीं होगा ऐसी निस्तेज वाणीसे बोले हुए 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्य उसीप्रकार बन्धनकारक होंगे, जिसप्रकार अन्य अपशब्द बन्धनकारक होते हैं। क्योंकि जब अनुभवरहित पुरुष इन महावाक्यों को कहते हैं तब वे इन वाक्योंसे आत्मघात करते हैं क्योंकि उनमें इन महावाक्योंकी आड़में दम्भ आदि दोष अधिकतासे उत्पन्न होजाते हैं।

उपनिषदोंमें मुख्य महावाक्य चार हैं। एक *'प्रज्ञानं ब्रह्म'* दूसरा *'अहं ब्रह्मास्मि'* तीसरा *'तत्त्वमसि'* चौथा *'अयमात्मा ब्रह्म'* ब्रह्म और आत्माकी एकता मोक्षका साधन है। इन दोनोंकी एकताका ज्ञान इन (या इन जैसे) वाक्योंसे ही होता है। ध्यान रहे कि ये वाक्य जबतक

उपनिषदोंके भाग हैं तबतक वाक्य नहीं हैं। जब ये किसी तत्वदर्शी आचार्यके मुखसे निकलते और उसके मनमें शिष्योद्धारकी वासना जागी हुई होती है उस समय ही ये वाक्य वाक्य कहाते हैं। वाक्यके साथ वक्ताकी हार्दिक अनुजिघृत्ताका होना आवश्यक है। बात यह है कि आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है, यह ज्ञान तो युक्तिसे भी होजाता है। परन्तु 'यह आत्मा और वह ब्रह्मतत्व दोनों एक तत्व हैं' इस बातको जाननेका उपाय शब्दप्रमाणके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

प्रज्ञानं ब्रह्म

यह संसार चक्षु और श्रोत्रके द्वारा बाहर निकलनेवाली अन्तः-करणकी वृत्तिसे उपहित चैतन्य किंवा ज्ञानसे रूपादि पदार्थोंको देखता है और शब्दोंको सुनता है। नासिकाके द्वारा बाहर निकलनेवाली अन्तःकरणकी वृत्तिसे उपहित चैतन्य किंवा प्रज्ञानसे भले बुरे गन्धोंको सूंघता है। समस्त शब्द वागिन्द्रियसे ढके हुए उसी चैतन्य किंवा प्रज्ञान से बोले जाते हैं। स्वादु या अस्वादु रस रसनाके द्वारा बाहर निकलने वाली अन्तःकरणकी वृत्तिको अपनी उपाधि बनालेनेवाले चैतन्यसे पहचाने जाते हैं। इतना ही नहीं मनन करनेवालोंको और भी जिन इन्द्रियों तथा अन्तःकरणकी वृत्तियोंसे जिस चैतन्य किंवा जिस प्रज्ञानकी सूचना जब-तब मिलती रहती है उसीको हम 'प्रज्ञान' कहरहे हैं। यह ऊपर कहा हुआ प्रज्ञान ब्रह्मा इन्द्र देवता मनुष्य तथा पशु पक्षियों तकमें व्याप्त है। सब इसीके सहारेसे टिक रहे हैं और अपना अपना काम कररहे हैं। वेदादि सब इसी प्रज्ञानसूर्यकी बिखरी हुई किरणें हैं। इसी के सहारेसे जगत्के जन्मस्थिति प्रलय होरहे हैं। इस कारण कहना पड़ता है कि सर्वान्तर्वासी यह 'प्रज्ञान' ही ब्रह्मतत्व है। क्योंकि सर्वत्र व्याप्त यह 'प्रज्ञान' ही ब्रह्म है, इसीसे मैं मुमुक्षु अब यह बात निःसंशय कह सकता हूं कि मुझमें भी जो 'प्रज्ञान' प्रतीत होरहा है वह भी ब्रह्मतत्व है। आजसे मैं इस महामहिम 'प्रज्ञान' पर झूठा अहंकार (क्षुद्र अहंकार)

करना छोड़ देता हूं। यदि मैं इतना जानचुकनेपर भी इस सर्वत्रव्याप्त 'प्रज्ञान' पर क्षुद्र अहंकार करूंगा तो मैं ब्रह्मद्रोही होजाऊंगा। तब मुझे व्यापक ब्रह्मको क्षुद्र अहम्‌में परिच्छिन्न करनेका घोर पातक लगेगा।

अहं ब्रह्मास्मि

वह परात्मतत्व सिद्धान्तरूपसे तो सब देहोंमें परिपूर्ण है और सबकी बुद्धियोंका साक्षी भी है। सब प्राणी अपनेको सबसे बड़ा और सबसे अधिक गुणी मानकर 'अहं ब्रह्मास्मि' की रटन अज्ञानपूर्वक करते रहते हैं। परन्तु इतने मात्रसे उनका कुछ उपकार नहीं होता। इस सिद्धान्तसे लाभ उठानेकी एक प्रक्रिया है। जब किसी साधकको इस सिद्धान्तका भी ध्यान हो और साथ ही उसे यह स्फूर्ति [प्रतीति] भी हो कि वह सर्वत्र परिपूर्ण परात्मतत्व ही मेरी बुद्धिका साक्षी है, तब हम उस स्फूर्तियुक्त आत्माके विषयमें ही 'अहम्' [मैं] शब्द कह रहे हैं। जब कोई साधक बार बार अपने ऊपर आगिरती हुई और अपने स्वरूप को ढकलेनेवाली अविद्याकी चादरको बार बार उतारकर फेंकने लगता है, जब कोई साधक मांसके झोंपड़ेमेंसे बार बार बाहर निकलकर बैठने लगता है, तब हम उस साधककी ओरसे अहम् ['मैं'] कहना चाहते हैं। देश काल या वस्तुके परिच्छेदमें न आनेवाली स्वभावसे परिपूर्ण वस्तु 'ब्रह्म' है। इस 'मैं' को और उस 'ब्रह्म' को परस्पर एक बतादेना 'अस्मि' इस तीसरे पदका काम है। जिसका भाव यही हुआ कि मैं (साधक) ब्रह्मतत्व हूं अथवा मैं साधक ही ब्रह्म हूं, ब्रह्म मुझसे पृथक् कोई वस्तु नहीं है। जो मैं अविद्याके प्रतापसे अपने आपको आजतक संसारी आदि मान बैठा था वह कुछ मैं नहीं हूँ। मैं देहेन्द्रियादिकी क्षुद्र और संकीर्ण दृष्टिमें उलझा रहजानेवाला, देहेन्द्रियादिके साथ जल मरनेवाला क्षुद्र प्राणी नहीं हूँ। जो मैं ब्रह्मतत्वको अविद्याके प्रतापसे अपनेसे पृथक् कहीं दूरदेशमें रहनेवाला तत्व मान बैठा था वह मेरा भ्रम था। आज मैंने जाना कि वह ब्रह्मतत्व मुझसे पृथक् पदार्थ नहीं है।

तत्त्वमसि

जो अभी तक शरीरोंके वेष्टनोंसे लिपटा पड़ा था, जो अभी तक शरीरोंके साथ वृथा ही बार बार मर और जी रहा था, अब जिसमें श्रवणादिका अनुष्ठान करके महावाक्यको समझनेकी योग्यता आगयी है, जो अब तीनों देहोंसे अलग रहनेलगा है, जो अब तीनों देहोंके साक्षी की स्थितिमें आगया है, उसीको हम लक्षणावृत्तिसे 'त्वं' अर्थात 'तू' कहरहे हैं। सृष्टि बननेसे पहले सम्पूर्ण भेदोंसे रहित जो एक नामरूप रहित वस्तु थी, जो सृष्टि बनजानेके पश्चात् अब भी वैसीकी वैसी है, जिस सद्वस्तुमें अब भी कोई विकार नहीं आया है, हम उसी निर्विकार सद्वस्तुको लक्षणावृत्तिसे 'तत्' अर्थात् 'वह' कहरहे हैं। असि (है) यह पद इन दोनों शब्दोंके लक्ष्यार्थोंकी छिपी हुई गुप्त एकताका ग्रहण करारहा है। परन्तु कितना ही प्रयत्न करो इस लक्ष्यार्थ तक केवल अधिकारी लोगोंको उदार दृष्टि पहुंचती है। अनधिकारीलोग इस महावार्ताको हंसीमें टाल देते हैं और परमपदके साथ खिलवाड़ करबैठते हैं। परन्तु मुमुक्षु लोगोंका कर्तव्य है कि वे 'तत्' 'त्वं' पदोंकी प्रमाणपुष्ट एकताका दिव्यानुभव लें, और वैसा अनुभव करके अनादिकालकी इस वृथा खटपटसे बचें। वे अपने आपसे प्रश्न करें और इसका उत्तर जानें कि क्या हम अनादिकालसे इसी भवजालमें उलझे रहनेको यहां उतरे हैं? क्या इस संसारकी निष्प्रयोजन उखाड़पछाड़ ही हमारे इस जीवनका चरमलक्ष्य है? या हमारा अपना कोई ऐसा स्थायीरूप है जिसके आधारसे हमको हमारी सदाभिलषित शान्तिके सुखददर्शन मिलसकते हैं। इसी गम्भीर प्रश्नका उत्तर *तत्त्वमसि* [तुम वह हो, तुम्हें इस खटपटकी कुछ आवश्यकता नहीं है] यह महावाक्य देरहा है।

अयमात्मा ब्रह्म

आत्मतत्व स्वयंप्रकाश होनेके कारण यद्यपि सबको प्रत्यक्ष है और होना चाहिये। परन्तु इस मायामोहित प्राणीने इस स्वयंप्रकाशतत्व

की ऐसी अपेक्षा की है जैसी कदाचित् शत्रुओंकी भी कोई न करता हो। जब कोटिजन्मोंके पुण्योंके परिपाकसे किसी साधककी सूक्ष्म दृष्टि उस तत्व तक जा पहुँचती है तब सूक्ष्म दृष्टिसे पकड़लिये हुए उसी तत्वको हम अयम् [यह] कहरहे हैं—इसका अर्थ यह हुआ कि यह तत्व न तो कभी किसीसे छिपता है और न कभी किसीका दृश्य होता है। अहंकार, प्राण, मन, इन्द्रिय तथा देहोंका अधिष्ठान, सबका साक्षी, सबसे प्रत्यक्, सबसे आन्तर, तत्वको हम आत्मा कहते हैं। यह जो हमें आकाशादि संसार दीख रहा है यह सब क्षणभंगुर है। जब यह क्षणभंगुर संसार अपने स्वभावके अनुसार शेष न रहेगा, तब जो तत्व शेष बचेगा उस तत्वको हम 'ब्रह्म' कहते हैं। वह ब्रह्मतत्व साधककी समझमें आयाहुआ, ऊपर कहा हुआ, स्वयंप्रकाश आत्मा है। इस स्वयं प्रकाश आत्मासे भिन्न कोई ब्रह्मनामका पदार्थ होता होगा यह विचार प्रमाणानुमोदित नहीं है। इस आत्मासे भिन्न किसीको ब्रह्म समझना भूल है।

चित्रदीपका संक्षेप ६

जैसे चित्रोंवाले वस्त्रकी चार अवस्था हैं—धुला हुआ, मांडी लगाया हुआ, चिह्न किया हुआ और रंगभरा हुआ, इसीप्रकार परमात्मा में (१) चेतन (२) अन्तर्यामी (३) सूत्रात्मा तथा (४) विराट् चार अवस्था हैं। स्वयं तो वह चेतन है, मायाका ध्यान करें तो वह 'अन्तर्यामी' है, सूक्ष्म सृष्टिको देखें तो वह 'सूत्रात्मा' है, स्थूल सृष्टिपर दृष्टि डालें तो उसे 'विराट्' कहना होगा।

चैतन्यमें अध्यस्त देव मनुष्य पशु आदिके शरीरोंमें पड़े हुए जीवनामके चिदाभास ही संसारभ्रमण कररहे हैं। चेतनतत्व व्यापक है, पर है, अखण्ड है। चेतनात्मा संसारभ्रमण नहीं कररहा है। जीव

ही संसारभ्रमण कररहा है। जीवके संसारको चेतनका संसार समझ लियागया है। जो जीवके संसारको चेतनका संसार समझरहे हैं वे भूलते हैं।

चिदाभासके विषयमें ज्ञातव्य बात यह है कि चिदाभास देहोंमें ही पड़ता है, मिट्टी पत्थर आदिमें चिदाभास नहीं पड़ता। जीवभाव अविद्याके कारण उत्पन्न होता है। दीखनेवाला संसार परमार्थ है। यह संसार जैसा दीख रहा है वैसा ही सत्य है। सब आत्माराधनमें लगरहे हैं। सब जो कुछ कररहे हैं वही ठीक है यह एक भ्रम है। यह भ्रम ही 'अविद्या' है—यह संसार जीवका है आत्मतत्वका संसरण नहीं होरहा, ऐसा ज्ञान 'विद्या' कहाती है। यह विद्या विचार करतेरहनेसे प्राप्त होती है। विद्याको पानेके लिए मनुष्यको जगत्, जीव और परात्माका विचार सदा करना चाहिये। जब जीवभाव और जगत्भाव हटजाता है, तब आत्मा ही आत्मा शेष रहजाता है। उस समय कैवल्य आधमकता है। ज्यों ही आत्मतत्व केवल रूपमें आविराजता है त्यों ही विचार स्वयं छूट जाता है।

आत्मतत्वको केवल रूपमें लानेकेलिये विचारकी सहायताकी आवश्यकता है। आइये उसकेलिये आत्मतत्वपर थोड़ासा विचार करें। चेतनतत्वको समझानेकेलिये 'कूटस्थ' और 'जीव' तथा 'ब्रह्म' और 'ईश्वर' यों दो दो जोड़ोंमें चार प्रकारका चेतन कल्पित करलिया है। जीव और ईश्वर दोनों कल्पित हैं। कूटस्थ तथा ब्रह्म ये दोनों अकल्पित पदार्थ हैं। कूटस्थ और ब्रह्म दोनों जीवेश्वरोंके कारण भिन्न प्रतीत होते हैं। वस्तुतः ये दोनों एक हैं। दोनों देहोंमें रहनेवाली चेतनामें कभी कोई विकार नहीं आता। उतनी चेतना 'कूटस्थ' चेतना कहाती है। उस कूटस्थचेतनामें पहले बुद्धिकी कल्पना हुई, फिर उसमें चेतनाका प्रतिबिम्ब पड़ा; फिर उसमें प्राणशक्ति उत्पन्न हुई। बस यही 'जीव' है। यही संसारमें फंसनेवाली वस्तु है। इसने अपने स्वरूपविस्तारसे भीतरवाले

कूटस्थ चेतनको पूरा पूरा ढकडाला है। अब यह इस तत्वको पृथक् रूपसें कभी नहीं जानपाता। इसका यह न जानना, आजका रोग नहीं है। यह रोग इसे अनादिकालसे है। यही 'मूलाज्ञान' है। यह अज्ञान दो रूपोंमें काम करता है—एक तो यह स्वरूपको ढकता है, दूसरे यह स्वरूपको किसी विकृतरूपमें (शरीर आदिके रूपमें) दिखाता है। यही 'आवरण' और 'विक्षेप' है। आवरणसे अपने रूपकी प्रतीति रुकती है—अपना आपा दूसरे पदार्थोंमें रिलमिल जाता है। ये दोनों बातें तत्वज्ञान होते ही नष्ट होजाती हैं। परन्तु विक्षेपके नष्ट होनेमें, तत्वज्ञान के अनन्तर भी कुछ समयलगता है। क्योंकि विक्षेपकी उत्पत्ति कर्मोंसे और अज्ञानसे, दोसे मिलकर होती है। विक्षेप तो कर्मोंका प्रभाव जितने दिनों तक रहना चाहिये, उतने दिन रहकर ही नष्ट होता है। यही कारण है कि ज्ञान होजानेपर भी ज्ञानीका प्रारब्धकर्म नष्ट नहीं होता।

आत्माके विषयमें लोगोंको बहुतसे भ्रम हैं कोई इसको कुछ मानता है और कोई कुछ। इसके परिमाण और स्वरूपके विषयमें भी बहुतसे विवाद हैं। सारे विचारोंमें सार यह है कि मायी महेश्वर है और माया उसका एक साधन है। उस मायाके अधिपतिके (कल्पित) अवयवोंने इस सब जगत्को व्याप्त कररक्खा है। यदि उसकी इस माया पर कुछ विचार न कियाजाय तो यह सच्ची प्रतीत होती है, विचार करें तो वह अनिर्वचनीय सिद्ध होती है, श्रुतिका कहना मानें तो यह तुच्छ जानपड़ती है। क्योंकि यह मायाशक्ति चेतनके बिना प्रतीत नहीं होती, इससे यह स्वतन्त्र नहीं है, तथा क्योंकि यह असंगको ससंग बना देती है इससे यह स्वतन्त्र भी है। जबतक मायाको समझ नहीं लियाजाता, तबतक ही मनुष्यको आश्चर्य लगता है। जब यह समझमें आजाती है तब माया समझ लेनेसे ही आश्चर्य जाता रहता है। जैसे निद्रानामकी जीवकी मायामें कोई नियम लागू नहीं होसकता—वह जैसी दीखे वैसी ही ठीक होती है इसीप्रकार यह माया जैसी उल्टी-सीधी दीखे' वैसी ही

ठीक है। इसको तर्ककी कसौटीपर कसनेसे इसके स्वरूपको समझनेमें भ्रम होजाना अनिवार्य है। बात यह है कि जो बात श्रद्धाके मार्गसे चलते-चलते ज्ञानका यौवन आनेपर दीखती उन्मार्गमें पड़जानेसे उससे वंचित रह जाना पड़ता है। सम्पूर्ण आक्षेप जगत्को सत्य माननेवालोंपर लागू होसकते हैं। नींदकी भांति मायापर कोई आक्षेप नहीं चलसकता। बुद्धिमत्ता यही चाहती है कि मनुष्य अपने ऊपर पड़नेवाले मायाके प्रभावको हटादे। उसे चाहिये कि वह मायापर आक्षेप न करके उसको हटानेके उपाय सोचे इसीमें उसका आत्मकल्याण है। जिसका निरूपण न हो परन्तु दीखे, यह लौकिकमायाका लक्षण इस 'ऐश्वरीमाया' में भी है। जिस मायारूपी कारणमें अचिन्त्यरचना करनेकी शक्ति है, उस मायानामके बीजका अनुभव सुषुप्तिमें सबको होता है। यह सारा जगत् बीजमें पेड़की भांति सुषुप्तिमें लीन रहता है। मायामें सारे जगत्की वासनायें भरी रहती हैं। क्योंकि उन वासनाओंमें रहनेवाला चैतन्य स्पष्ट नहीं होता इससे किसीको अपनी वासनाओंका पता नहीं होता कि वे कैसी कैसी हैं। चेतनके आभाससे युक्त वह माया (अज्ञान) जब बुद्धिरूपमें प्रकट होती है तब उसमेंका वह चिदाभास स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। जब अपनी गुप्त वासनाओंकी बुद्धिवृत्तियें बनती हैं तब ज्ञात होता है कि इसमें ऐसी वासना भी भरी पड़ी थीं।

मायाके अधीन चिदाभास ही वेदों (उपनिषदों) का 'महेश्वर' है, वही 'अन्तर्यामी' है, वही 'सर्वज्ञ' है, वही 'जगत्का कारण' है। यह जिस जिस मानस या बाह्य जगत्को बनालेता है, उसे बदलदेनेका सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है, यही इसकी सर्वेश्वरता है। यही कारण है कि जिसपर जो धुन सवार होजाती है वह किसीके समझानेसे नहीं हटती। सम्पूर्ण प्राणियोंकी बुद्धियोंकी वे सब वासनायें जिन्होंने इस सब जगत्को घेर रक्खा है इस सुषुप्तिकालवाले अज्ञानमें ही रहती हैं सारा जगत् इन्हीं सूक्ष्मवासनाओंके अधीन होकर अपने अपने कार्योंमें

लगरहा है। इसीसे उसे 'सर्वज्ञ' कहा है। हमें अपने आत्माकी सर्वज्ञता का ज्ञान न होनेका कारण यह है कि हमें किसीको भी अपनी वासनाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। होता यह रहता है कि जो जो विषय सामने आते जाते हैं उन-उन विषयोंकी वासनायें प्रकट होती जाती हैं। यों एक कालमें न सही किन्तु कालान्तरमें सर्वविषयानुभावी होनेसे उसकी सर्वज्ञता (की कल्पना) सिद्ध होती है। यों एक समयमें उसकी सर्वज्ञता की प्रतीति न होनेसे हमें उसके सर्वज्ञपनका प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिये उसके सर्वज्ञपनेको हमें अनुमानसे ही जानना पड़ता है। क्योंकि यह तत्व विज्ञानमय आदि कोशोंमें तथा अन्यत्र भी भीतर रहकर उन उनका नियमन करता रहता है इसीसे उसे 'अन्तर्यामी' कहाजाता है। जैसे धागा उपादान रूपसे पटमें रहता है, इसीप्रकार यह तत्व सबका उपादान होनेसे सबमें सर्वत्र रहता है, जब धागा हिले तब पट अवश्य हिलता है, इसीप्रकार यह अन्तर्यामी तत्व जिस जिस पदार्थकी वासनासे प्रभावित होजाता है, वह वह कार्य अवश्य होकर रहता है। इस अन्तर्यामी में यदि घटकी वासना जाग उठती है तो संसारमें घट अवश्य बनजाता है। गीतामें इसीभावसे हृदयमें बैठकर सब यन्त्रारूढ भूतोंको घुमानेकी बात कही है। क्योंकि वही ईश्वर तत्व पुरुषार्थका रूप धरकर भी आता है, इस कारण मनुष्यका पुरुषार्थ भी व्यर्थ नहीं होता। अन्तर्यामीकी यह प्रेरणा ही संसारमें एकमात्र पहचाननेकी वस्तु है। इसे पहचानते ही मनुष्यकी ज्ञानचक्षु खुलजाती है। यह प्रेरणा ध्यानमें भले प्रकार आजाय तो आत्मतत्वका असंगपना भी समझमें आजाता है। आत्माकी असंगताके ज्ञानसे मुक्तिके मिलनेकी बात जहां-तहां शास्त्रोंमें कही है। यही ईश्वर प्राणियोंके कर्मोंकी अपेक्षासे कभी तो जगत्‌को उत्पन्न कर देता है और कभी उसे अपने अन्दर छिपा लेता है। जगत्‌के पदार्थोंके सृष्टि और प्रलय ठीक ऐसे हैं जैसे कि हमारे दिन रात, हमारे जागरण और स्वप्न, हमारे उन्मेष और निमेष या हमारे मौन और मनोराज्य हैं। ईश्वर और ब्रह्मतत्व एक नहीं है। परन्तु सर्वसाधारणको इस भेदका

पता नहीं है। वे इन दोनोंको एक समझते हैं। शास्त्रोंका तात्पर्य तो यह है कि ब्रह्मतत्व असंग है। जगत्का सर्जन करनेवाला महेश्वर असंग नहीं है। वह तो मायावी है।

अब दूसरे 'सूत्रात्मा' के विषयमें भी सुनिये—सूत्रात्मा संसारके समस्त सूक्ष्म देहोंमें अहंभाव रखता है। इस सूत्रात्मामें 'इच्छा' 'ज्ञान' तथा 'क्रिया' नामकी तीन शक्तियें रहती हैं। जैसे मन्द अंधेरेमें जगत् अस्पष्ट दीखता है इस 'सूत्रात्मा' में वैसा ही अस्पष्ट संसार दीखता है। जो अवस्था अंकुर फूटनेवाले पौदेकी होती है वही अवस्था इस 'सूत्रात्मा' (हिरण्यगर्भ) की है।

'विराट्' नामकी तीसरी अवस्था तो धूपमें चमकते हुए संसार की-सी होती है। संसारके बड़ेसे बड़े और छोटेसे छोटे जड चेतन सब के सब पदार्थ छोटे या बड़े ईश्वर तत्व हैं। यही कारण है कि जब कोई लोकमें किसीकी विपत्तिको टाल देता है तब वह कहता है कि तुम तो मेरे ईश्वर होकर आये हो। अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्। यह सारा संसार इन छोटे बड़े ईश्वरोंसे खचाखच भरा पड़ा है। यह इन्हीं ईश्वरोंकी पूजा कररहा है तथा इन ईश्वरोंमें जितनी न्यूनाधिक शक्ति है, यह उनसे उतना ही छोटा या बड़ा फल भी पारहा है। यह सब कुछ होनेपर भी ईश्वरोंकी पूजासे मुक्ति नामका महाफल कभी मिलनेवाला नहीं है। मायिक ईश्वरोंसे मायिकफल ही मिलसकता है। मुक्ति तो ब्रह्मतत्वको जानलेनेसे ही मिलती है। जैसे अपने जागे बिना अपना स्वप्न नहीं टूटता इसीप्रकार आत्मज्ञानके बिना यह भवबन्धन नहीं कटता। यह सबका सब जगत् अद्वितीय ब्रह्मतत्वमें एक महास्वप्न है। इस विराट् सुपनेमें कोई 'ईश्वर' है कोई 'जीव' है कोई 'चेतन' है और कोई 'जड' है। 'आनन्दमय' ईश्वर है तथा 'विज्ञानमय' जीव है। ईश्वरतत्व अस्पष्ट है जीवतत्व स्पष्ट है। ये दोनों मायाके बनाये हुए हैं। इनमें जो अगला संसार है उसको इन दोनोंने ही बनाया है। इस

संसारमें मायाके खिलौने 'जीव' और 'ईश्वरों'के विषयमें तो बहुत विवाद होते हैं, परन्तु लोग असंग रहनेवाले अद्वितीय ब्रह्मतत्व को नहीं जानते यह मनुष्यका बड़ा दुर्भाग्य है। इसलिये दुर्भाग्य है कि इस अद्वितीय ब्रह्मतत्वको बिना जाने मुक्ति या लौकिकसुख कुछभी प्राप्त नहीं होता। इसलिये मुमुक्षु सदा ब्रह्मतत्वका विचार किया करे। इसप्रकार करे कि यह ब्रह्मतत्व जैसा सृष्टिसे पहले था, जैसा इस सृष्टिके नष्ट होजानेपर रहेगा, वैसा ही अब भी है और यह मुक्तिमें भी ऐसा ही रहेगा। यह जितना भी कुछ निरोध, उत्पत्ति, बद्धता साधकभाव आदि बखेड़ा होरहा है यह सब इस ब्रह्मसमुद्रके केवल ऊपरके स्तरपर होरहा है। इसके एकान्त अन्तरतम तक इस किसी खटपटकी कोई सूचना नहीं पहुँच पाती। यह तत्व ऊपर सहस्रों घट पानी गिरते रहनेपर भी शान्त बने रहनेवाले शिवलिंगको भांति शान्तभाव से कभी भी न टूटने वाली मौनमुद्रामें बैठा है। परन्तु यह मनुष्यकी बड़ी ही भाग्यहीनता है कि मायाने लोगोंको भरमा रक्खा है। वे समझते हैं कि अद्वैत नामकी वस्तु न तो है और न प्रतीत होती है। ज्ञानीका निश्चय इसके विपरीत है वह आठों पहर अपने मानसनेत्रसे द्वैतलीलाके सूत्रधार अद्वैतको देखता रहता है। इनमेंसे एक तो अपने निश्चयसे बद्ध रहता है दूसरा अपने निश्चयसे मुक्त रहता है। बद्ध प्राणी कौशेयकृमिकी भांति अपने आप बंधा रहता है। जब गधे और खच्चरवालोंके पास उनको बाँधने की बेड़ नहीं होती, तब वे उनके पैरोंको बाँधदेनेका नाटक करके उनके पैरोंको चारों ओरसे स्पर्श करदेते हैं। गधे और खच्चर समझते हैं कि हम बांध दिये गये। वे रातभर अपने उस संकल्पसे बंधे खड़े रहते हैं जो उनके पैर छूनेसे प्रारम्भ होचुका है। इसीप्रकार यह प्राणी अपने संकल्पोंसे अनादिकालसे वृथा बंधा पड़ा है। जैसे लकड़ीमें छेद कर देनेवाले भौंरेसे कमलका कोमल फूल तक नहीं कटता, इसीप्रकार प्राणी का यह अपने संकल्पोंका बन्धन बड़ा दुर्भेद्य है। यह अब इससे नहीं टूटपाता। मनुष्यको यह जानना चाहिये कि उसे इस जागतिक संकल्प

को धारण किये हुए अनन्त सृष्टि बीत चुकी हैं। इसकी बद्धपनकी कल्पना दृढमूल होगयी है। यह समझने लगा है कि मैं बद्धप्राणी हूँ। मुझे जन्म-मरण स्वभावसे मिलना है, मुझे कर्मोंका फल भोगना है, मेरा गर्भवास टलना नहीं है। मेरा जन्ममरणके चक्रसे छुटकारा कभी नहीं होना है, इसीप्रकारके निर्मूल विचार बन्धन बनजाते हैं और बन्धन बनगये हैं। बद्धताकी प्रतीतिके अतिरिक्त और कुछ बन्धन नहीं है। जैसे कौशेयकृमि अपने आपको बाँधकर मौतको नौता देलेता है, जैसे वह अपने हाथसे अपनी समाद (क़बर) बनालेता है, इसीप्रकार यह प्राणी अपनेको बद्ध मानकर, स्वयं स्वीकृतापराधी होकर अपने आप अपने संकल्पसे बद्ध हुआ फिररहा है और जन्म-जरा-मरण आदिकी चौपाल बनरहा है। जब तक मनुष्यको अद्वैत तत्वका प्रत्यक्ष नहीं होगा, तब तक उसका बद्धपन भी नष्ट नहीं होगा। यदि अद्वैतके प्रत्यक्ष होनेकी बात समझ न पड़ती हो तो यों विचार करो कि ज्ञानरूपसे वह अद्वैत तत्व सबको प्रत्यक्ष है। इस ज्ञानतत्वने द्युलोक, पृथ्वीलोक तथा पाताल लोक सबको अपने पेटमें रख छोड़ा है। कोई देश और काल ऐसा नहीं है जो इस ज्ञानसमुद्रमें डूबा न पड़ा हो। यों स्थालीपुलाकन्यायसे थोड़े अद्वैतको समझकर परिपूर्ण अद्वैतको समझलेना चाहिये। कार्य और कारणके एक होनेकी युक्तिसे तथा तज्जलान् (उसीसे उत्पत्ति उसीमें जीवन तथा उसीमें प्रलय) इस न्यायसे अद्वैततत्वका विचार करते रहना चाहिए और जब जब मायामय द्वैत आये तब तब विचारसे उसे हटाते रहना चाहिये। जैसे फल पककर डण्ठलको छोड़ देता है इसीप्रकार जब साक्षात्कारमें पूर्णता आती है तब यह विचार स्वयमेव छूट जाता है। इस तत्वका ज्ञान होनेपर भी यदि भूख प्याससे इस तत्व को चोट लगती प्रतीत हो, यदि तब यह तत्व भागजानेको या ओझल होजानेको तत्पर होता हो, तो भूख प्यास जिस अहंकारको लगती है उसीमें रहने देना चाहिये। दूसरेके धर्मोंको अपनेमें आरोपित नहीं

करना चाहिये। ये भूख प्यास शरीरके साथ तादात्म्य करलेनेसे ही आत्माको लगती हैं। विचारशील मनुष्यको अध्यासको हटातेरहना चाहिये और सदा विवेककी आवृत्तियें करनी चाहियें। क्योंकि अध्यास रूपी शत्रुके आक्रमणोंको विवेककी ढालसे ही रोका जासकता है। यदि तुम चिदात्माको अलग रखसको और अहंकारको पृथक् जानसको तो अब आप स्वच्छन्दतापूर्वक करोड़ों पदार्थोंकी इच्छा करो, ग्रन्थिभेद होचुकनेसे अब आपको कोई बाधा न होगी। ग्रन्थिभेद होचुकनेपर भी प्रारब्धके दोषसे इच्छायें होसकती हैं। इच्छाओंसे घबरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह जानना चाहिये कि देहमें व्याधि हों, अहंकार में इच्छा हों तो इससे चेतन आत्माका क्या बिगड़ता है? यदि यह बात समझमें आती हो कि आत्मतत्वका बिगाड़ तो ग्रन्थिभेदसे पहले भी नहीं होता था तो इसी समझको 'ग्रन्थिभेद' होना कहते हैं। परन्तु अज्ञानीपुरुष इस बातको नहीं समझते, यही उनके हृदयमें लगी हुई एक 'ग्रन्थि' है। अज्ञानी और ज्ञानीमें इस 'ग्रन्थि' के होने और न होनेका ही भेद है। वैसे देखनेमें–व्यवहारमें–दोनों एकसे होते हैं। ग्रन्थिके टूटनेकी पहचान गीतामें यों कही है कि ग्रन्थिभेद होचुकनेवाला आये हुए दुःखोंसे द्वेष नहीं करता तथा जानेवाले सुखोंसे 'और ठहरो' नहीं कहता। किन्तु उदासीनकी भांति काम करता है। अर्थात् भीतरसे त्याग और बाहरसे संग रखकर अपनी जीवनयात्राके कामोंमें लगा रहता है। जो लोग काम करना छोड़देनेको ही ज्ञानका फल मानते हैं वे भूल करते हैं। उनकी समझमें आया हुआ ज्ञान तो शरीर आदिको निकम्मा करदेनेवाला एक प्रकारका रोग है। व्यवहार छोड़नेकी वस्तु नहीं है, छोड़नेकी वस्तु तो संग है। जिसे सच्चे आत्मसुखकी इच्छा हो वह संगका परित्याग करे। व्यवहारसे किसीका कुछ नहीं बिगड़ता। किन्तु संगसे बिगाड़ होता है। यदि लोकमें किसीसे मनुष्यहत्या होजाय और उसमें उसकी सक्ति न हो तो वह उस पापका अपराधी नहीं मानाजाता।

ध्यान रहे कि व्यवहार बन्द होनेका कारण ज्ञान नहीं है। व्यवहारके चलने और बन्द होनेकी बातको समझनेके लिये 'वैराग्य' 'ज्ञान' तथा 'उपरम' को भले प्रकार समझना चाहिये। भोगोंमें दोषदर्शनसे वैराग्य उत्पन्न होता है, भोगोंको त्यागदेनेकी इच्छा, वैराग्यका स्वरूप है, भोगों में दीनभाव न रहना वैराग्यका कार्य है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, सत्य और असत्यकी पहचान होजाना तत्वज्ञानका स्वरूप है, ग्रन्थिका फिर न लगना तत्वज्ञानका कार्य है। यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति) आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि करते रहनेसे उपरम पैदा होता है, बुद्धिका रुककर खड़ा होजाना उपरमका स्वरूप है, व्यवहारका घट जाना या बन्द होजाना यह उपरमका कार्य है। जो लोग तत्वज्ञान होते ही शीघ्रता में आकर बाह्य व्यवहारको बन्द करदेनेपर तुलजाते हैं, उनके मनोव्यापार ज्योंके त्यों बने रहते हैं। यों हठपूर्वक व्यवहारको त्यागनेवाले की अवनति होती है। उसकी अतृप्त वासनायें कभी भी जागकर उपद्रव खड़ा करदेती हैं। होना यह चाहिये कि तत्त्वज्ञान होनेपर जब हमारा मानससंसार (या जीवका द्वैत) मरजाय या मार दिया जाय तब हम ईश्वरके संसारको (ईश्वरके द्वैतको) ध्यानमें रखकर व्यवहार करने लगें। अर्थात् अबतक जो हमारे कर्म संसारमें आसक्तिपूर्वक होरहे थे, वे अब ईश्वरके संसारमें अनासक्तिपूर्वक होने लगें। यमादिका अभ्यास करनेसे हमारा मानस जगत् छिपने लगेगा, तथा ईश्वरका संसार हमारी आंखोंके सामने आने लगेगा। यों दैवी सम्पत्तिका विकास होगा और जब वह हमको पूर्णतत्त्वमें जाकर छोड़ देगा, तब अपने आप स्वाभाविक रीतिसे व्यवहार क्षीण होगा। सच्चा व्यवहारक्षय उपरतिके अभ्याससे होगा। यदि व्यवहारक्षय करनेमें आसक्ति होगी तो वह भी व्यवहारकी भांति ही बन्धक होगी। व्यवहारका क्षय उपरमसे होता है ज्ञानसे व्यवहारका क्षय कदापि नहीं होता। वैराग्य और उपरम पूर्ण हों बोध

रुका हो तो मोक्ष नहीं मिलेगा। बोधमें पूर्णता हो फिर चाहे वैराग्य और उपरम पूर्ण न भी हों (अधूरे हों) तो भी मोक्ष अवश्य मिलेगा। परन्तु जीवन्मुक्तिका देवदुर्लभ आनन्द नहीं मिलेगा। ब्रह्मलोक तकको तृणतुल्य समझना वैराग्यकी अन्तिम सीमा है। देहात्माकी भांति परतत्व को आत्मा समझलेना बोधकी अन्तिम दशा है। सुप्तिकी भांति संसारको जागरणमें भी भूलजाना उपरमकी सीमा है। मायाने हमारे आत्म-चैतन्यमें जो यह जगत् रूपी चित्र बनाकर प्रस्तुत करदिया है जब हम ज्ञानकी महिमासे इसकी ओर ध्यान न देकर अपने आत्मचैतन्यको फिर शेष रखलेंगे तब हमें इस जगच्चित्रको देखकर भी मोह नहीं होगा और अद्वैतलीला दीखनी प्रारम्भ होजायगी।

तृप्तिदीपका संक्षेप ७

जितने भी झगड़े कष्ट और विपत्ति हैं सब अपने आपको न समझनेकी हैं। पुरुष यदि अपने आपेको पहचानजाय कि यह तत्व मैं हूं (मेरा स्वरूप यह है) तो फिर न तो इच्छा करनेकी कोई वस्तु रह जाती है और न कोई इच्छा करनेवाला तत्व शेष रहता है। तत्वज्ञानी देखता है कि यह सारा संसार मेरे ही आत्माके स्वरूपमाहात्म्यसे इस रूपमें प्रकट हुआ है। वह इस संसारको आत्मजरूपमें पहचानकर इसकी ओरसे निःस्पृह होजाता है। जैसे पिताको कन्याभोगकी इच्छा कभी नहीं होती इसीप्रकार ज्ञानीको संसारभोगेच्छा कभी नहीं होती। आत्मज्ञानी को शरीरके सुखदुःख होते रहनेपर भी उन सुखदुःखोंके साथ साथ सुखी या दुःखी होना नहीं पड़ता। इस 'तृप्तिदीप' नामक प्रकरणमें जीवन्मुक्त महाशयोंमें रहनेवाली तृप्तिको बतानेकेलिये इसी बातका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

इसे समझनेकेलिये आप सबसे प्रथम जीवके दो भागोंपर विचार कीजिये—जीवके दो भाग हैं। एक इस जीवका भ्रमभाग है

दूसरा इस जीवका अधिष्ठानभाग है। जब भ्रमभागकी प्रधानता होती है और अधिष्ठानभाग दबा हुआसा रहता है तब यह 'जीव' अपनेको 'संसारी' माना करता है। परन्तु जब भ्रमभागको मिथ्या समझकर उसका अनादर करदिया जाता है, जब भ्रमको भुलादिया जाता है और अधिष्ठानभाग प्रधान बनजाता है तब यह जीव 'मैं चिदात्मा हूं मैं असंग हूं' ऐसा जानने और कहने लगता है। जैसे कल्पित सर्पभ्रम स्थलसे सर्पका नष्ट होजाना सत्य नहीं होता, इसीप्रकार यद्यपि जीवोंको होनेवाला 'मैं असंग हूं' इत्यादि ज्ञान सत्य नहीं होता परन्तु जैसे कांटों से कांटोंको निकाल देते हैं इसीप्रकार इन असत्य ज्ञानोंसे भी असत्य संसारका नाश होजाता है।

जब हम किसी बड़े जनसमुदायमें घुसते हैं तब अपने खोजाने के डरसे अपने शरीरपर कोई चिह्न नहीं करते। क्योंकि हमको इन शरीरोंके आत्मा होनेका न तो सन्देह होता है, और न हमें इस विषयमें कभी विपर्यय होता है। जब किसीको आत्मतत्वके विषयमें इतना ही पक्का ज्ञान होजाय, जब कोई व्यापक जगदात्माको अपना आपा समझने लगे, जब कोई देहात्मज्ञानकी पूरी बाधा करडाले तब ऐसे पुरुषकी मुक्ति उसके न चाहनेपर भी होती है।

यों तो यह आत्मतत्व सबको सदा प्रत्यक्ष रहता है, परन्तु नित्य प्रत्यक्ष रहनेवाले भी इस आत्मतत्वमें 'परोक्षता' और 'अपरोक्षता' तथा 'ज्ञान' और 'अज्ञान' दोनों विरोधी बातें इसप्रकार रहती हैं जिसप्रकार दसवेंमें रहती हैं-कोई दस मनुष्य नदीको पार करके अपनेको गिननेलगे। गिननेवाला अपनेको छोड़कर शेष नौको गिनलेता था, और रोता था कि हाय! दसवाँ नदीमें डूबगया। इस उदाहरणमें दसवेंको अपना 'ज्ञान' और 'अज्ञान' दोनों हैं। उसे दसवेंका 'प्रत्यक्ष' और 'अप्रत्यक्ष' दोनों हैं। अब कोई भलामानस सबको गिनकर उसही को दसवां बता देता है, तब उसे दसवेंका पूर्णप्रत्यक्ष होजाता है। फिर उसे दसवेंका अप्रत्यक्ष या अज्ञान

कभी नहीं होता। इसीप्रकार आत्मतत्वकी बात है। यह आत्मतत्व संसार की स्वभिन्न सब वस्तुओंको तो जानता है, परन्तु संसारके पदार्थोंमें आसक्त होकर, संसारके सब पदार्थोंको जाननेवाला जो उसका अपना आपा है, उसके विषयमें उसे कुछ ज्ञान नहीं रहता। जब यह अनुभवी लोगोंके मुख और उद्दिधीर्षु हृदयसे मार्मिक आत्मकथा सुनता और उसपर बार-बार विचार करता है, तब उसे आत्माका—सर्वव्यापी चेतनाका—जो वास्तव कूटस्थ रूप है, उसका प्रत्यक्ष होता है। आत्माके न होनेके भ्रान्त विचार तो अनुभवी लोगोंके समझानेसे ही सदाकेलिए नष्ट होजाते हैं, परन्तु आत्माके प्रतीत न होनेके भ्रान्त विचार तुरन्त नहीं मिटते वे तो तब मिटते हैं जब उसे समाधिभावना (तीव्र लगन) से आत्माका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जब यह पिछली अवस्था आती है तब ही मनुष्यका जीवभाव नष्ट होता है और सब शोक छिपजाते हैं। अपने नित्यमुक्त-पनेकी नष्ट स्मृति दुबारा जागउठती है। इसी अवस्थाको ध्यानमें रखकर कहा है कि "आत्माको यदि जानजाय कि यह तत्व मैं हूं"। यों तो आत्मा स्वयंप्रकाश तत्व है, परन्तु आत्माके स्वयंप्रकाश होनेसे साधकका कोई उपकार नहीं होता। जब साधककी बुद्धि आत्माके इस स्वयंप्रकाश-पनेको प्रत्यक्ष अनुभव करलेती है तब ही उससे उसे लाभ होता है। इस श्लोकमें उस अवस्थाकी ओरको संकेत इन शब्दोंमें किया है कि 'यह मैं हूं।' जब 'तू ही दसवां है' इस वाक्यपर विचार कियाजाता है, तब जैसे खोया हुआ दसवां उस भ्रमिष्ठके सामने आखड़ा होता है इसीप्रकार जब 'आत्मा ब्रह्म है' इस वाक्यपर विचार कियाजाता है तब आत्मा और ब्रह्मके एक होनेकी बात विचारनेवालेकी आँखोंके सामने आखड़ी होती है। जब दसवां कौनसा है? इस प्रश्नके उत्तरमें दसवां तू ही है, यह कहाजाता है और जब अपने आपको शेष नौके साथ गिनाजाता है, तब अपने आपके दसवेंपनकी स्मृति जाग उठती है। अब उसे सहस्र बार नदीमेंको निकाललिया जाय और गिनवाया जाय अब वह दसवेंको कभी नहीं भूलता, क्योंकि उसे दसवेंका अनुभवपूर्ण

ज्ञान होचुका। इसीप्रकार जब विचारके द्वारा आत्माके व्यापक होनेका ज्ञान अनुभवका रूप धारण करलेता है—या यों कहिये कि जब इस ज्ञानका विज्ञान बनजाता है, तब शरीरोंके किसीभी व्यवहारमें लगे रहनेपर भी अपनी व्यापकता भूलजानेवाली बात नहीं रहती। अवस्था अभ्याससे पकते-पकते जब पूर्ण यौवनपर आती है तब ब्रह्माभ्यासी पुरुष अपनेको सर्वत्र परिपूर्ण ज्ञान और सर्वव्यापी आनन्दरूपमें पाकर स्वभावतृप्त रहने लगता है।

आत्मा दो प्रकारका है एक अन्तःकरणयुक्त दूसरा अन्तःकरण-रहित। क्योंकि हमारा जीव अन्तःकरणसे युक्त है इसकारण हमें केवल उतने भागके प्रत्यक्ष होनेकी बात समझमें आती है, परन्तु अन्तःकरण-रहित चेतनके प्रत्यक्ष होनेकी बात सहसा समझमें नहीं आती। हमें कभी अन्तःकरणसे रहित सर्वव्यापी महाचेतनाका प्रत्यक्ष होसकेगा, यह बात जिनकी समझमें न आती हो वे इसपर यों विचार करें—दो गुरु शिष्योंमेंसे गुरुके कानमें कुण्डल हों तथा शिष्यके कानमें कुण्डल न हों। अब हमें उन दोनोंका पृथक् पृथक् परिचय देनेमें एक (गुरु) का चिह्न कुण्डलका होना बताना पड़ेगा तथा दूसरे (शिष्य) का चिह्न कुण्डल न होना बताना पड़ेगा कि जिसके कानमें कुण्डल नहीं है वह शिष्य है। यों जैसे किसी वस्तुका 'होना' लक्षण होसकता है वैसे किसी वस्तु का 'न होना' भी लक्षण हो सकता है। इसीप्रकार 'अन्तःकरणका होना' जीवभावकी पहचान है तथा 'अन्तःकरणका न होना' (या न रहना) ब्रह्मभावकी पहचान है। यही कारण है कि कभी तो वेदान्त सच्चिदानन्द आदि धर्मोंसे आत्माका प्रतिपादन करते हैं और कभी नेतिनेतिकी निषेध प्रक्रियासे आत्माका वर्णन करने लगते हैं। यदि हमलोग अपने चिदात्मापरसे अपने अन्तःकरणका बन्धन उठा सकें, तो यही हमारी अबकी क्षुद्र चेतना, व्यापक चेतना (किंवा ब्रह्म) के रूपमें, प्रकट हो जाय। हमको इस स्वयंप्रकाश चेतनके दर्शनकेलिए, केवल इतना करना

पड़ेगा कि हम अपनी बुद्धिवृत्तिको क्षुद्रताके पंकमेंसे निकालकर उस (स्वयंप्रकाश चेतन) के आकारका बना डालें। ऐसा करते ही व्यापक चेतनको आवृत कर रखनेवाला अज्ञान, नष्ट होजायगा और स्वयंप्रकाश तत्व अपने आप दीखने लगेगा। परन्तु अनादिकालसे हमारे मनमें बैठे हुए ये विचार कि "हम व्यापक कैसे होसकते हैं ? हम तो कुछ करने और कुछ भोगनेवाले तथा परिमित क्षेत्रमें बद्ध रहनेवाले क्षुद्र प्राणी हैं" हमारे इस व्यापक रूपके दर्शनको दृढ नहीं होने देते। हमें देहाध्यासके कारण इस व्यापक रूपमें या तो संदेह बना रहजाता है या अपना यह व्यापकरूप भूलकर फिर फिर वही संकीर्णताकी भावना जाग उठती है। परन्तु निराश होनेकी कोई बात नहीं है। जब हम सर्वात्मना तत्पर होंगे, तब व्यापक रूपके दर्शनमें सफल न होनेका कोई कारण न रहेगा। इसप्रकारके आत्मदर्शनमें विघ्न डालनेवाली असंभावना और विपरीत भावना होती है। उनको हटानेका यही एकमात्र उपाय है कि आत्मतत्वमें बुद्धिकी एकाग्रताके प्रयत्नको निरन्तर चालू रखाजाय। यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो अनादिकालकी वासनाएं इस विचाररूपी नन्हें बालकको पनपने न देंगी। एक बात विशेष ध्यान रखनी चाहिये कि यदि हम इस तत्वको कुछ कालकेलिए भूल भी जायेंगे तो भी कोई अनर्थ न होगा। अनर्थ तो तब होगा जब हम इस तत्वको पहलेकी भांति फिर संकीर्ण समझने लगेंगे। जब कि यह तत्व तत्परतासे बार बार स्मृतिमें लाया जारहा है तब इसप्रकारकी विपरीतवृत्तिके जागउठनेका कोई अवसर नहीं रहता। जब आन्तरदर्शनपर मनुष्यका विश्वास या आस्था बढ़ती है और बाह्यदर्शनपरसे विश्वास उठचुकता है तब यद्यपि जितने दिनों तककेलिए यह शरीर रचागया है, उतने दिनोंतक बाह्यप्रवृत्ति रहती हैं, परन्तु दृष्टिकोण बदलजानेसे अब जीवनयात्रा क्लेशरहित होने लगती है। अब उसे शरीरके सुखदु:खोंके अनुसार सुखीदु:खी नहीं होना पड़ता। जगत्की असारताको समझ चुकते ही इच्छा करनेवालेकी और अभिलाषा करने योग्य पदार्थकी विचारहीन भावनापर कुठाराघात होजाता है। फिर

जैसे तेलरहित दीपक बुझजाता है उसी प्रकार संसारताप संसारासक्ति रूपी तैल न रहनेसे स्वयं शान्त होजाता है। अब तो मनुष्य इन्द्रजालके काल्पनिक पदार्थोंकी नाईं इस संसारके प्रियसे प्रिय समझेजानेवाले पदार्थोंको भी हंसते हुए छोड़ सकता है। इसप्रकारका तत्वदर्शन होचुकने पर भी जब तक इस शरीरके जीवनका काल शेष रहता है तब तक ज्ञानी मनुष्य इच्छा अनिच्छा और परेच्छा प्रारब्धोंसे प्रभावित होकर लौकिक भोगोंमें प्रवृत्त होते रहते हैं। इसप्रकारकी प्रारब्धप्रवृत्तिकी रोकथाम करना अत्यन्त असंभव है। युधिष्ठिर और राम जैसे तत्वदर्शी लोग भी इस प्रकारके व्यवहारको रोक नहीं सके थे। आत्मदर्शीकी तथा दूसरोंकी इच्छाओंमें यही भेद होता है कि आत्मदर्शीकी इच्छासे आगेको व्यसन की उत्पत्ति नहीं होती। उसे विषयोंका भोग तो प्राप्त होजाता है परन्तु वह भोगोंका व्यसनी (दास) नहीं बनता। संसारी लोग भोग भी भोगते हैं और आगेको उन भोगोंके दास भी बनजाते हैं। भोग देकर चरितार्थ हुआ प्रारब्ध कर्म ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंका नष्ट होजाता है परन्तु अज्ञानी लोगोंकी भोगोंके सच्चे होनेकी भ्रान्तधारणासे उन्हें आगेको भी भोगोंका व्यसन लगजाता है। वह व्यसन ज्ञानीको नहीं लगता। जब कि यह सारा ही जगत् उसका आत्मा बनचुकता है तब व्यसनसे प्रभावित होनेका कोई अवसर नहीं रहता। तत्वज्ञानका प्रभाव व्यवहार में ही देखा जासकता है। व्यवहार रुकजानेपर तत्वज्ञानका प्रभाव भी देखनेको नहीं मिल सकता। यही कारण है जिससे निर्विकल्प समाधि को तत्वज्ञानकी अवस्था नहीं माना जाता। निर्विकल्प समाधि उपरतिकी एक अवस्था है। निर्विकल्प समाधि ज्ञानकी अवस्था नहीं है। हां, यह बात तो है कि जगत्की मायामयताका सम्पूर्ण दर्शन तब होता है जब चित्तका निरोध होचुकता है। मनुष्यजीवनकी गम्भीर समस्याओंको समझनेका अवसर चित्तके रुकनेपर ही आता है। इस भावको लेकर चित्तके रोकनेका अभ्यास किया जासकता है। परन्तु चित्तनिरोध ही मनुष्यका एकमात्र लक्ष्य नहीं है। राजयोगका मुख्य ध्येय आत्मरूपका

अनुभवयुक्त ज्ञान होना है। आत्माके स्वरूपका इसप्रकारका दर्शन मिलजानेपर ही शरीरोंके साथ सुखीदुःखी न होसकनेकी शान्तिवर्धक अवस्था प्राप्त होती है। बात यह है कि प्राणियोंके ये तीनों शरीर स्वभावसे दुःखोंके निवासभवन हैं। शरीरमें वात, पित्त, कफकी न्यूनाधिकतासे करोड़ों रोग खड़े होते रहते हैं। मनमें काम क्रोध आदिकी अशान्तिकारक भावनाएं भी निरन्तर आती रहती हैं। अज्ञान नामक कारणशरीर तो समस्त दुःखोंका मूल है ही। यों इन शरीरोंमें स्वभावसे दोष भरे पड़े हैं। इन दोषोंसे इन शरीरोंका वियोग ऐसा असंभव है जैसे घड़ेको मिट्टीसे अलग करना। परन्तु जब अविद्यासे प्रभावित होकर इन दुःखपूर्ण शरीरोंकी और आत्माकी परस्पर एकता मानली जाती है तब परस्परमें धर्मोंका लेनदेन भी होनेलगता है। आत्माकी सत्यता इन शरीरोंमें मानलो जाती है और शरीरके धर्म आत्मनि मानलिये जाते हैं। एक दूसरेके धर्म एक दूसरेमें मानकर इस सम्पूर्ण मिश्रणको जिसे चिदचिद्ग्रन्थि भी कहते हैं अपना स्वरूप समझनेकी भूल कीजाती है। शरीर दुःखी हो तो, कुटुम्बके व्यक्तिके दुःखी होनेसे अपनेको दुःखी माननेवाले कुटुम्बनेताकी भांति अपने आपको ही दुःखो माना जाने लगता है। यह भूल साक्षितत्वका ध्यान न आने तक चलती है। जैसे सर्पबुद्धिसे भयभीत पुरुष पीछेसे रज्जुरूपको पहचानकर अपनी पहली समझपर हंसता है, उसीप्रकार ज्ञानीमें भी अपनी पहली भ्रान्तिपर उपहासपूर्ण उपेक्षाका भाव आता है। मानो साधक, अपने किये हुए जड और चेतनके मिश्रणरूपी इसी अपराधको क्षमा करानेकेलिये ही ज्ञानकी अनन्त आवृत्तियां किया करता है और जबतक उसे स्पष्टरूपसे व्यापक चेतन अलग और ये शरीर अलग दिखायी नहीं देने लगते, तबतक ज्ञानकी आवृत्ति करता रहता है। इस अपने पूर्वापराधको क्षमा करानेकी इसके अतिरिक्त दूसरी कोई विधि नहीं है। जब तक यह प्रारब्ध देह है तब तक जीवभावकी गन्ध कभी कभी ज्ञानीके व्यवहारमें आनी अनिवार्य है। परन्तु इतनीसी घटनासे तत्वज्ञानको विनष्ट हुआ

नहीं समझाजाता। क्योंकि जीवन्मुक्तिनामका कोई व्रत नहीं है जो साधकोंपर लागू करदिया गया हो। यह जीवन्मुक्ति जिस क्रमसे चलती है—जैसे धीरे धीरे उन्नति करती है—इसे वैसाका वैसा चलने देना चाहिये। दसवेंके उपर्युक्त दृष्टान्तमें भी यही बात है कि उस दसवेंका दसवेंकी अप्राप्तिकेलिए रोना तो ज्ञान होते ही नष्ट होजाता है। परन्तु दसवेंके शोकमें सिर पीटते पीटते पड़े हुए घाव तो महीने दो महीनेमें जाकर अच्छा होते हैं। हाँ, यह बात तो है कि दसवेंके न मरनेके महालाभसे उसे जो हर्ष होता है वह सिरके घावकी पीडाकी उपेक्षा करादेता है। इसीप्रकार जड चेतनका ग्रन्थिमोक्ष होते ही उसके प्रभावसे प्रारब्ध दुःख ढकजाते हैं—वे नगण्य होजाते हैं—वे फिर सुलझाने योग्य समस्या नहीं रहते। यदि शरीर आदिकी रचना केवल अज्ञानसे हुई होती तो संसारविषयक भ्रमपूर्ण धारणाके हटते ही शरीरका भी पात होजाया करता परन्तु शरीर आदिकी रचना अज्ञान और कर्म दोनों से मिलकर हुई है। संसारविषयक अज्ञानके नष्ट होचुकनेपर भी जबतक कर्मोंका परिचालित वेग पूरा पूरा शान्त नहीं होलेता, तब यह ज्ञानिशरीर अवश्य जीवित रहता है और संसार तथा मोक्षका मिश्रित अनुभव भी लेता रहता है। इसके पश्चात् ज्ञानीमें तृप्तिनामक एक अभूतपूर्व परिवर्तन की अवस्था आती है। अब ज्ञानीको कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं दीखता। अब वह दूसरे कर्तव्याक्रान्त लोगोंको पहाड़पर चढ़े हुए पुरुषकी भांति उपेक्षाभावसे देखता है। अब वह अपने मनसे ऐसे प्रश्नोंकी झड़ी लगा देता है कि जिनका उसके मनपर जीवन्मुक्त होजानेके अतिरिक्त कुछ भी सन्तोषजनक क्रियात्मक उत्तर नहीं रहता। मनके इस निरुत्तरपनेका परिणाम यह होता है कि उसे अपने भौतिक लाभालाभके विचारसे अपना संसरणका विभाग एकपदे बन्द करदेना पड़ता है। हां, जिस शास्त्रीयमार्गपर चलकर उसने मुक्तिका महालाभ उठाया है, वह मार्ग दूसरोंकेलिये भी अक्षुण्ण बना रहे, वह इस लोकसंग्रहके विचारसे

अपने जीवनरथको शास्त्रीयपद्धतिपर ही चलाता है। परन्तु एक बात भलेप्रकार समझ रखनेकी है कि ज्ञानीको शास्त्रीयमार्गपर कर्म करनेकी अपनी कोई आवश्यकता नहीं है। उसके ज्ञानकी स्थिरतामें कर्मका लेशमात्र भी उपयोग नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसके ज्ञानकी जो निरन्तर धार बहती है वह कर्म करनेसे नहीं बहती वह तो एकमात्र ज्ञानके अबाधित होनेसे ही बहती है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी साधन ज्ञानको निरन्तर स्थिर नहीं रख सकता। इस बाधित संसार का यह विस्तृत पसारा कभी उसके ज्ञानको मार गिरायेगा ऐसी शंका निर्मूल है। ये सब पदार्थ जब अपने पूर्ण यौवनमें थे तब उन सबको मारकर आत्मलाभ करनेवाला ज्ञान, क्या भला अब इन मृतोंसे मार खालेगा ? जिस ज्ञानने बचपनमें सारे पसारेको सकोड़ दिया था अब वह अपने यौवनमें उनसे कैसे हार मानलेगा ? प्रत्युत ज्ञान होचुकनेके पश्चात् भी दीखते रहनेवाले इस संसाररूपी मुरदेसे तो इस ज्ञानराजा की कीर्ति बढ़ेगी। जिस ज्ञानीको इसप्रकारका ज्ञान कभी छोड़कर नहीं जाता, उस ज्ञानीके देहादि कुछ करें या न करें वह इन घटनाओंसे प्रभावित नहीं होता। जिसको प्रवृत्तिकी ओर आग्रह है वह ज्ञानीकी पंक्तिमें बैठनेका अधिकारी नहीं है। क्योंकि सांसारिक या पारमार्थिक सुख पानेकेलिए यत्न करनेका भाव ही यह है कि अभी तक वह सुखके स्वरूपको पा नहीं सका। ऐसे अवसरपर ज्ञानीका केवल एक कर्त्तव्य है कि जब वह ऐसे लोगोंमें रहे तब स्वयं ज्ञानयुक्त व्यवहार करके इन्हें कर्त्तव्यका पाठ सिखाया करे तथा जब जिज्ञासुओंमें रहे तब उन्हें कर्मों के दूषण दिखा दिखाकर उनसे कर्म करना छुड़ा छुड़ाकर उन्हें ज्ञान-मार्गपर डाला करे। अपने मानापमानकी कुछ अपेक्षा न करके उन्हें अपने-अपने अधिकारके अनुरूप मार्गोंपर डाले। अज्ञानीकी ज्ञानचक्षु खोलनेसे दूसरा ज्ञानीका कोई कर्त्तव्य नहीं है। आत्मबोध अमानवीय अवस्था है। जब यह अमानवीय अवस्था प्राप्त होचुकती है तबकी देवदुर्लभ

कृतकृत्यताका वर्णन करनेकेलिए मानवी भाषा दिवालानिकाल बैठती है। आइये हम उस स्थितिका अनुभव लेनेकेलिए आज ही से उद्योग प्रारम्भ करें और आत्मतृप्तिको अपने जीवनमें खुलकर खेलनेका अवसर दें।

कूटस्थदीपका संक्षेप ८

मान लीजिये किसी भित्तिपर एक तो सूरजका प्रकाश पड़ रहा है उसीपर यदि दर्पणके सूरजका दूसरा और प्रकाश जापड़ा और वह भित्ति दो प्रकाशोंसे जगमगा उठी हो, इसीप्रकार प्राणियोंके देह दो दो प्रकाशोंसे अर्थात् दो चेतनोंसे प्रकाशित होरहे हैं। प्रथम तो निर्विकार चैतन्यने समस्त देहोंको साधारणतया (अन्य सृष्टिकी भांति) प्रकाशित कर रक्खा है फिर प्रत्येक देहपर बुद्धिस्थ चिदाभास दुबारा विशेषरूपसे प्रकाश डालरहा है। यों, देहोंको प्रकाशित करनेवाली एक नहीं दो चेतना हैं। इसे समझनेकेलिए कल्पना करो कि एक भित्तिपर एकसाथ बहुतसे दर्पणोंकी दीप्तियाँ पड़ रही हैं, उन बहुतसी दीप्तियोंके बीच बीचमें जहाँ दर्पणकी दीप्ति नहीं पड़ रही है वहाँ सूर्यकी सामान्यदीप्ति दीखती है। इतना ही नहीं जब कोई दर्पणदीप्ति शेष नहीं रहती तब भी वह सामान्य सूर्यदीप्ति दीखा करती है। इसीप्रकार चिदाभाससे युक्त बहुतसी बुद्धियोंके मध्यमें (जहाँ एक बुद्धि नष्ट होती है और दूसरा उत्पन्न होने वाली होती है तब मध्यमें) यह कूटस्थतत्व रहता है। विवेकी लोगोंको इसी कूटस्थ चैतन्यको पहचानना है। सुषुप्तिके समय जब कोई भी बुद्धिवृत्ति शेष नहीं रहती, तब इन बुद्धियोंके अभावको जो कोई तत्व प्रकाशित किया करता है वही यह कूटस्थ चैतन्य है।

बुद्धि जिस विषयको देखती है उसीके आकारकी होजाती है। वह जब घटको देखती है तब घटाकार होजाती है। घटाकार बनी हुई बुद्धिमें जो चिति है, वह केवल घटको प्रकाशित कर सकती है। परन्तु घटमें जो ज्ञातता नामका धर्म आता है (जिसके आनेपर हम कहने लगते हैं कि हमने घटको जानलिया) वह ब्रह्म चैतन्यसे प्रकाशित हुआ करता है। बात यह है कि वह ब्रह्म बुद्धिके उत्पन्न होनेसे पहले पहले इस घटको अज्ञातरूपसे प्रकाशित कररहा था। वही ब्रह्म अब बुद्धि उत्पन्न होजानेके पश्चात् इसको ज्ञातरूपसे प्रकाशित करने लगा है।

जैसे भालेकी नोकपर लोहा लगा रहता है इसीप्रकार बुद्धिवृत्तिके अग्रभागमें जो चिदाभास लगा रहता है उसे 'ज्ञान' कहते हैं। अज्ञान का विवरण क्या करें। वह तो जाड्य है। स्वयं स्फूर्तिका न होना 'अज्ञान' है। अब जो घड़ा ज्ञानसे व्याप्त होजाता है उसे 'ज्ञातघट' कहते हैं, तथा जो घड़ा अज्ञानसे व्याप्त रहता है उसे 'अज्ञातघट' कहाजाता है। जैसे 'अज्ञातघट' ब्रह्मसे भास्य रहता है ठीक इसीप्रकार 'ज्ञातघट' भी ब्रह्मसे भास्य होता है। चिदाभासका उपयोग केवल इतना है कि वह उसमें ज्ञातता नामके धर्मको उत्पन्न करे। वह चिदाभास इस धर्मको उत्पन्न करनेके पश्चात् क्षीण होजाता है। जिस बुद्धिमें चैतन्यका आभास नहीं पड़ता, उस (बुद्धि) में ज्ञातताको उत्पन्न करनेका सामर्थ्य नहीं होता। घटमें चिदाभासनामके फलका उदय होजाना ही 'ज्ञातता' कहाती है। वह ब्रह्म चैतन्य (१) बुद्धिवृत्ति (२) चिदाभास तथा (३) घटादि विषय इन तीनोंको प्रकाशित किया करता है। परन्तु अकेले घटको प्रकाशित करने वाला अकेला चिदाभास है। जब घटमें ज्ञातता नामका धर्म आजाता है तब उसमें दुहरा चैतन्य आजाता है। जब हम कहते हैं कि 'यह घट है' तब यह कथन चिदाभासकी कृपाका फल होता है। जब हम कहते हैं कि 'घटको जान लिया' तब यह कथन ब्रह्मके अनुग्रहसे हुआ करता है। यों व्यवहारके भेदसे भी चिदाभास और ब्रह्मतत्वका भेद जान लेना चाहिए।

यहांतक हमने देहसे बाहर चिदाभास और ब्रह्मका विवेक किया। आइये अब यह देखें कि—ये दोनों देहके अन्दर कैसे रहते हैं ? जैसे तपा हुआ लोहा केवल अपने आपको प्रकाशित किया करता है, इसी प्रकार चिदाभाससे युक्त अहंवृत्ति और कामक्रोधादि वृत्तियां जिनमें तपे हुए लोहेमें अग्निके समान चिदाभास व्याप्त रहता है केवल अपनी भासक होती हैं। उनमें इतना सामर्थ्य नहीं होता कि वे दूसरे किसीकी भासक होसकें। ये वृत्तियां क्रम क्रमसे रुक रुककर पैदा होती रहती हैं, और सुप्ति मूर्छा या समाधिके समय सबकी सब विलीन होजाया करती हैं—तब इनमेंसे कोई शेष नहीं रहती। यदि किसीको अन्दरके कूटस्थ तत्वको समझना हो तो यों समझना चाहिये कि जो निर्विकार रहनेवाली वस्तु, इन सब वृत्तियोंकी सन्धियोंको, और इन सब वृत्तियोंके अभावों को, प्रकाशित किया करती (जाना करती) है, वही निर्विकार वस्तु 'कूटस्थ' है। जैसे बाह्य घटमें दुगना चैतन्य होजाता है, इसीप्रकार अन्दरकी वृत्तियोंमें दुगना चैतन्य इकट्ठा होजाता है। यही कारण है कि सन्धियोंकी अपेक्षा वृत्तियोंमें चैतन्यकी अधिक विशदता होती है। वृत्तियोंके स्वयंप्रकाश होनेके कारण इनमें ज्ञानकी व्याप्ति नहीं होती और उनमें ज्ञातता भी उत्पन्न नहीं होती। जब ये वृत्तियाँ उत्पन्न होजाती हैं तब उत्पन्न होते ही स्वविषयक अज्ञानको भगा देती है। यों इन वृत्तियों में अज्ञानकी व्याप्ति भी नहीं रहती और अज्ञातता भी नहीं होती।

ऊपर जिस दुगने चैतन्यका वर्णन किया है, उसमेंसे तुम्हें जितने चेतनभागके जन्म और नाश होते हुए प्रतीत हों, उसे तो अकूटस्थ मानलो तथा उसमें जो अविकारी भाग प्रतीत होता हो उसे 'कूटस्थ' जानलो। बात यह है कि हम देह इन्द्रिय मन बुद्धि आदिसे युक्त जीवाभासरूपी भ्रमके अधिष्ठान चेतनको 'कूटस्थ' कह रहे हैं तथा वेदान्तोंके अनुसार सम्पूर्ण जगद्भ्रम के मूलाधिष्ठान चेतनको 'ब्रह्म' कहना चाहते हैं। जबकि एक ही चैतन्यमें इस सम्पूर्ण जगतका आरोप

करलिया गया है तब इस जीवाभासके विषयमें जो कि उसीक एक भाग है शंका करनी व्यर्थ है। जगत् और जगत्का एकदेश यह चिदाभास दोनों आरोपणीय पदार्थ हैं। यदि कोई किसी महायुक्तिसे इन दोनों आरोपणीय पदार्थोंके भेदकी विवक्षा करना छोड़ सके, तो चिति एककी एक रहजाय—फिर 'तत्' 'त्वं' पदार्थोंमें भेद न रहे। इसका अर्थ यह हुआ कि चितिमेंजो भेद है वह औपाधिक किंवा भ्रान्तिजन्य है। इन दोनों की एकता ही सच्ची है। भ्रमका कारण तो यह है कि इस आभासने जो कि जड चेतन दोनोंका मिश्रण है अपने भीतर बुद्धिके कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्मोंको तथा आत्माके स्फूर्ति नामके धर्मको धारण करलिया है। जैसे भ्रमस्थलकी चांदीमें अधिष्ठान और आरोप्य दोनोंके धर्म दीखते हैं और वह कल्पित होती है, इसीप्रकार दोनोंके धर्म दीखनेसे यह आभास भी कल्पित वस्तु है।

जब कोई, बुद्धि क्या है? आभास कौन है? इन सबमें आत्मा नामका पदार्थ कहाँ छिपा बैठा है? यह जगत्का बवण्डर कैसे बनकर खड़ा होगया? इन प्रश्नोंको सन्तोषजनक रीतिसे नहीं सुलझा पाता तब उसे मोहमें फंसना पड़ता है। इन प्रश्नोंका समाधान न करना ही 'संसार' या मोह है। यही मोह मुमुक्षु लोगोंको हटाना है। यही सब अनर्थोंका मूल निकास है। जिसने बुद्धि आदिके स्वरूपका विवेक कर लिया, वही ज्ञानी है, वही सब अनर्थोंसे मुक्त है। यह बात वेदान्तोंने सुपरिष्कृत कानवालोंकेलिये डंकेकी चोट कही है।

ऊपर जिस संसार और जिस मोक्षका वर्णन किया है, उसे जब कोई सच्चे अर्थमें समझ जाता है, जब किसीको यह ज्ञात होजाता है कि ये बन्ध और मोक्षके भवन केवल अविवेकके सर्पणशील आधारके ऊपर चिनकर खड़े करलिये गये हैं तब साधकके हृदयमें फिर बन्ध किसका? और मोक्ष किसका? इत्यादि कुशंकाओंका समाधान स्वयमेव

होजाता है—तब वह जानजाता है कि जिसने इन प्रश्नोंका समाधान नहीं किया वह बद्ध है। जिसने इन प्रश्नोंका समाधान करलिया वह मुक्त है।

इस कूटस्थ तत्वको संक्षेपमें यों समझना चाहिए कि जब वृत्तियां उदय होती हैं, तब यह तत्व वृत्तियोंका साक्षी होकर, जब तक वृत्तियां उत्पन्न नहीं होतीं तब तक यह तत्व उन वृत्तियोंके प्रागभावका साक्षी बनकर, जब किसीको आत्मजिज्ञासा होती है तब यह तत्व उस जिज्ञासा का साक्षी रहकर, और उससे पहले यह तत्व 'मैं अज्ञानी हूं' ऐसे अज्ञान के साक्षीके रूपमें, रहा करता है। वह साक्षी कूटस्थतत्व क्योंकि इस असत्य जगत्का आलम्बन है, इससे 'सत्य' है। क्योंकि सम्पूर्ण जड पदार्थोंका प्रकाशक है इससे 'चिद्रूप' है। और क्योंकि सदा प्रेमका स्थान है इससे यह साक्षीतत्व 'आनन्दरूप' है। क्योंकि यह कूटस्थतत्व समस्त अर्थोंका साधक और सबसे सम्बद्ध है, इससे उसे 'सम्पूर्ण' भी कहते हैं। यह कूटस्थतत्व 'जीव' और 'ईश्वर' आदिकी कल्पनासे बहुत ऊपर है। यह एक स्वयंप्रकाश केवल तथा कल्याणस्वरूप तत्व है।

यद्यपि मायाने आभासके द्वारा 'जीव' और 'ईश्वर' रचलिये हैं, इसलिये मायिक है। मायिक होनेपर भी ये दोनों काचके घड़ेके समान स्वच्छ हैं। जैसे काचका घड़ा मिट्टीके घड़ोंसे स्वच्छ होता है, इसीप्रकार ये जीवेश्वर मायिक होनेपर भी देहादिकी अपेक्षा स्वच्छ हैं। देह और मन दोनों अन्नसे बनते हैं, फिर भी मन, देहसे स्वच्छ होता है। इसीप्रकार ये दोनों मायिक होनेपर भी अन्य मायिक पदार्थोंसे स्वच्छ हैं। ये दोनों चिद्रूप हैं, क्योंकि ये चिद्रूपमें ही सबके अनुभव में आते हैं। मायाशक्तिने ही इन दोनोंको चिद्रूपसे प्रकाशित कर डाला है। हम देखते हैं कि हमारी नींद भी, जिसे 'हमारी माया' कह सकते हैं, सुपनेके चेतनजीव और सुपनेके चेतनईश्वर आदिको उत्पन्न करलेती है। फिर महामाया चेतन जीवेश्वरोंको उत्पन्न करडाले इसमें आश्चर्यचकित क्यों होते हो ? परन्तु ध्यान रहे कि मायिकपनेकी कल्पना

में इतने अधिक न बहजाओ कि कहीं कूटस्थको भी मायिक कह बैठो। क्योंकि कूटस्थके मायिक होनेका कोई प्रमाण नहीं है। सम्पूर्ण वेदान्त एक स्वर होकर इस कूटस्थके वस्तुत्वका डंका बजा रहे हैं। वे इस कूटस्थकी विरोधी किसी भी वस्तुको सहन नहीं करते। हम औपनिषद् लोग वेदान्तोंके रहस्यको खोलनेका उद्योगभर करते हैं। तर्कके आधारसे कुछ कहनेका हमारा संकल्प नहीं है। यदि हम तर्कके सहारेसे कुछ कहते तो तार्किक लोगोंको हमपर आक्षेप करनेका अवकाश मिलजाता। मुमुक्षुको चाहिए कि इस दुरवगाह्य आत्मतत्वको जाननेकेलिए केवल श्रुतिका सहारा पकड़ें। श्रुतिका अभिप्राय स्पष्ट यह है कि माया ही इन जीव और ईश्वरको उत्पन्न करती है। ईक्षणसे लेकर प्रवेश पर्यन्त जितनी सृष्टि है, सो सब ईश्वरकी बनाई हुई है तथा जाग्रत् से लेकर मोक्ष पर्यन्त सब जगत्, जीवका बनाया हुआ है। अब कूटस्थके विषयमें भी सुन लीजिए—वह सदा कूटस्थ रहता है। अनादिकालसे क्रमानुसार जन्म, जरा, रोग, अनेक प्रकारकी मानसी व्यथायें और मृत्यु बराबर होते चले आरहे हैं। इन सबके होनेपर भी इस तत्वमें आज तक कुछ अतिशय नहीं होपाया। इसीलिए मनमें यह निश्चय कर लीजिए कि मरण और जन्म कुछ नहीं है। बद्ध और साधक कोई नहीं है। मुमुक्षु और मुक्त किसीको नहीं कहना चाहिए। वह कूटस्थ तत्व आत्मानन्दका संभोग लेनेकेलिये मिट्टीके पुतलोंमें लुक छिपकर जन्म-मरणका अभिनय कररहा है। जब वह श्रुति किसी साधकको मन और वाणीके अगम्य इस तत्वको बतादेना चाहती है, तब साधककी योग्यताके अनुसार उसे या तो 'जीव' या 'ईश्वर' या फिर 'जगत्'का सहारालेकर इस अवाङ्मनोगोचर तत्व का बोध करादेती है। इसी उद्देश्यको लेकर जहां तहां 'जीव' 'ईश्वर' और 'जगत्' के स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है। श्रुतिका परमतात्पर्य जिस किसीप्रकार उस अगम्य तत्वका बोध करादेना है। बोध करानेकी प्रक्रियायें भले ही अलग अलग हों परन्तु तत्व एकही है। क्योंकि जिन पुरुषोंको बोध कराना है उन सबके चित्त एकसमान नहीं होते, उनके चित्तोंमें बड़ी

विषमतायें पायी जाती हैं। उनके चित्तोंकी विषमताके कारण बोध करानेकी रीति भी भिन्न भिन्न होती है। यह मानी हुई बात है कि श्रुतिका तात्पर्य एक हो सकता है। फिर भी जो लोग उनका विरुद्ध अर्थ करके परस्पर झगड़ते हैं, उसका कारण यह है कि ये लोग श्रुतिके पूर्वापरका विचार न करके, उसके तात्पर्यको न समझकर, भ्रममें पड़ जाते हैं। विवेकी लोग श्रुतिके सम्पूर्ण तात्पर्यको समझकर आनन्दसमुद्र में विहार करने लगते हैं। विवेकी लोगोंका यह निश्चय है कि यह मायारूपी मेघ जगत्‌रूपी जलको जब कभी इसके जीमें आये, बरसाता फिरो इसके बरसाने और उसके बरसनेसे, चिदाकाशकी कुछ हानि या लाभ नहीं होता।

यदि कोई इस प्रकरणमें कही हुई प्रक्रियाका सदा विचार रक्खे तो उसे अवश्य कूटस्थताका महालाभ हो।

ध्यानदीपका संक्षेप ९

यदि किसी प्रतिबन्धके कारण किसीको ब्रह्मज्ञान न होसकता हो और वह इस मार्गपर श्रद्धा रखता हो तो वह ब्रह्मतत्वकी उपासना किया करे। उसे उससे भी मुक्ति मिल जायगी।

एक पुरुष मणिकी प्रभाको मणि समझकर उसे उठाने दौड़ता है; दूसरा पुरुष दीपककी प्रभाको मणि समझकर उसे उठाने चलता है, यद्यपि इन दोनोंको समान मिथ्या ज्ञान है, तौ भी प्रयोजनसिद्धिमें विशेषता पायी जाती है—पहलेको मणि मिलजाती है, दूसरा उससे वंचित रहजाता है। दीपककी प्रभाको मणि समझना 'विसंवादिभ्रम' (विफलभ्रम) है, मणिकी प्रभाको मणि समझना 'संवादिभ्रम' (सफलभ्रम) है। भापको धुआं समझा और उससे अग्निका अनुमान

किया और वहां जाकर अग्निको पालिया, यह भी संवादिभ्रम है। प्रत्यक्ष अनुमान तथा शास्त्रमें ऐसे अनन्त संवादिभ्रम हैं। इसी भ्रमके प्रतापसे मिट्टी लकड़ी और पत्थर तक देवता बने हैं। जब किसी वस्तुको उलटा समझकर भी अभिलषित फल अचानक मिल जाय तब वह 'संवादिभ्रम' कहाता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे संवादिभ्रम भ्रम होनेपर भी ठीक फल देदेता है इसीप्रकार ब्रह्मतत्वकी उपासना भ्रम होनेपर भी मुक्तिरूपी फलको देदेती है।

उपासक लोग अपने उपास्य स्वरूपसे अभिन्न बननेकेलिये वेदान्तोंके द्वारा अखण्ड एकरसात्मक तत्वको परोक्षरूपसे जानकर *'अहं ब्रह्मास्मि'* 'मैं ब्रह्मतत्व हूं' इसप्रकार उपासना करने लगते हैं। यहांपर परोक्षज्ञानका अभिप्राय यही है कि अभी उसे प्रत्यग्व्यक्ति दीखने नहीं लगी, उसे केवल शास्त्रके कहनेसे 'ब्रह्म है' ऐसा एक सामान्य ज्ञान होगया है। परन्तु केवल परोक्षतारूपी इस न्यूनतासे उसे 'अतत्वज्ञान' कह देना ठीक नहीं है। क्योंकि उसका ऐसा स्वरूप अध्यात्मशास्त्रने बताया है। इसकारण जब उस सच्चिदानन्दतत्वका निश्चय शास्त्रीय विश्वाससे होता है तब वह ज्ञान परोक्ष होनेपर भी तत्वज्ञान रहता है, भ्रम नहीं होजाता। यद्यपि शास्त्रोंने महावाक्योंके द्वारा ब्रह्मको प्रत्यक् बताया है और वह प्रत्यक् ही है परन्तु जो लोग विचार नहीं करते, उनकी समझमें सहसा यह बात आनी बड़ी कठिन है कि वह ब्रह्मतत्व हमारा आपा है। जब तक देहादिको आत्मा माननेका भ्रम जाग रहा है, तब तक कोई पुरुष, ब्रह्मतत्वको आत्मा नहीं जान सकता। परन्तु श्रद्धालु तथा शास्त्रदर्शीको ब्रह्मका 'परोक्षज्ञान' होजाना सुकर है। ध्यान रहे कि अद्वैत विषयके इस शास्त्रीय परोक्षज्ञानको द्वैतका प्रत्यक्षज्ञान नष्ट नहीं करसकता। लोकमें देखा जाता है कि प्रत्यक्ष शिलाबुद्धि परोक्ष ईश्वर-भावको नहीं हटा पाती। बताओ कि प्रतिमा आदिके विष्णु होनेमें किस श्रद्धालुको संदेह होता है? अश्रद्धालु लोग इस बातपर भले ही विश्वास

न करं, यहां उनका उदाहरण देना ठीक नहीं। क्योंकि वैदिक बातोंमें केवल श्रद्धालु लोगोंको अधिकार है। प्रकृत बात यह है कि परोक्षज्ञान एक बारके आप्तोपदेशसे उत्पन्न होजाता है। भेद केवल इतना है कि जैसे आप्तके मुखसे सुनकर कर्म किया जासकता है उसप्रकार आप्तकी बात सुनते ही किसीको ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं होता। उसके लिए उसे फिर फिर विचार करना पड़ता है। परोक्षज्ञानको रोकनेवाली केवल अश्रद्धा है, और कुछ नहीं। तथा अपरोक्षज्ञानका प्रतिबन्ध केवल अविचार करता है। यदि किसीको विचार करनेपर भी ब्रह्मात्मताका परिज्ञान न हो सके, तो उसे बार बार विचार करते रहना चाहिये। उसे समझलेना चाहिये कि अभी मेरे विचारमें कोई कमी है। क्योंकि अपरोक्षज्ञानके होते ही विचार अपने आप रुकजायगा। विचारकी समाप्ति ही अपरोक्षज्ञानका अचूक चिह्न है। यदि मरणपर्यन्त विचार करनेपर भी किसीको आत्मलाभ न हो तो उसे उसके प्रतिबन्धोंका क्षय होजानेपर जन्मान्तरमें आत्मलाभ होगा। व्यासमुनिने कहा है कि विद्या इस जन्म भी होती है और परजन्ममें भी होती है। कठश्रुतिमें भी कहा है कि बहुतसे लोगोंको तो सुनकर भी इस आत्मतत्वका ज्ञान (इस जन्ममें) नहीं होता। वामदेवको तो गर्भमें आत्मतत्वका ज्ञान हुआ था। लोकमें भी देखते हैं कि जो बात बहुत बार स्मरण करनेपर भी स्मृतिपर नहीं चढ़ती वही बात अगले दिन बिना स्मरण किये स्मृतिपर आजाती है। जैसे खेती और गर्भ उसी दिन परिपक्व नहीं होते इसीप्रकार आत्मविचार उसी दिन अन्तिम श्रेणीपर नहीं पहुँचता। किन्तु धीरे धीरे पकता है। जब बार बार विचार करनेपर भी तत्वज्ञान न हो तो समझलेना चाहिये कि भूत, भावी या वर्तमान कोई सा प्रतिबन्ध होगा, जो ज्ञानको नहीं होने देता। इन तीनोंमेंसे कोईसा प्रतिबन्ध हो तो वेदपारंगत लोग भी मुक्त नहीं होते। इसी अभिप्रायसे श्रुतिने हिरण्यनिधिका दृष्टान्त दिया है। भूगर्भविद्याको न जाननेवाले लोग हिरण्यनिधिके ऊपर घूमते रहने

पर भी उसे नहीं पासकते। इसीप्रकार ये सारी प्रजायें प्रतिदिन ब्रह्मके पास जाती हैं, परन्तु (विषयवासनारूपी) अनृतसे ढकी रहनेके कारण, उसको नहीं पहचान सकतीं। अपनी आत्मनिधिको न पहचानसकना प्रजाओंका महादुर्भाग्य है। मनुष्यकी विषयवासनाने उसकी आत्मनिधि ढक रक्खी है। किसी यतिकेलिए बीता हुआ महिषीस्नेह ज्ञानमें प्रतिवन्ध होरहा था और उसे तत्वज्ञान नहीं होने देरहा था। जब उसे उसके महिषीके स्नेहका अनुसरण करके तत्वका उपदेश किया गया तब उसे प्रतिवन्धका क्षय होजानेपर यथार्थज्ञान हुआ।

वर्तमान प्रतिवन्ध चार प्रकारका होता है एक (१) विषयासक्ति दूसरा (२) बुद्धिकी मन्दता तीसरा (३) कुतर्क चौथा (४) अपने विपरीत ज्ञानपर अड़कर बैठजाना कि 'यही ठीक है।' शमदमादि श्रवणमननादि उपायोंसे (जो भी जिस जिस प्रतिबन्धको हटानेमें उपयुक्त हो) उस उस प्रतिबन्धके हटजानेपर अपना ब्रह्मभाव समझमें आता है। जन्मान्तर दिलानेवाला आगामी प्रतिवन्ध जिसे प्रारब्धशेष भी कहते हैं, भोगके बिना क्षीण नहीं होता। यही कारण है कि उस आगामी प्रतिवन्ध की निवृत्तिका समय नियत नहीं किया जासकता कि आगामिप्रतिबन्ध इतने दिनोंमें नष्ट होजायगा। वह प्रतिवन्ध वामदेवका एक जन्ममें क्षीण होगया था। भरतको तो इसमें तीन जन्म धारण करनेपड़े थे। गीतामें तो यहाँ तक कहा है कि योगभ्रष्ट (जो तत्व साक्षात्कारपर्यन्त विचार नहीं करपाते, जिनका विचार बीचमें छूटजाता है) के प्रतिवन्धका क्षय होनेमें कभी कभी बहुत जन्म लगजाते हैं। परन्तु ध्यान रहे कि इस रुकावटके कारण उनका विचार निरर्थक नहीं होता। ज्यों ही उनका प्रतिबन्ध हटता है त्यों ही उन्हें आत्मज्ञान होजाता है। गीतामें यह भी कहा है कि योगभ्रष्टोंको आंशिक योगके प्रभावसे पुण्यकारी लोगोंको मिलनेवाले स्वर्गादि लोक मिलजाते हैं। फिर भी यदि उनके मनमें कोई अभिलाषा रह गयी हो तो वे पवित्र श्रीमानोंके कुलमें जन्मलेते हैं (और वहाँ

अपनी अभिलाषाको पूरा करलेते हैं।) यदि वे आत्मतत्वके विचारके प्रभावसे निःस्पृह होगये हों तो लौटकर योगियोंके कुलमें जन्म लेते हैं। किन्तु ऐसा जन्म बड़ा दुर्लभ है। यह किसीको थोड़े पुण्योंसे नहीं मिलता। क्योंकि ऐसा योगभ्रष्ट योगिकुलमें आते ही उसी पहलेवाले बुद्धिसंयोगको पाजाता है। उसे वैसा 'बुद्धियोग' योगी मातापितासे उत्तराधिकारके रूपमें मिलजाता है। फिर वह पहलेसे भी दूने उत्साहसे प्रयत्न करने लगता है। उसका पूर्वाभ्यास उसे बलात् अपनी ओर खेंच लेता है। यों किसी किसीको सिद्ध होनेमें अनेक जन्म लगजाते हैं। यदि किसीको ब्रह्मलोक पानेकी इच्छा हो और वह उसे वहीं दावकर— तत्वज्ञानसे उसको न उखाड़कर—आत्मविचार करने लगे तो वह भी साक्षात्कार नहीं करपाता। वह फिर कल्पान्तके समय इस जगत्के समष्टि अभिमानीके साथ मुक्त होता है, ऐसा शास्त्रका कहना है। कई तो ऐसे होते हैं कि उनके साँसारिक धन्धे उन्हें अपने आपेके विचारका अवसर नहीं देते। यदि उनके आठों पहर इस शरीरकी दासता और मनकी चाकरीमें बीत जांय तो भी वे नहीं घबराते। परन्तु उनके महा-दुर्भाग्यसे उन्हें जिसकी कृपासे यह मिट्टीका पुतला चलता फिरता है, उस अन्दर छिपे हुए प्राणाधीशकी मीमांसाकेलिये एक क्षणका भी अवकाश नहीं मिलता। इतनी ही क्यों! जो लोग इस आत्मतत्वका विचार करते हैं उन्हें वे निकम्मा और मूढ समझते हैं। वे उनके सहवासको भी यथाशक्ति टालते हैं। ऐसे लोगोंको ध्यानमें रखकर कठमें कहा है कि वह परात्मतत्व बहुतोंको सुननेको भी नहीं मिलता।

जिस श्रद्धालुकी बुद्धि अतिमन्द हो, जिसे अध्यात्मदर्शी गुरु हाथ न लगे, या जिसे अनुकूल देश कालादि न मिलसके, वह दिन रात ब्रह्मोपासना (प्रणवाभ्यास) करता रहे। निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाकी रीति यह है कि उसके द्वारा व्यक्त ज्ञानको बार बार दोहराता रहे। शैब्य प्रश्नके उत्तरमें तापनीय उपनिषत् में निर्गुणोपासनाका कथन

किया है। प्रश्न उपनिषत्में त्रिमात्र ओंकारकी उपासनाका वर्णन आया है। कठ और माण्डूक्यमें भी इसी निर्गुणोपासनाका समुल्लेख है। निर्गुण उपासना कैसे करें ? यह यदि जानना हो तो 'पंचीकरण' नामक ग्रन्थ देखना चाहिये। एक बात इस उपासनामें ध्यान रखने योग्य है कि सारी शाखाओंमें निर्गुण ब्रह्मके जितने गुण आये हैं, इस उपासनामें उन सबका उपसंहार करलेना चाहिये। उसमें 'आनन्द' 'सत्' 'चित्' 'पूर्ण' आदि जितने विधेय गुण हैं या अस्थूल अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ आदि जितने निषेध्य गुण हैं साधकको इसमें उन सबका उपसंहार करलेना चाहिये। ऐसा न हो कि जिन गुणोंका वर्णन किसी एक प्रकरणमें आया है केवल उन्हीं गुणोंके आधारपर इस उपासनाको करने लगें। उपासना करते हुए यह कभी न भूलें कि आनन्द आदि विधेय और अस्थूलादि निषेध्य गुणोंसे एकमात्र अखण्ड आत्मतत्व ही लक्षित है। साधकको ऐसा ध्यान यथाशक्ति आठों पहर रहना चाहिये कि इन सब विधेय और निषेध्य गुणोंसे जो तत्व लक्षित होता है वही तत्व मैं हूं।

अब बोध और उपासनाका भेद सुन लीजिये—बोध वस्तुके अधीन होता है। इसके विपरीत उपासना उपासकके हाथकी बात होती है। बोधकी उत्पत्ति विचारसे होती है—बोधका स्वभाव है कि वह मनुष्यके न चाहनेपर भी वस्तुके सामने आनेपर होजाता है। होते हुए बोधको कोई रोक नहीं सकता। जब बोधरूपी दिवाकर उदित होता है तब इस सब संसारकी सत्यताको भस्मसात् करके छोड़ता है। इतना होचुकनेपर साधक कृतकृत्य होजाता है। उसके पश्चात् उसे नित्यतृप्ति रहने लगती है। तब वह जीवन्मुक्त होजाता है और प्रारब्धक्षयकी बाट जोहने लगता है कि 'यह जीवनलीला कब समाप्त होगी'।

यदि किसीको ऐसा परमपद पाना हो तो वह आत्मदर्शी गुरुके उपदेशपर विश्वास करे। उसपर किसी प्रकारका संशय न करे और

अपने उपास्यका निरन्तर ऐसा विचार करे कि इस चिन्तनके मध्यमें, अन्य किसी भी विषयका विचार तक न आवे। चिन्ता करते करते अन्तमें ऐसी अवस्था आयगी कि साधकको स्वयं यह भान होने लगेगा कि यह चिन्त्यस्वरूप मैं स्वयं हूं। यहां पहुँचते ही साधकका चिन्तन छूट जायगा और साध्यसाधकभाव समाप्त होजायगा। फिर यह प्रयत्न करना चाहिये कि किसी प्रकार मरणपर्यन्त यही धारणा बराबर बनी रहे। क्योंकि उपासना पुरुषके अधीन होती है। कोई चाहे उसे करे, चाहे न करे, या जैसे जीमें आये किया करे। इस कारण उपासक इस उपासनाको सदा किया करें। जो अवस्था सुपनेमें भी वेदपाठ करने लगनेवाले वेदपाठीकी या सुपनेमें जप करने लगनेवाले जपिताकी होजाती है वही अवस्था उपासककी होजानी चाहिये। सुपनेमें भी उपासना होने लगनी चाहिये। उपासनाकी ऐसी प्रगाढता तब होगी जब साधक विरोधी विचारोंको छोड़कर निरन्तर भावना करेगा और उसकी वासनाका आवेश बढ़ने लगेगा। ऐसी उपासना सर्वत्यागी संन्यासमार्गी लोग ही कर सकते हों, यह धारणा ठीक नहीं। क्योंकि जब इस उपासनामें आस्थाकी अधिकता होजायगी तब यह उपासना विषयव्यसनी नारीकी भांति, प्रारब्धभोगोंको भोगते हुए भी और लोकव्यवहार करते हुए भी, बराबर चल सकेगी। परपुरुषसंगके व्यसनवाली नारी घरके कामोंमें उलझी रहनेपर भी, मनमें उसी परसंगरसायनको चखती रहती है। ऐसा करते हुए भी उसके घरके काम काज बराबर चलते रहते हैं। हां, इतना अवश्य होता है कि उसके घरके काम ऊपरके मनसे होने लगते हैं। इसीप्रकार उपासनामें निष्ठावाले पुरुष, ऊपरके मनसे संसारके काम काज निभाते रहें। उपासना उपासकोंके ऊपरके मनको छीनना नहीं चाहती। वे उपासनाको अन्दरका मन देदें। वे अन्दरके मनसे आठों पहर अखण्डोपासना-रूपी दीपकको जगाते रहें और बाहरके मनसे संसारका व्यवहार करते रहें। जिस तत्वज्ञानीने यह समझ लिया है कि यह प्रपंच मायामय है, आत्मा केवल चैतन्यरूप है, फिर बताओ, उसे

व्यवहारमें क्या उलझन होगी ? व्यवहारको यह आवश्यकता नहीं कि यह प्रपंच सच्चा हो और न व्यवहारको यही अपेक्षा है कि आत्मा जड हो, तब ही उसका काम चले, किन्तु व्यवहारको केवल साधनोंकी आवश्यकता है। तत्वज्ञानी व्यवहारके साधन मन, वाणी, शरीर अथवा इन बाह्य पदार्थोंको तोड़ फोड़कर नहीं फेंक देता। फिर बताओ कि इसका व्यवहार क्यों रुके ? यह मत कहो कि तत्वज्ञानी चित्तका उपमर्दन करता है। यह बात तुम 'ध्याता' की कह रहे हो। तत्वज्ञानी पुरुष कभी चित्तका उपमर्दन नहीं करता। भला क्या कहीं घटतत्वको जाननेवाला पुरुष बुद्धिका मर्दन किंवा उसे एकाग्र करता देखा गया है ? जबकि एकवार ज्ञान होजानेपर घट जैसा जड पदार्थ भी सदा भासने लगता हो तब यह स्वयंप्रकाश आत्मा एकवार ज्ञान होजानेपर सदा क्यों न भासने लगे ? जब एकवार घटादिका निश्चय होजाता है तब उसके पश्चात् चाहे घटज्ञान नष्ट होजाय तो भी जब कभी घटकी आवश्यकता होती है, तब ही उस घटको उठाकर ले जासकते हैं। उस घटमें चित्तको स्थिर किये रखनेकी आवश्यकता नहीं होती। ठीक यही बात आत्माके विषयमें भी समझ रखनी चाहिये। उसमें भी चित्तको स्थिर किये रखना आवश्यक नहीं है। केवल उसे समझलेना आवश्यक है। जब किसीको एक वार आत्माके स्वरूपका निश्चय होजाता है तब फिर जब कभी उसे अपेक्षा होती है, तब ही वह ज्ञानी उसके विषयमें कथन, मनन या ध्यान आदि करसकता है। यदि कोई ज्ञानी भी उपासककी भांति लौकिक व्यवहारको भूलजाता है तो इस भूलको ज्ञानसे हुआ मत समझो। उसे यह विस्मरण ध्यानसे हुआ है। परन्तु उस ज्ञानीने यह ध्यान अपनी इच्छासे अपनालिया है। शास्त्र उससे ध्यान करनेको नहीं कहता। मुक्ति तो उसे केवल ज्ञानसे मिलचुकी। यह बात वेदान्तोंमें अनेक स्थानोंपर कही गयी है। यदि तत्वज्ञानी लोग ध्यान न करें तो वे भले ही बाह्य व्यापारोंमें लगे रहें। उनकी प्रवृत्तिमें किसीप्रकारकी कोई रुकावट नहीं है। तत्वज्ञानीको बाह्यप्रवृत्ति मानलेनेपर अतिप्रसक्तिसे डरना ठीक

नहीं। क्योंकि तत्वज्ञानीके प्रति 'प्रसंग' या 'विधिशास्त्र' नहीं होता। ये सब विधि और निषेध शास्त्र केवल उसकेलिये बने हैं जिस अविचारीको देहके वर्ण, आश्रम, आयु और अवस्थाओंमें अभिमान बना हुआ है। ज्ञानीका निश्चय इसके विपरीत होता है। उसे यह ज्ञान होचुका है कि जैसे मायाने देह बनाया है, इसीप्रकार मायाने वर्णाश्रमादि भी घड़ लिये हैं। बोधरूप आत्माका कोई वर्ण या आश्रम आदि नहीं है। जिसने अपने जीमेंसे सम्पूर्ण आसक्तियोंको निकालकर फेंक दिया, जिसका आशय निर्मल होचुका, वह मुक्त है। ऐसा महापुरुष समाधि करे या न करे, काम करे या बैठा रहे, यह सब उसकी (प्रारब्धानुकूल) इच्छापर निर्भर है। इस विषयमें शास्त्रका यह साहस नहीं है कि उससे कुछ करनेको कह सके। जो पुरुष कामवासनाओंके बन्धनसे छुट चुका उसे कर्मको छोड़ बैठने या करते जानेसे, कुछ प्रयोजन नहीं रहा। उसका समाधि और जपसे भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। जिन्होंने ऐसा स्थिर निर्णय करलिया कि "आत्मा असंग है उससे भिन्न सब कुछ इन्द्रजालके समान मायिक है" उनके मनमें वासना कैसे ठहरे ? जबकि तत्वज्ञानीमें वासना नहीं रहती तब वह उसे हटानेकेलिए ध्यान क्यों करे ? या जब ज्ञानीको प्रसंग नहीं रहा तो अतिप्रसंग कहांसे आये ? जिस बालककेलिये विधि नहीं होती, उसको अतिप्रसंग भी नहीं देखते। जैसे बालकोंकेलिये विधि नहीं होती इसीप्रकार तत्वज्ञानियोंकेलिये भी विधि नहीं होती। कुछ न जाननेके कारण बालककेलिये विधि नहीं होती, सब कुछ जाननेके कारण ज्ञानीकेलिये भी विधि नहीं रहती। सम्पूर्ण विधियोंका बोझ अल्पज्ञोंके ही कन्धोंपर लदा रहता है। जिन साधनोंसे लौकिक व्यवहार चला करता है, तत्वज्ञानके होजानेपर उन साधनोंका उपमर्द (नाश) नहीं होता, इस कारण ज्ञानी लोग राज्यादि जैसे बड़ेसे बड़े आरम्भोंको भले प्रकार निभा सकते हैं। यदि उनको मिथ्या समझनेसे किसीकी इच्छा उधरको न चलती हो तो वह भले ही ध्यान करने लगे और व्यवहारको बन्द करदे। यह सब ज्ञानी के प्रारब्ध

पर निर्भर है। इसके विपरीत उपासकको चाहिये कि वह सदा ध्यान करता रहे। इसे यह कभी भी न भूलना चाहिए कि उस (उपासक) की ब्रह्मता केवल ध्यानज (ध्यानके प्रतापसे) है। जो स्थिति ध्यानसे बनी है वह ध्यानके हटते ही नष्ट होजायगी। परन्तु सच्ची ब्रह्मता ध्यान न रहनेपर भी बनी रहती है। इसलिए ज्ञान उसका केवल बोधक होसकता है, जनक नहीं होसकता। सत्य वस्तु ज्ञापकके न रहनेसे छिप नहीं जाती। वैसे तो उपासक भी ब्रह्म है, परन्तु क्योंकि उसको अभी तक इस बातका निश्चय या प्रत्यक्षदर्शन नहीं होपाया, इस कारण उसकी ब्रह्मता उसके उपयोगमें नहीं आती। घी गौओंके शरीरमें व्याप्त रहनेपर उनकेलिये स्वास्थ्यवर्धक नहीं होता। वही घी जब उनके दूधमेंसे निकाल कर उन्हें खिलायाजाता है तब उनके अंगोंकी पुष्टि करता है। इसीप्रकार परमेश्वरतत्व सब शरीरोंमें व्याप्त है जब तक उसकी उपासना नहीं की जाती तब तक मनुष्यको उसके होनेका लाभ नहीं होता। जैसे भूखों मरनेसे भीख मांगना भला होता है, इसीप्रकार ज्ञानभिन्न समस्त उपायोंसे उपासनाका पद ऊंचा है। पामर लोगोंके व्यवहारसे यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान अच्छा है, उन यज्ञादियोंसे सगुणोपासना श्रेष्ठ है, सगुणोपासनासे निर्गुणोपासना ऊंची है। इस ऊंचनीचभावका निर्णायक आधार यह है कि ज्यों ज्यों विज्ञानकी समीपता आती जाती है, त्यों त्यों श्रेष्ठता बढ़ने लगती है। निर्गुणोपासनाके सर्वश्रेष्ठ होनेका कारण यही है कि यह उपासना पीछे जाकर धीरे धीरे ब्रह्मज्ञानके रूपमें बदल जाती है। जैसे फल मिलनेके समय सफल भ्रम प्रमाज्ञान होजाता है इसी प्रकार यह 'निर्गुणोपासना' मुक्तिका समय आनेपर 'ब्रह्मविद्या' बन जाती है। निर्गुणोपासनामें यही विशेषता है कि वह ज्ञानके सबसे अधिक समीप है। जब वह निर्गुणोपासना पकने लगती है तब पहिले इसकी 'सविकल्प समाधि' बनजाती है। फिर पीछेसे उस सविकल्प समाधि की ही 'निर्विकल्पसमाधि' बनजाती है। यह निरोध नामक समाधि निर्गुणोपासकको अनायास प्राप्त होती है। जब किसीको

निरोधका महालाभ होजाता है, तब उस पुरुषके अन्दर असंग वस्तु शेष रह जाती है। यदि कोई उस असंग वस्तुकी भावना बार बार करे तो 'तत्वमसि' आदि वाक्योंके स्मरण आते ही बिजलीकी चमककी भांति तत्वज्ञानका उदय होजाता है। उस समयकी ज्ञानोन्मुख अवस्थाकी सराहना किन शब्दोंमें करें? उस समय ही निर्विकारता, असंगता, नित्यता, स्वप्रकाशता, एकता और पूर्णता आदिका सच्चा भाव अभ्यासी की बुद्धिमें ठीक ठीक प्रकट होता है। इनका यथार्थ मर्म तब ही अभ्यासी की समझमें आता है। जो लोग अपरोक्षज्ञानको उत्पन्न करनेवाली इस निर्गुणोपासनाको छोड़कर तीर्थोंमें टकराते हैं, और जपादिमें व्यस्त रहते हैं, वे ऐसे हैं जैसे हाथपर रक्खे गुड़को फेंककर कोई हाथ चाटने लगा हो। यह बात कभी न भूलनी चाहिए कि विचारकके सामने उपासकका पद भी बहुत नीचा है। यही कारण है कि 'योग' किंवा 'उपासना' का विधान, विचार न कर सकनेकी अवस्थामें ही है। जिन पुरुषोंके चित्त अत्यन्त व्याकुल हुए रहते हैं, उनको विचारसे तत्वज्ञान नहीं होसकता, उनकेलिए 'योग' ही मुख्य उपाय है। क्योंकि उनका धीदर्प योग करनेसे नष्ट होजाता है। जिन महापुरुषोंकी बुद्धि कभी व्याकुल नहीं होती, जिनका आत्मा केवल मोहके आवरणमें छिपा रहता है, उनके लिए 'सांख्य' नामका विचार मुख्य उपाय है। क्योंकि उन्हें उसीसे झटपट सिद्धि मिलजाती है। गीतामें कहा है कि 'सांख्यमार्गी' जिस परमपदको पाते हैं 'योगमार्गी' भी वहाँ पहुँच जाते हैं। जिस ज्ञानी को यह ज्ञात है कि परिणाममें जाकर 'सांख्य' और 'योग' एक हैं, जिसे इनमें भेद नहीं दीखता, उसीको शास्त्रका मर्मज्ञ समझो। जिसकी उपासना भी इस जन्ममें अधकचरी रहगयी हो, वह या तो मरते समय या फिर ब्रह्मलोकमें जाकर तत्वका ज्ञाता होता है और मुक्त होजाता है।

मरते समय इस जन्मके विचारोंका निचोड़ (सार) प्रकट होता है। अर्थात् मरते समय इस जन्मके जो सबसे पिछले विचार होते हैं,

उनसे यह पता चल जाता है कि अगला जन्म कैसा और किसका होगा ? बच्चोंको पिछले जन्मके और वृद्धको अगले जन्मके सुपने आने लगते हैं ऐसा सम्प्रदायके लोग कहते हैं। जैसे साधारण प्राणीको जीवनके पिछले ज्ञानसे आगामी जन्मकी सूचना मिलती है या जैसे मरणके समय सगुणोपासकोंको उनके सगुण ब्रह्म दर्शन देदेते हैं, इसीप्रकार पूर्वाभ्यासके प्रतापसे मरते समय निर्गुणोपासकोंको भी निर्गुणब्रह्मका ज्ञान होता है, इसमें सन्देह करना वृथा है। यदि कहो कि निर्गुणोपासकको मरणकालमें निर्गुणब्रह्मकी प्राप्ति तो होसकती है परन्तु उसे मुक्ति भी मिल जायगी यह हम क्योंकर मानलें ? उसका उत्तर यह है कि तुम उस दर्शनका नित्य निर्गुण नाम भले ही गाते रहो वास्तवमें तो वह मोक्ष है। जैसे संवादिभ्रम कहने ही कहनेको भ्रम है, वास्तवमें तो उसे तत्वज्ञान कहना चाहिए। ऐसे ही निर्गुणब्रह्मकी 'प्राप्ति' और 'मुक्ति' ये एक ही वस्तुके दो नाम हैं। निर्गुणोपासनाका सामर्थ्य ही कुछ ऐसा है कि उससे मूलाज्ञानको मार भगानेवाली बुद्धि जन्म लेलेती है। तापनीयउपनिषत्में भी मोक्षको इसी निर्गुणोपासनाका फल बताया है। उपासना करते करते अन्तमें ज्ञानकी उत्पत्ति होजाती है और यों *'नान्यः पन्था विद्यते'* ज्ञानके अतिरिक्त दूसरा पन्था नहीं है इससे भी विरोध नहीं रहता। निष्काम उपासना करनेसे मुक्ति मिलती है तथा सकाम उपासना करनेसे ब्रह्मलोक मिलता है। साम्प्रदायिक आचार्योंका कहना है कि उस ब्रह्मलोकमें जाकर भी इस उपासनाके सामर्थ्यसे तत्वका दर्शन होता है। फिर वह उपासक इस कल्पमें लौटकर नहीं आता किन्तु कल्पका अन्त होते समय कल्पेश्वरके साथ मुक्त होजाता है।

श्रुतियोंमें अधिकतासे प्रणवकी निर्गुणोपासनायें ही आयी हैं। सगुणोपासना तो कहीं कहीं है। पिप्पलादमुनिने ओंकारको 'पर' और 'अपर' ब्रह्मरूप कहा है। यमने भी नचिकेतासे कहा है कि जो इस ओंकाररूपी आलम्बनको जानले वह जो चाहे वही उसे मिले। जो

निर्गुणब्रह्मकी उपासना भलेप्रकार करलेता है वह इस लोकमें या मरते समय या फिर ब्रह्मलोकमें जाकर, ब्रह्मका साक्षात्कार करके छोड़ता है। आत्मगीतामें भी कहा है कि जो विचार न कर सकते हों, उन्हें निर्गुण ब्रह्मकी उपासना निरन्तर करनी चाहिये। आत्मगीतामें यह भी कहा है कि जिसमें आत्मसाक्षात्कार करनेकी शक्ति न हो, वह निःशंक होकर मेरी उपासना करे। मैं समय आनेपर उसके अनुभवमें आऊंगा और निश्चय ही फलित होकर रहूंगा। जैसे अगाध निधि पाना हो तो खोदना ही होगा, ऐसे हो मुझे पाना हो तो आत्मचिन्ता करनी ही होगी। पुरुषको चाहिये कि बुद्धिरूपी कुदालसे खोद खोदकर आत्माको ढकलेनेवाले देहरूपी रोड़ेको दूर हटादे। उसे चाहिये कि वह मनरूपी भूमिको बार बार खोदे और अन्तमें मुझ गुप्त निधिको प्राप्त करके छोड़े। यदि किसी को अनुभूति न भी हो तो भी उसे *'अहं ब्रह्मास्मि'* 'मैं ब्रह्मतत्व हूं' यह उपासना करनी चाहिये। ध्यानका इतना महाप्रताप है कि उससे असत् भी मिलजाता है। नित्यप्राप्त जो सर्वात्मक ब्रह्म है वह ध्यानसे मिलेगा या नहीं ? ऐसी शंका कभी न करो। ध्यान करके देखो तो पता चले कि ध्यान करनेसे दिनपर दिन अनात्मबुद्धि ढीली पड़तीजाती है। यदि कोई ध्यानके इस महाफलको देखकर भी ध्यान नहीं करता तो वह बड़ा अभागा है। सम्पूर्ण प्रकरणका सार यह है कि यदि कोई ध्यानसे देहाभिमानको खोडाले और अपने अद्वितीय आत्माके दर्शन करले, तो यह अनादिकाल से मरनेवाला प्राणी अमर होजाय और इसी जन्ममें सच्चिदानन्द ब्रह्मके दर्शन करके छोड़े।

जो पुरुष इस 'ध्यानदीप' का विचार करेंगे उनके सब संशय भाग जायेंगे। वे फिर सदा ब्रह्मध्यानमें निमग्न रहने लगेंगे।

———

नाटकदीपका संक्षेप १०

लोगोंको जानना चाहिये कि वे क्या हैं? उन्हें अपने स्वरूपका परिचय प्राप्त करना चाहिये। उसकेलिये उन्हें यह जानना चाहिये कि वह परमात्मतत्व पहले भी अद्वयानन्द पूर्ण था और अब भी है। इसलिये कि उसके अतिरिक्त अन्य कोई तत्व इस संसारमें नहीं है। वह अपने इस स्वभावानुसार अपनी ही मायाके प्रतापसे पहले तो जगत् बना और फिर जीवरूपसे उसीमें प्रवेश कर गया। उसने सोचा कि काल्पनिक द्वैत उत्पन्न कर करके वास्तविक अद्वैतके दर्शन किया करूं। इस कामकेलिये यह उत्तमदेहोंमें प्रवेश करके देवता बना और अधम देहोंमें प्रवेश करनेसे उसमें मर्त्यपन आया। आत्मान्वेषणार्थ जब उसने अकस्मात् अनेक जन्मोंतक अपने कर्म ब्रह्मार्पण करने प्रारम्भ किये तब उसमें फिर आत्मस्वरूपका विचार करनेकी शक्ति जागी। जब विचारकी आंच लगी तो माया न ठहर सकी। जब उसने अपनी वस्तुस्थितिपर विचार किया तब वह फिर स्वयम् अकेलाका अकेला रहगया। तब ये जगत् और जीव सबके सब उसके सामनेसे पलायन कर गये। क्योंकि उस अद्वितीय तत्वके सच्चे बन्ध और मोक्षका निरूपण करनेका सामर्थ्य किसीमें नहीं है इससे उस तत्वको दुःखी होनेका धोखा ही धोखा लगजाता है। अविचारके समय उसे लगा हुआ धोखा ही उसका 'सद्वयपना' और यही उसका 'बन्ध' कहाता है। जब उसका यह दुःखीपना हटता है और जब उसे स्वरूपमें स्थिति मिलती है तब यह उसका 'मोक्ष' कहाता है। प्रश्न होता है कि यह बन्ध कहांसे आया और कैसे हटेगा? उत्तर यह है कि यह बन्ध अविचारसे आया है और विचार करनेसे यह बन्ध खुलेगा। इस कारण मनुष्य जब तक तत्वका साक्षात्कार न हो तब तक जीव और परात्माका विचार सदा करता रहे। विचार

करनेकी रीति यह है कि देहादियोंमें 'मैंपन' का अभिमान करनेवाला अहंकार 'कर्ता' (जीव) है। उसके अभिमान करनेके साधनको 'मन' कहते हैं। वह मन क्रमसे कभी अन्दर और कभी बाहर क्रिया किया करता है। वह जब अन्तर्मुख होता है तब 'मैं' ऐसी वृत्ति करता है। उसकी वह अहंवृत्ति 'कर्ता' (जीव) की ओर संकेत करती है। जब उसी मनमें बहिर्मुख वृत्ति होती है तब वह वृत्ति बाह्य पदार्थोंकी ओर 'यह' ऐसा संकेत करती है। उस इदम् (यह) के रूपादि विशेष विशेष धर्मों का ज्ञान पाँचों इन्द्रियोंसे होता है। इतनी बातें समझ लेनेके पश्चात् अब 'साक्षी' तत्वको समझ लीजिये—जो तत्व केवल चिद्रूप रहकर उस 'कर्ता' को, उपर्युक्त 'क्रियाओं' को तथा एक दूसरेसे अत्यन्त विलक्षण गन्ध आदि 'विषयों' को, एक ही प्रयत्नसे प्रकाशित किया करता है, उसी चिद्रूपतत्वको वेदान्तोंमें 'साक्षी' कहा है। लोकमें भी देखते हैं कि नृत्यशालाका दीपक, नाट्यगृहके 'प्रभु' को, नाट्य देखने वाले 'सभ्यों' को तथा 'नर्तकी' को एक ही रूप तथा एक ही यत्नसे प्रकाशित किया करता है। प्रकाश करते हुए किसीपर विशेष कृपा नहीं करता और जब ये सब लोग नृत्यशालाको छोड़कर चले जाते हैं तब भी वह अकेला ज्योंका त्यों अपना प्रकाश फैलाये बैठा रहता है। ठीक इसी दृष्टान्तकी भांति यह साक्षीतत्त्व 'अहंकार' को, 'बुद्धि' को तथा 'विषयों' को प्रकाशित किया करता है। परन्तु जब सुषुप्ति आदिके समय अहंकार आदियोंमेंसे कोई भी शेष नहीं रहता तब भी यह 'साक्षी' पहले की भांति आत्ममहिमामें जगमगाता रहता है। वह कूटस्थतत्व सदा चिद्रूपमें भासता रहता है। मानो कोई ऐसा अखण्ड दीपक जल रहा हो जिसके सामने कोई भी प्रकाश्य पदार्थ न हो। यह बुद्धि उसी सदा-विभात साक्षीके प्रकाशसे उधारा प्रकाश लेकर अनेक रूपसे नाचा करती है।

यह बुद्धि जिस नाटकको खेल रही है, उसके पात्र आदिको भी

जान लो। 'अहंकार' ही इस नाटक का 'प्रभु' है। क्योंकि नाटकके स्वामी की भांति विषयभोगकी सफलता और विफलतासे हर्ष और विषाद अहंकार को ही होते हैं। विषय' ही इस नाटकके 'सभ्य' हैं। जैसे नाटकके दर्शकोंको सुखदुःखमयी घटना देखनेपर भी सुखदुःख नहीं होते, इसीप्रकार इन विषयोंको सुखदुःख नहीं होते। 'बुद्धि' ही इस नाटककी 'नर्तकी' है। क्योंकि नर्तकीकी भांति नाना भांतिके विकार इसीमें होते हैं। ताल आदिको धारण करनेवाली 'इन्द्रियां' हैं। क्योंकि ये इन्द्रियाँ तालियेके समान बुद्धिके विकारोंके अनुकूल व्यापार किया करती हैं। यह 'साक्षी' ही, इन सबका 'प्रकाशक दीपक' है। क्योंकि इसीसे इन सबका प्रकाश होता है। जैसे दीपक एक स्थानपर रक्खा ही रक्खा अपने चारों ओर प्रकाश पहुँचाता है इसीप्रकार यह साक्षी अपने स्वरूपमें स्थित रहकर ही बाहर अन्दर सर्वत्र प्रकाशित करता रहता है। ध्यान रहे कि यह अन्दर और बाहरका विभाग देहकी दृष्टिसे है। साक्षी की दृष्टिमें ऐसा कोई विभाग नहीं है। यद्यपि बुद्धि अन्दर बैठी रहती है, परन्तु वह इन्द्रियोंकी टोलीके साथ बाहर भी निकलती है। अर्थात हमें जो अपनेमें चंचलता प्रतीत होती है वह इस बुद्धिकी ही होती है। साक्षी तत्वमें इस बुद्धिस्थ चंचलताका आरोप व्यर्थ किया जाता है। जो प्रकाश झरोखेमेंसे आरहा है, उसमें यदि हाथ नचावें तो जैसे वह धूप नाचती सी दीखती है, इसीप्रकार साक्षी अपने स्थानपर डटा बैठा है वह अन्दर बाहर आता जाता नहीं, परन्तु बुद्धिकी चंचलताके कारण वह आताजाता सा प्रतीत होने लगा है। यह साक्षी अन्दर या बाहर आनाजाना नहीं करता। अन्दर बाहर दोनों बुद्धिके देश हैं। कल्पना करो कि तुम्हारी बुद्धि और इन्द्रियां मरचुकीं, उनकी प्रतीति बन्द होगयी अब बताओ कि वह प्रकाश कहाँ जगमगा रहा है? यह प्रकाश बुद्धि आदिकी प्रतीतिके बन्द होजानेपर भी जहां जगमगा रहा है, वही साक्षी का अपना स्थान है। यदि कहो ऐसी अवस्था आनेपर कोई देश नहीं

भासता तो हम कहेंगे कि तुम साक्षीको विना देशका तत्व समझो। शास्त्रमें कहीं कहीं जो उस साक्षीको 'सर्वगत' या 'सर्वसाक्षी' कह दिया है वह भी 'सब देश' की कल्पनाके आधारपर कहा है। स्वभावसे वह अद्वितीय और असंग है। यह कल्पनाप्रवीण बुद्धि अन्दर या बाहरके जिस किसी देशादिको घड़कर खड़ा करदेती है उस देशका यह तत्व उसका साक्षी कहाने लगता है। यह कल्पनाचतुर बुद्धि जिन रूपादिकी कल्पना कर लेती है, उन उनको प्रकाशित करते ही यह तत्व उनका साक्षी होजाता है। यदि इस साक्षीका अपना निराला स्वभाव पूछो तो यह स्वयं वाणी और बुद्धिका गोचर नहीं होता। स्वतन्त्ररूपसे विचार करने बैठें तो उसे साक्षी भी नहीं कहसकते। यदि कोई कहे कि फिर ऐसे अगोचर तत्वको हम मुमुक्षु लोग कैसे समझें? इसका समाधान यह है कि आप लोग आत्माको ग्रहण करनेके विचार निकाल डालो। सारा झगड़ा ग्रहणका है। जब तक इस ग्रहण करनेका प्रयत्न करते रहोगे तब तक आत्मतत्व दीखनेवाला नहीं है। ग्रहण करना छोड़ते ही उस तत्वके दर्शन मिलते हैं। किसीको भी ग्रहण न करना ही, उस तत्वको ग्रहण करना है। जब यह सर्वग्रह—जिसे तुम अनादिकालसे करते आरहे हो—रुक जायगा उस समय जो अनुपम सत्य तत्व शेष रहेगा, वही यह है। उस तत्वको जाननेकेलिये आपको किसी भी प्रमाणसे सहायता लेनी नहीं पड़ेगी। क्योंकि वह तत्व स्वयंप्रकाश है। वैसी स्वयंप्रकाश वस्तुको समझना हो तो किसी अनुभवीके वातावरणका अंग बनकर उसके मुखसे श्रुतिका पठन करो। अनुवादोंके पढ़नेसे वह बात मिलनेवाली नहीं है। जो जिस मार्गकी यात्रा कर लेता है वह उसके मर्मका सच्चा ज्ञाता हो जाता है वही दूसरेको भी सच्चा मार्ग दिखासकता है। निष्प्राण पुस्तकोंको पढ़लेनेसे बातका मर्म हाथ नहीं लगता। इस कारण अनुभवी गुरुकी आवश्यकता है।

यदि मन्दाधिकारी लोग उपर्युक्त सर्वग्रहका त्याग न कर सकें तो

वे बुद्धिकी शरणमें जांय। जैसे बुड्ढे लोग लकड़ीके सहारेसे चलते हैं इसीप्रकार वे लोग बुद्धिके सहारेसे इस साक्षी तत्वको पहचानें, कि यह बुद्धि जिस किसी वाह्य या आन्तर पदार्थकी कल्पना करती है यह परात्मा उस उस पदार्थका साक्षी होकर बुद्धिके अधीन होता है। यों वे लोग भी बुद्धिका हाथ पकड़कर इस गहन तत्वको ढूंढलें।

ब्रह्मानन्दान्तर्गत योगानन्दका संक्षेप ११

इस प्रकरणमें उस ब्रह्मानन्दका वर्णन किया गया है जिसे पहचानते ही इस लोक और परलोकके त्रिविध ताप मनुष्यको छोड़कर भागजाते हैं और पहचाननेवाला सनातन सुखरूप ब्रह्मतत्व होजाता है। श्रुतियोंने इस ब्रह्मज्ञानकी बड़ी प्रशंसा की है। वे कहती हैं कि "ब्रह्मदर्शी पुरुष परको पालेता है। आत्मज्ञानी शोक मोहकी अवस्थासे ऊपर उठजाता है। रस अथवा सार ब्रह्म ही है। यह मनुष्य इस रसको पाकर ही आनन्दी होसकता है और प्रकारसे नहीं। जब पुरुषको अपने रूपमें प्रतिष्ठा (ठहरना) मिलजाती है तब ही अभय होसकता है। जब मनुष्य अपनेमें भेद देखने लगता है तब उसे डरना पड़ता है। यह समझलेनेवाला पुरुष कि 'आनन्द जहां है वहाँ ब्रह्मतत्वका ही है', किसी भी बात और किसी भी घटनासे नहीं डरता। कर्मरूपी अग्निकी चिन्ता केवल इस ज्ञानीको छोड़ती है। शेष सब प्राणी इस कर्तव्याग्निकी ज्वालाओंसे झुलसे पड़े हैं और इसीकी झूठी चिकित्सा करनेमें व्यग्र होकर आत्मदर्शनका सुअवसर खोरहे हैं। इस रहस्यको जान चुकनेवाला पुरुष पापपुण्योंको छोड़कर सदा आत्माको स्मरण रखने लगता है और किये हुए कर्मोंको भी आत्मरूप जानलेता है। उस परावरको देख चुकने पर मनुष्यकी 'हृदयग्रन्थि' खुलजाती हैं, सब सन्देह मिटजाते हैं और सब कर्म नष्ट होजाते हैं। उसीको जान चुकनेवाला पुरुष जन्ममरणरूपी

चक्रसे छूट सकता है। इस चक्रसे छुटकारेका दूसरा कोई मार्ग नहीं है। देवको जानकर ही मनुष्यकी फाँसी खुलती है। क्लेशोंके नष्ट होजानेपर मनुष्यको फिर जन्म लेना नहीं पड़ता। जो धीर पुरुष देवको जानलेता है वह इसी जन्म और इसी लोकमें हर्ष शोकसे छुट जाता है। किये या बिन किये पुण्यपाप फिर इसे कभी दुःखी नहीं करते।" उपर्युक्त श्रुत्यर्थोंमें ब्रह्मज्ञानसे अनर्थकी हानि और आनन्दकी प्राप्ति दोनों बातोंकी घोषणा है।

आनन्दके मुख्य तीन भेद हैं एक 'ब्रह्मानन्द' दूसरा 'विद्यानन्द' तीसरा 'विषयानन्द'। सबसे पहले ब्रह्मानन्दका विवेचन करेंगे—

भृगुके पिता वरुणने उसको ब्रह्मका लक्षण बताया कि 'जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिसके सहारेसे जीते हैं तथा मरते समय जिसमें लीन होजाते हैं वह ब्रह्म है।' जब उसने इस लक्षणको अन्न, प्राण, मन और बुद्धिमें घटा घटाकर देखा तब उसे यह निश्चय होगया कि ये ब्रह्मतत्व नहीं हैं। उसे अन्तमें जाकर इसी लक्षणके सहारेसे आनन्दके ब्रह्म होनेका निश्चय हुआ। क्योंकि आनन्दसे ही ये भूत उत्पन्न होते हैं उसीसे जीते हैं और उसीमें लीन होजाते हैं। इस कारण आनन्द ही ब्रह्मतत्व है। इसमें फिर उसे संशय न रहा।

भूतोंके उत्पन्न होनेसे पहले (त्रिविध द्वैतके न होनेसे) भूमा परमात्मा ही परमात्मा था। क्योंकि प्रलयकालमें ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूपी त्रिविध द्वैत नहीं होता। जब उस परमात्मामेंसे विज्ञानमय उत्पन्न हुआ तब वह 'ज्ञाता' होगया। जब मनोमय उत्पन्न हुआ तब 'ज्ञान' होने लगा। जब शब्दादि विषय उत्पन्न हुए तब वे 'ज्ञेय' होगये। ये तीनों ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय उत्पत्तिसे पहले नहीं थे। आप उस अवस्थाका ध्यान कीजिए—जब उपर्युक्त तीनों नहीं थे, यदि आप उस अवस्थामें जानेका साहस कर सकें तो सुनिये—उस अवस्थामें एक द्वैतरहित पूर्णपदार्थ अनुभवमें आता है। वह द्वैतरहित पूर्ण पद यहां लोकमें वर्तमानकालमें

भी देखा जासकता है। क्योंकि विद्वानको समाधिके समय निर्द्वंतपूर्ण आत्माका अनुभव होता है। सुषुप्ति और मूर्छामें उस निर्द्वंतपूर्ण तत्व का अनुभव सर्वसाधारणको भी होता है। सुषुप्ति आदिके समय इस पूर्ण पदके खण्ड कर डालनेवाली वस्तु नहीं रहती और यों उस समय आत्मामें अपनी पूर्णता लौट आती है। इसीप्रकार सृष्टि बननेसे पहले भी, 'भेदक उपाधिके न रहनेके 'कारण, वह परात्मा पूर्णका पूर्ण रहता है।

नारद पुराणसहित पांचों वेदों और सकल शास्त्रोंको जानकर भी केवल अनात्मज्ञ होनेके कारण शोकी होगया था। उसने गुरुके सामने जाकर अपने·हृदयकी दुर्बलताको यों दिखाया था कि भगवन्! विद्या पढ़नेसे पहले मुझे सर्वसाधारणकी भांति, तीन प्रकारके ताप ही तपाया करते थे, परन्तु अब वेदाध्ययनसे मेरे ऊपर एक बोझ और बढ़ गया कि कहीं यह विद्या भूल न जाय, अब मुझे दूसरे विद्वान्से पराजयका भय भी रहने लगा। अब मुझे अपनेसे थोड़े पढ़े लिखेको देखकर गर्व भी होने लगा, इस कारण बार बार इस पठितका अभ्यास करना पड़ता है। यों विद्वान् होनेसे मेरा बोझ और बढ़ गया। होना जो चाहिये था उससे सर्वथा विपरीत होगया। विद्वान् होनेसे मुझे शान्ति और लघुताकी आशा थी। आज वह पूरी नहीं होरही है। सो कृपा करके आप मुझे वहाँ पहुंचाइये जहाँ शोक नहीं रहता। इसके उत्तरमें सनत्कुमार ऋषिने उत्तर दिया कि सुख ही ऐसा तत्व है जिसे जानकर शोकका पार पाया जासकता है, सो आप सुखको जानलो कि वह क्या है और कैसा है? सुखके विषयमें मनुष्यको यह बात विशेष रूपसे जाननी पड़ेगी कि वैषयिक सुख सुख नहीं है। क्योंकि इसपर सहस्रों शोकरूपी श्वापदोंकी वक्र दृष्टि पड़ी हुई है। शोकश्वापद सदा इस वैषयिक सुखको नोचते हैं। इसलिये वैषयिक सुखको सुख न कहकर दुःख कहें तो भला हो। यह ठीक है कि अद्वैतमें सुख नहीं है परन्तु आपको यह ज्ञात होना चाहिये

कि सुख स्वयं अद्वैत है। स्वयंप्रकाश होनेके कारण उसकेलिये प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। सुषुप्तिके समय इन्द्रियां नहीं होतीं, जिससे उसे (सुषुप्तिको) जान सकें, फिर भी सुषुप्तिको सब मानते हैं। प्रश्न होता है कि बिना प्रमाणकी वस्तुको क्यों माना जाता है ? इसका कारण सुषुप्ति की स्वयंप्रकाशता है। सुषुप्तिके समय कुछ दुःख नहीं होता। उस समय केवल सुख नामकी वस्तु शेष रहजाती है। उस समय कोई विरोधीदुःख नहीं रहता, इस कारण उस समय सुख माननेमें कोई विघ्न नहीं। जब मनुष्य जागते समयके अनेक व्यापारोंसे थक जाता और विषयों से ऊब जाता है तब उसका दुःखदायी प्रसंग टलजाता है, तब वह प्राणी स्वस्थचित्त होता है। उस समय उसे मृदुशय्या आदिसे मिलनेवाले सुखका अनुभव होता है। विषयोपार्जन करता करता मनुष्य दुःखी हो जाता है। जब मनुष्य उस दुःखको हटानेके लिये कोमलशय्यापर लेटता है तब उसकी बुद्धि अन्तर्मुख होती है। अन्तर्मुख हुई उस बुद्धिवृत्तिमें सामने रक्खे हुए दर्पणकी भांति स्वरूपभूत आत्मानन्द प्रतिबिम्बित होजाता है। बस इसीको 'विषयानन्द' कहते हैं। क्योंकि यह विषयानन्द त्रिपुटीके अधीन (त्रिपुटीपर निर्भर) होता है, इस कारण इससे भी जीवको श्रम होता है। यह जीव इस श्रमको भी हटानेकेलिये प्रतिदिन सोना चाहता है या यों कहो कि परमात्माकी ओर दौड़ लगाता है। वहाँ पहुँचकर जो अद्भुत प्रसंग होता है उसे स्मरण करते ही विचारशील को बड़ी प्रसन्नता होती है। क्योंकि उस समय सोनेवाला प्राणी स्वयं वहांका ब्रह्मानन्द होजाता है। जैसे धागेमें बंधा पक्षी चारों ओर उड़ उड़कर थककर अपने बन्धनस्थानपर लौटा हो, इसीप्रकार यह जीव धर्माधर्मके फलोंको भोगनेकेलिये सुपने या जागरणमें टक्करें मार मारकर भोगदायी कर्मोंके क्षीण होते ही, लीन होजाता है। जैसे कोई श्येन (पक्षी) उड़ते उड़ते थककर अपने घोंसलेपर टूट पड़ा हो, उसीप्रकार ब्रह्मानन्दका लम्पट यह जीव सुषुप्तिकी ओरको दौड़ता है। मनुष्योंमें दूध पीकर खाटपर लेटा हुआ नन्हा बालक आनन्दकी मूर्ति दिखाई देता

है, क्योंकि उसे उस समय आनन्दका जन्मवैरी रागद्वेष प्रतीत नहीं होता। दूसरे वह चक्रवर्ती राजा जो सब भोगोंसे तृप्त होकर बैठा हो, जिसे मनुष्योंको मिलनेवाला बड़ेसे बड़ा सुख प्राप्त हो आनन्दमूर्ति हुआ रहता है। अथवा विद्यानन्दकी अन्तिम गति पाकर कृतकृत्य हुआ ब्रह्मज्ञब्राह्मण भी सुखमूर्ति बनजाता है। लोकमें मुग्ध, बुद्ध और अतिबुद्ध ये ही तीन सुखी होते हैं। जिनको लेशमात्र विवेक नहीं, उनमें बालक सबसे सुखी, जिनमें कुछ विवेक है उनमें, सार्वभौम राजा सबसे सुखी, जो अतिविवेकी हैं उनमें आत्मदर्शी सर्वाधिक सुखी है। इन तीनोंको छोड़कर शेष समस्त प्राणी दिनरात दुःखी रहते हैं—वे कभी सुखी नहीं होते। इस कारण इन तीनका दृष्टान्त दिया है। प्रकृत बात यह हुई कि—यह निद्रित प्राणी भी इन तीनोंकी भांति ब्रह्मानन्दमें तत्पर रहता है। उसे स्त्रीसे आलिंगित कामीकी भांति भीतर बाहरका कुछ ज्ञान नहीं रहता। उस अवस्थाके विषयमें श्रुतिने कहा है कि उस समय पिता पिता नहीं रहता। अर्थात् उतने समयकेलिये जीवका जीव-भाव खोया जाता है। उस समय जीव ब्रह्मतत्व होगया होता है। क्योंकि उस समय संसारिपनका कोई चिह्न नहीं रहता। जानना चाहिये कि सुखदुःख देनेवाली वस्तु क्या है? पितापन आदिका अभिमान ही सुखदुःखका कारण हुआ करता है। जब सुषुप्ति आती है तब यह अभिमान नहीं रहता और यह प्राणी उस समय सब शोकसरिताओंके पार पहुँच गया होता है। जब कोई पुरुष सोकर उठता है तब कहता है कि मैं सुखपूर्वक सोया और मैंने कुछ नहीं जाना। उसके इस कथन का यह अर्थ हुआ कि वह उस समय सुख और अज्ञान दोनोंको जान रहा था। चित्स्वरूप होनेके कारण सोते समय सुख स्वयं प्रतीत होजाता है। उस स्वयंप्रकाश सुखपर जो कि अज्ञानका पर्दा पड़ारहता है, उसकी प्रतीति भी उस सुखके सहारेसे ही ऐसे होती है जैसे सूरजको ढकलेनेवाले मेघ सूरजके ही सहारेसे प्रतीत होते रहते हैं। वाजसनेयी शाखावालोंने सुख विज्ञान और आनन्द इन तीनोंको एक कहा है। उससे यह समझनेमें

और सुभीता होजाता है कि स्वयंप्रकाश जो कोई सुख है वह ब्रह्मतत्व है। सुषुप्तिके समय सुखके ऊपर जो अज्ञानका ढकना पड़ा रहता है उसी अज्ञानमें बुद्धि और मन लीन होजाया करते हैं। विज्ञानमय और मनोमयका विलीन होजाना ही 'निद्रा' है। इसीको कोई-कोई 'अज्ञान' भी कहते हैं। जैसे पिघला हुआ घी ठण्डक लगनेसे गाढ़ा होजाता है, इसीप्रकार यही अज्ञान भोगदायी कर्मोंके सम्पर्कसे गाढ़ा होकर 'विज्ञानमय' होजाता है। विलीन अवस्था वाले उसी अज्ञानको 'आनन्दमय' कहते हैं। गाढअवस्थाके इसी अज्ञानको विज्ञानमय कहते हैं। सुषुप्तिसे पहले क्षणमें अन्तर्मुख बुद्धिवृत्ति में सुखका प्रतिबिम्ब पड़ता है। उसके पश्चात् जब वह वृत्ति उस प्रतिबिम्बको अपने मुंहमें पकड़े ही पकड़े निद्रारूपमें लीन होजाती है तब यही 'आनन्दमय' कहाने लगती है। वह अन्तर्मुख आनन्दमय चिदाभाससे मिली हुई तथा अज्ञानसे पैदा हुई अति सूक्ष्म वृत्तियोंके द्वारा ब्रह्मसुखको भोगा करता है। जब हम जागरणमें सुख भोगते हैं तब तो हमें यह ज्ञान रहता है कि हम सुख भोग रहे हैं परन्तु निद्राके समय ऐसा विचार नहीं रहता। इस न रहने का कारण सुनलो—वे अज्ञानवृत्तियां बहुत सूक्ष्म होती हैं। वे बुद्धिवृत्तियोंकी भांति स्पष्ट नहीं होतीं। इसीसे सुषुप्तिमें सुखभोगका स्पष्ट परिज्ञान नहीं होता। वेदान्तका गम्भीर मनन करनेवालोंने यह बात बतायी है। माण्डूक्य और तापनीय आदि उपनिषदोंमें बड़ी स्पष्ट भाषा में 'आनन्दमय' को भोगनेवाला और 'ब्रह्मानन्द' को भोग्य कहा है। जो आत्मा जागते समय मन, बुद्धि आदि अनेक रूप होरहा था, वही सुषुप्तिके समय चावलोंकी पिट्ठीकी भांति फिर एकताको प्राप्त होजाता है। पहले जो बहुतसी बुद्धिवृत्तियां थीं सुषुप्तिके समय उनका एक घनपिण्ड होजाता है—मानों पानीका जमकर हिम बनगया हो। हमने जिस प्रज्ञानघनताका वर्णन ऊपर किया है, इसीको बहुतसे लोग दुःखाभाव कहते हैं। क्योंकि उस समय सम्पूर्ण दुःखवृत्तियोंका विलोप होजाता है। उनकी यह एकदेशीय दृष्टि ही उनके भ्रमका कारण बनजाती है। यह

पहले कहा जाचुका है कि तब आनन्दका भोग अज्ञानमें बिम्बित चैतन्य से हुआ करता है। मनुष्यको अज्ञानके आवरणके कारण भोग्य आनन्द के स्वरूप का पता नहीं चलता। यदि उसका पता चलजाता तो प्राणीको विषयोंमें भटकना न पड़ता। तब वह सीधा आनन्दभोग करलिया करता। यह जीव इसी अज्ञानके कारण भोगमें आते हुए भी उस ब्रह्मसुखकी अवहेलना करके कर्मोंके प्रतापसे फिर फिर बाहर निकल पड़ता किंवा जागजाता है। जब यह जीव सोकर उठता है तब कुछ काल तक उस भोगे हुए ब्रह्मानन्दकी वासना बनी रहती है। जब ही तो वह बिना किसी सुखदायी विषयके सुखी होकर चुपचाप बैठा रहता है। जिन कर्मोंने इसे सुषुप्तिमेंसे जगाया था, वे ही कर्म फिर इससे संसारके नाना दुःखोंकी भावना कराने लगते हैं। फिर यह अभागा प्राणी धीरे धीरे उस जगज्जीवन ब्रह्मानन्दको सर्वथा भूल जाता है। निद्राके पीछे और निद्राके पहले सब मनुष्योंको इस ब्रह्मानन्दमें बड़ा स्नेह होता है। हाँ इतना तो अवश्य है कि वे इस आनन्दका यह नाम नहीं जानते। इतना समझ चुकनेपर कोई विवेकी इस आनन्दके विषयमें विवाद न करेगा। जो ब्रह्मानन्द ज्ञानी लोगोंको बड़े परिश्रमसे मिलता है, वही ब्रह्मानन्द आलसियों और सर्वसाधारणको मिला ही हुआ है, फिर आप गुरु और शास्त्रकी पख क्यों लगाते हो ? ऐसा यदि कोई पूछे तो हम कहेंगे कि हाँ यदि सचमुच वे लोग यह पहचान जांय कि यह ब्रह्मानन्द है, यह सब का स्वरूप होनेसे सबको मिला हुआ है, तो वे अवश्य कृतार्थ होजाँय। परन्तु गुरु और शास्त्रके विना यह गम्भीर तत्व किसीकी समझमें नहीं आता। जब तक कोई इस ब्रह्ममार्गका भेदिया साथ न हो तब तक ब्रह्मदुर्ग पर अधिकार पाना संभव काम नहीं है।

प्रकृत बात यही हुई कि जहां-जहां विषय न हों और सुख हो वहां सर्वत्र इस ब्रह्मानन्दकी 'वासना' समझलो। विषयोंके मिलने पर जब उनकी इच्छा नहीं रहती और मनोवृत्ति अन्तर्मुख होजाती है,

तब उसमें आनन्दका प्रतिबिम्ब पड़ता है, इसीको 'विषयानन्द' जानलो। 'ब्रह्मानन्द' 'वासनानन्द' और 'प्रतिबिम्ब' (विषयानन्द) इन तीनके अतिरिक्त इस जगत्में चौथा आनन्द नहीं है। इन तीनों आनन्दोंमें भी यह बात ध्यान रखने योग्य है कि यह स्वयंप्रकाश 'ब्रह्मानन्द' ही 'वासनानन्द' और विषयानन्दों' को यदा तदा उत्पन्न किया करता है।

यहां तक श्रुति, युक्ति और अनुभवके सहारेसे यह सिद्ध किया गया कि सुषुप्तिकालमें यह स्वयंप्रकाश और चेतन ब्रह्मानन्द रहता है। अब जागरणकालमें उस ब्रह्मानन्दको कैसे जानें ? सो भी सुन लीजिए— हमने सुषुप्तिके समय जिस 'आनन्दमय' को ऊपर बताया है, वही जब 'विज्ञानमय' होजाता है तब स्थानभेदके कारण कभी जागरण और कभी स्वप्नमें पहुँचता है। नेत्रमें अर्थात् इन्द्रियोंमें पहुँचनेपर 'जागरण' होता है, कण्ठमें 'स्वप्न' होता है और हृदयकमलमें 'सुषुप्ति' होती है। यह जब जागता है तब पैरोंसे मस्तकपर्यन्त देहको व्याप्त करलेता है। जैसे अग्नि तपे हुए लोहपिण्डके साथ हिलमिलकर एक होजाती है, इसी प्रकार यह चेतन इस देहके साथ तादात्म्यको प्राप्त होकर निश्चित रूपसे यह मान बैठता है कि 'मैं मनुष्य हूं'। यह क्रमसे 'उदासीन' 'सुखी' और 'दुःखी' इन तीन अवस्थाओंमें रहता है। इन तीनों अवस्थाओंमें से सुखदुःखकी दो अवस्थायें कर्मसे उत्पन्न हुआ करती हैं। परन्तु उदासीनता किसी कर्मसे उत्पन्न नहीं होती (वह स्वाभाविक होती है)। बाह्य पदार्थोंके भोगसे या मनोराज्यसे भिन्न भिन्न प्रकारके सुखदुःख होते हैं। परन्तु कभी कभी ऐसा भी होता है कि उस समय न सुख होता है और न दुःख। उस समय निजानन्दकी धुंधली प्रतीति सबको होती है। उस समय प्रायः सब यह कहते हैं कि आज मुझे कोई चिन्ता नहीं है आज मैं सुखपूर्वक बैठा हूं। परन्तु इस आनन्दके 'मैं सुखपूर्वक हूं' इसप्रकार सूक्ष्म अहंकारसे ढका रहनेके कारण इसे मुख्यानन्द नहीं कह सकते। इसे मुख्य आनन्दकी वासना समझना चाहिए। वासना इसलिये है कि

यह हमें अहंकारके छननेमें को छनकर अस्पष्ट दीख रही है—यह अपनी ओरको हमारा विशेष ध्यान नहीं खींच सकी है। जिस प्रकार जल भरे हुए घड़ेके बाहर प्रतीत होनेवाली शीतलता जल नहीं होती, किन्तु जलका गुण होता है, उस शीतलताको देखकर जलका अनुमान होता है, इसीप्रकार यह उदासीनताका सुख 'ब्रह्मानन्द' नहीं है। यह तो 'ब्रह्मानन्द' की वासना है। इस वासनासे 'ब्रह्मानन्द' का अनुमान होता है। निरोधसमाधिके अभ्याससे जितना जितना इस अहंकारका विस्मरण होताजाता है, योगीको निजानन्दका अनुभव होने लगता है। जब पूर्ण-रूपसे अहंकारका विस्मरण होजाता है, तब भी यह परमसूक्ष्म होकर रहता है—लीन नहीं होता—इस कारण इस अवस्थाको निद्रा नहीं कह सकते। यही कारण है कि साधकका देह गिर नहीं जाता किन्तु धृत रहता है। गीताके छठे अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनके प्रति कहा है कि जिस समय द्वैतका भान बन्द होजाय और नींद भी न आये, उस समय जो सुख किसीको प्रतीत होता हो वही ब्रह्मानन्द है। साधकको चाहिए कि धीर बुद्धिके सहारेसे धीरे धीरे मनकी उपरतिकी साधना किया करे और जब मनको आत्मसंस्थ करचुके—जब मनको यह निश्चय करा चुके कि यह सब कुछ आत्मा ही है, उससे भिन्न यह कुछ नहीं है—फिर सब कुछ सोचना बन्द करदे। यही योगकी अन्तिम स्थिति है। ऐसी उच्च स्थिति पानेकी विधि यह है कि जो मन स्वभावदोषसे चंचल और अस्थिर है, जो किसी एक विषयके साथ बंधकर कभी नहीं ठहरता, वह जिस कारणसे बाहर निकला हो, उसकी ओरसे उसे रोककर, उसे उसके दोष दिखाकर, उसे वैराग्यका उपदेश देकर, वहांसे हटाले और आत्माके बसमें करता जाय। इसप्रकार योगाभ्यासी पुरुषका मन अभ्यासके प्रतापसे आत्मामें शान्त होजायगा। जब इस योगीका मन शान्त होजायगा, जब इसका रजोगुण नष्ट होजायगा, जब वह निष्पाप होजायगा, तब उसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति होगी और तब ही उसे उत्तम सुख मिलेगा। जिस समय चित्त योगसेवा करते करते रुककर उपराम पालेता

है, जब अपने आप अपने आपको देख देखकर मग्न होने लगता है, जिस समय आत्मामें स्थित हुआ योगी बुद्धिग्राह्य अनन्त अतीन्द्रिय और अपूर्व सुखका अनुभव किया करता है, जब वह आत्मतत्त्वको कभी नहीं भूलता, जिस आत्माको पाकर दूसरे लाभ तुच्छ दीखने लगते हैं, जहां पहुँचकर योगी दुःखोंके पर्वत गिर पड़नेपर भी विचलित नहीं होता, समस्त दुःखोंके संयोगको छुड़ादेनेवाली इस पुण्य अवस्थाको 'योग' कहते हैं। ऐसे योगको निर्वेदरहित मनसे बड़ी लगनसे करना चाहिए। जब कोई योगी इस रीतिसे सदा आत्माको योगमें लगाए रहेगा, तब उसके योगविघ्न भागेंगे। फिर उसे विना परिश्रम ब्रह्मसुख मिलेगा। जितना धीरज टिट्टिभीने समुद्रजलको अपनी चोंचसे सींचकर समुद्र सुखानेकेलिए धारण किया था, यदि कोई उतना धीरज योगकेलिए धारण करेगा तो उसके मनका निग्रह होगा।

मैत्रायणी शाखामें योगकी विधियाँ लिखी हैं कि जैसे विना ईंधनकी आग अपने कारणमें शान्त होजाती है, इसीप्रकार जब वृत्तियें नहीं रहतीं तब यह चित्त अपने कारणमें शान्त होजाता है। जो मन अपने कारणमें शान्त होचुका हो, जिस मनने इन्द्रियार्थोंकी ओर देखना छोड़दिया हो, ऐसा मन कर्मवश मिलनेवाले सुखादिको मिथ्या समझ लेता है। यह एक अनादिसिद्ध रहस्य है कि चित्त ही संसार है। क्योंकि चित्त ही संसार है इस कारण मनुष्यको अपने चित्तको शोधकर रखना चाहिये। जिसका चित्त जिसमें पड़ा रहता है वह प्राणी तन्मय हुआ रहता है। जब चित्तमें प्रसाद आजाता है तब शुभाशुभ कर्म नष्ट होजाते हैं। जब प्रसन्नचित्तवाला पुरुष आत्मामें स्थित होता है तब उसे अक्षय्य सुख मिलता है। जैसे इस मायामोहित प्राणीका चित्त विषयोंमें आसक्त हो रहा है वैसे यदि ब्रह्मतत्त्वकी ओर झुकजाय तो फिर कौन है जो बन्धनसे छुटकारा न पाजाय?

मन दो प्रकारका होता है एक शुद्ध दूसरा अशुद्ध। मनमें कामना

के मेलसे अशुद्धता आती है। जब वही मन कामनासे हीन होजाता है तब उसे 'शुद्ध मन' कहते हैं। यह मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है। विषयोंमें आसक्त मन मनुष्यको बंधवा देता है। निर्विषय मनसे मनुष्यको मुक्ति मिलती है। जिस चित्तको आत्मामें लगा दिया जाता है, जिस चित्तके रजस्तमोमल समाधिरूपी जलसे धो दिये जाते हैं, उस चित्तको समाधिमें जो आनन्द आता है, उसका वर्णन वाणीसे नहीं किया जासकता। क्योंकि वह एक अलौकिक सुख है। उस सुखको वाणी आदि लौकिक साधन कैसे दिखा सकेंगे? उसे मौनकी अमानवी भाषामें समझना होगा। वह स्वरूपभूत सुख अन्तःकरणसे ग्रहण किया जासकता है। यद्यपि प्रत्येक साधक मनको चिरकाल तक आत्मामें स्थिर नहीं करसकता, फिर भी यदि किसीको क्षणभरकी समाधि भी होने लगे तो उसे अगाध ब्रह्मानन्दसमुद्रका निश्चय तो हो ही जाता है। जो श्रद्धालु हैं, जिन्हें इसकी धुन लगजाती है, उन्हें इसका निश्चय अवश्य होजाता है। जब उन्हें एक बार निश्चय होजाता है तब फिर वे सदा उसपर विश्वास किये रहते हैं। जिनको एक बार इस तत्वका निश्चय होजाता है वे उदासीनताके समय आनेवाली आनन्दकी वासनाको 'दूर हट' कह देते हैं और तब भी इस मुख्य ब्रह्मानन्दकी भावनाको बड़ी तत्परतासे किया करते हैं। धीर पुरुष, जब एक बार भी इस तत्वमें विश्राम पालेता है तब परपुरुषके व्यसनवाली नारीकी भांति बाह्य व्यापार करता हुआ भी सदा इसी आनन्दको चखता रहता है। 'धीर' हम उसको कहते हैं कि जो इन्द्रियोंके विषयोंकी ओर जानेका प्रबल बल लगानेपर भी आत्मानन्दके आस्वादकी इच्छासे उन सबको डाट बताकर उसीकी चिन्तामें लगा रहे। बोझा उठानेवाले पुरुषको सिरके बोझको उतारकर फेंक देनेपर जैसा विश्राम मिलता है, जब संसारकी खटपटके छूट जानेसे वैसी बुद्धि किसीकी होती हो, तब उसे हम 'विश्राम पाना' कहते हैं। इस तत्वमें विश्राम पालेनेवाले पुरुषकी ऐसी अवस्था होजाती है कि वह जैसे उदासीनकालमें आनन्दतत्पर रहता है, ठीक उसीप्रकार सुखदुःखके

कारणों या सुखदुःखोंके प्राप्त होनेपर भी उसी लगनसे आत्मानन्दका स्वाद लेता रहता है। वह अपने शरीरको तो सुखदुःख भोगने देता है और मनसे ब्रह्मानन्द चखता रहता है। वह संसारके जो विषय ब्रह्मानन्द का अनुसंधान नहीं करने देते, उनकी ओर इतना अनादरशील होजाता है जैसे कोई सती होनेवाली स्त्री शृङ्गारका अनादर करती हो। धीर पुरुषकी बुद्धि कौवेकी आँखकी भांति कभी आत्मानन्दको भोगती और कभी आत्मानन्दका विरोध न करनेवाले संसारी सुखोंका अनुभव किया करती है। कौवेकी एक ही पुतली होती है, वही कभी दाहिनी आंखमें और कभी वांयी आँखमें आया जाया करती है, इसीप्रकार तत्वज्ञानीकी मति दोनों आनन्दोंमें चक्कर लगाती रहती है। 'विषयानन्द' और 'ब्रह्मानन्द' दोनों आनन्दोंको भोगनेवाला तत्वज्ञानी दुभाषियेके समान होता है। जैसे दुभाषिया दोनोंकी बात समझता है ऐसे ही तत्वज्ञानी 'लौकिक' और 'वैदिक' दोनों आनन्दोंको लूटा करता है। जो पुरुष आधा गंगाजलमें डूब रहा हो और आधा धूपमें खड़ा हो जैसे वह सर्दी गर्मी दोनोंको एकसाथ अनुभव किया करता है इसीप्रकार वह सुखदुःख दोनोंको एकसाथ भोगा करता है। उसे दुखोंसे उद्वेग नहीं होता क्योंकि उसी समय उसे वह महानन्द मिल रहा है। वह अब दो दृष्टिवाला होगया है। वह विपत्तिके पहाड़ टूटनेपर भी वैदिक ब्रह्मानन्दको ध्यानमें लाकर उद्विग्न नहीं होपाता।

इसप्रकार जागरणकालमें चाहे दुःखानुभव होरहा हो चाहे सुखानुभव होता हो, और चाहे वह उदासीन होकर चुपचाप बैठा हो, तत्वज्ञानीको सदा ब्रह्मानन्द दीखा करता है। इतना ही नहीं, उसे इस जागरणकी वासनासे बननेवाले सुपनोंमें भी ब्रह्मसुख भासने लगता है। सुपने आनन्दवासनासे भी आते हैं और अविद्यावासनासे भी आते हैं। जब इस ज्ञानीको अविद्यावासनाके स्वप्न आते हैं तब इसे भी अज्ञानियों की भांति सुखदुःख देखने पड़ते हैं।

इस प्रकरणमें सुषुप्ति अवस्थामें, उदासीनकालमें, समाधिभावना के समय तथा सुखदुःख भोगते हुए भी स्वयंप्रकाश ब्रह्मानन्दको प्रकाशित करनेवाले योगीके प्रत्यक्षकी रूपरेखा बतायी गयी।

ब्रह्मानन्दान्तर्गत आत्मानन्दका संक्षेप १२

योगी लोग तो योगके द्वारा निजानन्दको पा लेंगे, पर जिनकी योगमें गति नहीं है वे इस आत्मानन्दको कैसे जानें? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि हम चाहे जितनी उदारता दिखायें सर्वसाधारण इस गहन बातको नहीं समझ सकते। इस मार्ग द्वारा उनका तिलभर भी उपकार नहीं हो सकता। वे जिस प्रवृत्तिमार्गमें लगे हैं उनकेलिए वही ठीक है। इसलिये ठीक है कि प्रवृत्तिमार्गकी दुःखपरम्परासे ही तो आत्मजिज्ञासा जागती है। जब तक संसारनदीके प्रवाहको रोककर खड़ी होजानेवाली बाधायें किसीके सामने आकर खड़ी नहीं होतीं तब तक कोई किसीके कहनेसे प्रवृत्तिमार्गको नहीं छोड़ता। प्रवृत्तिमार्ग जब कभी छूटता है तब अपने अनुभवसे शिक्षा मिलनेपर छूटता है और उस समय निवृत्ति उचित अवसरपर आकर ज्ञानको उत्पन्न करती है। प्रवृत्तिसे जिज्ञासा होती है और निवृत्तिसे ज्ञान होजाता है। यों आप प्रवृत्तिमार्गियोंको व्यर्थ फंसा हुआ न समझो। इस संसार नामकी पाठशालामें सबके सब अपनी अपनी शक्तिके अनुसार शिक्षा पा रहे हैं। इसमें शीघ्रताका प्रश्न नहीं है। उन्हें उनके अधिकारके अनुसार कर्म या उपासनामें लगा देना ही श्रेयस्कर है। अनधिकारीको आत्मानन्दकी बात बताना ठीक नहीं। आवश्यकतासे पहले दी हुई वस्तुसे लाभके स्थानमें हानि होती है। हाँ, मन्दप्रज्ञ जिज्ञासुको निम्न रीतिसे आत्मानन्दका बोध कराना चाहिए। याज्ञवल्क्यकी पत्नी मैत्रेयी इसी श्रेणीकी अर्थात् मन्दप्रज्ञ जिज्ञासु थी। याज्ञवल्क्यने उसे जिस रीतिसे समझाया था उस ही रीति

से उसको समझा देना पर्याप्त होगा। याज्ञवल्क्यने कहा था कि अरे मैत्रेयी! अपने जी से पूछो—तुमको स्वयं पतिकेलिए पति प्रिय नहीं होता। पति, पत्नी, पुत्र, वित्त, पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव, वेद, भूत, और यहांतक कि सब कुछ अपने ही प्रयोजनसे प्रिय होते हैं। इनमेंसे एक भी पदार्थ स्वरूपसे प्यारा नहीं है। जितनी प्रीतियां हैं सब एकपक्षीय होती हैं—जब किसी पत्नीको भोगकी इच्छा होती है तब ही वह अपने पतिसे प्यार करती है। यदि उसके प्रेमावेशके समय उसका पति भूखा हो, किसी काममें लगा हो, रोगग्रस्त हो, तो वह उसे नहीं चाहता अर्थात् उसके प्रेमको स्वीकार नहीं करता। तब वह उसे उसके प्रेमका उत्तर नहीं देता। ऐसी अवस्थामें पत्नीका प्रेम एकपक्षीय सिद्ध होता है। निश्चय हुआ कि उसका यह प्रेम, पतिकेलिए नहीं है। यह स्वार्थ प्रेम है। यदि उसका यह प्रेम पतिकेलिए होता तो पतिको किसी भी अवस्थामें होकर उस प्रेमका अभिनन्दन (स्वागत) करना चाहिये था। उधर पतिकी भी यही अवस्था होती है—वह भी जब अपनी पत्नी से प्रेमप्रस्ताव करता है तब अपने ही प्रयोजनसे करता है। उसका प्रेम भी पत्नीके निमित्त नहीं होता। पत्नी रोगिणी हो, चिन्तित हो, व्यग्र हो तब वह उसके प्रेमप्रस्तावको अस्वीकार करदेती है। जब दोनों ओरसे एकसाथ प्रेम उमड़ता है, तब भी यही उपर्युक्त विश्लेषण काम देता है। तात्पर्य यह है कि दोनों प्रेमी अपनी अपनी इच्छा लेकर प्रवृत्त हुआ करते हैं। देखते हैं कि डाढ़ी मूंछकी कीलें चुभ रही हैं, बालक रो रहा है, तौ भी प्रेमी पिता बालकको चूमता जाता है। वह उसके चिल्लानेपर भी उसे छोड़ना नहीं चाहता। क्या कोई भी इस प्रेमको बालककेलिए किया हुआ प्रेम कह सकेगा? पिताका यह प्रेम स्पष्ट एकपक्षीय प्रेम है। यह प्रेम अपनी ही तुष्टिकेलिए किया गया है। जिस जड रत्नको कुछ इच्छा नहीं है, जब उसकी यत्नसे रक्षा कीजाती है तब इस प्रेमको भी स्वार्थप्रेम समझना होगा। क्या कोई इस प्रेमको रत्नार्थ प्रेम कहसकता

है ? बैल नहीं चाहता कि मैं बोझ ढोऊं। मनुष्यने उसे बलपूर्वक इस कामकेलिए बांध रक्खा है। मनुष्य उस बैलपर प्रेम करता है। क्या इस प्रेमको कोई बैलकेलिए किया हुआ प्रेम कहसकेगा ? यह प्रेम स्पष्ट मनुष्यके अपने लिए है। जब हमें ब्राह्मणत्वमूलक पूजासे प्रसन्नता होती है तब यह सन्तुष्टि ब्राह्मण जातिकी नहीं स्वयं अपनी होती है। जब हम स्वर्ग या ब्रह्मलोकको पाना चाहते हैं तब हमारा उद्देश्य इन लोकोंका उपकार करना नहीं होता। किन्तु अपना भोग हमारा लक्ष्य होता है। हम विष्णु आदि देवताओंकी पूजा अपने पापनाशकेलिए करते हैं। निष्पाप देवताओंको उस पूजाकी कोई आवश्यकता नहीं होती। यह स्वार्थकेलिए कीजाती है। हम 'हम व्रात्य न होजांय' इसी उद्देश्यसे वेदोंको पढ़ते हैं, वेद व्रात्य नहीं होसकते। हम स्थान, तृषा, पाक, शोषण और अवकाशकी आवश्यकता से पांचों भूतोंको चाहते हैं। यहां भी हमारा स्वार्थ मुख्य होता है। कहाँ तक कहते जांय, सब कुछ अपने स्वार्थसे प्रिय होता है। जब सब कामोंमें अपनी ही प्रधानता है तब यह हमारा स्पष्ट कर्त्तव्य है कि हम अपने आपेके विषयमें बुद्धिको दृढ कर डालें।

अब प्रश्न होता है कि यह उपर्युक्त आत्मप्रेम कैसा है ? आत्मप्रेम राग नहीं है, राग तो स्त्री आदि नियत विषयोंमें होता है। आत्मप्रेम श्रद्धा भी नहीं है, श्रद्धा तो यागादिमें परिमित है। आत्मप्रेम भक्ति भी नहीं है, भक्ति तो गुरु देवादि तक चलती है। आत्मप्रेम इच्छा भी नहीं है, इच्छा तो अप्राप्त पदार्थकी होती है। फिर आत्मप्रेम क्या पदार्थ है ? इसका समाधान यह है कि आत्मप्रेम केवल सुखको विषय करनेवाली एक प्रकारकी सात्त्विक वृत्ति है। आत्मप्रेमको सत्वगुणसे बनी हुई, केवल सुखके साथ नथी हुई अन्तःकरणकी वृत्ति समझो। इस आत्मप्रीतिको इच्छा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रीति तो प्राप्त, नष्ट और अप्राप्त तीनोंमें रहती है। इच्छा केवल अप्राप्तकी होती है।

अन्नपान आदि हमारे सुखके साधन हैं, इसलिए जैसे वे प्रिय हैं,

यदि आत्माको भी इस प्रकारसे सुखका साधन होनेसे प्रिय मानोगे, तो यह बताना पड़ेगा कि यह आत्मा किसके सुखका साधन है ? इस आत्मा से किसको प्रसन्न करना है ? आत्मा स्वयं ही आत्माको प्रसन्न करे, इसमें अपने कन्धेपर चढ़ बैठनेवाला 'कर्मकर्तृ विरोध' आता है। विषय-जन्य जितने सुख हैं उनमें प्राणीको साधारणसी प्रीति होती है, परन्तु आत्मा अतिप्रिय है। कभी कभी विषयसुखमें मनुष्यकी प्रीति नहीं भी रहती—कभी कभी प्रीति विषयसुखको छोड़कर चली भी जाती है—परन्तु आत्मामें प्रीति न रहे यह कभी नहीं होसकता। प्राणीका स्वभाव है कि वह एक विषयसुखसे प्रेम करना छोड़ देता है दूसरे विषयसुखसे नेहका नाता जोड़ लेता है। परन्तु यह आत्मतत्व छोड़ा या पकड़ा जानेवाला नहीं है। फिर उसमें प्रेमका व्यभिचार कैसे हो ? जिसमें लेना या छोड़ना नहीं है, उसकी कोई उपेक्षा कैसे कर सकेगा ? वह तो उपेक्षा करनेवालेका स्वरूप है। इस कारण आत्मा उपेक्ष्य कभी नहीं होसकता। जो प्राणी रोग या क्रोधसे दुःखी होकर मरना चाहते हैं, वे भी इस देह को ही छोड़ना चाहा करते हैं, आत्माको छोड़देना उनके बसकी बात नहीं होती। हम और किसीसे प्रेम तब करते हैं जब उसे निश्चितरूपसे आत्मार्थ समझ लेते हैं। परन्तु आत्मप्रेम करते समय ऐसा कोई विचार होना सम्भव नहीं। वहां यह प्रश्न ही नहीं उठता। वह तो एक स्वाभाविक प्रेम है। लोकमें भी देखते हैं पिताको पुत्रके मित्रसे पुत्र अधिक प्यारा लगता है। इस प्रकार जो सब पदार्थ केवल अपने सम्बन्धी होजानेके कारण प्रेमके पात्र बन गये हैं, उन सबकी अपेक्षासे यह आत्मा अत्यन्त प्रिय होता है। आइये इस विषयमें अपने अनुभवकी भी साक्षी ले लें कि वह क्या कहता है—प्रत्येक प्राणी अपनेको सदा यही अशीष देता है कि 'भगवान् करे मैं सदा बना रहूं।' इस अनुभवसे भी आत्मामें निरतिशय प्रेम सिद्ध होता है।

यों आत्मप्रेमके सर्वाधिक प्रेम सिद्ध होजानेपर भी, बहुतसे अभागे

लोग आत्माको पुत्रादिका शेष (अंग) मान बैठे हैं। वे इस विषयमें बहुतसे प्रमाणाभास देते हैं। वे यह कहते हैं कि जब ही तो प्रत्येक मनुष्य ऐसा प्रबन्ध किया करता है कि जिससे उसके मरजानेपर भी उसके पुत्रादि सुभीतेसे जीवननिर्वाह करसकें। परन्तु इतने मात्रसे यह आत्मा किसीका अंग सिद्ध नहीं होसकता। ऐसे लोगोंको यह जानना चाहिए कि आत्मा तीन प्रकारका है—एक गौण आत्मा, दूसरा मिथ्या आत्मा, तीसरा मुख्य आत्मा। पुत्रादि ऐसे आत्मा हैं, जैसे कोई देवदत्त को सिंह कह दे और वह सिंहकेसे गुणोंके कारण सिंह कहाने लगा हो। क्योंकि सिंह और देवदत्तका भेद प्रत्यक्ष भास रहा है, इस कारण पुत्रादिको 'गौण आत्मा' मानना चाहिए, मुख्य नहीं। साक्षी और पांच कोश अलग अलग हैं, परन्तु इस भेदको सब नहीं जानते। जैसे ठूठका मिथ्या चोर होजाता है ऐसे ही ये कोश 'मिथ्या आत्मा' बन गये हैं। अब तीसरे आत्माको भी सुन लीजिए—साक्षीका भेद न तो है और न भासता है। क्योंकि वह (साक्षी) सर्वान्तर है। वही साक्षी 'मुख्य आत्मा' है। यहां तक आपको यह स्पष्ट ज्ञात होगया कि आत्मा तीन प्रकारका होता है। अब इतना और जान लीजिए कि जिस व्यवहारमें इन तीनोंमेंसे जिसका आत्मा होना ठीक लगे, उस प्रसंगकेलिए उसीको मुख्य आत्मा मान लो। उस व्यवहारमें शेषको उसका अंग मानलो। जो मरने लगा है, उसे घरकी रक्षाकेलिए गौण आत्मा (पुत्रादि) चाहिए। क्योंकि मिथ्या आत्मा (शरीर) तो मरने ही लगा है तथा मुख्य आत्मा (साक्षी) इन बखेड़ोंमें नहीं पड़ता। इस कारण मरते समय पुत्रादिको ही मुख्य आत्मा मानना चाहिये। जब कोई निर्बल होकर पुष्टिकर अन्न खाना चाहता है, तब उसे देहात्माको ही खिलाना होगा। वह पुष्टिकारक अन्न पुत्रको खिला बैठेगा तो पुष्टि कैसे होगी ? तथा मुख्यात्मा कुछ न खायेगा। ऐसे स्थलोंमें 'मिथ्या आत्मा'—यह देह ही मुख्य आत्मा होसकता है। जब कोई शरीरको सुखानेवाला घोर तप करता है तब वह लोकान्तरमें जानेवाले विज्ञानमयको आत्मा मान

रहा है। जब कोई मुक्ति चाहता है तब चैतन्य ही आत्मा होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यही है कि जिस जिस व्यवहारमें जो जो आत्मा उचित होता है उस उस व्यवहारमें उसी उस आत्मामें सर्वाधिक प्रेम होजाता है। जो पदार्थ न तो आत्मा होता है और न आत्माका अङ्ग होता है उसमें किसी प्रकारका प्रेम नहीं होता। ऐसे पदार्थ दो प्रकारके पाये जाते हैं—एक 'उपेक्ष्य' जैसे मार्गमें पड़े हुए तिनके आदि। दूसरे 'द्वेष्य' जैसे व्याघ्र या सर्प आदि। ये सब मिलकर संसारके पदार्थोंकी चार मुख्य श्रेणियां हुईं। आत्मा, उसका शेष [अङ्ग, सहायक], उपेक्ष्य, और द्वेष्य इन चारों में यह नियम नहीं किया जा सकता कि अमुक पदार्थ 'उपेक्ष्य' ही रहेगा या यह 'द्वेष्य' ही रहेगा। प्रसंगानुसार इनमें परिवर्तन होता रहेगा—'उपेक्ष्य' पदार्थ 'द्वेष्य' या शेष होते रहेंगे। 'द्वेष्य' पदार्थ 'उपेक्ष्य' या 'शेष' हो जायेंगे। देखते हैं कि वही डरावना व्याघ्र जंगलमें सामनेसे आता मिले तो 'द्वेष्य', परे को जाता दीखे तो 'उपेक्ष्य', सिखा पढ़ा लें तो अनुकूल होकर विनोदकी वस्तु बनकर 'शेष' होजाता है। इस बात की व्यवस्था कि 'कौनसा द्वेष्य है तथा कौनसा उपेक्ष्य है' केवल लक्षण मिलाकर करनी पड़ती है। जिसमें जब जो लक्षण मिले उसे तब वही मान लो। जो जब अनुकूल हो उसे तब 'शेष' समझो। जो जब प्रतिकूल हो उसे तब 'प्रतिकूल' मानो। जो जब अनुकूल या प्रतिकूल कुछ न हो तब उसे 'उपेक्ष्य' कहो। आत्मा 'प्रेयान्' [अत्यधिक प्रिय] है, उसके जितने उपकारक पदार्थ हैं वे सब 'प्रिय' हैं, शेष पदार्थ या तो 'द्वेष्य' होते हैं या फिर 'उपेक्ष्य' होते हैं। लोक की व्यवस्था इन चार विभागोंके कारण चल रही है।

यह लौकिक दृष्टिसे विचार करनेका परिणाम हुआ। अब श्रौती विचार दृष्टिसे देखें तो प्रतीत होता है कि सच्चा आत्मा यह साक्षी है। उससे भिन्न और कोई आत्मा नहीं है। हम पांचों कोशोंको नारियलके छिलकेकी भांति ज्ञानके चाकूसे चीरकर अन्दरकी रसमयी वस्तुसे विवेक

की आंखें भिड़ा देनेको श्रौती विचार दृष्टि कह रहे हैं। हमको 'जागरण' 'स्वप्न' और 'सुषुप्ति' इन तीनों अवस्थाओंके आने और चले जानेकी सूचना जिस तत्वके सहारे से मिलती है, वही स्वयंप्रकाश चेतन पदार्थ आत्मा है। शेष प्राणसे लेकर धनपर्यन्त पदार्थ जिस न्यूनाधिकभावसे आत्माके आसपास लगे रहते हैं उसी न्यूनाधिकभावके अनुपातसे उनमें न्यूनाधिक प्रेम होता है। देखते हैं कि धनसे पुत्र, पुत्रसे शरीर, शरीर से इन्द्रिय, इन्द्रियसे प्राण, और प्राणसे आत्मा अधिक प्रिय होता है। तत्वज्ञानी इस स्थितिको पूर्ण रूपसे जानता है। परन्तु मूर्ख लोग समझते हैं कि प्रियतम तो पुत्रादि हैं, हम तो केवल उनको भोगनेके लिये बने हैं। जो इस आत्माको छोड़कर किसी अन्य पदार्थ को प्रिय कहने लगा है, उसे समझाना चाहिये कि अरे मूढ तू जिस वस्तु को प्रिय समझेगा वही तुझे संसारमें बांध रखनेका खूंटा बन जायगी। तू पुत्रको प्रिय समझेगा तो देख तुझे उसके साथ कितने अनिष्ट प्रसंग देखने पड़ेंगे— जब वह उत्पन्न न होगा तब तुझे दुःख होगा, जब गर्भपात होगा तब भी तुझे बड़ा कष्ट पहुँचायेगा, जब प्रसव होगा तो अनन्त प्रसववेदना होगी, फिर रोगी होगा, मूर्ख रह जायगा, विवाह न होसकेगा, परस्त्रीगमन करने लगेगा, निःसन्तान होगा, सन्तान वाला होकर भी दरिद्र होगा, धनी होकर भी मर जायगा, यों तेरे क्लेशों का अन्त कभी न हो सकेगा। इस कारण तू अपने से भिन्न किसी को प्रिय मानना छोड़ दे और यह निश्चय करले कि परम प्रीति अपने आत्मामें ही होती है। ऐसा निश्चय करके दिन रात इस आत्मप्रेम की ओरको देखता रह। जो किसी प्रकार के आग्रह या मिथ्या अभिनिवेशमें आकर अज्ञानपक्षको न छोड़ेगा, उसे अनेक योनियोंमें घूम घूम कर इस अज्ञानका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। परन्तु जो आत्माको निरतिशय प्रेमका पात्र समझकर सदा आत्माकी सेवामें लगा रहेगा, उसके प्रिय आत्माके नष्ट होनेका प्रसंग कभी न आजगा। यहाँ तक सिद्ध होचुका कि यह आत्मा परम प्रेमका स्थान होने से परमानन्दरूप है। देखा जाता है कि ज्यों ज्यों प्रीति बढ़ती

जाती है त्यों त्यों सुख भी बढ़ता जाता है। राजाको अपने उपकरणोंमें अधिक प्रेम होता है तो उसे सुख भी अधिक मिलता है।

अब एक विचार उठता है कि यदि चैतन्यकी भांति सुख भी इस आत्माका स्वभाव हो तो वह सब बुद्धिवृत्तियोंमें आना चाहिए। इसका समाधान यह है कि सब स्वभावों का प्राकट्यमें आना आवश्यक नहीं होता। देखते हैं कि दीपक उष्ण और प्रकाश दो रूप वाला है, जब उसकी प्रभा किसी घरमें फैलती है तब उसकी उष्णता नहीं फैलती। इसी प्रकार बुद्धिवृत्तिमें आत्माके चैतन्यकी अनुवृत्ति होती है सुख की नहीं होती। एक विचार यह भी है कि जैसे किसी किसी पदार्थ में गन्ध, रूप, रस और स्पर्श सब होते हैं, परन्तु एक एक इन्द्रिय इनमें से एक एकको ही ग्रहण कर सकती है, सबको नहीं; इसीप्रकार बुद्धिवृत्तिमें चैतन्य और आनन्द दोनों की अनुवृत्ति होनेपर भी अशुद्ध मनसे केवल चैतन्य का भास होता है, आनन्दका नहीं। सात्विकवृत्ति बड़ी निर्मल होती है, इसकारण उसमें चैतन्य और सुख दोनों प्रतीत होजाते हैं। रजोवृत्तियों के मलिन होनेके कारण, इनमें सुखभागके दर्शन नहीं होते। लोकमें देखते हैं कि इमलीका फल बहुत खट्टा होता है, परन्तु नमक मिलानेपर उसकी खटाई छिप जाती है इसीप्रकार रजोवृत्तियोंके मिश्रणसे आत्माका आनन्द भाग छिप जाता है।

अब एक बड़ा गम्भीर प्रश्न यह होता है कि यों प्रियतम होनेके कारण आत्माकी परमानन्दरूपता जान भी ली जाय तो भी ऐसे थोथे 'विवेक' से क्या होगा ? जब तक मुक्तिका साधन योग न किया जायगा, तब तक अपरोक्ष ज्ञान कैसे होगा ? इसका उत्तर यही है जो फल 'योग' से मिलना है वही फल इस 'विवेक' से भी मिलेगा। गीता में स्पष्ट कहा है कि जो स्थान 'सांख्यमार्गी' को मिलता है 'योगी' भी उसे पाते हैं। जानने योग्य बात इस प्रसङ्गमें इतनी है कि किसी केलिए योगमार्गसे चलना असाध्य होता है और किसी को ज्ञानका निश्चय होना असम्भव

होता है। मनुष्यस्वभावकी इन विविधताओंको जाननेवाले भगवानने इसीलिए 'योग' और 'सांख्य' (विवेक) नामके दो मार्ग कहे हैं। 'योगी' और 'विवेकी' दोनोंको एकसमान ज्ञान होता है। दोनों एकसमान रागद्वेषसे हीन होते हैं। दोनोंको देहके प्रतिकूल पदार्थोंसे द्वेष समान होता है। व्यवहारकालमें द्वैतका भान जैसे 'योगी' को होता है, वैसे 'विवेकी' को भी हुआ करता है। जैसे समाधि करते समय 'योगी' को द्वैतका भान नहीं होता वैसे जब 'विवेकी' अद्वैततत्वका विवेक करने बैठता है तब उसे भी द्वैतका भान नहीं होता। जो सदा आत्मानन्दको देखने लगा जिसे द्वैतका दीखना बन्द होचुका, वह एक प्रकारसे 'योगी' है, ऐसा यदि कोई समझे तो वह ठीक समझ रहा है। पहले ही कहा जाचुका है कि अन्तमें जाकर 'योग' और 'विवेक' एक होजाते हैं। यों इस प्रकरणमें मन्दाधिकारियोंपर अनुग्रह करनेकेलिए आत्मानन्दका विवेक किया।

ब्रह्मानन्दान्तर्गत अद्वैतानन्दका संक्षेप १३

'ब्रह्मानन्द' के प्रथम अध्यायमें जिसे 'योगानन्द' कहा था उसीको 'आत्मानन्द' समझना चाहिए। दो अध्यायोंको देखकर उसमें भेद मानना ठीक नहीं। इस प्रतीयमान भेदका कारण यह है कि वह 'ब्रह्मानन्द' जब योगके द्वारा साक्षात्कारमें आता है तब उसे 'योगानन्द' कहते हैं, जब इस योगकी विवक्षा नहीं रहती तब सीधे सादे उपाधिरहित शब्दोंमें उसे 'ब्रह्मानन्द' या 'निजानन्द' कहने लगते हैं। इसीप्रकार गौण आत्मा कौन है? मिथ्या कौन से हैं? मुख्य आत्मा किसे समझना चाहिए? इस प्रकारके आत्मविवेचनके पश्चात् जिस आनन्दका भान हुआ करता है उसे 'आत्मानन्द' कहा जाता है। वास्तवमें 'योगानन्द' और 'आत्मानन्द' एक हैं। बात यह है कि जिसके द्वारा वह आनन्द प्रकट हुआ है उसीके नामसे उसका नाम रख लिया है।

अब प्रश्न होता है कि जिस 'आत्मानन्द' के साथ पुत्र स्त्री आदि 'गौण आत्मा' देहेन्द्रियादि 'मिथ्या आत्मा' तथा आकाश आदि 'अनात्मपदार्थ' चिपटे हुए हैं, ऐसे सद्वितीय पदार्थको 'ब्रह्मानन्द' कैसे मानें ? क्योंकि 'ब्रह्मानन्द' को तो अद्वितीय होना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि यह सब जगत् उस अद्वयानन्दसे ही उत्पन्न हुआ है, इस कारण वह उससे पृथक् नहीं है—उससे पृथक् इसकी कोई सत्ता नहीं है—यों उसकी अद्वितीयता इतने बखेड़ेके पश्चात् अब भी अक्षुण्ण है। यह अद्वितीय आनन्द इस जगत्का ऐसा उपादान है जैसी मिट्टी घड़ेका उपादान है। श्रुतिने अपने मुखसे इस जगत की उत्पत्ति स्थिति और लयको आनन्दसे होनेवाला कहा है। लोकमें 'विवर्ती' 'परिणामी' और 'आरम्भक' तीन प्रकारके उपादान होते हैं। निरवयव पदार्थ 'परिणामी उपादान' या 'आरम्भक उपादान' नहीं होसकता। निरवयव पदार्थ सदा 'विवर्ती' उपादान होसकता है। अपनी पहिली अवस्था भी न छूटे और साथ ही दूसरी भी दीखने लगे तो इसको 'विवर्त' कहते हैं। जैसे रज्जु अपना रस्सीपन भी नहीं छोड़ती और सर्पाकार भी धारण करलेती है। ऐसा विवर्त सावयव पदार्थोंमें ही होता हो सो बात नहीं। वह निरवयव पदार्थोंमें भी पाया जाता है। देखते हैं कि आकाश निरवयव पदार्थ है। उसके स्वरूपको न जाननेवाले लोग उसमें भी तलपन और नीलेपनकी कल्पना कर लेते हैं। इस दृष्टान्तकी विद्यमानतामें यह माननेमें अब हमें कुछ संकोच नहीं कि निरवयव आनन्द तत्वमें यह जगत् भी विवर्त है। इस जगत्के कल्पककी ढूंढ हो तो ऐन्द्रजालिककी शक्तिके समान इस आनन्दकी मायाशक्तिको ही कल्पना करनेवाली मानलो। शक्तिकी कुछ ऐसी विचित्र अवस्था है कि वह न तो शक्तिमान्से पृथक् होती है (क्योंकि वह किसीको पृथक् नहीं दीखती) और न वह उससे अपृथक् होती है। क्योंकि यदि वह उससे अभिन्न हो तो बताओ मणिमन्त्रादि के प्रतापसे जब अग्निसे दाह होना रुक जाता है तब वह किसका

प्रतिबन्ध होता है ? शक्ति किसीको दीखा नहीं करती, कार्यको देखकर उसका केवल अनुमान करना पड़ता है। फिर जब कारण होने पर भी कार्य न होता हो तब प्रतिबन्धको मानना पड़ता है। जब आग जल रही हो और दाह न होता हो तब समझ लो कि किसी उपायसे अग्निकी शक्तिका प्रतिबन्ध कर दिया गया। इस शक्तिके विषयमें श्वेताश्वतर उपनिषद्‌के शब्दोंमें कहना पर्याप्त होगा कि जब मुनि लोगोंको इस जगद्रचनाके कारणको जाननेकी इच्छा हुई और वे अपनी ध्यानयोगकी प्रयोगशालामें बैठे, तब उन्हें इस स्वयंप्रकाश तत्त्वकी शक्ति दिखाई पड़ी—वह शक्ति अपने गुणों अर्थात् अपने कार्यों किंवा शरीरोंमें निगूढ भावसे निवास कर रही थी, इसीसे किसीको दीख नहीं पड़ती थी—उनकी दृष्टि ध्यानयोगका दूरवीक्षण यन्त्र लगाकर उस तक पहुंची। उन्होंने जगत्‌को बनानेवाली ब्रह्मकी उस परा शक्तिको तीन रूपमें पाया। उन्होंने उस स्वयंप्रकाश तत्त्वकी शक्तिको कहीं क्रियारूपमें पाया, कहीं ज्ञानरूपमें देखा और कहीं इच्छारूपमें उसका दर्शन किया। कभी कभी उन्हें एक दो या तीनों रूपोंमें उसका साक्षात्कार हुआ। वसिष्ठ मुनिने कहा है कि वह परब्रह्म सर्वशक्तिमान् है, नित्य है, पूर्ण है, अद्वितीय है, परन्तु यदि उसे शक्तिकी सहायता न मिलती तो उसके इन गुणोंका उल्लास कैसे होता ? उसे कोई कैसे जानपाता ? इस शक्तिका परम उद्देश्य सर्वशक्तिमान् नित्य पूर्ण अद्वितीय परब्रह्मकी इस निगूढ महिमा को जना देना है। वह परब्रह्म जब जब जिस जिस शक्तिके कारण विकासको प्राप्त होजाता है तब तब उसकी वह शक्ति हमपर प्रकट होती है। हे राम, तुम देखलो कि देवता पशु पक्षी तथा मनुष्यादिके शरीरोंमें उसी चिच्छक्तिका विकास हुआ है जिससे ये मिट्टीके पुतले देह चेतनसे दीखने लगे हैं। वायुमें उसकी स्पन्दशक्तिका विकास हुआ है, पत्थरों में उसीकी दाढ्यशक्तिका, जलोंमें द्रवशक्तिका, अग्निमें दाहशक्तिका, तथा आकाशमें शून्यशक्तिका विकास हुआ है। बहुत कहां तक कहें यह जगत् अण्डेमें महासर्पकी भांति आत्मामें छिपा बैठा है। जैसे छोटेसे

ः टबीजमें फल, पत्र, पुष्प, शाखा विटप और मूलसहित इतना बड़ा वृक्ष छिपा रहता है ऐसे ही यह समस्त त्रिभुवन अपने सूक्ष्म ब्रह्मबीजमें रहता है। भूमिमें बहुतसे बीज पड़े रहते हैं परन्तु वे सब एक साथ उग कर खड़े नहीं होते, किन्तु किसी देश और किसी ऋतुमें किसी किसी बीजसे अंकुर निकलते हैं। हे राम! सर्वत्र विद्यमान, नित्य प्रकाशमान् वह आत्मा देश, काल या वस्तुकी मर्यादामें कभी नहीं बंधता। वह आत्म-तत्व जब मननशक्ति को धारण करलेता है तब उसे 'मन' कहने लगते हैं। मनके बनते ही 'बन्ध' और 'मोक्ष' की कल्पना जागकर खड़ी होजाती है। उसके पश्चात् पर्वत, नगर, नदी, समुद्रादि प्रपंच, जिसे भुवन भी कहते हैं बन जाते हैं। वास्तवमें तो इस त्रिभुवनरूपी भवनकी नींव केवल कल्पना है, परन्तु यह कल्पना प्राणियोंके हृदयमें ऐसी बैठ गयी और इतनी पक गई हैं कि कुछ कहते नहीं बनता। छोटे बच्चोंके विनोद केलिए कोई कुत्ते बिल्ली की झूठी कहानी उन्हें सुनादे और वे उसे सच्ची मानकर आपसमें व्यवहार करने लगें—एक दूसरेको सुनाने लगें—वैसी ही अवस्था इन प्राणियोंकी होगयी है। बालकोंको कुत्ते बिल्लीकी जो कहानी सुनादीजाती है जैसे वे उसे ठीक मान बैठते हैं, ऐसे ही जिनमें विचार करनेका सामर्थ्य नहीं है, उनके मनमें इस संसाररचनाके सच होनेके भ्रामक विचार बैठ जाते हैं।

इस जगत्को बनानेवाली यह शक्ति अपने कार्योंसे भी विलक्षण है और अपने आश्रयसे भी विलक्षण है। क्योंकि इस शक्तिमें कार्यके धर्म मुटापा आदि और आश्रयके धर्म शब्द आदि नहीं पाये जाते। इसीसे इस शक्तिको अचिन्त्य या अनिर्वचनीय भी कहा जाता है। जब तक घट आदि कार्य उत्पन्न नहीं होता तब तक यह शक्ति मिट्टी आदिमें छिपी रहती है। यही शक्ति कुम्हार आदिकी सहायतासे विकार के रूपमें आती है। जो लोग तत्वका विश्लेषण करना नहीं जानते, वे मोटे और गोल कार्य (घट) तथा शब्दस्पर्शादि रूपी मिट्टी, दोनोंको

मिलाकर दोनोंका एक नाम (घड़ा) रख लेते हैं। यदि वे विश्लेषण कर सकें तो उन्हें वहां 'घट' नामकी कोई वस्तु न दीखे। जब तक कुम्हार ने क्रिया नहीं की थी उससे पहले जो भाग था वह निश्चय ही 'घट' नहीं था। जब कुम्हारने आकर ठोक पीटकर मोटी और गोल सी एक वस्तु बनाकर प्रस्तुत की तब वह 'घट' हुआ। हम उस घड़ेको मिट्टीसे भिन्न नहीं कह सकते ? क्योंकि मिट्टीको हटाकर देखें तो वह नहीं दीख सकता। उसको हम मिट्टीसे अभिन्न भी नहीं कह सकते। क्योंकि जब तक पिण्डदशा थी तब तक वह दीखता ही न था। यों जैसे शक्ति अनिर्वचनीय पदार्थ है इसीप्रकार घट भी अनिर्वचनीय पदार्थ है। इस घटमें शक्ति के भी गुण पाये जाते हैं, इसीसे इस घटको शक्तिसे उत्पन्न हुआ मानते हैं। भेद केवल इतना है कि जब तक अव्यक्त अवस्था थी तब तक जिस वस्तुको हम शक्ति कहते थे, व्यक्त अवस्था आनेपर उसीका नाम घट पड़ गया है। केवल इसीकी नहीं संसारमें जिसे जिसे 'माया' कहते हैं, सबकी यही अवस्था है—ऐन्द्रजालिककी माया भी प्रयोग करनेसे पहले प्रकट अवस्थामें नहीं होती—पीछे गन्धर्वसेना आदि नाना रूपोंमें निकलकर व्यक्त होती है और लोगोंको चकित करदेती है। इसी सब अभिप्रायको लेकर श्रुतिने मायामय होनेके कारण विकारोंको अनृत कहा है और विकारोंके आधार मिट्टीको सत्य माना है। उसका अभिप्राय है कि ये दीखनेवाले विकार वाणीसे बोले जानेवाले नाममात्र हैं, इन सबमें सत्य पदार्थ केवल मिट्टी है। संसारमें 'व्यक्त' 'अव्यक्त' तथा इन दोनोंका 'आधार' ये तीन ही पदार्थ होते हैं। इन तीनोंमें पहले दोनों ('व्यक्त' और 'अव्यक्त') कालभेदसे पर्यायसे होते रहते हैं। अर्थात् कभी व्यक्त कार्य होजाता है और कभी अव्यक्त शक्ति रहजाती है। इनका यह कभी कभी होना ही इन दोनोंके मिथ्यापनको सिद्ध कर रहा है। किन्तु इन दोनोंका आधारभूत मिट्टीरूप वस्तु इन दोनों अवस्थाओंमें रहती है। अर्थात् वह (मिट्टी) कार्यावस्थामें भी रहती है और शक्तिकाल (कारणावस्था) में भी रहती है। यों सदा रहनेवाली

होनेके कारण वही सत्य वस्तु है। जो निस्तत्व होकर भी भासने लगे उसे 'व्यक्त' कहते हैं। उसके उत्पत्ति और नाश दोनों होते हैं। वह जब उत्पन्न होता है तब मनुष्य उसके कुछ नाम रख लेता है। क्योंकि वह व्यक्त पदार्थ जब नष्ट होजाता है तब भी यह कल्पित नाम मनुष्यों की वाणीपर चढ़ा रह जाता है, इस कारण कहते हैं कि उस नामसे निरूपणीय (ज्ञेय=जाना जानेवाला) प्रत्येक व्यक्त पदार्थ नामात्मक होता है। यदि वह व्यक्त पदार्थ नामात्मक न होता तो उसके नष्ट होजानेपर भी उसका व्यवहार नामसे क्यों होता ? व्यक्त पदार्थका वह रूप सत्य नहीं है। क्योंकि वह निस्तत्व, विनाशी और वाणीसे बोला हुआ एक शब्द ही शब्द है। यदि उसका यह आकार (रूप) असत्य न होता तो जैसे मिट्टी आदि निस्तत्व विनाशी या केवल नाममात्र नहीं हैं, ऐसे यह भी होता। मिट्टीनामकी वस्तु व्यक्तकालमें, उससे पहले, और उसके पश्चात्, सदा एकरूप रहती है, सदा सतत्व और अविनाशी होती है, इससे उसे 'सत्य' कहते हैं।

जब किसीको सत्य पदार्थका बोध होजाता है तब घटादि अनृत पदार्थोंकी निवृत्ति होजाती है—अर्थात् तब उन्हें सत्य समझना छुट जाता है। आध्यात्मिकलोग ज्ञानसे जैसी निवृत्ति चाहते हैं वह यही है कि मनमेंसे उन पदार्थोंकी सत्यताका विचार जाता रहे। यदि हम बोधसे ऐसी आशा कर बैठेंगे कि वे पदार्थ हमें प्रतीत होने बन्द हों तो हमें निराश होना पड़ेगा और ज्ञानमें अश्रद्धा करनी पड़ जायगी। जो पुरुष पानीके किनारे नीचेको मुंह किये खड़ा है उसे यद्यपि जलमें उलटा पुरुष दीखता है परन्तु वह जलमें नहीं होता। जैसे किनारेपर खड़े हुए मनुष्यको ही सच्चा समझा जाता है जैसे उसे (पानीके छायामनुष्यको) कोई सच्चा नहीं मानता। वह समझ लेता है कि जलरूपी उपाधिके कारण ऐसी भ्रान्त प्रतीति हो रही है। वह यह भी जानता है कि जब तक जलरूपी उपाधि बनी है तब तक ऐसी मिथ्या प्रतीति होती रहेगी।

इसीप्रकार जब सबके कारण आत्मतत्वका ज्ञान होता है तब विवेकी पुरुष इस प्रतीयमान् जगत्को मिथ्या मानने लगता है। उसके पश्चात फिर जब उसे यह जगत् भासता है तब वह इसे इन्द्रियोपाधिक भ्रम समझकर टालता है। वह जान लेता है कि जब तक ये इन्द्रियां बनी हैं तब तक ऐसी प्रतीति होती ही रहेगी। भले ही होती रहो, वह फिर इसको सत्य मानकर कोई व्यवहार नहीं करता। जितने सोपाधिक भ्रम हैं उन सबकी यही अवस्था होती है। सोपाधिक भ्रमोंमें मिथ्या प्रतीति होती तो रहती है परन्तु उस प्रतीतिपरसे विश्वास उठजाता है। अद्वैत-वादी ऐसा शुद्ध और असंग बोध होजानेपर ही अपनेको कृतकृत्य मानता है।

प्रकरणगत बात यही है कि क्योंकि घटकी मिट्टीने, घट बनजाने पर भी, अपने मृद्रूपका परित्याग नहीं किया, इसकारण यह घट मिट्टीका 'विवर्त' है। अब मिट्टीका ज्ञान होजानेपर घटके सत्य होनेका विचार जाता रहेगा। विवर्त उपादानोंमें यही होता है कि घट और कुण्डलके बन जानेपर भी उनका मृद्भाव या सुवर्णभाव बना रहता है। श्रुतिने भी इसी अभिप्रायसे मिट्टी, सोना और लोहेके तीन दृष्टान्त दिये हैं कि विचारक लोग बहुतसे पदार्थोंमें कार्योंका अनृत होना देखकर अपने जी में समस्त भूतभौतिक पदार्थोंके मिथ्यापनकी वासना दृढतासे बैठालें। इन भूतभौतिक पदार्थोंमें जितना अनृत भाग है उसके जाननेका कोई उपयोग नहीं। क्योंकि तत्वका ही ज्ञान किसी काम आसकता है, अनृत का ज्ञान किसी उपयोगमें नहीं आता। कार्य घटादियोंमें जितना सत्य भाग है उतना कारणस्वरूप है, ऐसा जो लोग जान जाते हैं, उन लोगों को इस बातसे कुछ विस्मय नहीं होता। परन्तु जो अज्ञ हैं—जिन्हें तत्वज्ञान नहीं होपाया—उनको ऐसी बात सुनकर बड़ा विस्मय होता है। जिन लोगोंको ऐसे संस्कार नहीं होते, वे जब यह सुनते हैं कि एक ऐसी वस्तु भी है कि जिसे जानकर समस्त पदार्थोंका ज्ञान होजाता है

तब इनको बड़ा विस्मय होता है। परन्तु हम उन्हें गम्भीर होकर विचार करनेका निमन्त्रण देते हैं—वे समझें कि एकके ज्ञानसे सर्वबोधकी जो बात कही है, उसका यह अर्थ नहीं कि उसके ज्ञानमें व्यक्तिगत रूपसे संसारके समस्त पदार्थ आजाते हैं। इस कथनका मुख्य भाव उन्हें अद्वैतज्ञानकी ओर आकृष्ट करना है। यदि कोई मिट्टीके एक पिण्डको जान लेता है उसके पश्चात् जब वह मिट्टीके बने किसी भी पदार्थको देखता है तब सबको जान लेता है कि यह भी मिट्टीका बना है और यह भी मिट्टीका। उसके मनमें कार्यको देखते ही कारणचिन्ता आजाती है और यों वह प्रत्येक पदार्थके मूलकारण तक पहुँचकर अनाकृष्ट जीवन बिताता है। जब किसीको ब्रह्मनामके सर्वानुगत एक-तत्वका परिज्ञान होजाता है, तब उसे उसीसे बने इस सकल जगत्का ज्ञान होजाता है।

ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है और यह जगत् नामरूपात्मक है। यह जगत् पहले अव्याकृत था, इसे व्यक्त करते समय इसका कुछ 'नाम' रखलिया गया और कुछ 'आकार' बना दिया गया है। अव्याकृत से अभिप्राय ब्रह्ममें रहनेवाली इस अचिन्त्यशक्ति मायासे है। अविक्रिय ब्रह्ममें रहनेवाली वह माया अनेकरूप होजाती है—सबसे पहले उसका आकाश बनता है, आकाश भी 'अस्ति' 'भाति' और 'प्रिय' अर्थात् 'सत्' 'चित्' और 'आनन्द' स्वरूप है। उसका अपना विशेष रूप 'अवकाश' है। वही (विशेषरूप ही) मिथ्या है, वे तीनों (सच्चिदानन्द) मिथ्या नहीं हैं। इस अवकाशपर विचारका प्रयोग करके देखिये—यह अवकाश व्यक्त होनेसे पहले नहीं था, नष्ट होजानेके पश्चात् भी न रहेगा। यह केवल मध्यमें सोभी कुछ कालकेलिये पानीके बुलबुलेकी भांति व्यक्त होगया है। आदि और अन्तमें न होनेके कारण यह वर्तमान में भी नहीं है। परन्तु यह बात बुद्धियोगसे ही जानी जासकती है।

ऊपर जिन सच्चिदानन्दोंका वर्णन किया है वे घड़े आदिमें मिट्टी की भांति सदा सब कार्योंमें अनुगत हैं। बताओ, जब तुम अवकाशको

भूल जाते हो तब तुम्हें क्या भासता है ? उस समय तुम्हें जो तत्व भासता है, उस तत्वको कुछ न कुछ तो कहना ही होगा। ऐसे समय उदासीनावस्था होनेके कारण उस तत्वको 'सुख' ही कहना चाहिये। जो अनुकूल भी प्रतीत न हो और प्रतिकूल भी न लगे वही निजसुख है। जब कोई अनुकूल पदार्थ दीखता है तब हर्ष होता है, प्रतिकूल जानपड़े तब दुःख होता है, जब अनुकूल भी न हो और प्रतिकूल भी न हो तब 'निजानन्द' का भान प्रारम्भ होजाता है। यह निजानन्द एक स्थिर वस्तु है। हर्ष और शोक तो क्षण क्षणमें बदलनेवाले पदार्थ हैं। इन दोनों [हर्ष शोकों] को मानस मानलेना ठीक है। क्योंकि मन भी क्षणिक है। मनके परिवर्तनसे ही हर्ष और शोक होते हैं। इतने विवेचनसे आकाश में आनन्द होनेकी बात मनमें बैठगयी होगी। सत्ता और भानको सब मानते हैं, इस कारण हम उसका वर्णन नहीं करेंगे। वायुसे लेकर देह-पर्यन्त पदार्थोंमें भी यह बात समझलेनी चाहिये। गति और स्पर्श वायुके, दाह और प्रकाश अग्निके, द्रवता जलका, और कठिनता भूमिका अपना निज आकार या विशेष धर्म है। इन सबके नाम अवश्य अनेक या विभिन्न होरहे हैं, परन्तु इन सबमें सच्चिदानन्द एकरूपसे रहते हैं। इनमें जो अलग अलग नाम और रूप [आकार] हैं वे निस्तत्व हैं। क्योंकि इनके जन्म और नाश बराबर होते रहते हैं। अपने संस्कारी मनकी सहायतासे इन नामरूपोंको समुद्रके बुलबुलेकी भांति समझा करो। ज्यों ही कोई अधिकारी इस सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्मको [चामकी आंखोंसे नहीं अपितु] बुद्धियोगसे देखलेगा तब वह धीरे धीरे इन नाम-रूपोंकी अवहेलना स्वयमेव करने लगेगा। ज्यों ज्यों यह अवहेलना बढ़ेगी त्यों त्यों उसे ब्रह्मके दर्शन होने लगेंगे। और ज्यों ज्यों ब्रह्मके दर्शन होंगे त्यों त्यों नामरूप छूटने लगेंगे। जब इस ब्रह्माभ्यास [द्वैतावहेलना और ब्रह्मदर्शन] से अधिकारीकी 'विद्या' स्थिर होजायगी तब वह इस जीवनके रहते ही रहते मुक्त होजायगा। फिर उसका शरीर प्रारब्धानुकूल कैसे भी रहा करो उसकी जीवन्मुक्तिको कोई रोक नहीं सकेगा। उसीका चिन्तन,

उसीका कथन, उसीकी बातचीत और उसीमें तत्पर होजाना 'ब्रह्माभ्यास' है। जब ऐसा ब्रह्माभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर तथा श्रद्धापूर्वक किया जायगा तब अनादिकालसे हृदयमें घुसी हुई वासनायें नष्ट होजायंगी।

जिसप्रकार मिट्टीकी शक्ति घट शराव आदि अनेक मिथ्या पदार्थों को बना देती है, इसीप्रकार ब्रह्मकी शक्ति भी अनेक अनृत पदार्थोंको बना डालती है। जिसप्रकार जीवकी निद्राशक्ति अनेक दुर्घट सुपनोंको घड़ डालती है, इसीप्रकार ब्रह्मकी मायाशक्ति सृष्टि आदि अनेक कार्यों का सर्जन करलेती है। निद्रासे यहां तक होजाता है कि कभी आकाश में उड़ान मारना दीखता है, कभी अपना सिर कटनेकी बात दीखती है, कभी क्षणमात्रमें सैकड़ों वर्ष बीत जाते हैं, कभी मरे हुए पुत्रादि दीखते हैं। उस सुपनेमें 'यह ठीक है और यह ठीक नहीं' यह व्यवस्था नहीं की जासकती। वहां तो जो जैसा दीखे, वह वैसा ही ठीक होता है। ध्यान देनेकी बात है कि जब जीव की निद्राशक्तिकी ऐसी अद्भुत महिमा है कि वह अपनेमें तर्कशास्त्रको नहीं चलने देती, तब फिर ब्रह्मकी माया शक्ति की महिमा अचिन्त्य हो तो इसमें अचम्भा क्यों करते हो? पुरुष सोया पड़ा होता है उधर निद्राशक्ति अपना काम चालू रखती है—वह अनेक प्रकारके सुपनोंको बना बनाकर प्रस्तुत करती रहती है उससे पूछती तक नहीं कि क्या मैं यह सब कर डालूं? ठीक इसीप्रकार ब्रह्मदेव निर्विकारभावसे विराज रहे हैं, यह श्रीमती मायाशक्ति उनसे बिना पूछे अनेक आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ब्रह्माण्ड, लोक, प्राणी और पर्वत समुद्र आदिको घड़ घड़कर खड़ा करती जाती है। यों तो ये समस्त विकार मायाशक्तिने उत्पन्न किये हैं, परन्तु प्राणियोंमें इतनी विशेषता है कि उनमें चैतन्यकी छाया प्रतिबिम्बित होगयी है और वे चेतन होगये हैं। जिनमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सका वे जड रहगये। क्या चेतन और क्या अचेतन सबमें ब्रह्मका सच्चिदानन्दरूप समान है। भेद केवल नामरूपका है। उनके नाम और रूप (आकार) अलग अलग होगये हैं।

ये नाम रूप ब्रह्ममें ऐसे हैं जैसे कपड़ेपर कोई चित्र बना दिया गया हो। जब कोई उन नामरूपोंकी अपेक्षा करसकेगा तब ही उसे सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मतत्वके दर्शन होंगे। चाहे पानी में अपना देह अधोमुख दीख रहा हो परन्तु जैसे दर्शकको उस देहको छोड़कर अपने तीरस्थ देहमें ही ममता होती है, इसीप्रकार ज्ञानी मनुष्यको जगत्के दीखनेवाले नामरूपोंका परित्याग करना पड़ता है और सच्चिदानन्दमें ही ममता रखनी पड़ती है। जैसे सहस्रों मनोराज्य होते रहनेपर भी उनकी सदा उपेक्षा की जाती है इसीप्रकार विवेकी लोग सहस्रों प्रकारसे दीख पड़नेवाले नामरूपोंकी उपेक्षा करते रहते हैं। जिसप्रकार मनोराज्य क्षण क्षणमें बदलता जाता है, इसीप्रकार बाह्य व्यवहार क्षण क्षणमें बदल रहा है। जो बीत जाता है वह लौटकर कभी नहीं आता। देखते हैं कि यौवनमें बचपन ढूंढे भी हाथ नहीं लगता, बुढ़ापेमें यौवनकी भी यही गति होजाती है। मरा हुआ पिता फिर देखनेको नहीं मिलता। बीता हुआ दिन लौटकर नहीं आता। जो लौकिक पदार्थ क्षणध्वंसी हैं उनमें और मनोराज्यमें क्या अन्तर है? वही समझमें नहीं आता। इसलिये, हम यह कहेंगे कि लौकिक पदार्थ भले ही भासा करें विचारशील लोग उनके सत्य होनेका वृथा विचार सर्वथा छोड़ दें। जब लौकिक पदार्थोंकी उपेक्षा कर दीजायगी तब ब्रह्मचिन्तनका विघ्न जाता रहेगा। फिर वह बुद्धि निर्विघ्न ब्रह्मचिन्तनमें जुट जायगी। इसपर प्रश्न होसकता है कि फिर ज्ञानी लोग व्यवहार कैसे करें? इसका उत्तर यह है कि जैसे नाटक करनेवाले नट लोग बनावटी आस्था से अपना काम करते जाते हैं, इसीप्रकार ज्ञानी लाग भी लौकिक कामों को बनावटी आस्थासे निभायें। जैसे ऊपर पानी बहता रहता है परन्तु नीचे बैठी हुई बड़ी शिला शान्तभावसे पड़ी रहती है इसीप्रकार नामरूपी रूपी जल ऊपर ऊपर बहता भी रहो परन्तु कूटस्थ ब्रह्मरूपी शिला ज्यों की त्यों बनी रहती है। ज्ञानी लोग संसारके साथ नहीं बहते। दर्पणके अन्दर कोई छेद नहीं होता, जिसमें कोई वस्तु छिप रही हो, परन्तु ऐसा प्रतीत हुआ करता है मानो दर्पणमें अनगिनत वस्तुसे परिपूर्ण बड़ा लम्बा

चौड़ा आकाश हो। ठीक इसीप्रकार उस सच्चिद्घन अखण्ड ब्रह्मरूपी दर्पण में नाना जगत्से परिपूर्ण यह आकाश प्रतीत होरहा है। पहले दर्पण दीख लेता है तब उसके अन्दरकी वस्तु देखी जासकती है। इसीप्रकार पहले मनुष्यको सच्चिदानन्द वस्तु दीख चुकती है उसके पश्चात् नाम-रूपात्मक जगत् दीखता है। अब चतुर साधकोंको चाहिये कि ज्यों ही उन्हें सच्चिदानन्द वस्तु दीख चुके त्यों ही अपनी बुद्धिको रोककर खड़े होजांय और बार बार उसीका भान होते रहने दें। यदि उनकी मति आगे नामरूपकी ओर को चलनेका प्रयत्न करती हो तो उसे वैसा न करने दें। जानते हैं ये साधक अब कहां पहुंच चुके हैं? इन्होंने कितना मार्ग चल लिया है? सुनो! ये लोग चलते चलते जगत्से हीन सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मधाममें जा पहुँचे हैं। इसीको 'अद्वैतानन्द' कहा जाता है। मुमुक्षु लोग इस 'अद्वैतानन्द' में चिरकाल तक विश्राम करें यही ग्रन्थकार की अभिलाषा है।

जगत्के मिथ्याभावका चिन्तन करनेसे जो आनन्द जाग उठता है वह 'अद्वैतानन्द' है।

ब्रह्मानन्दान्तर्गत विद्यानन्दका संक्षेप १४

जब किसीको योगसे, आत्माके विवेकसे, अथवा द्वैतके मिथ्या-पनकी चिन्तासे, ब्रह्मानन्द दीखने लगता है, इस प्रकरणमें उसीके 'ज्ञाना-नन्द' का वर्णन है। जिस प्रकार विषयानन्द एक प्रकारकी बुद्धिवृत्ति है इसीप्रकार यह विद्यानन्द [ज्ञानानन्द] भी एक प्रकारकी बुद्धिवृत्ति है। विद्यानन्द चार प्रकारका है—प्रथम दुःखाभाव, फिर कामाप्ति, फिर कृत-कृत्यता और उसके पश्चात् प्राप्तप्राप्यता। दुःख दो प्रकारका है—एक इस लोकका दूसरा परलोक का। बृहदारण्यकमें कहा है कि ज्ञानानन्दीको ऐहिक दुःख नहीं रहते। कामना ऐहिक दुःख है। परन्तु जब किसीको

आत्मज्ञान होजाय तब वह किस वस्तुकी अभिलाषासे और किसके लिये शरीरके दुःखोंसे दुःखी होता फिरे ! पहले प्रकरणोंमें बता आये हैं कि आत्माके जीवात्मा और परमात्मा ये दो भेद हैं। यह आत्मा जब तीनों देहोंके साथ तादात्म्य करबैठता है तब यह जीव बनता है और तब ही इसमें 'भोक्तापन' आता है। उधर परात्माकी भी बात सुन लीजिये—वह जब सच्चिदानन्द होकर भी नामरूपके साथ तादात्म्य करनेकी खिलवाड़ कर बैठता है तब 'भोग्य' बनता है। अब यदि कोई 'भोक्ता' और 'भोग्यपन' के बखेड़ेको हटाना चाहे तो वह उन तीनों शरीरों और उन नामरूपोंसे उस आत्मतत्वका विवेक करे। तब वह भोक्ता और भोग्यपन को हटाकर शुद्ध आत्माके दर्शन करे।

जब कोई 'भोक्ता' के लिये किसी 'भोग्य' पदार्थको चाहता है तो [शरीरके साथ] दुःखी होने लगता है। क्योंकि ये तीनों शरीर ज्वरों [सन्तापों] के निवासमन्दिर हैं। आत्मतत्वको कभी कोई ज्वर नहीं होता। जब वात, पित्त, कफ नामक धातुओंमें विषमता आती है तब इस स्थूलशरीरमें रोग उत्पन्न होते हैं। जब काम क्रोधादि विकार उदय होते हैं तब ये सूक्ष्मशरीरमें रहने वाले ज्वर कहे जाते हैं। परन्तु इन दोनों प्रकारके ज्वरोंका मूल कारणशरीर [अज्ञान] में रहता है। जब पिछले अद्वैतानन्द प्रकरणमें कही रीतिके अनुसार परात्मतत्वको पहचान लिया जाता है, तब ज्ञानीको सच्चा 'भोग्य' नहीं दीखता। फिर बताओ वह परात्मतत्वको जानने वाला ज्ञानी कौनसे 'भोग्य' को चाहे ? जब आत्मानन्द प्रकरणमें कही रीतिसे जीवात्माके असंग कूटस्थ स्वरूपका निश्चय होगया जब कोई 'भोक्ता' न रहा तो अब आप सावधान होकर विचार कीजिये कि 'भोग्य' और 'भोक्ता' दोनों विवेककी आंचके सामने मोमके पुतले की भांति पिघल चुके हैं। शेष बचे हुए इस जड देहको कोई ज्वर क्यों होना है ?

यहां तक ऐहिक दुःखोंका विचार किया। अब आमुष्मिक दुःखों

की परीक्षा भी कर लीजिये—पाप और पुण्योंकी चिन्ता आमुष्मिक (पारलौकिक) दुःख है। पहले अध्यायमें कह चुके हैं कि ज्ञानीको पुण्य पापकी चिन्ता दुःख नहीं देती। जैसे कमलके पत्तेपर पानी नहीं चिपटता इसीप्रकार ज्ञान होजानेपर, ज्ञानीमें आगामी कर्मोंका सम्बन्ध नहीं होता। जिस प्रकार सरकण्डेकी रूई क्षणभरमें जल जाती है इसीप्रकार ज्ञानीके संचित कर्म ज्ञानाग्निसे सहसा जलजाते हैं। गीतामें कहा है कि हे अर्जुन ! जिसप्रकार प्रदीप्त अग्नि ईंधनको जला देती है इसप्रकार (विधिपूर्वक सुलगाई हुई) ज्ञानाग्नि सब कर्मोंको राख करदेती है। जिस ज्ञानीका अहंकारयुक्त भाव नहीं रहता, जिस ज्ञानीकी बुद्धि संसारमें लिप्त नहीं रहती, वह यदि इन सब लोकोंको मार भी दे तो भी उसे मारनेवाला मत समझो। वह इतने गुरुतर अपराधसे भी किसी बन्धनमें नहीं आता। इतनेसे आप यह समझ गये होंगे कि ज्ञानीको आमुष्मिक दुःख या परलोककी चिन्ता नहीं रहती।

अब क्रमानुसार ज्ञानीकी सर्वकामाप्तिपर विचार करेंगे—जैसे ज्ञानीको दुःखाभाव होजाता है इसीप्रकार उसे सर्वकामाप्ति भी होजाती है। ऐतरेय श्रुतिने प्रायः इन्हीं शब्दोंमें कहा है कि यह ज्ञानी सब कामनाओंको पाकर अमर होचुका। छान्दोग्यमें कहा है कि ज्ञानी खाता, खेलता, स्त्रियोंके साथ रमता, यानोंपर बैठता तथा भोगोंको भोगता हुआ शरीरको भूला रहता है। वह आत्मसागरमें इतना रमा रहता है कि जैसे फलवाले पेड़ोंको अपने फल देनेका या नदीको अपने बहनेका ज्ञान नहीं होता इसीप्रकार उसे शरीरकी चेष्टाओं तकका ज्ञान नहीं रहता। उस समय उसका प्राण ही उसके प्रारब्धकर्मोंके अनुसार उसके शरीरको जीवित रखता है। तैत्तिरीयमें कहा है कि ज्ञानी लोग संसारकी सम्पूर्ण कामनाओंको एकसाथ पालेते हैं। इसे दूसरे अज्ञानियोंकी भांति कर्मोंसे जन्म लेना नहीं पड़ता। जैसे अज्ञानी लोग क्रमानुसार भोगोंको भोगते हैं, ज्ञानीको उस प्रकार क्रमिक भोग नहीं मिलते, वह तो संसारके सब

भोगोंको एकसाथ, बिना किसी क्रमके, भोगा करता है। जो पूर्ण युवा हो, रूपवान् हो, विद्यावान् हो, नीरोग हो, दृढचित्त हो, बड़ी सेनावाला हो, धन्यधान्यपूर्ण पृथिवीपर शासन कर रहा हो, जिसे मनुष्योंको मिल सकनेवाले समस्त भोग प्राप्त हों, ऐसे तृप्त राजाको जो आनन्द मिलता है, उस आनन्दको एक ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी होनेके नाते पालेता है। इन दोनोंको मर्त्य लोगोंके भोगोंकी इच्छा नहीं होती, इस कारण दोनोंको एकसी तृप्ति रहती है। हां, इतना भेद होता है कि राजा भोगोंको पाकर निष्काम होसका है परन्तु ज्ञानीकी निष्कामता अद्भुत है। वह अपने विवेकके प्रतापसे निष्काम हुआ है। क्योंकि वह श्रोत्रिय है, इस कारण वेद शास्त्रोंमें जो भोगोंके दोष लिखे हैं उनका उसे पूरा पूरा ध्यान है। उसे सदा देहके दोष, चित्तके दोष, तथा भोग्य पदार्थोंके दोष, स्मृत रहते हैं। जैसे कोई कुत्तेकी वमन की हुई खीरको खाना नहीं चाहता, इसीप्रकार विवेकी पुरुष दुष्ट भोगोंकी कामना नहीं करता। यद्यपि श्रोत्रिय और राजा दोनों समानभावसे निष्काम होगये हैं, परन्तु राजा उन साधनोंका संचय करनेमें पर्याप्त कष्ट उठा चुका है और अब भोगोंके भावी नाशको स्मरण करके भी डर रहा है। श्रोत्रियको ऐसा कोई कष्ट उठाना नहीं पड़ता। यही कारण है कि श्रोत्रियका आनन्द उसके आनन्द से अधिक है। एक बात यह भी है कि अब विवेकीको किसी ऊंचे पद की अभिलाषा नहीं रही। राजाको तो यह भी आशा लगी हुई है कि यदि कोई इससे ऊंचा पद (गन्धर्व आदि का) हो और वह मुझे मिल जाय तो अच्छा हो। सार्वभौम राजासे लेकर ब्रह्मापर्यन्त सब उत्तरोत्तर पदकी कामना करते हैं। परन्तु यह जो आत्मानन्द है यह मन वाणीसे अगम्य है। यही कारण है कि वह इन सबसे ऊंचा है। ये सब पदवी-धारी लोग जिन किन्हीं सुखोंको चाहते या चाह सकते हैं, श्रोत्रिय (ज्ञानी) को उन किसीकी इच्छा तक नहीं होती—वह उन सब सुखोंकी ओरसे पहले ही निःस्पृह होता है। सो उन सबको अलग अलग जितना सुख होता है उतना अकेले श्रोत्रियको होता है। वे सब उन उन कामनाओंको

पूरा करके जब कुछ कालकेलिये अपने आपको निःस्पृह करलेते हैं तब ही आनन्दी होपाते हैं। उनकी यह निःस्पृहता उन उन कामनाओंके अधीन होती है। उन्हें उन उन कामनाओंके पूरा किये बिना आनन्द नहीं मिल सकता। इसके विपरीत विवेकीको कुछ कामना नहीं होती। वह सदा निःस्पृह बना रहता है। यों वह सदा आनन्दको लूटा करता है। इसी कारण विवेकीका पद सबसे ऊंचा है। मनुने भी कहा है कि जो इन सब कामनाओंको प्राप्त करले और जो केवल इन्हें छोड़ भर दे, सब कामनाओंको पानेसे सबका परित्याग करनेमें बहुत बड़ा महत्व है। यही ज्ञानीकी 'सर्वकामाप्ति' है।

ज्ञानीकी सर्वकामाप्तिकी एक यह भी रीति है कि जैसे वह अपने देहमें आनन्दाकार बुद्धिका साक्षी है, इसीप्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके देहोंमें जो जो भोग भोगे जारहे हैं और उनसे उनको जो जो आनन्द आरहे हैं, उसे उन सबका साक्षी बनना आजाता है। अथवा यों कहो कि वह उन सब भोगोंका साक्षी बनकर उन सब भोगोंको अकेला भोगने लगता है। इस रीतिसे भी ज्ञानीको 'सर्वकामाप्ति' होती है।

वैसे तो अज्ञानी भी सबका साक्षी होता है परन्तु उसे इस निगूढ तत्वका ज्ञान न होनेसे वैसी तृप्ति नहीं होपाती। श्रुतिने तो यह बात स्पष्ट कही है कि "यो वेद सोऽश्नुते सर्वान् कामान्" जो इस महातत्वको पहचानजाता है वही सब कामनाओंको भोगसकता है। इस तत्वको न जानने वालेको इस महालाभसे वंचित रहना पड़ता है। वह केवल इस एक क्षुद्र शरीरके द्वारा छनकर आनेवाले आनन्दकणको चाट चाट कर उपवासी सा रहकर आशा ही आशामें दिन काटा करता है।

ज्ञानीकी 'सर्वकामाप्ति' का तीसरा प्रकार यह भी है कि जब उसे अपनी सर्वात्मकताका दिव्य अनुभव होताहै तब फिर उसके हृदयमन्दिर में सदा एक ही गूंज रहने लगती है कि मैं ही अन्न हूँ मैं ही अन्न हूं मैं ही अन्न हूं और मैं ही अन्नाद हूँ और मैं ही अन्नाद हूं और मैं ही अन्नाद हूं। अहमन्न महमन्न महमन्न महमन्नादो हमन्नादो हमन्नादः।

अब ज्ञानीकी कृतकृत्यता और प्राप्तप्राप्यताकी बात भी सुन लीजिए—जब तक यह अज्ञानी था तब तक इसे परलोक और इस लोक केलिये या मुक्ति पानेकेलिये बहुत कुछ करना था। परन्तु अब आत्म-ज्ञान होजानेपर इसने वह सब कर डाला। क्योंकि अब उसे कुछ करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अब वह कृतकृत्यतामें विघ्न करनेवाली पहली अवस्थाको स्मरण करके यों तृप्त हुआ करता है कि दुःखी अज्ञानी लोग पुत्रादिकी दुरभिलाषामें फंसकर संसाररूपी झाड़में उलझे पड़े रहें, मैं भी कभी ऐसे ही उलझा पड़ा था, परन्तु परमानन्दपूर्ण होचुकनेवाला मैं, भला अब कौनसी इच्छा लेकर संसारमें फंसा रहूं? परलोक जाने वाले लोग कर्म करते हैं तो करें, कभी मैं भी ऐसे ही किया करता था। परन्तु अब सर्वलोकस्वरूप बनचुकनेवाला मैं यह सब बखेड़ा क्यों करूं? नींद और भिक्षा स्नान और शौचकी न मुझे चाह है और न मैं करता हूं। देखनेवाले मुझे करता हुआ समझते हैं तो समझा करें। दूसरोंके समझनेसे क्या होता है? जिन गुंजाओंको दूसरोंने आग मान लिया हो तो क्या वे यथार्थ ही जलाने लगती हैं? इसीप्रकार दूसरोंने मुझमें जिन संसारधर्मोंका आरोप इस अचेतन शरीरको देख देखकर कर लिया है वे सब धर्म मुझमें नहीं हैं। जिन्होंने तत्वको नहीं सुना वे श्रवण करते फिरें, तत्वको जानचुकनेवाला मैं अब क्यों श्रवण करूं? जिन्हें संशय हो वे मनन करें, जिस मुझे संशय नहीं रहा वह मैं मनन क्यों करने लगूं? जिसे विपर्यास हो वह निदिध्यासन करे, जब मुझे विपरीत ज्ञान नहीं रहा तब मैं ध्यान क्यों और किस बातका करूं? मुझे अब कभी यह प्रतीत नहीं होता कि मैं देह हूं। मैं जो कभी कभी यह कहदेता हूं कि 'मैं मनुष्य हूं' सो तो अनादिकालकी वासनाओंके प्रभावसे कह देता हूं। जब मेरा प्रारब्धकर्म नष्ट होजायगा तब निश्चय ही यह व्यवहार भी न रहेगा। जब तक मेरे प्रारब्ध कर्म क्षीण न होजायंगे तब तक सहस्र ध्यान करनेपर भी यह व्यवहार नहीं रुकेगा। जो व्यवहारको कम करना चाहते हों उन्हें यह ध्यान भले ही अच्छा लगे, मुझे तो अब यह व्यवहार बाधक प्रतीत नहीं

होता। फिर मैं ध्यान क्यों करूं? अब मुझे विक्षेप भी नहीं होता इस कारण समाधि भी नहीं होती। विक्षेप और समाधि ये दोनों विकारी मन को होते हैं। मैं आत्मानुभव करने भी क्यों बैठ जाऊं? मैं तो नित्यानुभवरूप हूं। मुझसे पृथक् और अनुभव क्या होगा? मुझे अब निश्चय होगया कि जो करना था सो करडाला और जो पाना था सो पाचुका। अब लौकिक, शास्त्रीय या और किसी प्रकारका व्यवहार मेरे प्रारब्धानुकूल चलता रहो, मैं अपनेको अकर्ता और अलेप समझचुका। या फिर जिस मार्गपर चलकर मुझे कृतकृत्यता मिली है वह मार्ग औरोंके लिये भी बना रहे इसलिये मैं लोकसंग्रहका ध्यान रखकर शास्त्रीय मार्गपर ही चलता रहूंगा इसमें भी मेरी कोई हानि नहीं है। मेरा शरीर लोगोंको दिखाने और सिखानेकेलिये देवार्चन स्नान शौच तथा भिक्षायात्रा जप या वेदान्त का पाठ किया करो, यह मेरी बुद्धि विष्णुका ध्यान करो या ब्रह्मानन्दमें गोता लगाकर बैठ जाओ, मैं अपनेको साक्षी समझचुका मैं कुछ करता या करवाता नहीं हूं। जब कृतकृत्यता और प्राप्तप्राप्यताकी प्रसन्नता उसके अन्दर नहीं समाती है तब मनमें यह विचार किया करता है कि मैं धन्य हूं क्योंकि मैं अपने नित्य आत्मतत्वको ठीक ठीक समझ गया। मैं धन्य हूं क्योंकि मुझे आज स्पष्ट ब्रह्मानन्दसमुद्र दीख रहा है। मैं धन्य हूं क्योंकि मुझे आज कोई सांसारिक दुःख नहीं दीखता। मैं धन्य हूं क्योंकि आज मेरा अज्ञान दिगन्तको पलायन कर गया। मैं धन्य हूँ क्योंकि जो मुझे प्राप्तव्य था वह आज सब सिद्ध होगया। मैं धन्य हूं क्योंकि आज मेरे समान धन्य कौन निकलेगा? मैं धन्य हूं मैं धन्य हूं मैं वार वार धन्य हूं। ओहो! आज मेरे पुण्योंके ढेर एकसाथ फल पड़े। आज मैं पुण्योंकी इस महती सम्पत्तिके कारण कृतकृत्यताकी झूलमें पड़ा हुआ झोटे ले रहा हूं। मुझे ज्ञान करानेवाले शास्त्र, मार्ग दिखानेवाले गुरु, मेरा वह ज्ञान और वह आनन्द जिनके कारण आज यह धन्य अवस्था हाथ आयी है, सब धन्य हैं। वे सबके सब आज मुझे मेरा पद देकर समुत्तीर्ण होगये। मैं उनकी महिमा गानेकेलिये शब्दोंको कहांसे लाऊं? ऐसा विद्यानन्द न उमड़ पड़ने तक ब्रह्माभ्यास करते रहना चाहिये।

अब ब्रह्मानन्दके ही एक अंश विषयानन्दका निरूपण इसलिये करेंगे कि वह भी ब्रह्मज्ञानको समझानेका एक लौकिक द्वार है। श्रुतिने स्वयं उसको ब्रह्मानन्दका एक अंश बताया है। वह कहती है कि शेष सब प्राणी उसी ब्रह्मानन्दकी मात्रा [कण] को चाट चाट कर जी रहे हैं।

मनकी 'शान्त' 'घोर' तथा 'मूढ' ये तीन प्रकारकी वृत्ति होती हैं। वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि 'शान्त' वृत्ति हैं। तृष्णा, स्नेह, राग तथा लोभ आदि 'घोर' वृत्ति हैं। सम्मोह और भय आदि 'तामस' वृत्ति हैं। इन सब वृत्तियोंमें ब्रह्मका केवल चित्स्वभाव आया है। शान्तवृत्तियोंमें इतनी और अधिकता है कि इनमें ब्रह्मतत्वका सुख भी प्रतिबिम्बित हुआ है। *'रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव'* इत्यादि श्रुतियोंका भी यही अभिप्राय है कि वह आत्मतत्व किसीमें चैतन्य रूपसे किसीमें चैतन्य तथा सुख दोनों रूपोंसे और किसीमें सत्ता चैतन्य और सुख तीनों रूपोंसे समाकर उन उनके प्रतिरूप बन गया है। यह भी कहा है कि भूतात्मा एक ही है वही सब भूतोंमें व्यवस्थित है। वह एकरूपसे उन्हें दीखता है जो ज्ञानी हों। परन्तु जिन्हें तत्वका पता नहीं होता उन्हें वह जलोंके चांदोंकी भांति बहुत रूपोंमें दीखता है। वही चाँद कीचड़वाले जलमें अस्फुट दीखता है, वही चाँद निर्मलजलमें सुस्पष्ट दीखने लगता है। ठीक उसीप्रकार ब्रह्मतत्व भी शुद्ध और अशुद्ध वृत्तियोंमें दो दो प्रकारका होजाता है। इसीको विस्तारसे यों समझो कि मलिन होनेके कारण 'घोर' और 'मूढ' वृत्तियों में ब्रह्मका सुखभाग सर्वथा ढका रहता है अर्थात् नहीं दीखता। उनमें क्योंकि थोड़ीसी निर्मलता रहती है इसकारण केवल चिदंशका प्रतिबिम्ब पड़ा करता है। दूसरा उदाहरण यह भी है कि निर्मल जलमें अग्निकी गरमी आजाती है प्रकाश नहीं आता। इसीप्रकार 'घोर' और 'मूढ'

वृत्तियोंमें केवल चेतनभागका उद्भव होता है सुखभागका नहीं। जैसे काष्ठ में उष्णता और प्रकाश दोनों उद्भूत होजाते हैं, इसीप्रकार 'शान्त' वृत्तियोंमें सुख और चैतन्य दोनों उद्भूत होजाते हैं। ऐसा क्यों होता है ? इसका यही उत्तर है कि इनका स्वभाव ही ऐसा है। इनके इस स्वभावको देखकर नियामकको ढूंढ निकालो। देखते हैं कि 'घोर' या 'मूढ' कोईसी भी अवस्थामें सुखका अनुभव नहीं होता। यह भी देखा जाता है कि 'शान्त' वृत्तियोंमें सुखानुभव होता है। जब किसीके मनमें घर या खेत आदि की कामना जागजाती है तब वह राजस काम, घोर होनेसे सुखको उद्भूत नहीं होने देता। देखलो कि जब यह मेरा काम सिद्ध होगा या नहीं ? यह विचार आता है तब दुःख होने लगता है। जब काम सिद्ध नहीं होता तब दुःख बढ़ने लगता है। जब कोई उस काममें रुकावट डालता है तब क्रोध आनेलगता है। जब अपनी कामनाके विरुद्ध बात देखनी पड़ती है तब उससे द्वेष होने लगता है। जब वह उसका कुछ प्रतिकार नहीं करसकता तब जो विषाद होता है वह 'तामस' है। इन क्रोधादियोंमें बड़ा दुःख होता है। इनमें सुखकी कोई सम्भावना नहीं होती। जब किसीको काम्य पदार्थका लाभ होजाय उस समय उत्पन्न होनेवाली हर्षवृत्तिमें बड़ा सुख होता है। उसका भोग करना मिल जाय तो और बड़ा सुख होता है। उस काम्य पदार्थके मिलनेकी सम्भावना होजाय तो थोड़ासा सुख होता है। उसकी ओरसे वैराग्य होजाय तो बहुत बड़ा सुख होता है—जिसका वर्णन हमने विद्यानन्द नामके प्रकरण में विस्तारपूर्वक किया है। क्रोधको भगा देनेवाली क्षमा और लोभको मार-भगाने वाली उदारतामें भी असाधारण सुख होता है। परन्तु बात कभी न भूलनी चाहिये कि जो कोई सुख होता है वह सब ब्रह्मका प्रतिबिम्ब होनेके कारण ब्रह्म ही है। जब इष्टभोग मिलता है और प्राणी की वृत्ति अन्तर्मुख होती है तब वह ब्रह्मतत्व उन अन्तर्मुख वृत्तियोंमें निर्विघ्नताके साथ प्रतिबिम्बित होता है। बस यही प्राणियों को मिलने वाला 'सुख' है। 'सत्ता' चैतन्य और 'सुख' ये ब्रह्मके तीन स्वभाव हैं।

मिट्टी और पत्थर आदियोंमें केवल सत्ता प्रकट होती है, चैतन्य और सुख नहीं। 'घोर' और 'मूढ' बुद्धिवृत्तियोंमें 'सत्ता' और 'चैतन्य' दो गुण प्रकट होजाते हैं आनन्द नहीं। 'शान्त' वृत्तियोंमें तो 'सत्ता' 'चैतन्य' और 'सुख' तीनों व्यक्त होजाते हैं।

यहां तक प्रपंचमें मिश्रित ब्रह्मतत्वका निरूपण किया। यदि कोई उस ब्रह्मको अमिश्ररूपमें देखना चाहे तो उसे 'ज्ञान' और 'योग' से देख सकता है। ज्ञान तथा योग दोनोंका वर्णन पहले आचुका है—ब्रह्मानन्द के प्रथम अध्यायमें 'योग' का वर्णन है। ब्रह्मानन्दके दूसरे (आत्मानन्द) तथा तीसरे (अद्वैतानन्द) अध्यायमें 'ज्ञान' का निरूपण किया गया है।

'असत्ता' 'जडता' और 'दुःख' ये तीनों मायाके रूप हैं। 'असत्ता' (मिथ्यापन) "मनुष्यके सींग" आदि पदार्थोंमें है। 'जडता' काष्ठ पाषाण आदि में पायी जाती है। घोर और मूढ वृत्तियोंमें दुःख पाया जाता है। यों सर्वत्र मायाका राज्य विस्तृत होरहा है। बुद्धिकी शान्त वृत्तियोंके साथ एकताको प्राप्त हुआ होनेसे उसको 'मिश्रब्रह्म' कहा है।

यहां तक हमने ब्रह्मकी स्थिति स्पष्ट रूपमें समझा दी है। अब जो कोई पुरुष ब्रह्मका ध्यान करना चाहे, वह नृशृङ्ग आदि जैसे असत् पदार्थोंकी उपेक्षा करता रहे और फिर जो तत्व शेष रहे, उसीका यथा-योग्य रीतिसे ध्यान करे। वह यों कि जब शिला आदि दीखे तब उनके नाम और रूपों (आकारों) को छोड़कर केवल सन्मात्र की चिन्ता किया करें। घोर और मूढ बुद्धियोंके दुःख-भागको छोड़कर उनके सत् और चित् के चिन्तनमें लगजाया करे। शान्त वृत्तियोंमें सच्चिदानन्द नामक तीनों की चिन्ता करने लगे। ये उक्त तीन प्रकारकी चिन्तायें क्रमसे 'कनिष्ठ' 'मध्यम' और 'उत्कृष्ट' चिन्ता कहाती हैं।

जिन मन्दलोगोंको निर्गुण ब्रह्मका ध्यान करनेका अधिकार नहीं है, वे लोग व्यवहारकालमें भी मिश्रब्रह्मका चिन्तन करें। उनके लिये यही उत्कृष्ट बात है। विषयानन्दनामका यह प्रकरण मिश्रब्रह्मचिन्तन बताने केलिये ही लिखा गया है।

उदासीन अवस्थामें जब बुद्धिवृत्ति ढीली पड़जाती हैं, तब बिना वृत्तिका ध्यान होने लगता है । वह ध्यान सब ध्यानोंसे ऊंची श्रेणीका है ।

इस विषयानन्दनामके प्रकरणमें यहां तक चार प्रकारका ध्यान बताया जाचुका है । तीन प्रकारका सवृत्तिक ध्यान तथा एक बिना वृत्ति का ध्यान, यों चार प्रकारका ध्यान हुआ । जड पदार्थोंमें सत्ताका, मूढ-वृत्तिमें सत्ता तथा चैतन्यका, सात्विकवृत्तिमें सत्ता चैतन्य तथा आनन्द का, यों तीन प्रकारका सवृत्तिक ध्यान है ।

इस ब्रह्मानन्द नामके पांच अध्यायवाले ग्रन्थमें 'ज्ञान' और 'योग' के द्वारा जिस ध्यानका वर्णन किया है, वह ध्यान ब्रह्मविद्या है । हमने उसका वर्णन तो यों किया है कि ध्यानसे चित्तके एकाग्र होनेपर ही चित्तमें ब्रह्मविद्या स्थिर होती है । ब्रह्मविद्याके स्थिर होजानेपर ये 'सत्' 'चित्' 'आनन्द' पहलेकी भांति अलग अलग नहीं दीखते । तब ये अखण्ड एकरस होकर दीखने लगते हैं । क्योंकि उस समय भेद करने वाली उपाधियां नहीं रहतीं । भेद करनेवाली उपाधियें शान्त घोर वृत्तियाँ और शिलादि पदार्थ हैं । यदि कोई इन उपाधियोंको हटाना चाहे तो 'योग' या 'विवेक' से हटा सकता है । जब उपाधिरहित स्वयंप्रकाश अद्वैत ब्रह्मतत्व भासने लगता है तब यह दीख पड़नेवाली त्रिपुटी नहीं रहती । यही कारण है कि तब उसे 'भूमानन्द' कहने लगते हैं ।

ब्रह्मानन्दान्तर्गत विषयानन्दका वर्णन समाप्त हुआ । मन्दाधिकारी लोग इसीको द्वार बनाकर आत्मधाममें घूमें ।

(हिन्दी पञ्चदशी समाप्त)

-: लेखककी मुद्रित पुस्तकें :-

गीतापरिशीलन—श्रीमद्भगवद्गीताकी श्लोकानुसार विषयसूची, अध्यायार्थसंग्रह, मूलश्लोक, संस्कृत अन्वय, अर्थ, भाव, ३३ प्रकरणों वाला परिशिष्ट, शब्दकोष तथा श्लोकसूचीयुक्त विस्तृत भाष्य। इस भाष्यमें सर्वथा नवीनढंग, जीवनमें जागृति उत्पन्न करनेवाले नयेसे नये प्रकार, ईश्वर, मुक्ति, ज्ञान, कर्म, भक्ति आदि विषयोंपर अश्रुतपूर्व विचारोंका प्रदर्शन है। इसपर उत्तर प्रदेशीय राजकीय शिक्षाविभागने लेखकको ६००) से पुरस्कृत किया है। मूल्य ६।।) डाकव्यय पृथक्

नारदभक्तिसूत्र—भक्तिको व्यावहारिक ज्ञानके रूपमें दिखानेवाला, अद्वैतनिष्ठा, भक्ति तथा मनुष्यके व्यावहारिक जीवनकी एकता दिखाकर भक्ति विषयपर नवीन शैलीसे विचार करनेवाला भाष्य। मूल्य १।।)

सिद्धान्तसार—इसमें ईश्वर, जीव, प्रकृति, सृष्टि, स्थिति, प्रलय, वैराग्य, प्रेम, भक्ति, दान, तप, पाप, पुण्य, सम्प्रदाय, गुरु, शिष्य, वेद, शास्त्र आदि ५६ प्रकरणोंमें आर्यविश्वासोंका मूल रूप दिखाया गया है। इसपर उत्तर प्रदेशीय शिक्षाविभागने ८००) पुरस्कार दिया है। १।।)

बोधसार—मन्त्रयोग, हठयोग आदि समस्त प्राचीन योगोंका वर्णन करते हुए राजयोगके प्रत्येक अङ्गपर धर्मजिज्ञासा, योगदीक्षाचिन्तामणि, राजयोग, मुनीन्द्रदिनचर्या, कैवल्यकुञ्चिका, ज्ञानगंगातरंग, ज्ञानिगजगर्जन, उन्मत्तप्रलापशतक, शिवपूजन, आदि शीर्षकोंमें अनुभवपूर्ण भाषामें विचार करनेवाला नरहरिस्वामीका 'न बना न बनेगा' जैसा अपूर्व ग्रन्थ। यह ग्रन्थ संस्कृतमें १५) रु० को मिलता है। मूल्य ५) अप्राप्य।

शतश्लोकी—वेदान्तके गम्भीर मार्गोंको अतिसरल रीतिसे समझाने वाला श्री आद्य शङ्कराचार्यका प्रसिद्ध ग्रन्थ। मूल्य १) डाकव्यय पृथक्

वाक्यसुधा—वेदान्तकी प्रक्रियासे समाधिकी रीति बतानेवाला भारती तीर्थ मुनिकृत ग्रन्थ योगतारावलि सहित। मूल्य ।।।)

योगतारावलि—राजयोगमें हठयोगका उपयोगी भाग बतानेवाला श्री आद्य शङ्कराचार्यका ग्रन्थ। मूल्य वाक्यसुधासहित ।॥)

दशश्लोकी—'मैं' की विस्तृत आलोचना मूल्य ।)

पञ्चदशी—यवनकालमें दक्षिणमें विजयानगरम साम्राज्यके संस्थापक तथा संचालक बुक्कराजाके मन्त्री तथा कुलगुरु माधवाचार्य संन्यासाश्रम के विद्यारण्य स्वामीका अद्वैत वेदान्त विषयपर १५ प्रकरणोंवाला अति प्रसिद्ध ग्रन्थ। सरल तथा रोचक भाषामें संस्कृतअन्वय सहित विस्तृत टीका तथा प्रत्येक प्रकरणके संक्षेपके साथ। मूल्य ६) डाकव्यय पृथक्।

हिन्दी पञ्चदशी—पञ्चदशीके १५ प्रकरणोंके भावपूर्ण संक्षेप। श्लोकोंको पढ़नेसे पूर्व इन्हें पढ़लेनेसे प्रकरणका हृदय समझनेमें बहुत सहायता मिलेगी। मूल्य १) डाकव्यय पृथक्।

भारतकी आध्यात्ममूलक संस्कृति अर्थात् जाग्रत जीवन—प्रथम भाग। इसमें स्वच्छता, समय, क्या करें क्या न करें? कैसे बोलें? कैसे सोचें? पढ़ना क्या है? बड़ा काम क्या है? अच्छा स्वभाव, सुखी कौन? धीरज, भलाईका फल, सफल कैसे हों? भूल क्या है? प्रसन्न कैसे रहें? नम्रता, दरिद्रता, कैसे जियें? सीखते रहो, कैसे खेलें? स्वजनोंसे कैसे बरतें? पड़ौसीके साथ इत्यादि २३ प्रकरणोंद्वारा व्यवहार में परमार्थको प्रतिष्ठित करनेवाले आर्ष विचारोंका स्वरूप दिखाया गया है कि भारतके ऋषिलोग जीवनको किस दृष्टिसे देखते थे। उत्तरप्रदेशी सरकारसे ५००) से पुरस्कृत। मूल्य ३) डाकव्यय पृथक्।

मनुष्यजीवनका लक्ष्य—मानव इस संसारमें क्यों आया? इस प्रश्न की विशद आलोचना। उत्तरप्रदेशी सरकारसे ३००) से पुरस्कृत। मूल्य १॥) हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयागसे प्राप्य।

स्वतन्त्र भारतका अमरयोद्धा तथा उसकेलिये भारतीय लोकमतसे न्यायभिक्षा—इसमें एक आदर्श सत्याग्रही प्रोफेसरकी जीवन-गाथा प्रस्तुत की गई है, जिसने कांग्रेसके सिद्धान्तानुसार अपना समस्त जीवन

महान संकटमें झोंक दिया, तो भी भारत सरकारका नीचेसे ऊपर तक एक भी राज्याधिकारी उसका २० वर्षका प्राप्य वेतन सात शिशुओंके भरणपोषण शिक्षणका गुरुभार लेकर शरणार्थी कैम्पमें पड़ी हुई उसकी पत्नी को देनेको प्रस्तुत नहीं होरहा है। आप इसमें उक्त प्रोफेसरके साथ राजकीय अन्यायकी सप्रमाण करुण कथा देखेंगे कि आप जिनपर विश्वास करके राज्यका उत्तरदायित्व सौंपे बैठे हैं वे आपके विश्वासका कितनी कृतघ्नतासे हनन कर रहे हैं ? मूल्य १० आना

न्यायभवनका न्यायपत्र (संख्या ६) मूल्य ॥)

स्वराज्यमें सरकारी नौकरोंकी तानाशाही तथा उसका कानूनी इलाज

"इस पुस्तक के लेखक हैं *श्रीयुत दुर्गेशचन्द्र दास डांडी धरासना सत्याग्रही प्रधान न्यायभवन (भारतवर्ष)*। पुस्तकका परिचय उसके मुखपृष्ठ पर छपे शब्दोंसे पर्याप्त होजाता है।

वर्तमान सरकारके प्रजातन्त्री ढोंगका भन्डाफोड़, शासक तथा शासित दोनोंको अपना अपना स्वरूप दिखानेवाला दिव्यदर्पण, शासक-शासित दोनोंको अपना कर्तव्य सुझानेवाला प्रत्यक्ष व्यावहारिक शास्त्र।

स्वतन्त्र भारतके एक न्यायनिष्ठ, सच्चे एवं निर्भीक नागरिकको किस प्रकार अन्याय, असत्य एवं अपमानका वैध प्रतिकार करना चाहिये ? इस प्रश्नका एक आदर्श उत्तर इस पुस्तकमें है।

यह पुस्तक प्रत्येक भारतीयको आंखें खोलकर पढ़नी चाहिये और इस बातका निर्णय करना चाहिये कि आजकी सरकार किस योग्य है ? जिन आदर्शोंकी रक्षाकेलिये हमने इसका निर्माण किया है उनकी पूर्ति हुई है या विनाश ?" "वैदिक धर्म" जून १९५४

इन ग्रन्थोंपर देशके गण्यमान्य विद्वानों श्री पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्री पं० पद्मसिंह शर्मा, श्री पं० विधुशेखर भट्टाचार्य, सर्वदर्शन-निष्णात श्री पं० काशीनाथ जी, श्री पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, श्री एम.एस. अणे भू.पू. गवर्नर बिहार, श्री के.एम. मुन्शी गवर्नर उत्तरप्रदेश, श्री स्वामी अभयदेव जी भूतपूर्व आचार्य गुरुकुल कांगड़ी, श्री डा०धीरेन्द्र

वर्मा एम. ए. डी. लिट., श्री दयाशङ्कर दुबे, श्री डा० सूर्यकान्त एम. ए. डी. लिट. डी. फ़िल, श्री रामदास गौड, श्री मुन्शीराम शर्मा एम. ए., श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ, श्री विश्वनाथ शास्त्री, आदि की उत्साहवर्धक सम्मतियें और समालोचनायें प्राप्त हुई हैं।

लेखकके

अमुद्रित ग्रन्थ

(१) भारतीय संस्कृतिके अनुसार भारतीय संविधानकी रूपरेखा
(२) सत्य अहिंसा
(३) आदर्शपरिवार (सन्तानपालन की योग्यविधि)
(४) ईश्वरभक्ति
(५) शिक्षकोंका मार्गदर्शक अर्थात् आदर्श पाठशालाओंकी योजना
(६) ग्रामसुधार (ग्रामोंको स्वतन्त्र राष्ट्रोंका रूप देनेवाली योजना)
(७) बालजागरण (८) बालोद्बोधन
(९) बाल प्रश्नोत्तरी (१०) जीवनसूत्र
(११) भावसागर (१२) बालगीत
(१३) भक्ति (१४) समाजवाद
(१५) बेकारी (१६) डरें क्यों ?
(१७) स्वतन्त्रताके सिद्धान्त
(१८) सार्वभौम धर्म (१९) व्यवहारशास्त्र
(२०) सत्यस्वराज्य (२१) कवितासाहित्य

योग्य प्रकाशकोंको विना पारिश्रमिक देनेकेलिये प्रस्तुत

अमुद्रित भाष्य

(१) गौडपादकारिका
(२) उपदेश साहस्री (गद्य-पद्य)
(३) सनत्सुजातसंवाद
(४) अध्यात्मपटल
(५) अध्यात्मसूक्त
(६) विवेक चूडामणि
(७) सर्ववेदान्त सिद्धान्त सारसंग्रह
(८) प्रबोधसुधाकर
(९) योगदर्शन
(१०) पंचीकरण
(११) पंचीकरण वार्तिक
(१२) प्रकरणग्रन्थ (लगभग १७)
(१३) गीता गुटका
(१४) उपनिषदें ८ प्रस्तुत हो रही हैं
(१५) नीतिग्रन्थ प्रस्तुत होरहे हैं

इन्हें प्रकाशित करना चाहनेवाले इस पतेसे पत्रव्यवहार करें :—

बुद्धिसेवाश्रम रतनगढ़ (बिजनौर)